जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक २

☐ **सम्पादक मण्डल**

अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्री रतन मुनि
पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

☐ **प्रबन्ध सम्पादक**

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ **संप्रेरक**

मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ **अर्थसौजन्य**

श्रीमान सायरमलजी चौरड़िया एवं जेठमलजी चौरड़िया

☐ **प्रकाशन तिथि**

वीर निर्वाण संवत् २५०७, वि० सं० २०३७ भाद्रपद
ई० सन् १९८० सितम्बर

☐ **प्रकाशक**

श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन ३०५९०१

☐ **मुद्रक**

श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
स्वस्तिक आर्ट प्रिन्टर्स, सेठगली, आगरा-३

☐ **मूल्य**

तीस रुपया [लागत से. अल्पमूल्य]
संशोधित परिवर्धित मूल्य

Published at the Holy Remembrance occasion

of

Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

STHAVIRA (GAṆADHARA) COMPILED : FIRST AṄGA

ĀCĀRĀṄGA SŪTRA

[PART II : Ā C Ā R A C Ū L Ā]

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity

Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor

Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator

Srichand Surana 'Saras'

Publishers

Sri Agama Prakashan Samiti

Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala : Publication No. 2

Board of Editors
Anuyoga Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandraji Bharilla

Managing Editor
Srichand Surana 'Saras'

Promoter
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

Financial Assistance
Sri Sayarmalji Chauradiya & Sri Jethamalji Chauradiya

Publication Date
Vir Nirvana Samvat 2507, Vikram Samvat 2037
September, 1980

Publishers
Sri Agama Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipalia Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin. 305901

Printers
Swastik Art Printers, Seth Gali, Agra-3
under the supervision of Srichand Surana 'Saras'

Price
Rs. 30/- (Thirty) only.
संशोधित परिवर्धित मूल्य Thirty five only

समर्पण

जिनवाणी के परम उपासक, बहुभाषाविज्ञ

वय:स्थविर, पर्यायस्थविर, श्रुतस्थविर

श्री वर्धमान जैनश्वेताम्बर स्थानकवासी श्रमणसंघ

के

द्वितीय आचार्यवर्य

परम आदरणीय श्रद्धास्पद राष्ट्रसंत

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

को

सादर-सभक्ति-सविनय

—मधुकर मुनि

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के आचार्य राष्ट्रसंत
महान् मनीषि आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का

अभिमत

आगम आत्मविद्या के अक्षयकोष हैं। भगवान महावीर की वाणी के प्रतिनिधिरूप में वे हमे आज भी आत्मविद्या, तत्वज्ञान, जीव-विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान के विविध पहलुओं का सम्यक् बोध कराने में सक्षम हैं।

आगमों की भाषा अर्धमागधी है, उसका अध्ययन-अनुशीलन करने के लिये अर्धमागधी-प्राकृत का ज्ञान भी आवश्यक है। प्राकृतभाषा से अनभिज्ञ जन सहज-सुबोध ढंग से आगम का हार्द समझ सके, इस दृष्टिकोण से जैन मनीषियों ने समय-समय पर लोकभाषा में आगमों का अनुवाद-विवेचन करने का महनीय प्रयत्न किया है। आगम-महोदधि के गहन अभ्यासी स्व० पूज्यपाद श्री अमोलकऋषिजी म० सा० ने बत्तीस आगमों का हिन्दी में सुबोध अनुवाद करके एक ऐतिहासिक कार्य किया था, आज वह आगम-साहित्य भी दुर्लभ हो गया है।

श्रमणसंघ के युवाचार्य आगम-रहस्यवेत्ता श्री मधुकर मुनि जी म० सा० ने आगमों का हिन्दी अनुवाद, विवेचन कर जनसामान्य को सुलभ करने का एक प्रसंशनीय संकल्प किया है। जो श्रमण-संघ के लिए तो गौरव का विषय है ही, भारतीय-विद्यारसिक समस्त जनों के लिए प्रमोद का कारण है।

आगमग्रन्थमाला का प्रथम मणि आचारांग-सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध) प्रकाशित हो चुका है। इसका मार्गदर्शन व प्रधान नियोजकत्व युवाचार्य श्री जी का ही है। अनुवाद-विवेचन श्री श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" ने किया है।

आचारांग का अवलोकन करने पर लगा, अब-तक के प्रकाशित आचारांग के संस्करणों में यह संस्करण अपना अलग ही महत्व रखता है। भावानुलक्षी अनुवाद, संक्षिप्त विवेचन, तथ्ययुक्त पाद टिप्पण, प्राचीनतम निर्युक्ति व चूर्णि आदि के साक्ष्यनुसार विशेषार्थ, परिशिष्ट में शब्दसूची; "जाव" शब्द के पूरक पाठ सूत्रों की संसूचना, सब मिलाकर सर्वसाधारण से लेकर विद्वानों तक के लिये यह संग्रहणीय, पठनीय संस्करण है।

मैं हृदय से कामना करता हूँ कि आगमों के आगामी संस्करण इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण व उपयोगी होंगे।

—आचार्य आनन्दऋषि

प्रकाशकीय

भगवान श्रीमहावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्य प्रकाशन की एक नयी उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान महावीर के लोकोत्तर जीवन एवं उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्‌रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु जो उनकी मूल पवित्र वाणी जिन आगमों में सुरक्षित है, उन आगमों को सर्व साधारण के लिये क्यों न सुलभ कराया जायँ? जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप में आज सहज उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर की असली महिमा तो उस परम पावन, सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनीश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी, परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रबल बना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे आगम बत्तीसी के सम्पादन-प्रकाशन की चर्चा बल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता? श्रमण भगवान महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है—'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के निमित्त ही भगवान की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव भगवत्-वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणीमात्र की रक्षा एवं दया का ही कार्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला। तब मुनिश्री के वि० सं० २०३५ के ब्यावर चातुर्मास में समाज के अग्रगण्य श्रावकों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घचिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान महावीर के केवल ज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा करदी गई और शीघ्र ही कार्य आरम्भ कर दिया गया।

हमें प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया और आचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आगमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया है। दो तीन आगम तैयार भी हो चुके हैं और कार्य चालू है।

अब तक प्रसिद्ध विद्वान एवं आगमों के गंभीर अध्येता पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया, काम में तेजी आई और भार भी हल्का हो गया।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय में हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त रूप देने में सफल हो सके। आचारांग एवं उपासक

दशा मुद्रित हो चुके है, तथा स्थानांग, ज्ञाताधर्मकथा आदि अनेक आगमों का संपादन कार्य भी संपूर्ण हो गया; वे प्रेस में मुद्रणाधीन हैं।

कुछ सज्जनों का सुझाव था कि सर्वप्रथम दशवैकालिक, नन्दीसूत्र आदि का प्रकाशन किया जाय किन्तु श्रद्धेय मुनि श्री मधुकरजी महाराज का विचार प्रथम अंग आचारांग से ही प्रारम्भ करने का था। क्योंकि आचारांग समस्त अंगों का सार है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आचारांग आदि क्रम से ही आगमों को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु अनुभव से इसमें एक बड़ी अड़चन जान पड़ी। वह यह कि भगवती जैसे विशाल आगमों के सम्पादन-प्रकाशन में बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमों के प्रकाशन को रोक रखने से सब आगमों के प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो जाएगा। हम चाहते हैं कि यथासंभव शीघ्र यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाए तो अच्छा। अतः अब यह निर्णय रहा है कि आचारांग के पश्चात् जो-जो आगम तैयार होते जाएँ उन्हें ही प्रकाशित कर दिया जाए। अब शीघ्र ही जिज्ञासु पाठकों की सेवा में अन्य आगम भी पहुँचने की आशा है।

सर्वप्रमथ हम श्रमणसंघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र, श्री मधुकर मुनिजी महाराज के प्रति अतीव आभारी हैं, जिनकी शासन-प्रभावना की उत्कट भावना, आगमों के प्रति उद्दाम भक्ति, धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कंठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमें भी वीतरागवाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

सेवा के इस सात्त्विक अनुष्ठान में अपने सहयोगियों के भी हम कृतज्ञ हैं। सागरवर-गंभीर श्रावक वर्य पद्मश्री सेठ मोहनमलजी सा. चोरड़िया ने समिति की अध्यक्षता स्वीकार कर और एक बड़ी धनराशि प्रदान कर हमें उत्साहित किया। अर्थ-संग्रह में हमारे साथ श्री कंवरलालजी बेताला, श्री मूलचन्दजी सुराणा ने परिभ्रमण किया। जोधपुर श्रीसंघ ने अर्थसंग्रह में पूरा योगदान दिया। इन सब उत्साही सह-योगियों के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। श्रीरतनचन्दजी मोदी, कोषाध्यक्ष समिति तथा स्थानीय मन्त्री श्री चांदमलजी विनायकिया से समिति के कार्यों में सदा सहयोग प्राप्त होता रहता है।

इस आगम का सम्पूर्ण प्रकाशन व्यय श्रीमान सायरमल जी चोरड़िया एवं श्रीमान जेठमल जी चोरड़िया ने उदारता पूर्वक प्रदान किया है, जो उनकी जिनवाणी एवं श्रद्धेय युवाचार्य श्री के प्रति प्रगाढ-श्रद्धा का परिचायक है। समिति उनके सहयोग की सदा कृतज्ञ रहेगी। आप जैसे उदार सद्गृहस्थों के सहयोग से ही हम लागत से भी कम मूल्य पर आगम ग्रन्थों को प्रसारित करने का साहस कर पा रहे हैं।' आचारांग सूत्र के दोनों खण्ड लागत से भी कम कीमत पर प्रस्तुत किये गये हैं। समिति कार्यालय की व्यवस्था श्री सुजानमल जी सेठिया आत्मीयता की भावना से कर रहे हैं; इन तथा अन्य सहयोगियों का भी हार्दिक आभार मानना हमारा कर्त्तव्य है।

पुखराज शीशोदिया
(कार्यवाहक अध्यक्ष)

जतनराज मेहता
(महामंत्री)

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आमुख

जैन धर्म, दर्शन, व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ अर्थात् आत्म-द्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं। परमहितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञों द्वारा कथित तत्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध-'आगम' शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरों की वाणी मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है, महान प्रज्ञावान गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते हैं।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय में वे 'गणिपिटक' कहलाते थे—'गणिपिटक' में समग्र द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल में इसके अंग, उपांग, मूल, छेद आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, तब आगमों को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्रा ही रह गया। तब देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण ने श्रमणों का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र-उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया और जिनवाणी को पुस्तकारूढ़ करके आने वाली पीढ़ी पर अवर्णनीय उपकार किया, यह जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत उपक्रम था। आगमों का यह प्रथम सम्पादन वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ़ होने के बाद जैन आगमों का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एवं प्रमाद आदि कारणों से आगम-ज्ञान की शुद्धधारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्व-पूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ़ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणों से आगम-ज्ञान की धारा संकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणा।

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ के आचार्य राष्ट्रसंत
महान् मनीषि आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का

अभिमत

आगम आत्मविद्या के अक्षयकोष हैं। भगवान महावीर की वाणी के प्रतिनिधिरूप में वे हमें आज भी आत्मविद्या, तत्वज्ञान, जीव-विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान के विविध पहलुओं का सम्यक् बोध कराने में सक्षम हैं।

आगमों की भाषा अर्धमागधी है, उसका अध्ययन-अनुशीलन करने के लिये अर्धमागधी-प्राकृत का ज्ञान भी आवश्यक है। प्राकृतभाषा से अनभिज्ञ जन सहज-सुबोध ढंग से आगम का हार्द समझ सके, इस दृष्टिकोण से जैन मनीषियों ने समय-समय पर लोकभाषा में आगमों का अनुवाद-विवेचन करने का महनीय प्रयत्न किया है। आगम-महोदधि के गहन अभ्यासी स्व० पूज्यपाद श्री अमोलकऋषिजी म० सा० ने बत्तीस आगमों का हिन्दी में सुबोध अनुवाद करके एक ऐतिहासिक कार्य किया था, आज वह आगम-साहित्य भी दुर्लभ हो गया है।

श्रमणसंघ के युवाचार्य आगम-रहस्यवेत्ता श्री मधुकर मुनि जी म० सा० ने आगमों का हिन्दी अनुवाद, विवेचन कर जनसामान्य को सुलभ करने का एक प्रसंशनीय संकल्प किया है। जो श्रमण-संघ के लिए तो गौरव का विषय है ही, भारतीय-विद्यारसिक समस्त जनों के लिए प्रमोद का कारण है।

आगमग्रन्थमाला का प्रथम मणि आचारांग-सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध) प्रकाशित हो चुका है। इसका मार्गदर्शन व प्रधान नियोजकत्व युवाचार्य श्री जी का ही है। अनुवाद-विवेचन श्री श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" ने किया है।

आचारांग का अवलोकन करने पर लगा, अब-तक के प्रकाशित आचारांग के संस्करणों में यह संस्करण अपना अलग ही महत्व रखता है। भावानुलक्षी अनुवाद, संक्षिप्त विवेचन, तथ्ययुक्त पाद टिप्पण, प्राचीनतम निर्युक्ति व चूर्णि आदि के साक्ष्यनुसार विशेषार्थ, परिशिष्ट में शब्दसूची; "जाव" शब्द के पूरक पाठ सूत्रों की संसूचना, सब मिलाकर सर्वसाधारण से लेकर विद्वानों तक के लिये यह संग्रहणीय, पठनीय संस्करण है।

मैं हृदय से कामना करता हूँ कि आगमों के आगामी संस्करण इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण व उपयोगी होंगे।

—आचार्य आनन्दऋषि

प्रकाशकीय

भगवान श्रीमहावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसंग पर साहित्य प्रकाशन की एक नयी उत्साहपूर्ण लहर उठी थी। उस समय जैनधर्म, जैनदर्शन और भगवान महावीर के लोकोत्तर जीवन एवं उनकी कल्याणकारिणी शिक्षाओं से सम्बन्धित विपुल साहित्य का सृजन हुआ। मुनि श्रीहजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर की ओर से भी 'तीर्थंकर महावीर' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया। इसी प्रसंग पर विद्वद्रत्न श्रद्धेय मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के मन में एक उदात्त भावना जागृत हुई कि भगवान महावीर से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हो रहा है, यह तो ठीक है, किन्तु जो उनकी मूल पवित्र वाणी जिन आगमों में सुरक्षित है, उन आगमों को सर्व साधारण के लिये क्यों न सुलभ कराया जायँ? जो सम्पूर्ण बत्तीसी के रूप में आज सहज उपलब्ध नहीं है। भगवान महावीर की असली महिमा तो उस परम पावन, सुधामयी वाणी में ही निहित है। मुनीश्री की यह भावना वैसे तो चिरसंचित थी, परन्तु उस वातावरण ने उसे अधिक प्रबल बना दिया।

मुनिश्री ने कुछ वरिष्ठ आगमप्रेमी श्रावकों तथा विद्वानों के समक्ष अपनी भावना प्रस्तुत की। धीरे-धीरे आगम बत्तीसी के सम्पादन-प्रकाशन की चर्चा बल पकड़ती गई। भला कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा, जो इस पवित्रतम कार्य की सराहना और अनुमोदना न करता? श्रमण भगवान महावीर के साथ आज हमारा जो सम्पर्क है, वह उनकी जगत्-पावन वाणी के ही माध्यम से है। भगवान की देशना के सम्बन्ध में कहा गया है—'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के निमित्त ही भगवान की धर्मदेशना प्रस्फुटित हुई थी। अतएव भगवत्-वाणी का प्रचार और प्रसार करना प्राणीमात्र की रक्षा एवं दया का ही कार्य है। इससे अधिक श्रेष्ठ विश्वकल्याण का अन्य कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार आगम प्रकाशन के विचार को सभी ओर से पर्याप्त समर्थन मिला। तब मुनिश्री के वि० सं० २०३५ के ब्यावर चातुर्मास में समाज के अग्रगण्य श्रावकों की एक बैठक आयोजित की गई और प्रकाशन की रूप-रेखा पर विचार किया गया। सुदीर्घचिन्तन-मनन के पश्चात् वैशाख शुक्ला १० को, जो भगवान महावीर के केवल ज्ञान-कल्याणक का शुभ दिन था, आगम बत्तीसी के प्रकाशन की घोषणा करदी गई और शीघ्र ही कार्य आरम्भ कर दिया गया।

हमें प्रसन्नता है कि श्रद्धेय मुनिश्री की भावना और आगम प्रकाशन समिति के निश्चयानुसार हमारे मुख्य सहयोगी श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने प्रबन्ध सम्पादक का दायित्व स्वीकार किया और आचारांग के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। साथ ही अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न आगमों के सम्पादन का दायित्व स्वीकार किया है। दो तीन आगम तैयार भी हो चुके हैं और कार्य चालू है।

अब तक प्रसिद्ध विद्वान एवं आगमों के गंभीर अध्येता पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी बम्बई से ब्यावर आ गये और उनका मार्गदर्शन एवं सहयोग भी हमें प्राप्त हो गया। आपके बहुमूल्य सहयोग से हमारा कार्य अति सुगम हो गया, काम में तेजी आई और भार भी हलका हो गया।

हमें अत्यधिक प्रसन्नता और सात्त्विक गौरव का अनुभव हो रहा है कि एक ही वर्ष के अल्प समय में हम अपनी इस ऐतिहासिक अष्टवर्षीय योजना को मूर्त रूप देने में सफल हो सके। आचारांग एवं उपासक

दशा मुद्रित हो चुके हैं, तथा स्थानांग, ज्ञाताधर्मकथा आदि अनेक आगमों का संपादन कार्य भी संपूर्ण हो गया; वे प्रेस में मुद्रणाधीन हैं।

कुछ सज्जनों का सुझाव था कि सर्वप्रथम दशवैकालिक, नन्दीसूत्र आदि का प्रकाशन किया जाय किन्तु श्रद्धेय मुनि श्री मधुकरजी महाराज का विचार प्रथम अंग आचारांग से ही प्रारम्भ करने का था। क्योंकि आचारांग समस्त अंगों का सार है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में आचारांग आदि क्रम से ही आगमों को प्रकाशित करने का विचार किया गया था, किन्तु अनुभव से इसमें एक बड़ी अड़चन जान पड़ी। वह यह कि भगवती जैसे विशाल आगमों के सम्पादन-प्रकाशन में बहुत समय लगेगा और तब तक अन्य आगमों के प्रकाशन को रोक रखने से सब आगमों के प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो जाएगा। हम चाहते हैं कि यथासंभव शीघ्र यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाए तो अच्छा। अतः अब यह निर्णय रहा है कि आचारांग के पश्चात् जो-जो आगम तैयार होते जाएँ उन्हें ही प्रकाशित कर दिया जाए। अब शीघ्र ही जिज्ञासु पाठकों की सेवा में अन्य आगम भी पहुँचने की आशा है।

सर्वप्रमथ हम श्रमणसंघ के युवाचार्य, सर्वतोभद्र, श्री मधुकर मुनिजी महाराज के प्रति अतीव आभारी हैं, जिनकी शासन-प्रभावना की उत्कट भावना, आगमों के प्रति उद्दाम भक्ति, धर्मज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र उत्कंठा और साहित्य के प्रति अप्रतिम अनुराग की बदौलत हमें भी वीतरागवाणी की किंचित् सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो सका।

सेवा के इस सात्त्विक अनुष्ठान में अपने सहयोगियों के भी हम कृतज्ञ हैं। सागरवर-गंभीर श्रावक वर्य पद्मश्री सेठ मोहनमलजी सा. चोरड़िया ने समिति की अध्यक्षता स्वीकार कर और एक बड़ी धनराशि प्रदान कर हमें उत्साहित किया। अर्थ-संग्रह में हमारे साथ श्री कंवरलालजी बेताला, श्री मूलचन्दजी सुराणा ने परिभ्रमण किया। जोधपुर श्रीसंघ ने अर्थसंग्रह में पूरा योगदान दिया। इन सब उत्साही सह-योगियों के प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। श्रीरतनचन्दजी मोदी, कोषाध्यक्ष समिति तथा स्थानीय मन्त्री श्री चांदमलजी विनायकिया से समिति के कार्यो में सदा सहयोग प्राप्त होता रहता है।

इस आगम का सम्पूर्ण प्रकाशन व्यय श्रीमान सायरमल जी चोरड़िया एवं श्रीमान जेठमल जी चोरड़िया ने उदारता पूर्वक प्रदान किया है, जो उनकी जिनवाणी एवं श्रद्धेय युवाचार्य श्री के प्रति प्रगाढ-श्रद्धा का परिचायक है। समिति उनके सहयोग की सदा कृतज्ञ रहेगी। आप जैसे उदार सद्गृहस्थों के सहयोग से ही हम लागत से भी कम मूल्य पर आगम ग्रन्थों को प्रसारित करने का साहस कर पा रहे हैं।' आचारांग सूत्र के दोनों खण्ड लागत से भी कम कीमत पर प्रस्तुत किये गये हैं। समिति कार्यालय की व्यवस्था श्री सुजानमल जी सेठिया आत्मीयता की भावना से कर रहे हैं; इन तथा अन्य सहयोगियों का भी हार्दिक आभार मानना हमारा कर्त्तव्य है।

पुखराज शीशोदिया
(कार्यवाहक अध्यक्ष)

जतनराज मेहता
(महामंत्री)

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आमुख

जैन धर्म, दर्शन, व संस्कृति का मूल आधार वीतराग सर्वज्ञ की वाणी है। सर्वज्ञ अर्थात् आत्म-द्रष्टा। सम्पूर्ण रूप से आत्मदर्शन करने वाले ही विश्व का समग्र दर्शन कर सकते हैं। जो समग्र को जानते हैं, वे ही तत्वज्ञान का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं। परमहितकर निःश्रेयस का यथार्थ उपदेश कर सकते हैं।

सर्वज्ञों द्वारा कथित तत्वज्ञान, आत्मज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध-'आगम' शास्त्र या सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरों की वाणी मुक्त सुमनों की वृष्टि के समान होती है, महान प्रज्ञावान गणधर उसे सूत्र रूप में ग्रथित करके व्यवस्थित 'आगम' का रूप देते है।[1]

आज जिसे हम 'आगम' नाम से अभिहित करते हैं, प्राचीन समय में वे 'गणिपिटक' कहलाते थे—'गणिपिटक' में समग्र द्वादशांगी का समावेश हो जाता है। पश्चाद्वर्ती काल में इसके अंग, उपांग, मूल, छेद आदि अनेक भेद किये गये।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, तब आगमों को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से सुरक्षित रखा जाता था। भगवान महावीर के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक 'आगम' स्मृति-परम्परा पर ही चले आये थे। स्मृति-दुर्बलता, गुरु-परम्परा का विच्छेद तथा अन्य अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान भी लुप्त होता गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्रा ही रह गया। तब देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण ने श्रमणों का सम्मेलन बुलाकर, स्मृति-दोष से लुप्त होते आगमज्ञान को, जिनवाणी को सुरक्षित रखने के पवित्र-उद्देश्य से लिपिबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयास किया और जिनवाणी को पुस्तकारूढ़ करके आने वाली पीढ़ी पर अवर्णनीय उपकार किया, यह जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की धारा को प्रवहमान रखने का अद्भुत उपक्रम था। आगमों का यह प्रथम सम्पादन वीर-निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात सम्पन्न हुआ।

पुस्तकारूढ़ होने के बाद जैन आगमों का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कालदोष, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक मतभेद, विग्रह, स्मृति-दुर्बलता एवं प्रमाद आदि कारणों से आगम-ज्ञान की शुद्धधारा, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा, धीरे-धीरे क्षीण होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्व-पूर्ण सन्दर्भ, पद तथा गूढ़ अर्थ छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। जो आगम लिखे जाते थे, वे भी पूर्ण शुद्ध नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही रहे। अन्य भी अनेक कारणों से आगम-ज्ञान की धारा संकुचित होती गयी।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह ने एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थ-ज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणा।

बाद पुनः उसमें भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों की भाषा-विषयक अल्पज्ञता आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुई। आगमों की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित हुईं तथा उनके आधार पर आगमों का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठकों को सुलभ हुआ तो आगम-ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः बढ़ा, सैकड़ों जिज्ञासुओं में आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान भी आगमों का अनुशीलन करने लगे।

आगमों के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानों तथा मनीषी श्रमणों ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव में आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के कुछ महान मुनियों का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूँगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ़ संकल्पबली मुनि थे, जिन्होंने अल्प साधनों के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रों को हिन्दी में अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी-तेरापंथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामीजी श्री जोरावरमलजी महाराज का एक संकल्प—मैं जब गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज के तत्वावधान में आगमों का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह संस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एवं अब तक के उपलब्ध संस्करणों में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ में व उसकी वृत्ति में कहीं-कहीं अन्तर भी है कहीं वृत्ति बहुत संक्षिप्त है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज स्वयं जैनसूत्रों के प्रकांड पण्डित थे। उनकी मेधा बड़ी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगमसाहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हें बहुत पीड़ा होती और कई बार उन्होंने व्यक्त भी किया कि आगमों का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगों का कल्याण होगा। कुछ परिस्थितियों के कारण उनका संकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इसी बीच आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलालजी महाराज आदि विद्वान् मुनियों ने आगमों की सुन्दर व्याख्याएँ व टीकाएँ लिखकर/अपने तत्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करने का मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान श्रमण स्व० मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत ही व्यवस्थित व उत्तमकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात मुनि श्रीजम्बूविजय जी के तत्वावधन में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक, पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगम वाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। उसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय

में चिन्तन प्रारम्भ किया। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात वि० स० २०३६ वैशाख शुक्ला १० महावीर कैवल्य दिवस को दृढ़ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथों में आगम ग्रन्थ, क्रमशः पहुँच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्यस्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्य स्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज की प्रेरणाएँ- उनकी आगम-भक्ति तथा आगमसम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान, प्राचीन धारणाएँ मेरा सम्बल बनी है। अतः मैं उन दोनों स्वर्गीय आत्माओं की पुण्य स्मृति में विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामी जी श्री बृजलाल जी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य-बल; सेवा-सहयोग तथा महासती श्री कानकुँवर जी, महासती श्री झणकारकुँवर जी, परम विदुषी साध्वी श्री उमराव कुँवर जी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने में सहायक रही है।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियों, श्रावकों व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ.......

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'



सम्पादकीय

आचारांग का महत्त्व :

आचारांग सूत्र—जैन धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान और आचार का सारभूत एवं मूल आधार माना गया है। आचार्य श्री भद्रबाहु ने आचारांग को जैनधर्म का 'वेद' बताते हुए कहा है—"आचारांग में मोक्ष के उपाय (चरण-करण या आचार) का प्रतिपादन किया गया है। यही—(मोक्षोपाय/आचार) जिनप्रवचन का सार है, अतः द्वादशांगी में इसका प्रथम स्थान है। तथा आचारांग का अध्ययन कर लेने पर श्रमण-धर्म का सम्यक् स्वरूप समझा जा सकता है। इसलिए गणी (आचार्य) होने वाले को सर्वप्रथम आचारधर होना अनिवार्य है।"[1]

विभाग :

आचारांग के दो विभाग—श्रुतस्कंध है।[2] प्रथम श्रुतस्कंध को 'नव ब्रह्मचर्याध्ययन' कहा जाता है।[3] जबकि द्वितीय श्रुतस्कंध को आचाराग्र या आचारचूला। प्रथमश्रुतस्कंध में सूत्र रूप में श्रमणआचार (अहिंसा-संयम-समभाव कषाय-विजय, अनासक्ति, विमोक्ष आदि) का वर्णन है। यहां ब्रह्मचर्य का अर्थ—श्रमणधर्म से है, श्रमणधर्म का प्रतिपादन करने वाले नौ अध्ययन (वर्तमान में आठ) प्रथम श्रुतस्कंध में हैं।

द्वितीय श्रुतस्कंध/आचारचूला में श्रमणचर्या से सम्बन्धित—(भिक्षाचरी, गति, स्थान-वस्त्र-पात्र आदि एषणा, भाषाविवेक, शब्दादि-विषय-विरति; महाव्रत आदि) वर्णन है।

आचाराग्र का—अर्थ है—जैसे वृक्ष के मूल का विस्तार (अग्र) उसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, वैसे ही प्रथम श्रुतस्कंध-गत आचार-धर्म का विस्तार आचारांग्र—(उक्त का विस्तार व अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला) है।[4]

आचार चूला का तात्पर्य है—पर्वत या प्रासाद पर जैसे शिखर अथवा चोटी होती है उसी प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की यह चूलारूप चोटी है।

रचयिता :

प्र० श्रु० के प्रणेता पंचम गणधर भगवान सुधर्मा स्वामी है, यह सर्वमान्य तथ्य है, जबकि 'आचारचूला' को स्थविर-ग्रथित माना गया है।

---

१. आचाराग निर्युक्ति—एत्थ य मोक्खोवाओ एत्थ य सारो पवयणस्स।—गाथा; ९ तथा १०
२. समवायांग प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ८९,—दो सुयक्खंधा।
३. (क) वही, समवाय ९, सूत्र ३ (ख) निर्युक्ति गाथा ५१.
४. आचा० नि० २८६, तथा चूर्णि एवं वृत्ति—पृ० ३१८-३१९.

स्थविर कौन ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत हैं—आचारांगचूर्णि एवं निशीथचूर्णिकार का मत है—थेरा गणधरा । स्थविर का अर्थ है गणधर ! निशीथचूर्णिकार ने निशीथ सूत्र, जो कि आचारचूला का ही एक अंश है, उसे गणधरों का 'आत्मागम' माना है, जिससे स्पष्ट है कि वह 'गणधर कृत' मानने के ही पक्षधर है ।[1]

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने—स्थविर की परिभाषा-चतुर्दशपूर्वधर की है ।[2]

आवश्यक चूर्णिकार तथा आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार आचारांग की तृतीय व चतुर्थ चूलिका यक्षा साध्वी महाविदेह क्षेत्र से लेकर आई ।[3]

प्राचीन तथ्यों के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आचारचूला प्रथम श्रुतस्कंध का परिशिष्ट रूप विस्तार है । भले ही वह गणधरकृत हो, या स्थविरकृत, किंतु उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है ! प्रथम श्रुतस्कंध के समान ही इसकी प्रामाणिकता सर्वत्र स्वीकार की गई है ।

विषय वस्तु :

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, आचारांग का संपूर्ण विषय-आचारधर्म से सम्बन्धित है । आचार में भी सिर्फ श्रमणाचार ।

प्रथम श्रुतस्कंध सूत्ररूप है, उसकी शैली अध्यात्मपरक है अतः मूलरूप में उसमें अहिंसा, समता, अनासक्ति, कषाय-विजय, धुत-श्रमण-आचार आदि विषयों का छोटे छोटे वचन सूत्रों में सुन्दर व सारपूर्ण प्रवचन हुआ है ।

द्वितीय श्रुतस्कंध विवेचन/विस्तार शैली में है । इसमें श्रमण की आहार-शुद्धि, स्थान-गति-भाषा आदि के विवेक व आचारविधि की परिशुद्धि का विस्तार के साथ वर्णन है ।

आचार्यों का मत है कि प्रथम श्रुतस्कंध में सूत्ररूप निर्दिष्ट विषयों का विस्तार ही आचारचूला में हुआ है । आचार्यशीलांक आदि ने विस्तारपूर्वक सूत्रों का निर्देश भी किया है ।[4]

---

१. आचा० चूर्णि तथा निशीथचूर्णि भाग १. पृ० ४

२. वृत्ति पत्रांक ३१९,—स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः निर्यूढानि ।

३. विस्तार के लिए देखिए प्रथम श्रुतस्कंध की प्रस्तावना :—देवेन्द्र मुनि ।

४. (क) निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने संक्षेप में निर्यूहण स्थल के अध्ययन व उद्देशक का संकेत किया है । निर्युक्ति गाथा २८८ से २९१ । किन्तु चूर्णिकार व वृत्तिकार ने (वृत्तिपत्रांक ३१९-२०) सूत्रों का भी निर्देश किया है । जैसे :

(ख) सव्वामगंधंपरिन्नाय···अदिस्समाणो कयविक्कएहिं— (अ० २ उ० ५ सूत्र ८८)
भिक्खू परक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा... (अ० ८ उ० २ सूत्र २०४)
आदि सूत्रों के विस्ताररूप में पिण्डैषणा के ११ उद्देशक तथा २, ५, ६, ७ वां अध्ययन निर्यूढ हुआ है ।

(ग) से वत्थं पडिग्गहं, कंबलं पायपुंछणं··· (अ० २ उ० ५ सूत्र ८९)
इस आधार पर वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, अवग्रहप्रतिमा, शय्या अध्ययन आदि का विस्तार हुआ है ।

आचारांग का यह द्वितीय श्रुतस्कंध पांच चूलिकाओं में विभक्त माना गया है।[1] इनमें से चार चूला आचारांग में है, किंतु पांचवी चूला आचारांग से पृथक कर दी गई है और वह 'निशीथसूत्र' के नाम से स्वतंत्र आगम मान लिया गया है। यद्यपि निशीथसूत्र में आचारांग वर्णित आचार में दोष लगने पर उसकी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त विधान ही है, जो कि मूलत: उसी का अंग है, किंतु किन्ही कारणों से वह आज स्वतंत्र आगम है। अब आचार चूला में सिर्फ श्रमणाचार का विधि-निषेध पक्ष ही प्रतिपादित है, उसकी विशुद्धिरूप प्रायश्चित्त की चर्चा वहाँ नहीं है। इससे एक वात यह ध्वनित होती है कि आचारचूला व निशीथ मूलत: एक ही कुशल मस्तिष्क की संयोजना है। स्थानांग, समवायांग में इसे आचारकल्प या 'आचार प्रकल्प' कहा है, जो आचारांग का सम्वन्ध सूचक है।

आचारांग की चार चूलाओं में प्रथम चूला सवसे विस्तृत है। इसमें सात अध्ययन है—

नाम	उद्देशक	विषय
१. पिण्डैषणा	११.	—आहार शुद्धि का प्रतिपादन।
२. शय्यैषणा	३.	संयम-साधना के अनुकूल स्थानशुद्धि
३. इर्यैषणा—	३.	गमनागमन का विवेक
४. भाषाजातैषणा	२.	भाषा-शुद्धि का विवेक
५. वस्त्रैषणा	२.	वस्त्रग्रहण सम्वन्धी विविध मर्यादाएं।
६. पात्रैषणा	२.	पात्र-ग्रहण सम्वन्धी विविध मर्यादाएँ
७. अवग्रहैषणा	२.	स्थान आदि की अनुमति लेने की विधि।

इस प्रकार प्रथम चूला के ७ अध्ययन व २५ उद्देशक हैं।

द्वितीय चूला के सात अध्ययन है, ये उद्देशक रहित हैं।

८- स्थान सप्तिका—	आवास योग्य स्थान का विवेक।
९. निषीधिका सप्तिका—	स्वाध्याय एवं ध्यान योग्य स्थान-गवेषणा।
१०. उच्चार-प्रस्रवण सप्तिका—	शरीर की दीर्घ शंका एवं लघुशंका निवारण का विवेक।

(घ) गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परिक्कंतं···· (अ० ५. उ० ४. सूत्र १६२)
इस आधार पर इर्याध्ययन का विस्तार किया गया है।

(च) आइक्खइ विहेयइ किट्टेइ धम्मकामी··· (अ० ६. उ० ५ सू० १९६)
इस सूत्र के आधार पर भाषाध्ययन निर्यूढ हुआ है।

(छ) महापरिज्ञा अध्ययन के सात उद्देशक से सप्तसप्तिका निर्यूढ़ है। (अ० ८ से १४)

(ज) षष्ठ धूतांध्ययन के २, व ४ उद्देशक से विमुक्ति (१६ वाँ) अध्ययन निर्यूढ़ है।

(झ) प्रथम शस्त्रपरिज्ञाध्ययन से भावना अध्ययन निर्यूढ़ है।

१. हवइ य सपंचचूलो वहु-वहुतरओ पयग्गेणं—निर्युक्ति ११

११. शब्द सप्तिका—	शब्दादिविषयों में राग-द्वेष रहित रहने का उपदेश।
१२. रूप सप्तिका—	रूपादि विषय में राग-द्वेष रहित रहने का उपदेश।
१३. परक्रिया सप्तिका—	दूसरों द्वारा की जाने वाली सेवा आदि क्रियाओं का निषेध।
१४. अन्योन्यक्रिया सप्तिका—	परस्पर की जानेवाली क्रियाओं में विवेक।

तृतीय चूला का एक अध्ययन—भावना है।

१५. भावना—इसमें भगवान महावीर के उदात्त चरित्र का संक्षेप में वर्णन है। आचार्यों के अनसार प्रथम श्रुतस्कंध में वर्णित आचार का पालन किसने किया—इसी प्रश्न का उत्तर-रूप भगवद्चरित्र है। इसी अध्ययन में पांच महाव्रतों की २५ भावना का वर्णन भी है।

१६. विमुक्ति—चतुर्थ चूलिका में सिर्फ ग्यारह गाथाओं का एक अध्ययन है। इसमें विमुक्त वीतराग आत्मा का वर्णन है।

आन्तरिक परिचय :

आचार चूला में वर्णित मुख्य विषयों की सूची यहाँ दी गई है। विस्तार से अध्ययन करने पर यह सिर्फ श्रमणाचार का एक आगम ही नहीं, किंतु तत्कालीन जन-जीवन की रीति-रिवाज, मर्यादाएं, स्थितियाँ, कला, राजनीति आदि की विरल झांकी भी इससे मिलती हैं।

बौद्धग्रन्थ 'विनयपिटक' तथा वैदिकधर्मग्रन्थ—'याज्ञवल्क्यस्मृति' आदि में भी इसी प्रकार के आचार विधान हैं, जो तत्कालीन गृहत्यागी-श्रमण-भिक्षु वर्ग के आचारपक्ष को स्पष्ट करते हैं। भिक्षु के वस्त्र-पात्र की मर्यादाएं बौद्ध, वैदिक मर्यादाओं के साथ कितनी मिलती-जुलती हैं यह तीनों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है, हमने यथास्थान प्रकरणों में तुलनात्मक टिप्पण देकर इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'इन्दमह'—'भूतमह'—'यक्षमह' आदि लौकिक महोत्सवों का वर्णन, तत्कालीन जनता के धार्मिक व सांस्कृतिक रीति-रिवाजों की अच्छी झलक देते हैं।

इसीप्रकार वस्त्रों के वर्णन में तत्कालीन वस्त्र-निर्माण कला का बहुत ही आश्चर्यकारी कलात्मक रूप सामने आता है।

संखडि, नौकारोहण, मार्ग में चोर-लुटेरों आदि के उपद्रव; वैराज्य-प्रकरण आदि के वर्णन से भी तत्कालीन श्रमण-जीवन की अनेक कठिन समस्याओं व राजनीतिक घटनाचक्रों का चित्र सामने आ जाता है।

प्रस्तुत वर्णन के साथ-साथ हमने निशीथचूर्णि-भाष्य एवं वृहत्कल्पभाष्यके वर्णन का सहारा लेकर विस्तार पूर्वक उन स्थितियों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, पाठक उन्हें यथास्थान देखें।

प्रस्तुत संपादन :

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध पर अब तक अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं लिखी हैं।

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने भी प्राय: प्रत्येक पद की विस्तृत व्याख्या की है। चूर्णिकार एवं वृत्तिकार प्रायः समान मिलती-जुलती व्याख्या करते हैं, किन्तु आचारांग द्वितीय में यह स्थिति बदल गई है। चूर्णि भी संक्षिप्त है, वृत्ति भी संक्षिप्त है तथा उत्तरवर्ती अन्य विद्वानों ने भी इस पर बहुत ही कम श्रम किया है।

चूर्णि के अनुशीलन से पता चलता है—चूर्णिकार के समय में कोई प्राचीन पाठ-परम्परा उपलब्ध रही है, उसी के आधार पर चूर्णिकार व्याख्या करते हैं, किन्तु कालान्तर में वह पाठ-परम्परा लुप्त होती गई। वृत्तिकार के समक्ष कुछ भिन्न व कुछ अपूर्ण-से पाठ आते हैं। इसप्रकार कहीं-कहीं तो दोनों के विवेचन में बहुत अन्तर लक्षित होता है। जैसे चूर्णिकार के अनुसार द्वितीयचूला का चतुर्थ अध्ययन 'रूवसत्तक्किय' है, पांचवाँ अध्ययन सद्दसत्तक्किय। जबकि वर्तमान में उपलब्ध वृत्ति के अनुसार पहले 'सद्दसत्तक्किय' है फिर 'रूवसत्तक्किय'। भावना अध्ययन में भी पाठ परम्परा में काफी भिन्नता है। चूर्णिकार के पाठ विस्तृत है।

हमारे समक्ष आधारभूत पाठ-परम्परा के लिए मुनिश्री जम्बूविजय जी द्वारा संशोधित-संपादित 'आयारंग सुत्त' रहा है। यद्यपि इसमें भी कुछ स्थानों पर मुद्रण-दोष रहा है, तथा कहीं-कहीं पाठ छूट गया लगता है, जिसका उल्लेख शुद्धिपत्र में भी नहीं है।[1] फिर भी अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों में यह अधिक उपादेय व प्रामाणिक प्रतीत होता है।

मुनिश्री नथमल जी संपादित 'आयारो तह आयार चूला' तथा 'अंगसुत्ताणि' भी हमारे समक्ष रहा है, किन्तु उसमें अतिप्रवृत्ति हुई है, 'जाव' शब्द के समग्र पाठ मूल में जोड़ देने से न केवल पाठ वृद्धि हुई है, किन्तु अनेक संदेहास्पद बातें भी खड़ी हो गई हैं। फिर आगम पाठ में अनुस्वार या मात्रा वृद्धि को भी दोष मानने की परम्परा जो चली आ रही है, तब इतने पाठ जोड़देना कैसे संगत होगा? अत: हमने उस पाठ को अधिक उपादेय नहीं माना।

मुनिश्री जम्बूविजयजी ने टिप्पणों में पाठान्तर चूर्णि आदि विविध ग्रन्थों के संदर्भ देकर प्राचीन पाठ परम्परा का जो अविकल; उपयोगी व ज्ञानवर्धक रूप प्रस्तुत किया है—वह उनकी विद्वत्ता में चारचांद लगाता है, अनुसंधाताओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है। उनके श्रम का उपयोग हमने किया है—तदर्थ हम उनके बहुत आभारी हैं।

संपादन की मौलिकताएं :

आचारांग द्वितीय के अब तक प्रकाशित अनुवाद–विवेचन—में प्रस्तुत संस्करण अपनी कुछ मौलिक विशेषताएँ रखता है जिनका सहजभाव से सूचन करना आवश्यक समझता हूँ।

१. पाठ-शुद्धि का विशेष लक्ष्य।

२. ऐसे पाठान्तरों का उल्लेख, जिनका भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी महत्त्व है तथा कुछ भिन्न, नवीन व प्राचीन अर्थ का उद्‌घाटन भी होता है।

---

१. देखें सूत्र ७३४—"दाहिणकुंडपुर संणिवेसंसि।' होना चाहिए—"दाहिण माहणकुंडपुर संणिवेसंसि।" सूत्र ७३५ में यह पाठ पूर्ण है।

३. चूर्णिगत प्राचीन पाठों का मूल रूप में उल्लेख तथा सर्वसाधारण पाठक उसका अर्थ समझ सके, तदर्थ प्रथम बार हिंदी भावार्थ के साथ टिप्पण में अंकित किया है।

४. पारिभाषिक तथा सांस्कृतिक शब्दों का—शब्दकोष की दृष्टि से अर्थ, तथा अन्य आगमों के संदर्भों के साथ उनके अर्थ की संगति, विषय का विशदीकरण, एवं चूर्णि-भाष्य आदि के आलोक में उनकी प्रासंगिक विवेचना।

५. बौद्ध एवं वैदिक परम्परा के ग्रन्थों के साथ अनेक समान आचारादि विषयों की तुलना।

६. इन सबके साथ ही भावानुसारी अनुवाद, सारग्राही विवेचन, विषय-विशदीकरण, शंका-समाधान आदि।

७. कठिन व दुर्बोध शब्दों का विशेष भावलक्ष्यी अर्थ।

—यथासंभव, यथाशक्य प्रयत्न रहा है कि पाठ व अनुवाद में अशुद्धि, अर्थ-विपर्यय न रहे, फिर भी प्रमादवश होना संभव है, अतः सम्पूर्ण शुद्धता व समग्रता का दावा करना तो उचित नहीं लगता, पर विज्ञ पाठकों से नम्र निवेदन अवश्य करूंगा कि वे मित्र-बुद्धि से भूलों का संशोधन करें व मुझे भी सूचित करके अनुग्रहीत करें।

आगमों का अनुवाद-संपादन प्रारम्भ करते समय मेरे मन में कुछ भिन्न कल्पना थी, किन्तु कार्य प्रारम्भ करने के बाद कुछ भिन्न ही अनुभव हुए। ऐसा लगता है कि आगम—सिर्फ धर्म व आचार ग्रन्थ ही नहीं है, किन्तु नीति, व्यवहार, संस्कृति, इतिहास और लोक-कला के अमूल्य रहस्य भी इनमें छुपे हैं, जिनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सर्वांगीण अध्ययन अनुशीलन करने के लिए बहुत समय, विशाल अध्ययन और विस्तृत साधनों की अपेक्षा है।

पूज्यपाद श्रुत-विशारद युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज की बलवती प्रेरणा, वात्सल्य भरा उत्साहवर्धन, मार्गदर्शन तथा पंडितवर्य श्रीयुत शोभाचन्द्र जी भारिल्ल का निर्देशन, पिता तुल्य स्नेह संशोधन-परिवर्धन की दृष्टि से बहुमूल्य परामर्श—इस संपादन के हर पृष्ठ पर अंकित हैं—इस अनुग्रह के प्रति आभार व्यक्त करना तो बहुत साधारण बात होगी। मैं हृदय से चाहता हूँ कि यह सौभाग्य भविष्य में भी इसी प्रकार प्राप्त होता रहे।

मुझे विश्वास है कि सुज्ञ पाठक मेरे इस प्रथम प्रयास का जिज्ञासुबुद्धि से मूल्यांकन करेंगे व आगम स्वाध्याय-अनुशीलन की परम्परा को पुनर्जीवित करने में अग्रणी बनेंगे।

भाद्रपद
पर्युषण प्रथम दिन
७—९—८०

—विनीत
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आचारांग-द्वितीय श्रुतस्कंध [आचार चूला] अध्ययन १० से २५

विषय-सूची

प्रथम चूला : सात अध्ययन :

प्रथम पिंडैषणा अध्ययन : (११ उद्देशक) पृष्ठ १ से ११३

ईर्या : तृतीय अध्ययन (३ उद्देशक) पृष्ठ १६९ से २०८

भाषाजात : चतुर्थ अध्ययन (२ उद्देशक) पृष्ठ २०९ से २३२

वस्त्रैषणा : पंचम अध्ययन (२ उद्देशक) पृष्ठ २३३ से २६१

पात्रैषणा : षष्ठ अध्ययन (२ उद्देशक) पृष्ठ २६२ से २७६

रूप-सप्तिका : द्वादश अध्ययन

पर-क्रिया सप्तिका : त्रयोदश अध्ययन

अन्योन्यक्रिया सप्तिका : चतुर्दश अध्ययन

तृतीय चूला : (१ अध्ययन)

भावना : पन्द्रहवाँ अध्ययन

।। आचारांग सूत्र संपूर्ण ।।

[गणहर (थेर) निबद्धं]

आयारंगसुत्तं

बीओ सुयक्खंधो

[आयार चूला]

गणधर (स्थविर) निबद्धं

आचरांग सूत्र

द्वितीय श्रुतस्कंध

[आचार चूला]

आचारांग सूत्र [आचार चूला]

(प्रथम चूला)
पिंडेषणा—प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

✡ आचारांग सूत्र का यह द्वितीय श्रुतस्कन्ध है। इसका अपर नाम 'आचाराग्र' या आचार-चूला भी है।

✡ प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो ९ ब्रह्मचर्याध्ययन प्रतिपादित है, उनमें आचार सम्बन्धी समग्र बातें नहीं बताई गई हैं, जो कुछ बताई गई है, वे बहुत ही संक्षेप में। अतः नहीं कही हुई बातों का कथन और संक्षेप में कही हुई बातों का विस्तारपूर्वक कथन करने के लिए उसकी अग्रभूत चार चूलाएँ उक्त और अनुक्त अर्थ की संग्राहिका बताई गई हैं।[1]

✡ आचाराग्र में 'अग्र' शब्द के अनेक भेद-प्रभेद करके बताया है कि यहाँ 'अग्र' शब्द 'उपकाराग्र' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययनों में जो विषय संक्षिप्त में कहे हैं, यहाँ उनका अर्थ विस्तार से किया गया है, तथा जो विषय अनुक्त—नहीं कहे गए है, उनका यहाँ निरूपण भी है।[2]

✡ प्रथम चूला में पिंडैषणा से अवग्रहप्रतिमा तक के सात अध्ययन है। इसी प्रकार स्थान सप्तिका आदि (८ से १४) सात अध्ययन की द्वितीय चूला है। तृतीय चूला में भावना अध्ययन (१५ वाँ) एवं चतुर्थ चूला में विमुक्ति अध्ययन (१६ वाँ) परिगणित है।[3]

✡ चूला, चूडा या चोटी शीर्ष स्थान को कहते हैं। आचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों का निर्देश होने से इसे 'चूला' संज्ञा दी गयी है।

✡ आचारांग सूत्र-द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम 'पिण्डैषणा' है।

✡ पिण्ड का अर्थ है—अनेक पदार्थों का संघात करना, एकत्रित करना।[4] संयम आदि भावपिण्ड है तथा उसके उपकारक आहार आदि द्रव्यपिण्ड।

---

१. निर्युक्ति तथा चूर्णि के अनुसार आचारांग के साथ पाँच चूलाएँ संयुक्त थीं। प्रथम चार चूलाओं की स्थापना के रूप में द्वितीय श्रुतस्कन्ध है, तथा पाँचवी चूला 'निशीथ-अध्ययन' के रूप में स्थापित की गई है। जैसे—
हवइ य स पंच चूलो—(निर्युक्ति गाथा ११) तस्स पंच चूलाओ,····एक्कारस पिंडेषणाओ जावोग्गह पडिमा पढमा चूला···णिसीहं पंचमा चूला—चूर्णि

२. (क) निर्युक्ति गा० ४।
(ख) आचा० टीका पत्रांक ३१८,

३. (क) निर्युक्ति गा० ११ से १६। (ख) आचा० टीका पत्रांक ३२०।

४. अभि० राजेन्द्र भाग ५ पृ० ९१६

☆ द्रव्यपिण्ड भी आहार (४ प्रकार का) शय्या और उपधि के भेद से तीन प्रकार का है, लेकिन यहाँ केवल आहारपिण्ड ही विवक्षित है।[1] पिण्ड का अर्थ भोजन भी है।[2]

☆ आहार रूप द्रव्य पिण्ड के सम्बन्ध में विविध एषणाओं की अपेक्षा से विचार करना 'पिण्डैषणा' अध्ययन का विषय है।

☆ आहार-शुद्धि के लिए की जाने वाली गवैषणैषणा (शुद्धाशुद्धि-विवेक), ग्रहणैषणा (ग्रहण विधि का विवेक) और ग्रासैषणा (परिभोगैषणा—भोजनविधि का विवेक) पिण्डैषणा कहलाती है।

☆ इसमें आहारशुद्धि (पिण्ड) से सम्बन्धित उद्‌गम, उत्पादना, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण; यों आठ प्रकार की पिण्डविशद्धि (एषणा) का वर्णन है।[3]

☆ पिण्डैषणा अध्ययन के ११ उद्देशक हैं जिनमें विभिन्न पहलुओं से विभिन्न प्रकार के आहारों (पिण्ड) की शुद्धि के लिए एषणा के विभिन्न अपेक्षाओं से बताये गए नियमों का वर्णन है। ये सभी नियम साधु के लिए बताई हुयी एषणा समिति के अन्तर्गत हैं।

☆ दशवैकालिक सूत्र (५) तथा पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

□ □

---

१. पिण्डनिर्युक्ति गा० ६, अनुवाद पृ० २।

२. (क) पिण्डं समयभाषया भक्तं—स्थान० स्था० ७ (अभि० रा० ५ पृ० ६३०)
(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर; पृष्ठ ८३८।

३. (क) पिण्डनिर्युक्ति अनुवाद पृष्ठ २, ३।
(ख) आचा० टीका पत्रांक ३२०।

पढमा चूला

'पिंडेषणा' पढमं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

प्रथम चूलाः पिंडैषणा—प्रथम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सचित्त-संसक्त आहारैषणा

३२४. से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणएहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं, तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे वि संते णो पडिगाहेज्जा।

से य आहच्च[1] पडिगाहिए सिया, से त्तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे[2] अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिते अप्पोसे अप्पुदए अप्पुत्तिग-पणग-दगमट्टिय-मक्कडासंताणए विगिंचय विगिंचय उम्मिस्सं विसोहिय विसोहिय ततो संजयामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा।

जं च णो संचाएज्जा भोत्तए वा पातए वा से त्तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा[3], २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय ततो संजयामेव परिट्ठवेज्जा।

३२४. कोई भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा में आहार-प्राप्ति के उद्देश्य से गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होकर (आहार योग्य पदार्थों का अवलोकन करते हुए) यह जाने कि यह अशन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य (आहार) रसज आदि प्राणियों (कृमियों) से, काई-फफुंदी से, गेहूँ आदि के बीजों से, हरे अंकुर आदि से संसक्त है, मिश्रित है, सचित्त जल से गीला है तथा सचित्त मिट्टी से सना हुआ है; यदि इस प्रकार का (अशुद्ध) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य पर—(दाता) के हाथ

---

१. चूर्णिकार ने 'आहच्च' और 'सिया' इन दो पदों को लेकर चतुर्भंगी सूचित की है—"आघच्च= सहसा, सिता कदाति, अणाभोगदिन्नं, अणाभोगपडिच्छियं।"—भावार्थ यह है—(१) सहसा ग्रहण कर लेने पर; (२) कदाचित् ग्रहण करले तो, (३) बिना उपयोग के दिया गया हो, (४) बिना उपयोग के ग्रहण कर लिया हो।"

२. 'अप्पंडे' आदि शब्दों का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"अंडगा पाणा जत्थ णत्थि, हरिता दगं उस्सा वा जहिं णत्थि।" अर्थात्—जहाँ अंडे, प्राणी नहीं हों, जहाँ हरियाली, सचित्त पानी या ओस नहीं हो।

३. यहाँ '२' के अंक के बदले में क्त्वा—प्रत्ययान्त 'अवक्कमित्ता' पद समझना चाहिए।

में हो, पर—(दाता) के पात्र में हो तो उसे अप्रासुक (सचित्त) और अनेषणीय (दोषयुक्त) मानकर, प्राप्त होने पर ग्रहण न करे।

कदाचित् (दाता या गृहीता की भूल से) वैसा (संसक्त या मिश्रित) आहार ग्रहण कर लिया हो तो वह (भिक्षु या भिक्षुणी) उस आहार को लेकर एकान्त में चला जाए या उद्यान या उपाश्रय में ही (—एकान्त हो तो) जहाँ प्राणियों के अंडे न हों, जीव जन्तु न हों, बीज न हों, हरियाली न हो, ओस के कण न हों, सचित्त जल न हो तथा चींटिया, लीलन-फूलन (फफूंदी), गीली मिट्टी या दलदल, काई या मकड़ी के जाले एवं दीमकों के घर आदि न हों, वहाँ उस संसक्त आहार से उन आगन्तुक जीवों को पृथक् करके उस मिश्रित आहार को शोध-शोधकर फिर यतनापूर्वक खा ले या पी ले।

यदि वह (किसी कारणवश) उस आहार को खाने-पीने में असमर्थ हो तो उसे लेकर एकान्त स्थान में चला जाए। वहाँ जाकर दग्ध (जली हुयी) स्थंडिलभूमि पर, हड्डियों के ढेर पर, लोह के कूड़े के ढेर पर, तुष (भूसे) के ढेर पर, सूखे गोवर के ढेर पर या इसी प्रकार के अन्य निर्दोष एवं प्रासुक (जीव-रहित) स्थण्डिल (स्थान) का भलीभाँति निरीक्षण करके, उसका रजोहरण से अच्छी तरह प्रमार्जन करके, तब यतनापूर्वक उस आहार को वहाँ परिष्ठापित कर दे (डाल दे)।

विवेचन—भिक्षाजीवी साधु और भिक्षा—जैन श्रमण-श्रमणियां हिंसा आदि आरंभ के त्यागी तथा अनगार होने के कारण 'भिक्षाचरी' के द्वारा उदर-निर्वाह करते हैं। इसीलिए उनकी भिक्षा **'सर्वसम्पत्करी भिक्षा'** मानी गयी है।[1] परन्तु उनकी भिक्षा 'सर्वसम्पत्करी' तभी हो सकती है, जबकि वह एषणीय, कल्पनीय, प्रासुक और निर्दोष हो, साथ ही आहार ग्रहण करने के ६ कारणों से सम्मत हो।[2]

अपने लिए योग्य आहारादि लेने के सिवाय यों ही गृहस्थों के घरों में निष्प्रयोजन जाना श्रमण की साधुता या भिक्षाजीविता के लिए दोष का कारण है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—**पिंडवाय पडियाए।**' वृत्तिकार ने 'पिण्डपात-प्रत्ययार्थं' का भावार्थ दिया है—पिण्डपात—भिक्षा लाभ, उसकी प्रतिज्ञा (उद्देश्य) से कि "मैं यहाँ भिक्षा प्राप्त करूँगा।" गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।[3]

---

१. भिक्षा तीन प्रकार की बताई गयी है—
(१) अनाथ, अपंग व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण मांग कर खाता है—वह **दीन-वृत्ति भिक्षा** है।
(२) श्रम करने में समर्थ व्यक्ति आलस्य व अकर्मण्यता के कारण मांग कर खाता है, वह **पौरुषघ्नी-भिक्षा** है। (३) त्यागी व आत्मध्यानी व्यक्ति अहिंसा व संयम की दृष्टि से सहज प्राप्त भिक्षा लेता है वह **'सर्वसम्पत्करी भिक्षा'** है। —हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण ५।१

२. आहार करने के ६ कारण निम्न हैं—

वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए। —उत्तरा० २६।३३—स्थानांग ६

(१) क्षुधा-वेदना की शांति के लिए (२) सेवा-वैयावृत्य करने के लिए, (३) ईर्यासमिति का पालन सम्यक् प्रकार से हो, इसलिए, (४) संयम-पालन के लिए (५) प्राण-धारण किए रखने के लिए तथा (६) धर्म-चिन्तना के लिए।

३. आचा० टीका पत्रांक ३२१ के आधार पर।

अग्राह्य और असेव्य आहार—सामान्यतया उत्सर्गमार्ग में साधुगण के लिए भिक्षा में प्राप्त होने वाला आहार (दो कारणों से) अग्राह्य और असेव्य हो जाता है—(१) वह आहार अप्रासुक और (२) अनेषणीय हो।

अप्रासुक का अर्थ है—सचित्त—जीव सहित और अनेषणीय का अर्थ है—त्रिविध एषणा (गवेषणा, ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा) के दोषों से युक्त।[२] वह आहार भी सचित्तवत् माना जाता

---

२ भिक्षाचरी के प्रकरण में प्रायः 'अफासुयं' 'अणेसणिज्जं' इन दो शब्दों का साथ-साथ व्यवहार हुआ है। अप्रासुक का अर्थ है—सचित्त या सचित्त-मिश्रित आहार।
अप्रासुक की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'न प्रगता असवोऽसुमन्तो यस्मात् तदप्रासुकम्'—जो जीव रहित न हुआ हो, वह अप्रासुक है। —(अभि० राजेन्द्र भाग १, पृष्ठ ६७५)
अनेषणीय आहार वह है जो उद्गम आदि दोषों से युक्त हो। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—
एष्यते गवेष्यते उद्गमादि दोषविकलतया साधुभिर्यद् तदेषणीयं, कल्प्यं, तन्निषेधादनेषणीयं
—(अभि० रा० भाग १, पृ० ४४३)
—उद्गमादि दोषों से रहित जिस आहार की साधु द्वारा गवेषणा की जाती है, वह एषणीय है, कल्पनीय है। इससे विपरीत अकल्पनीय आहार अनेषणीय है।

☆ भिक्षाचरी के उद्गम आदि बयालीस दोष सूत्रों में बताये गये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं।
गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष उद्गम के दोष कहलाते है। वे सोलह हैं जो इस प्रकार हैं—
(१) **आहाकम्म (आधाकर्म)**—सामान्य रूप से साधु के उद्देश्य से तैयार किया हुआ आहार लेना।
(२) **उद्देसिय (औद्देशिक)**—किसी विशेष साधु के निमित्त बनाया हुआ आहार लेना।
(३) **पूइकम्मे (पूतिकर्म)**—विशुद्ध आहार में आधाकर्मी आहार का थोड़ा-सा भाग मिला हुआ हो तो पूतिकर्म दोष है।
(४) **मीसजाए (मिश्रजात)**—गृहस्थ के लिए और साधु के लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार लेना।
(५) **ठवणे (स्थापना)**—साधु के निमित्त रखा हुआ आहार लेना।
(६) **पाहुडियाए (प्राभृतिका)**—साधु को आहार देने के लिए मेहमानों की जीमनवार को आगे-पीछे किए जाने पर आहार लेना।
(७) **पाओअर (प्रादुष्करण)**—अंधेरे में प्रकाश करके दिया जाने वाला आहार लेना।
(८) **कीए (क्रीत)**—साधु के लिए खरीदा हुआ आहार लेना।
(९) **पामिच्चे (प्रामित्य)**—साधु के निमित्त किसी से उधार लिया हुआ आहार लेना।
(१०) **परियट्टए (परिवर्त)**—साधु के लिए सरस-नीरस वस्तु की अदला-बदली करके दिया जाने वाला आहार लेना।
(११) **अभिहडे (अभिहृत)**—सामने लाया हुआ आहार लेना।
(१२) **उब्भिन्ने (उद्भिन्न)**—भूगृह में रक्खे हुए, मिट्टी, चपड़ी आदि से छाये हुए पदार्थ को उघाड़ कर दिया जाने वाला आहार लेना।
(१३) **मालाहडे (मालाहृत)**—जहाँ पर चढ़ने मे कठिनाई हो वहाँ से उतार कर दिया जाने वाला आहार लेना या इसी प्रकार की नीची जगह से उठाकर दिया जाने वाला आहार लेना।
(१४) **अच्छिज्जे (आच्छेद्य)**—निर्बल पुरुष से छीना हुआ—अन्याय पूर्वक लिया हुआ आहार लेना।
(१५) **अणिसिट्ठे (अनिसृष्ट)**—साझे की वस्तु साझेदार की सम्मति के बिना दिये जाने पर लेना।

(१६) अज्झोयरए (अध्यवपूरक)—गृहस्थ के लिए राँधते समय साधु के लिए अधिक राँधा हुआ आहार लेना।

✩ साधु के द्वारा लगने वाले आहार सम्बन्धी दोष उत्पादन दोष कहलाते हैं। वे भी सोलह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं।

(१) धाई (धात्री)—गृहस्थ के बाल-बच्चों को धाय (आया) की तरह खेलाकर आहार लेना।

(२) दूई (दूती)—गृहस्थ का गुप्त या प्रकट सन्देश उसके स्वजन से कहकर दूत कर्म करके आहार लेना।

(३) निमित्ते (निमित्त)—निमित्त (ज्योतिष आदि) द्वारा गृहस्थ को लाभ-हानि बताकर आहार लेना।

(४) आजीवे (आजीव)—गृहस्थ को अपना कुल अथवा जाति बताकर आहार लेना।

(५) वणीमगे (वनीपक)—भिखारी की तरह दीनता पूर्ण वचन कहकर आहार लेना।

(६) तिगिच्छे (चिकित्सा)—चिकित्सा बताकर आहार लेना।

(७) कोहे (क्रोध)—गृहस्थ को डरा-धमका कर या शाप का भय दिखाकर आहार लेना।

(८) माणे (मान)—'मैं लब्धि वाला हूँ तुम्हें सरस आहार लाकर दूंगा' इस प्रकार साधुओं से अभिमान जताकर आहार लाना।

(९) माया (माया)—छल-कपट करके आहार लेना।

(१०) लोहे (लोभ)—लोभ से अधिक आहार लेना।

(११) पुव्विं-पच्छा-संथव (पूर्व-पश्चात-संस्तव)—आहार लेने से पूर्व या पश्चात् दाता की प्रशंसा करना।

(१२) विज्जा (विद्या)—विद्या बताकर आहार लेना।

(१३) मंते (मन्त्र)—मोहन मन्त्र आदि मन्त्र सिखाकर आहार लेना।

(१४) चुन्ने (चूर्ण)—अदृश्य हो जाने का या मोहित करने का अन्जन बताकर आहार लेना।

(१५) जोगे (योग)—राज वशीकरण या जल-थल में समा जाने की सिद्धि बताकर आहार लेना।

(१६) मूलकम्मे (मूलकर्म)—गर्भपात आदि औषध बताकर या पुत्रादि जन्म के दूषण निवारण करने के लिए मघा, ज्येष्ठा आदि दुष्ट नक्षत्रों की शान्ति के लिए मूल स्नान बताकर आहार लेना।

✩ एषणा दोष श्रावक और साधु दोनों के निमित्त से लगते हैं। उनके दस भेद इस प्रकार हैं—

(१) संकिय (शङ्कित)—गृहस्थ को और साधु को आहार देते-लेते समय आहार की शुद्धि में शंका होने पर भी आहार देना लेना।

(२) मक्खिय (म्रक्षित)—हथेली की रेखा और बाल सचित्त जल से गीले होने पर भी आहार देना लेना।

(३) निक्खित्त (निक्षिप्त)—सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार देना-लेना।

(४) पिहिय (पिहित)—सचित्त वस्तु से ढँके हुए आहार को देना-लेना।

(५) साहरिय (संहृत)—सचित्त में से अचित्त निकालकर आहार लेना-देना।

(६) दायग (दायक)—अंधे, लूले, लँगड़े के हाथ से आहार का देना-लेना।

(७) उम्मीसे (उन्मिश्र)—सचित्त और अचित्त का मिश्रण कर (अथवा मिश्रित) आहार का देना लेना।

(८) अपरिणय (अपरिणत)—जिस पदार्थ में शस्त्र-परिणत न हुआ हो, जो अचित्त न हुआ हो ऐसा पदार्थ देना-लेना।

(९) लित्त (लिप्त)—तुरन्त लिपी हुयी भूमि का अतिक्रमण करके आहार देना-लेना।

(१०) छड्डिय (छर्दित)—भूमि पर छींटे डालते हुए देना-लेना।

है जो सचित्त वस्तु से सटा हुआ हो, मिला हुआ हो, सचित्त वस्तु के नीचे या ऊपर रखा हुआ हो, सचित्त वस्तु से ढंका हुआ हो, जिसका वर्ण गन्ध-रस-स्पर्श न बदला हो।

प्रस्तुत में गृहस्थके हाथ में या उसके पात्र में रखे हुए सचित्त वनस्पति, जल और पृथ्वी से संसक्त या मिश्रित आहार को अप्रासुक और अनेषणीय बताकर, मिलने पर भी लेने का निषेध किया है। किन्तु द्रव्य—(दुर्लभ द्रव्य), क्षेत्र (साधारण द्रव्य लाभ रहित क्षेत्र) काल (दुर्भिक्ष आदि काल) तथा भाव (रुग्णता, अशक्ति आदि) आदि आपवादिक कारण उपस्थित होने पर लाभालाभ की न्यूनाधिकता का सम्यक् विचार करके गीतार्थ भिक्षु संसक्त आहार को अलग करके तथा आगन्तुक प्राणियों को दूर करके वह आहार राग-द्वेष रहित होकर यतनापूर्वक ग्रहण कर भी सकता है।[1]

सदोषगृहीत आहार कैसे सेव्य, कैसे परिष्ठाप्य ?—कदाचित् असावधानी से सचित्त संसक्त या मिश्रित आहार ले लिया हो तो क्या किया जाये ? इसकी निर्दोषविधि के रूप में मुख्यतया यहाँ दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं—(१) एकान्त निर्दोष, जीवजन्तु रहित स्थान देखकर सचित्त भाग यदि अलग किया जा सकता हो तो उसे ढूंढ़कर अलग निकाल ले और अचित्त भाग का सेवन कर ले, (२) यदि वैसा शक्य न हो तो एकान्त निर्दोष, निरवद्य जीवजन्तु रहित परिष्ठापन योग्य स्थान देखभाल एवं प्रमार्जित करके यतनापूर्वक उसे परिष्ठापन कर दे।

☆ मण्डल दोष आहार करते समय सिर्फ साधु के द्वारा लगते हैं। वे पाँच हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) *संजोयणा (संयोजना)*—*जिह्वा की लोलुपता के वशीभूत होकर* आहार सरस बनाने के लिए पदार्थों को मिला-मिलाकर खाना, जैसे दूध के साथ शक्कर मिलाना आदि।

(२) अप्पमाणे (प्रमाणातिक्रांत)—प्रमाण से अधिक भोजन करना।

(३) इंगाले (अङ्गार)—सरस आहार करते समय वस्तु की या दाता की प्रशंसा करते हुए खाना।

(४) धूमे (धूम)—नीरस निःस्वाद आहार करते समय वस्तु या दाता की निन्दा करते हुए नाक, भौं सिकोड़ते हुए अरुचिपूर्वक खाना।

(५) अकारण (कारणातिक्रांत)—क्षुधावेदनीय आदि पूर्वोक्त छह कारणों में से किसी भी कारण के विना ही आहार करना।

ये सैंतालीस दोष आगम साहित्य में एक स्थान पर कहीं भी वर्णित नहीं हैं किन्तु प्रकीर्ण रूप में कई जगह मिलते हैं।

आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवपूर, पूति-कर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये १० स्थानाङ्ग (९।६२) में तथा आचारांग सूत्र ३३१ में बतलाए गये हैं। *धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपक-पिण्ड, चिकित्सा-पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान-पिण्ड, माया-पिण्ड, लोभ-पिण्ड-विद्या-पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड और पूर्व पश्चात्-संस्तवपिण्ड* इनका निशीथ-अध्ययन (उद्दे०१२) में उल्लेख है। धूम, संयोजना, प्राभृतिका, प्रमाणातिक्रान्त; भगवती (७।१) में हैं। मूलकर्म का उल्लेख प्रश्नव्याकरण (संवर० १।१५) में है। उद्भिन्न, मालाहृत, अध्यवपूर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र अपरिणत, लिप्त और छर्दित-ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं। *कारणातिक्रांत का उल्लेख* उत्तराध्ययन (२६।३२) में है। इस प्रकार विभिन्न सूत्रों में इन दोषों का वर्णन बिखरा हुआ मिलता है।

१ आचा० टीका० पत्रांक ३२१ के आधार पर।

परिष्ठापन करने योग्य स्थण्डिलभूमि के कुछ संकेत शास्त्रकार ने दिए हैं, शेष बातें साधक के विवेक पर छोड़ दी है। 'अप्पंडे' आदि में 'अप्प' शब्द अभाव का वाचक है। परिष्ठापन योग्य स्थान की भली-भांति देखभाल और रजोहरण से यतनापूर्वक सफाई के लिए यहां प्रतिलेखन और प्रमार्जन इन दो शब्दों का दो-दो बार प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार ने इन दोनों पदों के सात भंग बताए हैं—

(१) प्रतिलेखन किया हो, प्रमार्जन नहीं।
(२) प्रमार्जन किया हो, प्रतिलेखन नहीं।
(३) प्रतिलेखन, प्रमार्जन दोनों न किये हों।
(४) दुष्प्रतिलेखित और दुष्प्रमार्जित हो।
(५) दुष्प्रतिलेखित और सुप्रमार्जित हो।
(६) सुप्रतिलेखित और दुष्प्रमार्जित हो।
(७) सुप्रतिलेखित और सुप्रमार्जित हो।

इनमें से सातवां भंग ग्राह्य है।[1]

सबीज अन्न-ग्रहण की एषणा

३२५. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावती जाव[2] पविट्ठे समाणे से ज्जाओ पुण ओसहीओ[3] जाणेज्जा कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिण्णाओ अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंताभज्जितं[4] पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

से भिक्खू वा २ जाव[5] पविट्ठे समाणे से ज्जाओ पुण ओसहीओ जाणेज्जा अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिण्णाओ वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिक्कंतभज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते पडिगाहेज्जा।

३२६. से भिक्खू वा २ जाव[6] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं[7] वा बहुरजं वा

---

१. आचा० टीका पत्रांक ३२१-३२२ के आधार पर।
२. यहाँ जाव शब्द के अन्तर्गत सू० ३२४ के अनुसार शेष पाठ 'गाहावइ कुलं पिंडवाय पडियाए अणु....' तक समझना चाहिए।
३. चूर्णिकार ने 'ओसहीयो' की व्याख्या की है—'ओसहीओ सचित्ताओ पडिपुन्नाओ अखंडिताओ सस्सियाओ परोहणसमत्थाओ"—अर्थात् औषधियाँ (बीज वाले अनाज) जो सचित्त, प्रतिपूर्ण व अखण्डित हों। शस्य हों यानी—प्ररोहण में—उगने में समर्थ हों।
४. अणभिक्कंता भंज्जिता— इन दो पदों का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—अणभिक्कंता जीवेहिं=जीवों से च्युत न हों, अभज्जिता मीसजीवा चेव=भुंजी हुयी न हों अथवा अल्प भुंजी हुयी हों, वे मिश्रजीवी होती हैं। एत्तो विवरीता कप्पणिज्जा अव्वादेणं=इससे विपरीत अपवाद रूप से कल्पनीय है।
५. यहाँ भी जाव शब्द के अन्तर्गत शेष सारा पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझ लें।
६. यहाँ जाव शब्द के अन्तर्गत सूत्र ३२४ के अनुसार शेष सारा पाठ समझें।

भुज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं भज्जियं[1] अफासुयं जाव[2] णो पडिगाहेज्जा।

से भिक्खू वा २ जाव[3] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं[4] भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते जाव[5] पडिगाहेज्जा।

३२५. गृहस्थ के घर में भिक्षा प्राप्त होने की आशा से प्रविष्ट हुआ भिक्षु या भिक्षुणी यदि इन औषधियों (बीज वाले अनाजों) को जाने कि वे अखण्डित (पूर्ण) हैं, अविनष्ट योनि हैं, जिनके दो या दो से अधिक टुकड़े नहीं हुए हैं, जिनका तिरछा छेदन नहीं हुआ है, जीव-रहित (प्रासुक) नहीं हैं, अभी अधपकी फली हैं, जो अभी सचित्त व अभग्न हैं या अग्नि में भुंजी हुई नहीं हैं, तो उन्हें देखकर उनको अप्रासुक एवं अनेषणीय समझकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में भिक्षा लेने के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यदि ऐसी औषधियों को जाने कि वे अखण्डित नहीं हैं, विनष्टयोनि हैं, उनके दो या दो से अधिक टुकड़े हुए हैं, उनका तिरछा छेदन हुआ है, वे जीव रहित (प्रासुक) हैं, कच्ची फली अचित्त हो गयी हैं, भग्न हैं या अग्नि में भुंजी हुयी हैं, तो उन्हें देखकर उन्हें प्रासुक एवं एषणीय समझकर प्राप्त होती हो तो ग्रहण कर ले।

३२६. गृहस्थ के घर भिक्षा के निमित्त गया हुआ भिक्षु या भिक्षुणी यदि यह जान ले कि शाली, धान, जौ, गेहूं आदि में सचित्त रज (तुष आदि) बहुत हैं, गेहूं आदि अग्नि में भूंजे हुए—अर्धपक्व हैं (आग में पूरे पके नहीं हैं)। गेहूं आदि के आटे में तथा धान-कूटे चूर्ण में भी अखण्ड दाने हैं, कणसहित चावल के लम्बे दाने सिर्फ एक बार भूने हुए हैं या कूटे हुए हैं, तो उन्हें अप्रासुक और अनेषणीय मानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

अगर…वह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि शाली, धान, जौ, गेहूं आदि बहुत रज (तुषादि) वाले हैं, आग में भुंजे हुए गेहूं आदि तथा गेहूं आदि का आटा, कुटा हुआ धान

---

७. पिहुयं आदि शब्दों का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—"पिहुगा सालिबीहीणं, बहुरया जवाणं भवति, भुज्जिग गोधूमाणां वुच्चंति"—पृथुक (अग्नि में भूंजकर जो मूड़ी बनायी जाती है, वह) शालि ब्रीहि धान्य की होती है, जौ के बहुत रज (तुषादि) होती है, गेहूं की धानी भूंजी जाती है, वह अग्नि में अधपकी रह जाती है।

१. सइं भज्जियं का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—'एक्कंसि दुब्भज्जितं—अर्थात् एक बार अच्छी तरह अग्नि आदि में सेका (भूजा) न हो।

२. यहाँ जाव शब्द से शेष पाठ सूत्र ३२५ के अनुसार समझें।

३. यहाँ जाव शब्द सूत्र ३२४ के अनुसार समग्र पाठ का द्योतक है।

४. असइं भज्जियं की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—बार-बार दो या तीन बार भूंजने पर (ये सब) कल्पनीय हैं। किसी-किसी प्रति में भज्जियं के स्थान पर मज्जियं शब्द हैं, उसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'मर्दितम्'—कूटा-पीसा हुआ या मसला हुआ।

५. यहाँ जाव शब्द सूत्र ३२५ के अनुसार शेष समग्र पाठ का सूचक है।

आदि अखण्ड दानों से रहित है, कण सहित चावल के लम्बे दाने, ये सब एक बार, दो या तीन बार आग में भुने हैं या कुटे हुए है तो उन्हें प्रासुक और एषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण कर ले।

विवेचन—औषधियाँ क्या और उनका ग्रहण कब और कैसे?—'औषधि' शब्द बीज वाली वनस्पति, खास तौर से गेहूँ, जौ, चावल, बाजरा, मक्का आदि अन्न के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। पक जाने पर भी गेहूँ आदि अनाज का अखण्ड दाना सचित्त माना जाता है।[1] क्योंकि उसमें पुनः उगने की शक्ति विद्यमान है। इसमें से फलित हुआ कि निम्न ग्यारह परिस्थितियों में वह अन्न अप्रासुक और अनेषणीय होने से साधु के लिए ग्राह्य नहीं होता—

(१) अनाज का दाना अखण्डित हो।

(२) उगने की शक्ति नष्ट न हुयी हो।

(३) दाल आदि की तरह द्विदल न किया हुआ हो।

(४) तिरछा छेदन न हुआ हो।

(५) अग्नि आदि शस्त्र से परिणत होकर जीवरहित न हुआ हो।

(६) मूंग आदि की तरह कच्ची फली हो।

(७) पूरी तरह कूटा, भूंजा, या पीसा न गया हो।

(८) गेहूँ, बाजरी, मक्की आदि के कच्चे दाने को आग में एक बार थोड़े से सेंके हो।

(९) वह अन्न यदि अचित्त होने पर भी उसमें घुण, ईली आदि जीव पड़े हों।

(१०) उस पके हुए आहार में रसज जीव जन्तु पड़ गए हों, या मक्खी आदि उड़ने वाला कोई जीव पड़ गया हो या चीटियाँ पड़ गयी हों।

(११) जो अन्न अपक्व हो या दुष्पक्व हो।

इसके विपरीतस्थिति में गेहूँ आदि अन्न या अन्न से निष्पन्न वस्तु प्रासुक, अचित्त, कल्पनीय और एषणीय हो तो वह प्रासुक एषणीय अन्नादि (औषधि) साधु वर्ग के लिए ग्राह्य है।[2]

कसिणाओ—कृत्स्न का अर्थ है—सम्पूर्ण (अखण्डित) तथा अनुपहत।[3]

सासियाओ—शब्द का 'स्वाश्रया' रूपान्तर करके वृत्तिकार ने व्याख्या की है—जीव की स्व=अपनी उत्पत्ति के प्रति जिनमें आश्रय है, वे स्वाश्रय हैं, अर्थात् जिनकी योनि नष्ट न हुई हो। चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है, जो प्ररोहण में उगने में समर्थ हों, वे स्वाश्रिता हैं। आगम में कई औषधियों (बीज रूप अन्न) के अविनष्ट योनिकाल की चर्चा मिलती है। जैसे कि कहा है—'एतेसि णं भंते! सालीणं केवइअं कालं जोणी संचिट्ठइ?' अर्थात् भंते! इन शाली आदि धान्यों की योनि कितने काल तक रहती है?[4] कई अनाजों की ऊगने की शक्ति ३ वर्ष बाद कइयों की पाँच और सात वर्ष बाद समाप्त हो जाती है।

---

१. 'ओसहीओ सचित्ताओ पडिपुन्नाओ अखंडिताओ' —आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०५।

२. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।

३. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।

४. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।

अतिरिच्छछिन्नाओ—केला आदि कई फलों की तरह कई बीज वाली लम्बी फलियाँ तिरछी कटी हुई न हों तो साधु साध्वी नहीं ले सकते। ये द्रव्य से पूर्ण होते हैं, भाव से पूर्ण होते हैं, नहीं भी।[1]

तरुणियं वा छिवाडि—वृत्तिकार व्याख्या करते हैं—तरुणी यानी अपरिपक्व कच्ची छिवाडी—मूंग आदि की फली।[2]

अभज्जियं के तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) अभग्न—बिना कूटा हुआ, (२) बिना पीसा हुआ अथवा बिना दला हुआ, (३) अग्नि में भूंजा हुआ या सेंका हुआ न हो।[3]

पिहुयं—नये-नये ताजे गेहूँ, मक्का, धान आदि को अग्नि में सेंक कर पोंख, होले आदि बनाते हैं, उसे 'पृथुक' कहते हैं।[4]

भज्जियं का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—अग्नि में आधी पकी हुयी गेहूं आदि की बालियाँ।[5]

'मंथु' का अर्थ वृत्तिकार ने गेहूँ आदि का चूर्ण किया है।[6] दशवैकालिक (५।९८) में भी 'मंथु' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ अगस्त्यसिंहस्थविरकृत चूर्णि एवं हारिभद्रीय टीका के अनुसार 'बेर' का चूर्ण तथा जिनदासचूर्णि के अनुसार बेर, जौ आदि का चूर्ण अर्थ किया गया है।[7] सुश्रुत आदि वैद्यक ग्रन्थों में भी 'मंथु' 'मंथ' शब्द का व्यवहार हुआ है।[8]

अन्यतीर्थिक-गृहस्थ-सहगमन-निषेध

३२७. से[9] भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं जाव पविसितुकामे णो अण्णउत्थिएण वा गार-

१. आचा० टीका पत्रांक ३२२ पर से।
२. (क) आचा० टीका पत्रांक ३२२। (ख) दशवैकालिक अ० ५ उ० २ गा०—२०।
३. 'भज्जिता मीस जीवा'—आचा० चूर्णि मू० पा० टिप्पणी पृ० १०५।
४. आचा० टीका पत्रांक ३२३।
५. आचा० टीका पत्रांक ३२४।
६. आचा० टीका पत्रांक ३२४।
७. दसवेआलियं पृ० २५०।
८. सुश्रुत अ० ४६/४२६।
९. निशीथ सूत्र के द्वितीय उद्देशक (पृ० ११८) के निम्नोक्त पाठों की तुलना सू० ३२७, ३२८, ३२९ के साथ कीजिए—"जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए णिक्खमति वा पविसति वा……जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सपरिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमतिं वा पविसति वा……जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूतिज्जति।"
चूर्णिकार के शब्दों में इसकी व्याख्या इसप्रकार है—"अन्यतीर्थिका—श्चरक-परिव्राजक शाक्या-ऽऽजीवक-वृद्धश्रावकप्रभृतयः, गृहस्था मरुगादि-भिक्खायरा। परिहारिओ मूलूत्तरदोसे परिहरति। अहवा मूलूत्तरगुणे धरेति आचरतीत्यर्थः। तत्प्रतिपक्षभूतो अपरिहारी, ते य अण्णतित्थिय-गिहत्था। णो कप्पति भिक्खुस्स गिहिणा अहवा वि अण्णतित्थीणं। परिहारियस्स अपरिहारिएण सिद्धिं पविसिउं जे॥"
—अर्थात्—अन्यतीर्थिकों से यहाँ आशय है—चरक, परिव्राजक, शाक्य (बौद्ध) आजीवक (गोशा-

त्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३२८. से भिक्खू वा २ बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण वा सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

३२९. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ अपरिहारिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

३३०. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे णो अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ अपरिहारियस्स वा असणं वा ४[1] देज्जा वा अणुपदेज्जा वा।

३२७. गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने का इच्छुक भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या (भिक्षापिण्डोपजीवी) गृहस्थ के साथ, तथा पिण्डदोषों का परिहार करने वाला (पारिहारिक—उत्तम) साधु (पार्श्वस्थ आदि—) अपारिहारिक साधु के साथ भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में न तो प्रवेश करे, और न वहां से निकले।

३२८. वह भिक्षु या भिक्षुणी बाहर विचारभूमि (शौचादि हेतु स्थंडिलभूमि) या विहार (—स्वाध्याय) भूमि से लौटते या वहाँ प्रवेश करते हुए अन्यतीर्थिक या परपिण्डोपजीवी गृहस्थ (याचक) के साथ तथा पारिहारिक अपारिहारिक (आचरण शिथिल) साधु के साथ न तो विचार-भूमि या विहार-भूमि से लौटे, न प्रवेश करे।

३२९. एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा उत्तम साधु पार्श्वस्थ आदि साधु के साथ ग्रामानुग्राम विहार न करे।

३३०. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या परपिण्डोपजीवी याचक को तथैव उत्तम साधु पार्श्वस्थादि शिथिलाचारी साधु को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य न तो स्वयं दे और न किसी से दिलाए।

विवेचन—अन्यतीर्थिक, गृहस्थ एवं अपारिहारिक के साथ सहगमन-निषेध—सू० ३२७ से सू० ३३० तक में अन्यतीर्थिक आदि के साथ भिक्षा, स्थंडिलभूमि, विहार-भूमि, स्वाध्यायभूमि, विहार में सहगमन का तथा आहार के देने-दिलाने का निषेध किया गया है। अन्यतीर्थिक का अर्थ है—अन्य धर्म-सम्प्रदाय या मत के साधु। परपिण्डोपजीवी गृहस्थ से आशय है—जो परपिण्ड पर जीता हो, ये घर-घर से आटा मांगकर जीवननिर्वाह करने वाले गृहीवेषी

लक मतानुयायी), वृद्ध श्रावक आदि। गृहस्थों से तात्पर्य है—मरुक् आदि भिक्षाचर। पारिहारिक वह है—जो मूल-उत्तर दोषों का परिहार करता है; अथवा जो मूलगुण-उत्तर गुणों को धारण करता है, आचरण करता है। उससे प्रतिपक्षी है—अपारिहारिक; वे भी अन्यतीर्थिक—गृहस्थ (परपिण्डोपजीवी) हैं; निष्कर्ष है—भिक्षु को गृहस्थ या अन्यतीर्थिकों के साथ, पारिहारिक का अपरिहारिक के साथ प्रवेश करना कल्पनीय नहीं है।

१. यहाँ '४' का चिन्ह **'पाणं वा खाइमं वा साइमं वा'**—इन शेष तीनों आहारों का सूचक है।

साधु या भिखारी या याचक होते हैं। और अपारिहारिक से मतलब है जो शिथिलाचारी हैं, साध्वाचार में लगे दोषों की विशुद्धि न करने वाले पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, संसक्त और यथाच्छंद आदि साधु हैं। पारिहारिक का अर्थ है—आहार के दोषों का परिहार करने वाला शुद्ध आचार वाला साधु।[1]

भिक्षु और पारिहारिक साधु का सम्पर्क अन्यतीर्थिक, परपिण्डोपजीवी गृहस्थ एवं अपारिहारिक के साथ पाँच माध्यमों से होता है—

(१) भिक्षा के लिए साथ-साथ प्रवेश-निर्गमन से।
(२) स्थण्डिल-भूमि में साथ-साथ प्रवेश-निष्क्रमण से।
(३) स्वाध्याय-भूमि में साथ-साथ प्रवेश-निर्गमन से।
(४) ग्रामानुग्राम साथ-साथ विचरण करने से
(५) आहार के देने-दिलाने से।[2]

अन्यतीर्थिक या परपिण्डोपजीवी गृहस्थ के यहाँ प्रवेश-निर्गमन में दोष यह है कि वे आगे-पीछे चलेंगे, तो ईर्याशोधन नहीं करेंगे, उसका दोष, तथा प्रवचन लघुता या उनके द्वारा जाति आदि का अभिमान-प्रदर्शन। ये पीछे-पीछे पहुँचेंगे तो अभद्रवृत्ति के दाता को प्रद्वेष जागेगा, दाता आहार का विभाग करके देगा। उससे ऊनोदरी तप या दुर्भिक्ष आदि में थोड़े-से प्राप्त आहार में प्राण-धारण करना दुर्लभ होगा।

अपारिहारिक के साथ भिक्षा के लिए प्रवेश करने से अनेषणीय भिक्षा ग्रहण करनी होगी या उसका अनुमोदन हो जाएगा। वैसी भिक्षा ग्रहण न करने पर अन्यत्र आहार की दुर्लभता आदि परिस्थित आ सकती है।

शौचनिवृत्ति के लिए स्थण्डिलभूमि में साथ-साथ जाने पर प्रासुक जल आदि से गुह्यभाग स्वच्छ करने-न-करने आदि का विवाद खड़ा होगा। स्वाध्याय-भूमि में साथ-साथ जाने पर सैद्धान्तिक विवाद, निरर्थक स्व-प्रशंसा, असहिष्णुता के कारण कलह आदि दोषों की सम्भावना है। ग्रामानुग्राम सहगमन में भी लघुशंका-बड़ीशंका से निवृत्त होने में संकोच होगा। हाजत रोकने से आत्म-विराधना रोगादि की सम्भावना है। यदि मल-मूत्र का उत्सर्ग करना है तो प्रासुक-अप्रासुक जल ग्रहण करने से संयम-विराधना की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार अन्य-तीर्थिक आदि को अपने आहार में से देने से दाता को अप्रतीति होगी कि ये तो आहार को ले जाकर बाँटते हैं। उनको दिलाने से गृहस्थ के मन में अश्रद्धा पैदा होगी, उन अन्यतीर्थिक आदि की असंयमप्रवृत्ति आदि दोषों का सहभागी भी हो सकता है।[3] ये सब सम्पर्कजनित दोष हैं, जो आगे चलकर सुविहित साधु के सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की नींव हिला सकते हैं।

---

१. आचा० टीका पत्रांक ३२३-३२४ के आधार पर।
२. आचा० टीका पत्रांक ३२३, ३२४, ३२५ के आधार पर।
३. आचा० टीका पत्रांक ३२३-३२५।

औद्देशिकादि दोष-रहित आहार की एषणा

३३१. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सं-पडियाए[1] एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेति, तं तहप्पगारं असणं वा ४ पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया णीहडं वा अणीहडं वा अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं भा आसेवितं वा अणासेवितं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणितव्वा।

३३२. [१]. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४४ बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए पगणिय पगणिय समुद्दिस्स पाणाइं जाव[2] समारब्भ आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा।

[२]. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४ बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स पाणाइं ४ जाव आहट्टु चेतेति, तं तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं अबहिया णीहडं अणत्तट्ठियं अपरिभुत्तं अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं बहिया णीहडं अत्तट्ठियं परिभुत्तं आसेवितं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिगाहेज्जा।

३३१. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी जब यह जाने कि किसी भद्र गृहस्थ ने अकिंचन निर्ग्रन्थ के लिए एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से प्राण, भूत जीव और सत्त्वों का समारम्भ (उपमर्दन) करके आहार बनाया है, साधु के निमित्त से आहार मोल लिया, उधार लिया है, किसी से जबरन छीनकर लाया है, उसके स्वामी की अनुमति के बिना लिया हुआ है तथा सामने (साधु के स्थान पर) लाया हुआ आहार दे रहा है, तो उस प्रकार का (कई दोषों युक्त) अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य रूप आहार दाता से भिन्न पुरुष ने बनाया हो, अथवा दाता (—अपुरुषान्तर) ने बनवाया हो, घर से बाहर निकाला गया हो, या न निकाला गया हो, उस दाता ने स्वीकार किया हो या न किया हो, उसी दाता ने उस आहार में से बहुत-सा खाया हो या न खाया हो; अथवा थोड़ा-सा सेवन किया हो, या न किया हो; इस प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणिक समझकर प्राप्त होने पर भी वह ग्रहण न करे।

---

१. अस्संपडियाए के स्थान पर चूर्णि में अस्सिपडियाए पाठान्तर है।
२. यहाँ जाव शब्द के अन्तर्गत शेष समग्र पाठ सूत्र ३३१ के अनुसार समझें।

इसी प्रकार बहुत-से साधर्मिक साधुओं के उद्देश्य से, एक साधर्मिणी साध्वी के उद्देश्य से, तथा बहुत सी साधर्मिणी साध्वियों के उद्देश्य से बनाये हुए···आहार को···ग्रहण न करे; यों क्रमशः चार आलापक इसी भाँति कहने चाहिए।

३३२. (१) वह भिक्षु या भिक्षुणी यावत् गृहस्थ के घर प्रविष्ट होने पर जाने कि यह अशनादि आहार बहुत से श्रमणों, माहनों (ब्राह्मणों), अतिथियों, कृपणों (दरिद्रों), याचकों-(भिखारियों) को गिन-गिनकर उनके उद्देश्य से प्राणी आदि जीवों का समारम्भ करके बनाया हुआ है। वह आसेवन किया गया हो या न किया गया हो, उस आहार को अप्रासुक अनेषणीय समझ कर मिलने पर ग्रहण न करे।

(२) वह भिक्षु या भिक्षुणी यावत् गृहस्थ के घर प्रविष्ट होने पर जाने कि यह चतुर्विध आहार बहुत-से श्रमणों, माहनों (ब्राह्मण), अतिथियों, दरिद्रों और याचकों के उद्देश्य से प्राणादि जीवों का समारम्भ करके श्रमणादि के निमित्त से बनाया गया है, खरीदा गया है, उधार लिया गया हैं, बलात् छीना गया है, दूसरे के स्वामित्व का आहार उसकी अनुमति के बिना लिया हुआ है, घर से साधु के स्थान पर (सामने) लाकर दे रहा है, उस प्रकार के (दोषयुक्त) आहार को जो स्वयं दाता द्वारा कृत (अपुरिषांतरकृत) हो, बाहर निकाला हुआ न हो, दाता द्वारा अधिकृत न हो, दाता द्वारा उपभुक्त न हो, अनासेवित हो, उसे अप्रासुक और अनेषणीय समझकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

यदि वह इस प्रकार जाने कि वह आहार दूसरे पुरुष द्वारा कृत (पुरिषान्तरकृत) है, घर से बाहर निकाला गया है, अपने द्वारा अधिकृत है, दाता द्वारा उपभुक्त तथा आसेवित है तो ऐसे आहार को प्रासुक और एषणीय समझ कर मिलने पर वह ग्रहण कर ले।

विवेचन—औद्देशिक आदि दोषों से युक्त आहार की गवेषणा—साधु अहिंसा महाव्रत की तीन करण और तीन योग से प्रतिज्ञा लिए हुए हैं, इसलिए कोई उसके निमित्त से आहार बनाए या उसके तथा अन्य विभिन्न कोटि के भिक्षुओं या याचकों आदि के लिए बनाए या अन्य किसी प्रकार से उसको देने के लिए लाए तो वह आहार एकेन्द्रियादि प्राणियों के आरम्भ-समारम्भजनित हिंसा से निष्पन्न होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता। अतः इस विषय में साधु को अपनी गवेषणात्मक दृष्टि से पहले ही छानबीन करनी चाहिए। इसी बात का प्रतिपादन सूत्र ३३१ में और सूत्र ३३२ में किया गया है। सूत्र ३३२ के अन्त में बताया गया है कि वही आहार प्रासुक और एषणीय होने के कारण साधु के लिए ग्राह्य है जो साधु द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से जाँच-पड़ताल करने पर सिद्ध हो जाए कि वह दूसरों के लिए बना हुआ है, घर से बाहर निकाला गया है, दाता द्वारा अधिकृत है, परिभुक्त है तथा आसेवित है।[1]

अस्सं पडियाए—का संस्कृत रूपान्तर 'अस्व-प्रतिज्ञया' मानकर उसका अर्थ वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—'**न विद्यते स्वं द्रव्यमस्य सोऽयमस्वो निर्ग्रन्थः तत्प्रतिज्ञया**'—अर्थात्—जिसके पास स्व—धन या कोई भी द्रव्य नहीं है, वह अकिंचन, या स्व—स्वामित्व रहित अपरिग्रही-निर्ग्रन्थ—

---

१. आचा० टीका पत्रांक ३२५ के आधार पर।

'अस्व' है, उसकी प्रतिज्ञा से—यानी उसको लक्ष्य में रखकर या उनको मैं आहार दूंगा, इस प्रकार के अभिप्राय से···· ।

चूर्णिकार 'अस्सिपडियाए' पाठान्तर मानकर इसका संस्कृत रूपान्तर 'अस्मिन् प्रतिज्ञाय' स्वीकार करके अर्थ करते हैं—'अस्मिन् साधु' एगं प्रतिज्ञाय प्रतीत्य वा'—किसी एक साधु के विषय में प्रतिज्ञा करके कि मैं इसी साधु को दूंगा, अथवा किसी एक साधु की अपेक्षा से। हमें पहला अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।[1]

तीन प्रकार का उद्देश्य—इन दोनों सूत्रों में तीन प्रकार के उद्देश्य से निष्पन्न आहार का प्रतिपादन है—

(१) किसी एक या अनेक सार्धमिक साधु या साध्वी के उद्देश्य से बनाया हुआ तथा क्रीत आदि तथाप्रकार का आहार।

(२) अनेक श्रमणादि को गिन-गिनकर उनके उद्देश्य से बनाया हुआ।

(३) अनेक श्रमणादि के उद्देश्य से बनाया हुआ।

ये तीनों प्रकार के आहार औद्देशिक होने से[2] दोषयुक्त हैं, इसलिए अग्राह्य हैं।

'साहम्मियं'·······' का अर्थ है सार्धमिक। अर्थात् जो आचार, विचार और वेष से समान हो।[3]

'समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए'—का अर्थ है—श्रमण, माहन, अतिथि, दरिद्र और याचक। श्रमण पाँच प्रकार के होते हैं—(१) निर्ग्रन्थ—(जैन), (२) शाक्य (बौद्ध), (३) तापस, (४) गैरिक और (५) आजीवक (गोशालकमतीय)।

वृत्तिकार ने माहन का अर्थ 'ब्राह्मण' किया है, जो भोजन के समय उपस्थित हो जाता है, अतिथि—अभ्यागत या मेहमान। कृपण का अर्थ किया है—दरिद्र, दीन-हीन। वनीमक या वनीपक का अर्थ किया है—वन्दीजन—भाट, चारण आदि; परन्तु दशवैकालिकसूत्र की वृत्ति में वनीपक का अर्थ कृपण किया है, जबकि स्थानांग में इसका अर्थ याचक—भिखारी किया है, जो अपनी दीनता बताकर या दाता की प्रशंसा करके आहारादि प्राप्त करता है।[4] कृपण

---

१. (क) आचा० टीका पत्रांक ३२५। (ख) चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १०७।

२. आचा० टीका पत्रांक ३२५ के आधार पर। ३. आचा० टीका पत्रांक ३२५।

४. स्थानांग वृत्ति के अनुसार वनीपक की व्याख्या इस प्रकार है—दूसरों के समक्ष अपनी दरिद्रता दिखाने से, या उनकी प्रशंसा करने से जो द्रव्य मिलता है, वह 'वनी' है और जो उस 'वनी' को पिये, ग्रहण करे, वह 'वनीपक' है। वनीपक के पाँच भेद हैं—

(१) अतिथि-वनीपक, (२) कृपण-वनीपक, (३) ब्राह्मण-वनीपक, (४) श्व-वनीपक, (५) श्रमण-वनीपक।

अतिथि-भक्त के समक्ष दान की प्रशंसा करके दान लेने वाला 'अतिथि-वनीपक' है। वैसे ही कृपण-भक्त के समक्ष कृपण-दान की, ब्राह्मण, श्वान, श्रमण आदि के भक्त के समक्ष उनके दान की प्रशंसा करके दान चाहने वाला। श्वान-प्रशंसा का एक उदाहरण टीकाकार ने उद्धृत किया है। 'श्व-वनीपक' श्वान-भक्त के समक्ष कहता है—

(किविण) का अर्थ उत्तराध्ययन सूत्र में पिन्डोलक किया है, जो परदत्तोपजीवि पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला हो।[1]

'समारम्भ' का अर्थ है—समारम्भ करके। मध्य के ग्रहण से आदि और अन्त का ग्रहण हो जाता है, वृत्तिकार ने इस न्याय से आदि और अन्त के पद—संरम्भ और आरम्भ का भी ग्रहण करना सूचित किया है। ये तीनों ही हिंसा के क्रम हैं—संरम्भ में संकल्प होता है, समारम्भ में सामग्री एकत्र की जाती है, जीवों को परिताप दिया जाता है और आरम्भ में जीव का वध आदि किया जाता है।[2]

'समुद्दिस्स' कीयं आदि पदों के अर्थ—किसी एक या अनेक साधर्मिक साधु या साध्वी को उद्देश्य करके बनाया गया आहार समुद्दिष्ट है, कीयं=खरीदा हुआ, पामिच्चं=उधार लिया हुआ, अच्छिज्जं=बलात् छीना हुआ, अणिसट्ठं=उसके स्वामी की अनुमति लिए बिना, अभिहडं=घर से साधु-स्थान पर लाया हुआ, अत्तट्ठियं=अपने द्वारा अधिकृत।[3]

नित्याग्र पिण्डादि ग्रहण-निषेध

३३३. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तु कामे से ज्जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा—इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जति, णितिए अग्गपिंडे[4] दिज्जति, णितिए भाए[5] दिज्जति, णितिए अवड्ढभाए दिज्जति, तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिउमाणाइं[6] णो भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

३३३. गृहस्थ के घर में आहार-प्राप्ति की अपेक्षा से प्रवेश करने के इच्छुक साधु या साध्वी ऐसे कुलों (घरों) को जान लें कि इन कुलों में नित्यपिण्ड (आहार) दिया जाता है, नित्य अग्रपिण्ड दिया जाता है, प्रतिदिन भात (आधा भाग) दिया जाता है, प्रतिदिन उपार्द्ध भाग (चौथा हिस्सा) दिया जाता है; इस प्रकार के कुल, जो नित्य दान देते हैं, जिनमें प्रतिदिन

केलासभवणा ए ए गुज्झगा आगया महिं।
चरंति जक्खरूवेण पूयाऽपूया हिताऽहिता॥

—ये कैलाश पर्वत पर रहने वाले यक्ष हैं। भूमि पर यक्ष के रूप में विचरण करते हैं।

—स्थानांग ५/सू० २०० वृत्ति।

१. (क) आचा० टीका पत्र ३२५। (ख) दशवै० हारि० वृत्ति अ० ५।१।५१, ५।२।१०।
(ग) स्थानांग स्था० ५ पत्र २०० (घ) पिंडोलए व दुस्सीले—उत्त० ५।२२
२. आचा० टीका पत्र ३२५। ३. आचा० टीका पत्र ३२५।
४. 'अग्गपिण्डे' के स्थान पर 'अग्गपिण्डो' शब्द मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं–'अग्गपिण्डो अग्गभिक्खा' अर्थात् अग्रपिण्ड हैं—सर्वप्रथम अलग निकाल कर भिक्षाचरों के लिए रखी हुई भिक्षा।
५. 'भाए दिज्जति, णितिए अवड्ढभाए दिज्जति शब्दों की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है— "भाओभत्तट्ठो, अवड्ढभातो अद्धभत्तट्ठो, तस्सद्धं उवड्ढभातो।" भात शब्द का अर्थ है—भक्तार्थ यानी भोजन योग्य पदार्थ अपार्धभात का अर्थ है—अर्द्ध भक्तार्थ यानी उसका आधा भाग उपार्द्ध भात (भक्त) होता है।
६. णितिउमाणाइं के स्थान पर कहीं नियोमाणाइं एवं कहीं निइउमाणाइं पाठ मिलता है।

भिक्षाचरों का प्रवेश होता है, ऐसे कुलों में आहार-पानी के लिए साधु-साध्वी प्रवेश एवं निर्गमन न करें।

विवेचन—नित्यपिण्ड प्रदाता कुलों में प्रवेश-निषेध—इस सूत्र में साधु-साध्वियों के लिए उन पुण्याभिलाषी दानशील भद्र लोगों के यहाँ जाने-आने का निषेध किया है, जिन कुलों में पुण्य-लाभ समझ कर श्रमण, ब्राह्मण, याचक आदि हर प्रकार के भिक्षाचर के लिए प्रतिदिन पूरा (उसकी आवश्यकता की दृष्टि से) आधा या चौथाई भाग आहार दिया जाता है; जहाँ हर तरह के भिक्षाचर आहार लेने आते-जाते रहते हैं। ऐसे नित्यपिण्ड प्रदायी कुलों में जब निर्ग्रन्थ भिक्षु-भिक्षुणी जाने और आहार लेने लगेंगे तो वह गृहस्थ उनके निमित्त अधिक भोजन बनवाएगा अथवा जैन भिक्षु वर्ग को देने के बाद थोड़ा-सा बचेगा, उन लोगों को नहीं मिल सकेगा, जो प्रतिदिन वहाँ से भोजन ले जाते हैं, अतः उन्हें अन्तराय लगेगा और आहार लाभ से वंचित भिक्षाचरों के मन में जैन साधु-साध्वियों के प्रति द्वेष जगेगा।[1]

कुल का अर्थ यहाँ विशिष्ट गृह समझना चाहिए। ऐसे कुलों से आहार ग्रहण का निषेध करने की अपेक्षा उनमें प्रवेश-निर्गमन का निषेध इसलिए किया गया है कि उन घरों में साधु प्रवेश करेगा, या उन घरों के पास से होकर निकलेगा तो गृहपति उस साधु को भिक्षा-ग्रहण करने की प्रार्थना करेगा, उसकी प्रार्थना को साधु ठुकरा देगा या उसके द्वारा बनाए हुए आहार की निन्दा करेगा तो उस भद्र भावुक गृहस्थ के मन में दुःख या क्षोभ उत्पन्न हो सकता है। उसकी दान देने की भावना को ठेस पहुँच सकती है।

नित्य अग्रपिण्ड का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'भात, दाल आदि जो भी आहार बना है, उसमें से पहले पहल भिक्षार्थ देने के लिए जो आहार निकाल कर रख लिया जाता है।' चूर्णिकार इसे '**अग्रभिक्षा** कहते हैं।[2]

'**भाए**' का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—'अर्ध पोष' यानी प्रत्येक व्यक्ति के पोषण के लिए पर्याप्त आहार का आधा हिस्सा, चूर्णिकार इसका अर्थ '**भात**' करते हैं, **भत्तट्ठ**=भोजन के पदार्थ यानी पूरा भोजन।[3]

अवड्ढभाए का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—उपार्द्ध भाग यानी पोष—(पोषण-पर्याप्त आहार) का चौथा भाग। चूर्णिकार अर्थ करते हैं—'अद्ध भत्तट्ठ' अर्थात् आधा भात;[4] भोजन का आधा भाग।

निइउमाणाइं की व्याख्या वृत्तिकार यों करते हैं—जिन कुलों में नित्य '**उमाणं**' यानि स्व-पर-पक्षीय भिक्षाचरों का प्रवेश होता है, वे कुल। तात्पर्य यह है कि उन घरों से प्रतिदिन आहार मिलने के कारण उनमें स्वपक्ष—अपना मनोनीत साधु वर्ग तथा परपक्ष—अन्य भिक्षा-

१. टीका पत्रांक ३२६।
२. (क) टीका पत्र ३२६।　　(ख) चूर्णि मूल पाठ टि० पृ० १०८।
　(ग) दशवैकालिक ३।२ में '**नियाग**' शब्द भी नित्य अग्रपिण्ड का सूचक है।
३. (क) टीका पत्र ३२६,　　(ख) चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०८।
४. (क) टीका पत्र ३२६,　　(ख) चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०८।

चर वर्ग, सभी भिक्षा के लिए प्रवेश करते हैं। ऐसी स्थिति में उन गृहपतियों को बहुत-से भिक्षाचरों को आहार देना पड़ेगा। अतः उन्हें आहार भी प्रचुर मात्रा में बनवाना पड़ेगा। ऐसा करने में षट्कायिक जीवों की विराधना सम्भव है। यदि वे अल्प मात्रा में भोजन बनवाते हैं तो जैन साधुओं को देने के बाद थोड़ा सा बचेगा, इससे दूसरे भिक्षाचर आहार-लाभ से वंचित हो जाएंगे, उनके अन्तराय लगेगा।

चूर्णिकार इस पद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—नित्य दूसरे भिक्षुओं को देने पर पकाया हुआ आहार अवमान—कम हो जाएगा, यदि वह स्व पर-दोनों प्रकार के भिक्षाचरों को आहार देता है तो अपने भिक्षुओं को देने में आहार कम पड़ जाएगा। इस कारण बाद में उसे अधिक आहार पकाना पड़ेगा। अधिक पकाने में षट्-कायिक जीवों का वध होगा। इसलिए जिन कुलों में नित्य स्व-पर पक्षीय भिक्षाचरों को आहार देने में कम पड़ जाता है, वे नित्यावमानक कुल हैं।[1]

३३४. एयं खलु[2] तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि। ॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

३३४. यह (पूर्व सूत्रोक्त पिण्डैषणा विवेक) उस (सुविहित) भिक्षु या भिक्षुणी के लिए (ज्ञानादि आचार की) समग्रता है, कि वह समस्त पदार्थों में संयत या पंचसमितियों से युक्त, ज्ञानादि-सहित अथवा स्वहित परायण होकर सदा प्रयत्नशील रहे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इस सूत्र में पिछले सूत्रों में विधि—निषेध द्वारा जो पिण्डैषणा-विवेक बताया है, उसके निष्कर्ष और उद्देश्य तथा अन्त में निर्देश का संकेत है।

सामग्गियं की व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—'भिक्षु द्वारा यह उद्गम-उत्पादन-ग्रहणैषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम आदि कारणों (दोषों) से सुपरिशुद्ध पिण्ड का ग्रहण ज्ञानाचार सामर्थ्य है, दर्शन-चारित्र-तपोवीर्याचार संपन्नता है। चूर्णिकार के शब्दों में इस प्रकार आहारगत दोषों का परिहार करने से पिण्डैषणा गुणों से उत्तर गुण में समग्रता होती है।[3]

विशुद्धाहारी भिक्षु का सामर्थ्य बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'सव्वट्ठेहिं समिए सहिए।' अर्थात् वह भिक्षु सरस-नीरस आहारगत पदार्थों में या रूप-रस-गन्ध स्पर्शयुक्त पदार्थों में संयत अथवा पाँचसमितियों से युक्त अर्थात् शुभाशुभ में राग-द्वेष से रहित तथा स्व-पर-हित से युक्त (सहित) अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सहित होता है।[4]

निर्देश—इस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त भिक्षु या भिक्षुणी इस निर्दोष भिक्षावृत्ति का परिपालन करने में सदा प्रयत्नशील रहे।"

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) टीका पत्र ५२६। (ख) चूर्णि मू० पा० टि० पृ० १०८।
२. इसके स्थान पर "एतं खलु……सामग्गियं" पाठ मानकर चूर्णिकार व्याख्या करते हैं—"एतं खलु एवं परिहरता पिंडेसणागुणेहि उत्तरगुणसमग्गता भवति।"—यह इस प्रकार आहारगत दोषों का त्याग करने से पिण्डैषणा के गुणों से उत्तरगुण समग्रता भिक्षु या भिक्षुणी को प्राप्त होती है।
३. (क) टीका पत्र ३२७। (ख) चू० मू० पा० टि० पृ० १०८। ४. टीका पत्र ३२७।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अष्टमी पर्वादि में आहार ग्रहण-विधि निषेध

३३५. से भिक्खू वा गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, असणं वा ४ अट्ठमिपोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउमासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु[1] वा उदुसंधीसु वा उदुपरियट्टेसु वा बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगे एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए, दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए, कुंभीमुहातो[2] वा कलोवातितो वा संणिहिसंणिचयातो[3] वा परिएसिज्जमाणे पेहाए, तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं जाव आसेवितं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

३३५. वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में आहार-प्राप्ति के निमित्त प्रविष्ट होने पर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप आहार के विषय में यह जाने कि यह आहार अष्टमी, पौषधव्रत के उत्सवों के उपलक्ष्य में तथा अर्द्धमासिक (पाक्षिक), मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक और षाण्मासिक उत्सवों के उपलक्ष्य में तथा ऋतुओं, ऋतुसन्धियों एवं ऋतु-परिवर्तनों के उत्सवों के उपलक्ष्य में (बना है, उसे) बहुत-से श्रमण, माहन (ब्राह्मण), अतिथि, दरिद्र एवं भिखारियों को एक बर्तन से (लेकर)—परोसते हुए देखकर, दो बर्तनों से (लेकर) परोसते हुए देखकर, या तीन बर्तनों से (लेकर) परोसते हुए देखकर एवं चार बर्तनों से (लेकर) परोसते हुए देखकर तथा संकड़े मुँह वाली कुम्भी और बाँस की टोकरी में से (लेकर) एवं संचित किए हुए गोरस (दूध, दही, घी आदि) आदि पदार्थों को परोसते हुए देखकर, जो कि पुरुषान्तरकृत नहीं है, घर से बाहर निकाला हुआ नहीं है, दाता द्वारा अधिकृत नहीं है, न परिभुक्त और आसेवित है, तो ऐसे चारों प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

और यदि ऐसा जाने कि यह आहार पुरुषान्तरकृत (अन्यार्थ कृत, दूसरे के हस्तक किया

---

१. 'उऊसु' के कहीं-कहीं पाठान्तर 'उवुएसु' 'उतूएसु' या 'उदुसु' मिलते हैं। 'उऊसु' का अर्थ 'ऋतुओं' में होता है, जबकि चूर्णिकार ने 'उदुसु' पाठ मानकर अर्थ किया है—'सरितादिसु' नदी आदि में।

२. चूर्णिकार ने इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है—कुंभीं कुंभप्रमाणा, कलसी गिहिकुंभेहिं भरिज्जति, कलवादी पच्छी पिडगमादी; अर्थात्—कुंभी घड़े जितनी बड़ी होती है। कलसी जिसे गृह के घड़ों से भरा जाता है। कलवादी=टोकरी, पिटारी आदि।

३. सन्निधी का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—सन्निधी-गोरसो संचिणओ घत गुलमादि। अर्थात्—सन्निधि का अर्थ है गोरस और सचिणओ का अर्थ है—घृत गुड़ आदि।

जा चुका हो) है, घर से बाहर निकाला हुआ है, दाता द्वारा अधिकृत है, परिभुक्त है और आसेवित है तो ऐसे आहार को प्रासुक और एषणीय समझ कर मिलने पर ग्रहण कर ले।

विवेचन—पर्व विशेष में निष्पन्न आहार कब अग्राह्य, कब ग्राह्य?—इस सूत्र में अष्टमी आदि पर्व विशेष के उत्सव में श्रमणादि को खास तौर से दिए जाने वाले ऐसे आहार का निषेध किया है, जो श्रमणादि के सिवाय किन्हीं दूसरों (गृहस्थों) के लिए नहीं बना है, न उसे बाहर निकाला है, न दाता ने उसका उपयोग व सेवन किया है, न दाता का स्वामित्व है। क्योंकि ऐसा आहार सिर्फ श्रमणादि के निमित्त से ही बनाया गया माना जाता है, अगर उसे जैन-श्रमण लेता है तो वह आरम्भ-दोषों का भागी बनेगा। किन्तु यदि ऐसा आहार पुरुषान्तरकृत आदि है तो उसे लेने में कोई दोष नहीं है। साथ ही इस बात के निर्णय के लिए उपाय भी बताया है।

उक्खा, कुंभीमुहा, कलोवातो आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—**उक्खा** पिट्ठर, बड़ी बटलोई जैसा बर्तन, **कुम्भी**—संकड़े मुंह वाले बर्तन। **कलोवाती**—पिटारी या बांस की टोकरी। संनिधि हैं—गोरस आदि।[1]

भिक्षा योग्य कुल

३३६. से भिक्खू वा २ जाव अणुपविट्ठे समाणे से ज्जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा, तंजहा—उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइण्णकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुलणि वा बोक्कसालियकुलाणि वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु अदुगुंछिएसु अगरहितेसु असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

३३६. वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में आहार प्राप्ति के लिए प्रविष्ट होने पर (आहार ग्रहण योग्य) जिन कुलों को जाने वे इस प्रकार हैं—उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, गोपालादिकुल, वैश्यकुल, नापितकुल, बढ़ई-कुल, ग्रामरक्षक कुल या तन्तुवाय-कुल, ये और इसी प्रकार के और भी कुल, जो अनिन्दित और अगर्हित हों, उन कुलों (घरों) से प्रासुक और एषणीय अशनादि चतुर्विध आहार मिलने पर ग्रहण करे।

विवेचन—भिक्षाग्रहण के लिए कुलों का विचार—यद्यपि जैन-श्रमण समतायोगी होता है, जाँति-पाँति के भेदभाव, छुआ-छूत, रंग-भेद, सम्प्रदाय-प्रान्तादि भेद में उसका कतई विश्वास नहीं होता, न वह इन भेदों को लेकर राग-द्वेष, मोह-घृणा या उच्च-नीच आदि व्यवहार करता है बल्कि शास्त्रों में जहाँ साधु के भिक्षाटन का वर्णन आता है, वहाँ स्पष्ट उल्लेख है—"**उच्चनीयमज्झिमकुलेसु अडमाणे**"[2] (—उच्च, नीच और मध्यम कुलों में भिक्षाटन करता हुआ)। यहाँ उच्च, नीच, मध्यम का जाति-वंश परक या रंग-प्रान्त-राष्ट्रादिपरक अर्थ न करके जैनाचार्यों ने

---

१. टीका पत्र ३२७।

२. अन्तकृद्दशा वर्ग २ तथा अन्य आगम।

सम्पन्नता-असम्पन्नता परक अर्थ ही किया है।[1] अगर उच्च-नीच या किसी प्रकार का भेदभाव आहार ग्रहण करने के विषय में करना होता तो शास्त्रकार मूलपाठ में नापित, वढ़ई, तन्तुवाय (जुलाहे) आदि के घरों से आहार लेने का विधान न करते, तथा उग्र आदि जिन कुलों का उल्लेख किया है, उनमें से बहुत-से वंश तो आज लुप्त हो चुके हैं, क्षत्रियों में भी हूण, शक, यवन आदि वंश के लोग मिल चुके हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने अन्त में यह कह दिया कि इस प्रकार के किसी भी लौकिक जाति या वंश के घर हों, उनसे साधु भिक्षा ग्रहण कर सकता है, वशर्ते कि वह घर निन्दित और घृणित न हो।[2]

जुगुप्सित और गर्हित घर—जुगुप्सा या घृणा उन घरों में होती है, जहाँ खुले आम मांस-मछली आदि पकाये जाते हों, मांस के टुकड़े, हड्डियाँ, चमड़ा आदि पड़ा हो, पशुओं या मछलियों आदि का वध किया जाता हो, जिनके यहाँ वर्तनों में मांस पकता हो, अथवा जिनके वर्तन, घर, आंगन, कपड़े, शरीर आदि अस्वच्छ हो, स्वच्छता के कोई संस्कार जिन घरों में न हों, ऐसे घर, चाहे वे क्षत्रियों या मूलपाठ में बताए गए किसी जाति, वंश के ही क्यों न हों, वे जुगुप्सित और घृणित होने के कारण त्याज्य समझने चाहिए। और गर्हित-निन्द्य घर वे हैं—जहाँ सरे आम व्यभिचार होता हो, वैश्यालय हो, मदिरालय हो, कसाईखाना हो, जिनके आचरण गंदे हों, जो हिंसादि पापकर्म में ही रत हो, ऐसे घर भी शास्त्र में परिगणित जातियों के ही क्यों न हों, भिक्षा के लिए त्याज्य हैं। जुगुप्सित और निन्दित लोगों के घरों में भिक्षा के लिए जाने से भिक्षु को स्वयं घृणा पैदा होगी, संसर्ग से बुद्धि मलिन होगी, आचार-विचार पर भी प्रभाव पड़ना सम्भव है, लोक-निन्दा भी होगी, आहार की शुद्धि भी न रहेगी और धर्मसंघ की वदनामी भी होगी।

वृत्तिकार ने अपने युग की छाया में 'अदुगुंछिएसु अगरहिएसु' इन दो पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—जुगुप्सित यानी चर्मकार आदि के कुल तथा गर्हित यानी दास्य आदि के कुल। परन्तु शास्त्रकार की ये दोनों शर्तें शास्त्र में परिगणित प्रत्येक ज्ञाति-वंश के घर के साथ हैं।[3]

उग्गकुलाणि आदि पदों के अर्थ—वृत्तिकार के अनुसार—कुल शब्द का अर्थ यहाँ घर समझना चाहिए, वंश या जाति नहीं।[4] क्योंकि आहार घरों में मिलता है, जाति या वंश में

---

१. (क) प्रासाद हवेली आदि उच्चभवन द्रव्य से उच्च कुल है, जाति, विद्या, आदि से समृद्ध व्यक्तियों के भवन भारतः उच्चकुल है। तृण, कुटी झोंपड़ी आदि द्रव्यतः नीच कुल है, जाति, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भावतः नीच कुल है—

—दशवैकालिक सूत्र ५/१४ पर हारिभद्रीय टीका पृ० १६६।

(ख) नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में भिक्षा करने वाला भिक्षु जातिवाद को वढ़ावा देता है—जातिवाओ य उववूहिओ भवति।

—दशवैकालिक सू० अ० ५ उ० २ गा० २५ तथा उस पर जिनदासचूर्णि एवं हारिभद्रीय टीका पृ० १९८-१९९।

२. आचारांग मूलपाठ के आधार पर पृ० १०९। ३. टीका पत्र ३२७ के आधार पर।

४. दशवैकालिक चूर्णि में भी यही अर्थ मिलता है 'कुलं सबंधि-समवातो, तदालयो वा—सम्बन्धियों का समवाय या घर—कुल कहा जाता है—अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ० ५०२ (दश० ५/१४)

नहीं। इस दृष्टि से यहाँ जितने भी नाम गिनाए हैं, वे वंशवाचक या ज्ञातिवाचक (प्रायः अपने पेशे से सम्बन्धित जाति संज्ञक) हैं। इस दृष्टि से उग्र का आरक्षिकवंश, भोग का राजा के पूज्य-पुरोहित, भोक्ता आदि वंश राजन्य का राजा के मित्र स्थानीय वंश, क्षत्रिय का राठौड़ आदि वंश, इक्ष्वाकु का ऋषभदेव स्वामी के वंशज, हरिवंश का हरि—(श्रीकृष्ण, अरिष्टनेमि आदि के) वंशज, एसिय का गोपाल ज्ञाति, वेसिय का वैश्यज्ञातीय वणिक्, गण्डक का नापित-ज्ञातीय, कोट्टाग का सुथार या बढ़ईजातीय, बोक्कसालिय का तन्तुवाय (बुनकर) ज्ञातीय, गामरक्ख का ग्रामरक्षक ज्ञातीय अर्थ वृत्तिकार ने किया है। चूर्णिकार ने कुछ पदों के अर्थ इस प्रकार दिए हैं—एसिय=वणिक्, वेसिय=रंगरेज (रंगोपजीवी), गंडाक=ग्राम का आदेशवाहक, कोट्टाग=रथकार।[1] प्रासुक और एषणीय का विचार तो सभी घरों में आहार लेते समय करना ही चाहिए।

इन्द्रमह आदि उत्सव में अशनादि एषणा

३३७. से भिक्खू वा २ जाव अणुपविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडणियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेतियमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा णदिमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए[2] एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे दोहिं जाव संणिहि-संणिचयातो वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरगयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुण एवं जाणेज्जा – दिण्णं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावति-भारियं वा गाहावतिभगिणिं वा गाहावतिपुत्तं वा गाहावतिधूयं वा सुण्हं वा धातिं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा[3]—आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं भोयणजायं? से सेवं वदंतस्स परो असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. (क) टीका पत्र ३२७। (ख) आचा० चूर्णि मूलपाठ टि० पृ० १०६।

२. 'वणीमए' के बदले 'वणीमएसु' पाठ प्रायः प्रतियों में मिलता है, परन्तु पूर्वापर अनुसन्धान करने पर 'वणीमए' पाठ ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

३. आलोएज्जा का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—आलोएज्जा=आलविज्जा, अर्थात्—बोले। वृत्तिकार इसके दो अर्थ करते हैं—आलोकयेत्=पश्येत्, प्रभुं प्रभुसन्दिष्टं या ब्रूयात्। आलोकयेत्=देखे, तथा गृह-स्वामी को, या गृहपति के सेवक से कहे।

३३७. वह भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होते समय यह जाने कि यहाँ मेला, पितृपिण्ड के निमित्त भोज, तथा इन्द्र-महोत्सव, स्कन्ध-महोत्सव, रुद्र-महोत्सव, मुकुन्द-महोत्सव, भूत-महोत्सव, यक्ष-महोत्सव, नाग-महोत्सव तथा स्तूप, चैत्य, वृक्ष, पर्वत, गुफा, कूप, तालाब, ह्रद (झील), नदी, सरोवर, सागर या आकर (खान) सम्बन्धी महोत्सव एवं अन्य इसी प्रकार के विभिन्न प्रकार के महोत्सव हो रहे हैं, (उनके उपलक्ष्य में निष्पन्न) अशनादि चतुर्विध आहार बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र, याचकों को एक बर्तन में से, दो बर्तनों, तीन बर्तनों या चार बर्तनों में से(निकाल कर) परोसा (भोजन कराया) जा रहा है तथा घी, दूध, दही, तैल, गुड़ आदि का संचय भी संकड़े मुँह वाली कुप्पी में से, तथा बांस की टोकरी या पिटारी से परोसा जा रहा है, यह देखकर तथा इस प्रकार का आहार पुरुषान्तरकृत, घर से बाहर निकाला हुआ, दाता द्वारा अधिकृत, परिभुक्त या आसेवित नहीं है तो ऐसे चतुर्विध आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

यदि वह यह जाने कि जिनको (जो आहार) देना था, दिया जा चुका है, अब वहाँ गृहस्थ भोजन कर रहे हैं, ऐसा देखकर (आहार के लिए वहाँ जाए), उस गृहपति की पत्नी, बहन, पुत्र, पुत्री या पुत्रवधू, धायमाता, दास या दासी अथवा नौकर या नौकरानी को पहले से ही (भोजन करती हुई) देखे, (तब अवसर देखकर) पूछे—"आयुष्मती भगिनी ! क्या मुझे इस भोजन में से कुछ दोगी ? ऐसा कहने पर वह स्वयं अशनादि आहार लाकर साधु को दे अथवा अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे या वह गृहस्थ स्वयं दे तो उस आहार को प्रासुक एषणीय जानकर मिलनें पर ग्रहण करे।

विवेचन—महोत्सवों में निष्पन्न आहार कब ग्राह्य, कब अग्राह्य ?—इस सूत्र में सूत्र ३३५ की तरह की चर्चा की गई है। अन्तर इतना-सा है कि वहाँ तिथि, पर्व-विशेष में निष्पन्न आहार का निरूपण है, जबकि यहाँ विविध महोत्सवों में निष्पन्न आहार का। यहाँ महोत्सवों में निष्पन्न आहार जिनको देना था, दे चुकने के बाद जब गृहस्थ भोजन कर रहे हों, तब आहार को दाता दे तो ग्राह्य बताया है।[1]

'समवाएसु' आदि शब्दों के अर्थ—वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार हैं—समवाय का अर्थ मेला है, जनसमूह का एकत्रित मिलन जहाँ हो। पिण्डनिकर का अर्थ है—पितृपिण्ड=मृतक-भोज। स्कन्ध=कार्तिकेय, रुद्र प्रसिद्ध हैं, मुकुन्द=बलदेव, इन सबकी लोक में महिमा-पूजा विशिष्ट समय पर की जाती है।

संखडि-गमन निषेध

३३८. से भिक्खू वा २ परं अद्ध जोयणमेराए संखडिं[3] संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

१. टीका पत्र ३२८ के आधार पर। २. टीका पत्र ३२८ के आधार पर।
३. किसी-किसी प्रति में 'संखडिं णच्चा' तथा 'संखडिं संखडिपडियाए' पाठ है, हमारी आदर्श प्रति में 'णच्चा' पद नहीं है। अर्थात् सखडि को जान कर संखडी की अपेक्षा से जाने की इच्छा न करे।

से भिक्खू वा २ पाईणं संखडिं णच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं णच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं णच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उदीणं संखडिं णच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे। जत्थेव सा संखडी सिया, तंजहा—गामंसि वा णगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आगरंसि वा आसमंसि वा संणिवेसंसि वा जाव रायहाणिसि वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए। केवली बूया—आयाणमेतं[1]। संखडिं संखडिपडियाए अभिसंधारेमाणे आहाकम्मियं वा उद्देसियं वा मीसज्जायं वा कीयगडं वा पामिच्चं वा अच्छेज्जं वा अणिसट्ठं वा अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुंजेज्जा, अस्संजते[2] भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ[3] महल्लियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियाओ कुज्जा, समाओ सेज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सेज्जाओ समाओ कुज्जा; पवाताओ सेज्जाओ णिवायाओ कुज्जा, णिवायाओ सेज्जाओ पवाताओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा कुज्जा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय २ दालिय[4] संथारगं संथारेज्जा, एस[5] खलु भगवया मीसज्जाए अक्खाए।

तम्हा से संजते णियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

३३८. संखडि (बृहद् भोज) में आहारार्थ जाने का निषेध—वह भिक्षु या भिक्षुणी अर्ध योजन

---

१. इसके बदले किसी-किसी प्रति में 'आययणमेयं' पाठ है। अर्थात् यह दोषों का आयतन-स्थान है।

२. यहाँ 'अस्संजए' के बदले 'अस्संजए स भिक्खु' पाठान्तर भी है। अर्थ होता है—वह भिक्षु असंयमी है।

३. "खुड्डियाओ दुवारियाओ"····आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"खुड्डियाओ दुवारियातो मह०" प्रकाश-प्रवात-अवकाशार्थं बहुयाण, 'महल्लियाओ दुवारियाओ खुड्डियाओ' सुसंगुप्तणिवातार्थं थोवाणं····। अंतो वा बाहिं वा हरिया छिंदिय छिंदिया दालिय त्ति कुसा खरा पिट्टेत्ता संथरंति।" अर्थात्—छोटे दरवाजे बड़े करवाएगा—अधिक प्रकाश, हवा, और अधिक लोगों के समावेश के लिए। अथवा बड़े दरवाजे छोटे करवाएगा। मकान को अच्छी तरह सुरक्षित एवं निर्वात (बंद) बनाने तथा सीमित लोगों के निवास के लिए (उपाश्रय) (साधु के लिए बनाए गए वासस्थान) के अन्दर या बाहर उगी हुई हरियाली को काट-काटकर तथा कुशों को उखाड़कर, खुरदरी जमीन कूट-पीटकर सम बनाएगा उस पर साधु का आसन (तख्त, पाट या अन्य आसन) लगाएगा।

४. यहाँ '२' का अंक पुनरुक्ति का सूचक है।

५. इसके बदले १. "एस विलुंगयायो सिज्जाए (सज्जाए) २. एस विलुगगयामो मीसज्जाए—३. एस खलु भगवया मो मीसज्जाए; ४. एस खलु भगवया सेज्जाए अक्खाए" आदि पाठान्तर है। अर्थ इस प्रकार हैं (१) यह साधु अकिंचन होने के कारण वासस्थान का संस्कार कर न सकेगा, अतः मुझे ही कराना होगा। (२) निर्ग्रन्थ अकिंचन है, इस कारण वह गृहस्थ या कारणवश वह साधु स्वयं संस्कार कराएगा। (३) भगवान् ने इसे मिश्रजात दोष कहा है। (४) यह सब भगवान् ने शय्यैषणा नामक अध्ययन में कहा है।

की सीमा से पर (आगे—दूर) संखडि (बड़ा जीमनवार—बृहत्भोज) हो रही है, यह जानकर संखडि में निष्पन्न आहार लेने के निमित्त से जाने का विचार न करे।

यदि भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि पूर्व दिशा में संखडि हो रही है, तो वह उसके प्रति अनादर (उपेक्षा) भाव रखते हुए पश्चिम दिशा को चला जाए। यदि पश्चिम दिशा में संखडि जाने तो उसके प्रति अनादर भाव से पूर्व दिशा में चला जाए।

इसी प्रकार दक्षिण दिशा में संखडि जाने तो उसके प्रति अनादरभाव रखकर उत्तर दिशा में चला जाए और उत्तर दिशा में संखडि होती जाने तो उसके प्रति अनादर बताता हुआ दक्षिण दिशा में चला जाए।

संखडि (बृहत् भोज) जहाँ भी हो, जैसे कि गाँव में हो, नगर में हो, खेड़े में हो, कुनगर में हो, मडंब में हो, पट्टन में हो, द्रोणमुख (बन्दरगाह) में हो, आकर—(खान) में हो, आश्रम में हो, सन्निवेश (मौहल्ले) में हो, यावत् (यहाँ तक कि) राजधानी में हो, इनमें से कहीं भी संखडि जाने तो संखडि (से स्वादिष्ट आहार लाने) के निमित्त से मन में संकल्प (प्रतिज्ञा) लेकर न जाए। केवल ज्ञानी भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्धन का स्थान—कारण है।

संखडि में संखडि (—में निष्पन्न बढ़िया भोजन लाने) के संकल्प से जाने वाले भिक्षु को आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीतकृत, प्रामित्य, बलात् छीना हुआ, दूसरे के स्वामित्व का पदार्थ उसकी अनुमति के बिना लिया हुआ या सम्मुख लाकर दिया हुआ आहार सेवन करना होगा। क्योंकि कोई भावुक गृहस्थ (असंयत) भिक्षु के संखडी में पधारने की सम्भावना से छोटे द्वार को बड़ा बनाएगा, बड़े द्वार को छोटा बनाएगा, विषम वासस्थान को सम बनाएगा तथा सम वासस्थान को विषम बनाएगा। इसी प्रकार अधिक वातयुक्त वास स्थान को निर्वात बनाएगा या निर्वात वास-स्थान को अधिक वातयुक्त (हवादार) बनाएगा। वह भिक्षु के निवास के लिए उपाश्रय के अन्दर और बाहर (उगी हुई) हरियाली को काटेगा, उसे जड़ से उखाड़ कर वहाँ संस्तारक (आसन) बिछाएगा। इस प्रकार (वास स्थान के आरम्भयुक्त संस्कार की सम्भावना के कारण) संखडि में जाने को भगवान् ने मिश्रजात दोष बताया है।

इसलिए संयमी निर्ग्रन्थ इस प्रकार नामकरण, विवाह आदि के उपलक्ष्य में होने वाली पूर्व संखडि (प्रीतिभोज) अथवा मृतक के पीछे की जाने वाली पश्चात्-संखडि (मृतक-भोज) को (अनेक दोषयुक्त) संखडि जान कर संखडि (—में-निष्पन्न आहार-लाभ) की दृष्टि से जाने का मन में संकल्प न करे।

विवेचन—संखडि की परिभाषा—'संखडि' एक पारिभाषिक शब्द है। **"संखण्ड्यन्ते-विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडिः,"** जिसमें आरम्भ-समारम्भ के कारण प्राणियों की विराधना होती है, उसे संखडि कहते हैं, यह उसकी व्युत्पत्ति है।[1] भोज आदि में अन्न का विविध रीतियों

---

१. (क) आचा० टीका पत्र ३२८।
(ख) इसी प्रकार का अर्थ दशवै० ७।३६ की जिनदासचूर्णि पृ० २५७ तथा हारिभद्रीय टीका पृ० २१६ पर किया गया है।

से संस्कार किया जाता है, इसलिए भी इसे 'संस्कृति' (संखडि) कहा जाता होगा। वर्त्तमान—युगभाषा में इसे 'वृहद्भोज' (जिसमें प्रीतिभोज आदि भी समाविष्ट हैं) कहते हैं। राजस्थान में इसे 'जीमनवार' कहते हैं। इसे दावत या गोठ भी कहते हैं।

संखडि में जाने का निषेध और उपेक्षा भाव क्यों?—संखडि में जाने से निम्नोक्त दोष लगने की सम्भावना है—

(१) जिह्वालोलुपता। (२) स्वादलोलुपतावश अत्यधिक आहार लाने का लोभ। (३) अति मात्रा में स्वादिष्ट भोजन करने से स्वास्थ्य हानि, प्रमाद-वृद्धि, स्वाध्याय का क्रम-भंग। (४) जनता की भीड़ में धक्का मुक्की, स्त्री संघट्टा (स्पर्श) एवं मुनि वेश की अवहेलना। (५) जनता में साधु के प्रति अश्रद्धा भाव बढ़ने की सम्भावना आदि।

श्रद्धालु गृहस्थ को पता लग जाने पर कि अमुक साधु यहाँ प्रीतिभोज के अवसर पर पधार रहे हैं, मुझे उन्हें किसी भी मूल्य पर आहार देना है, यह सोचकर वह उनके उद्देश्य से खाद्य-सामग्री तैयार कराएगा, खरीद कर लाएगा, उधार लाएगा, किसी से जबरन छीनकर लाएगा, दूसरे की चीज को अपने कब्जे में करके देगा, घर से सामान तैयार करा कर साधु के वास स्थान पर लाकर देगा; इत्यादि अनेक दोषों की पूरी सम्भावना रहती है।

इसके सिवाय कई वृहत् भोज पूरे दिन रात या दो तीन दिन तक चलते हैं, इसलिए गृहस्थ अपने पूज्य साधु को उसमें पधारने के लिए आग्रह करता है, अथवा गृहस्थ को पता लग जाता है कि पूज्य साधु पधारने वाले हैं तो वह उनके ठहरने के लिए अलग से प्रबन्ध करेगा, ताकि वह स्थान गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क से रहित, विविक्त एवं साधु के निवास योग्य बन जाए। इसके लिए वह गृहस्थ उस मकान को विविध-प्रकार से तुड़ा-फुड़ा कर मरम्मत कराएगा, रंग-रोगन करवाएगा, वहाँ फर्श पर उगी हुयी हरी घास आदि को उखड़वाकर उसको संस्कारित कराएगा, सजाएगा, इन दोषों का उल्लेख मूलपाठ में किया गया है। जिस संखडि में जाने के पीछे इतने दोषों की सम्भावना हो, उस संखडि में सुविहित साधु कैसे जा सकता है? इसीलिए कहा गया है—**'केवलीबूया—आयाणमेयं'** केवलज्ञानी भगवान् कहते हैं—यह (—संखडि में गमन) आदान—कर्मबन्ध का कारण (आस्रव) है, अथवा दोषों का आयतन—स्थान है।

यही कारण है कि साधु के लिए ऐसे बृहद्भोजों को टालने और उसके प्रति उपेक्षा बताकर उस स्थान से विपरीत दिशा में विहार कर देने तथा आधे योजन दो कोस तक में भी कहीं ऐसे विशेष भोज का नाम सुनते ही साधु उधर जाने का विचार बदल देने का विधान है। कारण यह है कि अगर वह उधर जाएगा या संखडिस्थल के पास से होकर निकलेगा तो बहुत सम्भव है, भावुक गृहस्थ उस साधु को अत्याग्रह करके संखडि में ले जाएगा, और तब वे ही पूर्वोक्त दोष लगने की संभावना होगी इसलिए दूर से ऐसे बृहत् भोजों से बचने का निर्देश किया गया है।[1]

---

१. टीका पत्र ३२८-३२९ के आधार पर।

३३९. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

३३९. निष्कर्ष और निर्देश—यह (संखडिविवर्जन रूप पिण्डैषणा विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी (के भिक्षु भाव) की समग्रता-सम्पूर्णता है कि वह समस्त पदार्थों में संयत या समित व ज्ञानादि सहित होकर सदा प्रयत्नशील रहे।[1]

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

संखडि-गमन में विविध दोष

३४०. से एगतिओ अण्णतरं संखडिं असित्ता पिबित्ता छड्डेज्ज[2] वा, वमेज्ज वा, भुत्ते वा से णो सम्मं परिणमेज्जा, अण्णतरे वा से दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेतं।

इह खलु भिक्खू गाहावतीहिं वा गाहावतीणीहिं वा परिवायएहिं[3] वा परिवाइयाहिं वा एगज्झं सद्धिं सोंडं पाउं भो वतिमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा तमेव उवस्सयं सम्मिस्सीभावमावज्जेज्जा, अण्णमणे[4] वा से मत्ते विप्परियासियभूते[5] इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा, तं भिक्खुं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा! अहे आरामंसि वा अहे

---

१. इसका विवेचन प्रथम उद्देशकवत् समझ लेना चाहिए।

२. 'छड्डेज्ज वा वमेज्ज वा' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—छड्डी वोसिरावणिता, वमणं वमणमेव।

३. इसकी व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—परिवाया कावालियमादी, परिवातियाओ तेसिं चेव भोतियो वासु गिम्हगमादीसु संखडीसु पिवंति, अगारीओ वि माहिस्सरमालवग-उज्जेणीसु एगज्झं एगवत्ता एगचित्ता वा सद्धं मिलित्ता वा सोंडं विगडं चेव पिवंति, पादुः प्रकाशने प्रकाशं पिबति। अर्थात्—परिव्राजक कापालिक आदि और परिव्राजिकाएँ उन्हीं की होती हैं। वे सब वर्षा और ग्रीष्म आदि ऋतुओं में होने वाले संखडियों में मद्य पीती हैं। पादुः प्रकाशन अर्थ में है। यानि प्रगट में पीते हैं। गृहस्थ पत्नियाँ भी माहेश्वर, मालवा उज्जयिनी आदि में एकचित्त, एक वाक्य होकर साथ में मिलकर मदिरा (विकट) पीती हैं।

४. अण्णमणे की व्याख्या चूर्णिकार करते है—अण्णमणो णाम ण संजतमणो अन्यमना का अर्थ है, जो संयतमना न हो।

५. 'विप्परियासियभूते' के बदले चूर्णिकार 'विप्परियासभूतो' पाठ मानकर व्याख्या करते हैं—'विप्परियासभूतो णाम अचेतो'—विप्परियासभूतो का मतलब है—अचेत-मूर्च्छित, बेभान

उवस्सयंसि वा रातो वा वियाले वा गामधम्मनियंतियं[1] कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपवियारणाए[2] आउट्टामो। तं चेगइओ[3] सातिज्जेज्जा।

अकरणिज्जं चेतं संखाए, एते आयाणा[4] संति संचिज्जमाणा[5] पच्चवाया भवंति। तम्हा से संजए णियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडि वा पच्छासंखडि वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

३४०. कदाचित् भिक्षु अथवा अकेला साधु किसी संखडि (बृहत् भोज) में पहुँचेगा तो वहाँ अधिक सरस आहार एवं पेय खाने-पीने मे उसे दस्त लग सकता है, या वमन (कै) हो सकता है अथवा वह आहार भलीभाँति पचेगा नहीं (हजम न होगा); फलतः (विशूचिका, ज्वर या शूलादि) कोई भयंकर दुःख या रोगातंक पैदा हो सकता है।

इसीलिए केवली भगवान् ने कहा—'यह (संखडि में गमन) कर्मो का उपादान कारण है।

इसमें (संखडि स्थान में या इसी जन्म में) (ये भयस्थल हैं)—यहां भिक्षु गृहस्थों के गृहस्थपत्नियों अथव परिव्राजक-परिव्राजिकाओं के साथ एकचित्त व एकत्रित होकर नशीला पेय पीकर (नशे में भान भूलकर) वाहर निकल कर उपाश्रय (वास-स्थान) ढूंढ़ने लगेगा, जव वह नहीं मिलेगा, तव उसी (पान-स्थल) को उपाश्रय समझकर गृहस्थ स्त्री-पुरुषों व परिव्राजक परिव्राजिकाओं के साथ ही ठहर जाएगा। उनके साथ घुलमिल जाएगा। वे गृहस्थ-गृहस्थ-पत्नियाँ आदि (नशे में) मत्त एवं अन्यमनस्क होकर अपने आपको भूल जाएंगे, साधु अपने को भूल जाएगा। अपने को भूलकर वह स्त्री शरीर पर या नपुंसक पर आसक्त हो जाएगा। अथवा स्त्रियाँ या नपुंसक उस भिक्षु के पास आकर कहेंगे—आयुष्मन् श्रमण ! किसी वगीचे या उपाश्रय में रात को या विकाल में एकान्त में मिलें। फिर कहेंगे—ग्राम के निकट किसी गुप्त, प्रच्छन्न, एकान्तस्थान में हम मैथुन-सेवन किया करेंगे। उस प्रार्थना को कोई एकाकी अनभिज्ञ साधु स्वीकार भी कर सकता है।

---

१. गामधम्मणियंतियं के वदले चूर्णिकार 'गामणियंतियं कण्हुई रहस्सितं' पाठ मानकर व्याख्या करते है—गामणियंतियं गाममब्भासं कण्हुइ रहस्सित कम्हिति रहस्से उच्छुअक्खा वा अन्नतरे वा पच्छण्णे, मिहु रहस्से सहयोगे च, पतियरणं पवियारणा (पवियारणाए) आउट्टामो-कुर्वीमो।"—गामणियंतिय-यानी ग्राम के निकट किसी एकान्त स्थान में, इक्षु के खेत में या किसी प्रच्छन्न स्थान में। मिहु का अर्थ है—रहस्य या सहयोग, प्रविचारणा=मैथुन सेवन, आउट्टामो; करेंगे।

२. चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं–'पतियरणं पवियारणा अर्थात्—प्रतिचरण=(मैथुन सेवन) प्रविचारणा

३. चेगइओ के वदले किसी-किसी प्रति में चेगाणिओ, एगतीयो पाठान्तर है। अर्थ समान है।

४. 'आयाणा' के बदले पाठान्तर मिलता—आयाणाणि आयतणाणि आदि। अथ में अन्तर है, प्रथम का अर्थ है कर्मों का आदान (ग्रहण) तथा द्वितीय का अर्थ है—दोषों का आयतन स्थान है।

५. संचिज्जमाणा के बदले किसी-किसी प्रति में संविज्जमाणा तथा संधिज्जमाण है, अर्थ क्रमशः है—संवेदन (अनुभव) किये जाने वाले, कर्म पुद्गलों को अधिकाधिक धारण करने वाले।

यह (साधु के लिए सर्वथा) अकरणीय है यह जानकर (संखडि में न जाए)। संखडि में जाना कर्मों के आस्रव का कारण है, अथवा दोषों का आयतन (स्थान) है। इसमें जाने से कर्मों का संचय बढ़ता जाता है; पूर्वोक्त दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए संयमी निर्ग्रन्थ पूर्व-संखडि या पश्चात्-संखडि को संयम खण्डित करने वाली जानकर संखडि की अपेक्षा से उसमें जाने का विचार भी न करे।

३४१. से भिक्खू वा २ अण्णतरं संखडिं सोच्चा णिसम्म संपहावति[1] उस्सुयभूतेणं अप्पाणेणं, धुवा संखडी। णो संचाएति तत्थ इतराइतरेहिं[2] कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवातं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेत्तए। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थितराइतरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं[3] एसियं वेसियं पिंडवातं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा।

३४१. वह भिक्षु या भिक्षुणी पूर्व-संखडि या पश्चात्-संखडि में से किसी एक के विषय में सुनकर मन में विचार करके स्वयं बहुत उत्सुक मन से (संखडिवाले गांव की ओर) जल्दी-जल्दी जाता है। क्योंकि वहाँ निश्चित्त ही संखडि है। [मुझे गाँव में भिक्षार्थ भ्रमण करते देख संखडि वाला अवश्य ही आहार के लिए प्रार्थना करेगा, इस आशय से] वह भिक्षु उस संखडि वाले ग्राम में संखडि से रहित दूसरे-दूसरे घरों से एषणीय तथा रजोहरणादि वेश से लब्ध उत्पादनादि दोषरहित भिक्षा से प्राप्त आहार को ग्रहण करके वहीं उसका उपभोग नहीं कर सकेगा। क्योंकि वह संखडि के भोजन-पानी के लिए लालायित है। (ऐसी स्थिति में) वह भिक्षु मातृस्थान (कपट) का स्पर्श करता है। अतः साधु ऐसा कार्य न करे।

वह भिक्षु उस संखडि वाले ग्राम में अवसर देखकर प्रवेश करे, संखडि वाले घर के सिवाय दूसरे-दूसरे घरों से सामुदायिक भिक्षा से प्राप्त एषणीय तथा केवल वेष से प्राप्त—धात्रीपिण्डादि दोषरहित पिण्डपात (आहार) को ग्रहण करके उसका सेवन कर ले।

३४२. से भिक्खु वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, इमंसि खलु गामंसि वा जाव[4] रायहाणिंसि वा संखडी सिया, तं पि याइं गामं वा जाव[5] रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

केवली बूया—आयाणमेतं।

---

१. किसी किसी प्रति में इसके बदले 'परिहावइ' पाठ है। अर्थ समान है। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'समन्ततो धावति,' चारों ओर दौड़ता है।

२. इसका अर्थ चूर्णिकार करते हैं—इतराइतराइं = उच्चणीयाणि अर्थात् दूसरे उच्चनीच कुल।

३. इसका अर्थ चूर्णि में किया गया है—समुदाणजातं सामुदाणियं। समुदान—भिक्षा से निष्पन्न सामुदायिक है।

४-५ यहां जाव शब्द सूत्र ३२८ में अंकित समग्र पाठ का सूचक है।

आइण्णोमाणं[1] संखडिं अणुपविस्समाणस्स पाएण वा पाए अक्कंतपुव्वे भवति, हत्थेण वा हत्थे संचालियपुव्वे भवति, पाएण वा पाए आवडियपुव्वे भवति, सीसेण वा सीसे संघट्टियपुव्वे भवति, काएण वा काए संखोभितपुव्वे भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहतपुव्वे भवति, सीतोदएण वा ओसित्तपुव्वे भवति, रयसा वा परिघासितपुव्वे भवति, अणेसणिज्जे वा परिभुत्तपुव्वे भवति, अण्णेसिं वा दिज्जमाणे पडिगाहितपुव्वे भवति, तम्हा से संजते णियंठे तहप्पगारं आइण्णोमाणं संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

३४२. वह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि अमुक गाँव, नगर यावत् राजधानी में संखडि हैं। जिस गाँव यावत् राजधानी में संखडि अवश्य होने वाली है तो संखडि को (संयम को खण्डित करने वाली जानकर) उस गाँव यावत् राजधानी में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार भी न करे। केवली भगवान् कहते हैं—यह अशुभ कर्मों के बन्ध का कारण है।

चरकादि भिक्षाचरों की भीड़ से भरी–आकीर्ण—और हीन—अवमा(थोड़े-से लोगों के लिए जिसमें भोजन बनाया गया हो और वहुत लोग इकट्ठे हो जाएँ ऐसी) संखडि में प्रविष्ट होने से (निम्नोक्त दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है—)

सर्वप्रथम पैर से पैर—टकराएंगे; या हाथ से हाथ संचालित होंगे (धकियाये जायेंगे); पात्र से पात्र रगड़ खाएगा सिर से सिर का स्पर्श होकर टकराएगा अथवा शरीर से शरीर का संघर्षण होगा, (ऐसा होने पर) डण्डे, हड्डी, मुट्ठी, ढेला-पत्थर या खप्पर से एक दूसरे पर प्रहार होना भी सम्भव है। (इसके अतिरिक्त) वे परस्पर सचित्त, ठण्डा पानी भी छींट सकते हैं, सचित्त मिट्टी भी फेंक सकते हैं। वहाँ (याचकों की संख्या अत्यधिक होने के कारण) अनैषणीय आहार का भी उपभोग करना पड़ सकता है, तथा दूसरों को दिए जाने वाले आहार को बीच में से (झपटकर) लेना भी पड़ सकता है। इसलिए वह संयमी निर्ग्रन्थ इस प्रकार की जनाकीर्ण एवं हीन संखडि में संखडि के संकल्प से जाने का बिलकुल विचार न करे।

विवेचन—संखडि में जाना : दोषों का घर—सूत्र ३४० से सूत्र ३४२ तक में संखडि (बृहत्-भोज), फिर वह चाहे विवाहादि के उपलक्ष्य में पूर्व संखडि हो, मृतक के पीछे की जाने वाली पश्चात् संखडि हो, वह कितनी हानिकारक है, दोषवर्द्धक है, यह स्पष्ट बता दिया गया है। इन्हें देखते हुए शास्त्रकार का स्वर प्रत्येक सूत्र में मुखरित हुआ है कि संखडि में निष्पन्न सरस-

---

१. 'आइण्णोमाणं' के बदले 'आइण्णोऽवमाणं', 'आइण्णावमाणं', 'आइन्नामाणं' ये पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ एक-सा है। चूर्णिकार ने इन दोनों पदों की व्याख्या की है—आइण्णा चरगादीहिं; ओमाणं = सतस्स भत्ते कते सहस्सं आगतं णाऊण माणं ओमाणं अर्थात्—चरक आदि भिक्षाचरों से आकीर्ण का नाम आकीर्णा हैं तथा सौ के लिए भोजन बनाया गया था, किन्तु भोजनार्थी एक हजार आ गए, जानकर जिसमें भोजन कम पड़ गया, उसे 'अवमाना' संखडि कहते हैं।

स्वादिष्ट भोजन-पानी की आशा से वहाँ जाने का साधु-साध्वी कतई विचार न करे। बार-बार पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने इस बात को जोर देकर कहा है—केवली भगवान् ने कहा है—"यह दोषों का आयतन है या कर्मों के बन्ध के कारण है।" ऐसे बृहत्भोज में जाने से साधु की साधना की प्रतिष्ठा गिर जाती है, इसका स्पष्ट चित्र शास्त्रकार ने खोलकर रख दिया है।[1]

छड्डे वा वमेज्ज वा—ये दोनों क्रिया पद एकार्थक लगते हैं। किन्तु चूर्णिकार ने इन दोनों पदों का अन्तर बताया है कि कुंजल क्रिया द्वारा या रेचन क्रिया द्वारा उसे निकालेगा या वमन करेगा। बृहत् भोज में भक्तों की अधिक मनुहार और अपनी स्वाद-लोलुपता के कारण अति मात्रा में किये जाने वाले स्वादिष्ट भोजन के ये परिणाम हैं।[2]

आयाणं या आययणं ? केवली भगवान् कहते हैं—यह 'आदान' है, पाठान्तर '**आययणं**' होने से 'आयतन' है—ऐसा अर्थ भी निकलता है। वृत्तिकार ने दोनों ही पदों की व्याख्या यों की है—कर्मों का आदान (उपादान कारण) है, अथवा दोषों का आयतन (स्थान) है।[3]

संविज्जमाणा पच्चवाया—वृत्तिकार ने इस वाक्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—(१) रस-लोलुपतावश वमन, विरेचन, अपाचन, भयंकर रोग आदि की सम्भावना, (२) संखडि में मद्यपान से मत्त साधु द्वारा अब्रह्मचर्य सेवन जैसे कुकृत्य की पराकाष्ठा तक पहुँचने की सम्भावना। इन दोनों भयंकर दोषों के अतिरिक्त अन्य अनेक कर्मसंचयजनक (प्रत्यपाय) दोष या संयम में विघ्न उत्पन्न हो सकते हैं। '**संविज्जमाण**' पाठान्तर होने से इसका अर्थ हो जाता है—'अनुभव किये जाने वाले दोष या विघ्न होते हैं।'[4]

'**गामधम्म नियंतियं कट्टु**........'—इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि "पहले मैथुन-सेवन का वादा (निमन्त्रण) किसी उपाश्रय या बगीचे में करके फिर रात्रि समय में या विकाल-वेला में किसी एकान्त स्थान में गुप्त रूप से मैथुन सेवन करने में प्रवृत्त होंगे।" तात्पर्य यह है कि संखडि में गृहस्थ स्त्रियों या परिव्राजिकाओं का खुला सम्पर्क उस दिन के लिए ही नहीं, सदा के लिए अनिष्ट एवं पतन का मार्ग खोल देता है। चूर्णिकार '**गामनियंतियं**' पाठ मानकर अर्थ करते हैं—ग्राम के निकट किसी एकान्त स्थान में।[5]

संखडिस्थल में विभिन्न लोगों का जमघट—इस शास्त्रीय वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जहाँ ऐसे बृहत् भोजहोते थे, वहाँ उस गृहस्थ के रिश्तेदारस्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त परिव्राजक-परिव्राजिकाओं को भी ठहराया जाता था, अपने पूज्य साधुओं को भी वहाँ ठहराने का खास प्रबन्ध किया जाता था। चूर्णिकार का मत है कि परिव्राजक-कापालिक आदि तथा कापालिकों

---

१. आचारांग वृत्ति एवं मूलपाठ पत्र ३३० के आधार पर।
२. आचारांग चूर्णि, आचा० मू० पा० टि० पृ० ११२।
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३३१-३३२। ४. टीका पत्र ३३०।
५. (क) टीका पत्र ३३०। (ख) आचा० चू० मू० पा० टि० पृष्ठ ११२।

की परिव्राजिकाएँ वर्षा और ग्रीष्म ऋतु आदि में होने वाले बृहत्भोजों में सम्मिलित होकर मद्य पीते थे; माहेश्वर, मालव और उज्जयिनी आदि प्रदेशों में गृहस्थपत्नियाँ भी एकचित्त और एकवाक्य होकर सब मिलकर एक साथ मद्य पीती थीं और प्रकट में पीती थीं। इससे स्पष्ट है कि वहाँ मद्य का दौर चलता था, उसमें साधु भी लपेट में आ जाय तो क्या आश्चर्य! फिर जो अनर्थ होता है, उसे कहने की आवश्यकता नहीं। यही कहा गया है।—

"एगज्झं सद्धिं सोडं पाउं……" एकध्य का अर्थ है—एकचित्त सोंड का अर्थ है—मद्य=विकट। पाउं का अर्थ है—पीने के लिए 'वतिमिस्स' का अर्थ है—परस्पर मिल जाएंगे।[1]

'उवस्सयं' शब्द यहाँ साधुओं के ठहरने के नियत मकान के अर्थ में नहीं है, किन्तु उस सामान्य स्थान को भी उपाश्रय कह दिया जाता था, जहाँ साधु ठहर जाता था।[2]

'सातिज्जेज्जा' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—स्वीकार कर ले।

'संपहावइ' का अर्थ वैसे तो 'दौड़ना' है किन्तु वृत्तिकार प्रसंगवश इस वाक्य की व्याख्या करते हैं—"किसी कारणवश साधु संखडि का नाम सुनते ही स्थल के अभिमुख इतने अत्यन्त उत्सुक मन से शीघ्र-शीघ्र चलता है कि मेरे लिए वहाँ अद्भुत खाद्य पदार्थ होंगे; क्योंकि वहाँ निश्चय ही संखडि है।[3]

'माइट्ठाणं संफासे' का अर्थ 'मातृस्थान का स्पर्श करना है'। मातृ स्थान का अर्थ है—कपट या कपटयुक्त वचन।[4] इससे सम्बन्धित तथा माया का कारण बताने वाले मूलपाठ का आशय यह है कि वह साधु संखडि वाले ग्राम में आया तो है—संखडि-निष्पन्न आहार लेने, किन्तु सीधा संखडिस्थल पर न जाकर उस गाँव में अन्यान्य घरों से थोड़ी-सी भिक्षा ग्रहण करके पात्र खाली करने के लिए उसी गाँव में कहीं बैठकर वह आहार कर लेता है, ताकि खाली पात्र देखकर संखडि वाला गृहपति भी आहार के लिए विनती करेगा तो इन पात्रों में भर लूंगा।" इसी भावना को लक्ष्य में रखकर यहाँ कहा गया है कि ऐसा साधु माया का सेवन करता है। अतः संखडिवाले ग्राम में अन्यान्य घरों से प्राप्त आहार को वहीं करना उचित नहीं है। इहलौकिक-पारलौकिक हानियों के खतरों के कारण साधु संखडि वाले ग्राम में न जाए, यही उचित है।

'सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवातं……' इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि कदाचित् विहार करते हुए संखडि वाला ग्राम बीच में पड़ता हो और वहाँ ठहरे बिना कोई चारा न हो तो संखडि वाले घर को छोड़कर अन्य घरों से सामुदानिक भिक्षा से आहार ग्रहण करके सेवन करे। सामुदानिक आदि पदों का अर्थ इस प्रकार है—सामुदाणियं=भैक्ष्य, एसियं=आधा

---

१. आचारांग चूर्णि, आचा० मू० पा० टि० पृ० ११२।
२. टीका पत्र ३३०। ३. टीका पत्र ३३०।
४. मातिट्ठाणं विवज्जेजा—मायाप्रधानंवचोविवर्जयेत्—सूत्रकृत् १/९/२५ शीलांकवृत्ति

कर्मादि-दोषरहित एषणीय, **वेसियं**=केवल रजोहरणादि वेष के कारण प्राप्त, उत्पादनादि दोष-रहित **पिंडवातं**=आहार ।[1]

संखडि में जाने से गौरव-हानि—संखडि में जाने से साधु की कितनी गौरवहानि होती है ? इसका निरूपण सूत्र ३४२ में स्पष्टतया किया गया है । ऐसी संखडि के दो विशेषण प्रस्तुत किए गए है—"**आकीर्णा और अवमा** ।" अकीर्णा वह संखडि होती है, जिसमें भिखारियों की अत्यधिक भीड़ हो, और '**अवमा**' वह संखडि होती है, जिसमें आहार थोड़ा बनाया गया है, किन्तु याचक अधिक आ गए हों । इन दोनों प्रकार की संखडियों के कारण संखडि से आहार लेने में बाह्य और आन्तरिक—दोंनों प्रकार का संघर्ष होता है । बाह्य संघर्ष तो अंगों की परस्पर टक्कर के कारण होता है, परस्पर जमकर मुठभेड़ होती है, एक दूसरे पर प्रहार आदि भी हो सकते हैं । और आन्तरिक संघर्ष होता है—परस्पर विद्वेष, घृणा, अश्रद्धा एवं सम्मान-हानि । इससे साधुत्व की गौरवहानि के अतिरिक्त लोकश्रद्धा भी समाप्त हो जाती है । आहार ग्रहण के समय तू-तू-मैं-मैं होती है । हर एक भिक्षाचर एक दूसरे के बीच में ही झपटकर पहले स्वयं आहार ले लेना चाहता है । संखडि वाला गृहपति देखता है कि मेरे इस प्रसंग को लेकर ही इतने सारे लोग आ गए हैं तो इन सबको मुझे जैसे-तैसे आहार देना ही पड़ेगा । अतः वह उन सबको देने के लिए पुनः आहार बनवाता है, इस प्रकार से निष्पन्न आहार आधाकर्मादि-दोष से दूषित होता है, वह अनैषणीय आहार उक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु को भी लेना पड़ता है; खाना भी पड़ता है ।[2]

अवकन्तपुव्वे आदि शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—**अवकन्तपुव्वे**—परस्पर आक्रान्त होना—पैर से पैर टकराना, दब जाना या ठोकर लगना, **संचालियपुव्वे**—एक दूसरे पर हाथ चलाना, धक्का देना, **आवडियपुव्वे**—पात्र से पात्र टकराना, रगड़ खाना, **संघट्टियपुव्वे**—सिर से सिर का स्पर्श होकर टकराना, **संखोभितपुव्वे**—शरीर से शरीर का संघर्षण होना, **अभिहतपुव्वे**—परस्पर प्रहार करना, **परिघासितपुव्वे**—परस्पर धूल उछालना, **ओसित्तपुव्वे**—परस्पर सचित्त पानी छींटना । **परिभुत्तपुव्वे**—पहले स्वयं आहार का उपभोग कर लेना, **पडिगाहितपुव्वे**—पहले स्वयं आहार ग्रहण कर लेना । **अट्ठीण**—हड्डियों का, **मुट्ठीण** मुक्कों का, **लेलुणा**—ढेले से या पत्थर से, **कवालेण**—खप्पर से, ठीकरे से (विग्रह करना) ।[3]

शंका-ग्रस्त-आहार-निषेध

३४३. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ 'एसणिज्जे सिया, अणेसणिज्जे सिया' । वितिगिंछसमावण्णेण अप्पाणेण असमाहडाए लेस्साए तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

---

१. पत्र ३३१ के आधार पर । २. टीका पत्र ३३१ ।
३. टीका पत्र ३३१ ।

३४३. गृहस्थ के घर में भिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि यह आहार एषणीय है या अनैषणीय ? यदि उसका चित्त (इस प्रकार की) विचिकित्सा (आशंका) से युक्त हो, उसकी लेश्या (चित्तवृत्ति) अशुद्ध आहार की हो रही हो, तो वैसे (शंकास्पद) आहार के मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—शंकास्पद आहार लेने का निषेध—इस सूत्र में यह बताया गया है—साधु के मन में ऐसी शंका पैदा हो जाए कि पता नहीं यह आहार एषणीय है या अनेषणीय ? तथा उसके अन्तःकरण की वृत्ति (लेश्या) से भी यही आवाज उठती हो कि यह आहार अशुद्ध है, ऐसी शंकाकुलस्थिति में 'जं संके तं समावज्जे' इस न्यायसे उस आहार को न लेना ही उचित है।[1]

'वितिगिंछ समावन्नेण' आदि पदों के अर्थ वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—विचिकित्सा का अर्थ है—जुगुप्सा या अनैषणीय की आशंका, उससे ग्रस्त आत्मा से। असमाहडाए लेसाए का अर्थ है—अशुद्ध लेश्या से यानी यह आहार उद्‌गमादि दोष से दूषित है, इस प्रकार की चित्तविलुप्ति से अशुद्ध अन्तःकरण रूप लेश्या उत्पन्न होती है।[2]

भंडोपकरण सहित-गमनागमन

३४४. [१] से भिक्खू[3] वा २ गाहावतिकुलं पविसित्तुकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

[२]. से भिक्खू वा २ बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविस्समाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

[३] से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

३४५. से भिक्खू वा २ अह पुण एवं जाणेज्जा, तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए, तिव्वदेसियं वा महियं संणिवदमाणिं पेहाए, महावाएण[4] वा रयं समुद्धतं पेहाए, तिरिच्छं संपातिमा वा तसा पाणा संथडा संणिवतमाणा पेहाए, से एवं णच्चा णो सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा, बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

---

१. टीका पत्र ३३२ के आधार पर। २. टीका पत्र ३३२ के आधार पर।

३. यह ३४४ सूत्र जिनकल्पादि गच्छ-निर्गतसाधु के लिए विवक्षित है। फिर 'वा २' यह पाठ यहाँ क्यों ? ऐसी आशंका हो सकती है, तथापि आगे के दोनों सूत्रों में तथा इस ग्रन्थ में सर्वत्र 'से भिक्खू वा २' ऐसा पाठ सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, प्रायः सभी प्रतियों में। अतः ऐसा ही सूत्र पाठ सीधा है, ऐसा सोचकर (टिप्पणकार ने) मूल में रखा है। वृत्तिकार ने भी 'सभिक्षुः' इस प्रकार निरूपण किया है। अतः 'वा २' पाठ होते हुए भी यहाँ 'स भिक्षुः' इस प्रकार का वृत्तिकार का कथन युक्ति संगत लगता है।

४. तुलना के लिए देखिए—दसवेआलियं अ० उ० १ गा० ८

३४४. [१] जो भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होना चाहता है, वह अपने सब धर्मोपकरण (साथ में) लेकर आहार प्राप्ति के उद्देश्य से गृहस्थ के घर में प्रवेश करे या निकले।

[२] साधु या साध्वी बाहर मलोत्सर्गभूमि या स्वाध्यायभूमि में निकलते या प्रवेश करते समय अपने सभी धर्मोपकरण लेकर वहाँ से निकले या प्रवेश करे।

[३] एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरण करते समय साधु या साध्वी अपने सब धर्मोपकरण साथ में लेकर ग्रामानुग्राम विहार करे।

३४५. यदि वह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि बहुत बड़े क्षेत्र में वर्षा बरसती दिखायी देती है, विशाल प्रदेश में अन्धकार रूप धुंध (ओस या कोहरा) पड़ती दिखायी दे रही है, अथवा महावायु (आंधी या अंधड़) से धूल उड़ती दिखायी देती है, तिरछे उड़ने वाले या त्रस प्राणी एक साथ बहुत-से मिलकर गिरते दिखाई दे रहे हैं; तो वह ऐसा जानकर सब धर्मोपकरण साथ में लेकर आहार के निमित्त गृहस्थ के घर में न तो प्रवेश करे और न वहाँ से निकले। इसी प्रकार (ऐसी स्थिति में) बाहर विहार (मलोत्सर्ग-) भूमि या विचार (स्वाध्याय-) भूमि में भी निष्क्रमण या प्रवेश न करे; न ही एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार करे।

विवेचन—जिनकल्पी आदि भिक्षु का आचार—ये दोनों सूत्र गच्छ-निर्गत विशिष्ट साधना करने वाले जिनकल्पिक आदि भिक्षुओं के कल्प (आचार) की दृष्टि से हैं, ऐसा वृत्तिकार का कथन है।

जिनकल्पिक दो प्रकार के हैं—छिद्रपाणि और अच्छिद्रपाणि। अच्छिद्रपाणि जिनकल्पी यथाशक्ति अनेक प्रकार के अभिग्रह विशेष के कारण दो प्रकार के उपकरण रखते हैं—

(१) रजोहरण और (२) मुखवस्त्रिका। कोई-कोई तीसरा प्रच्छादन पट भी ग्रहण करते हैं, इस कारण तीन, कई ओस की बूंदों व परिताप से रक्षार्थ ऊनी कपड़ा भी रखते हैं, इस कारण चार, कोई असहिष्णु भिक्षु दूसरा सूती वस्त्र भी लेते हैं, इस कारण उनके पाँच धर्मोपकरण होते हैं।

छिद्रपाणि जिनकल्पी के पात्रनिर्योग सहित सात प्रकार के, रजोहरण मुखवस्त्रिकादि ग्रहण के क्रम से नौ, दस, ग्यारह या बारह प्रकार के उपकरण होते हैं। दोनों प्रकार के जिनकल्पिक के लिए शास्त्रीय विधान है कि वह आहार, विहार, निहार और विचार (स्वाध्याय) के लिए जाते समय अपने सभी धर्मोपकरणों को साथ लेकर जाए, क्योंकि वह प्रायः एकाकी होता है, दूसरे साधु से भी प्रायः सेवा नहीं लेता, स्वाश्रयी होता है। इसलिए अपने सीमित उपकरणों को पीछे किसके भरोसे छोड़ जाए ?[1]

किन्तु मूसलधार वर्षा दूर-दूर तक बरस रही हो, धुंध पड़ रही हो, आंधी चल रही

१. टीका पत्र ३३२।

हो, बहुत-से उड़ने वाले त्रस प्राणी गिर रहे हों तो वह आहार, विहार, एवं विचार के लिए भंडोपकरण साथ ले लेकर गमनागमन की प्रवृत्ति बन्द रखे।[1]

वृत्तिकार ने स्थविरकल्पिक साधु वर्ग के लिए भी विवेक बताया है—यह समाचारी ही है कि विहार करने वाला साधु गच्छ के अन्तर्गत हो या गच्छनिर्गत हो, उसे ध्यान रखना चाहिए कि यदि वर्षा या धुन्ध पड़ रही हो तो जिनकल्पी बाहर नहीं जाएगा, क्योंकि उसमें छह मास तक मल-मूत्र को रोकने की शक्ति होती है। अन्य साधु कारण विशेष से (मल-व्युत्सर्गार्थ) जाए तो सभी उपकरण लेकर न जाए, यह तात्पर्यार्थ है।[2]

निषिद्ध-गृह-पद

३४६. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुणो कुलाइं जाणेज्जा, तंजहा—खत्तियाण वा राईण वा[3] कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसट्ठियाणं वा अंतो वा बाहिं[4] वा गच्छंताण वा संणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा अणिमंतेमाणाण वा असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३४६. भिक्षु एवं भिक्षुणी इन कुलों (घरों) को जाने, जैसे कि चक्रवर्ती आदि क्षत्रियों के कुल, उनसे भिन्न अन्य राजाओं के कुल, कुराजाओं (छोटे राजाओं) के कुल, राज भृत्य-

---

१. टीका पत्र ३३३ के आधार पर। २. टीका पत्र ३३३ के आधार पर।

३. चूर्णिकार 'राईण वा' आदि शब्दों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—खत्तिया=चक्कवट्टी-बलदेव-वासुदेव-मंडलियरायाणो, कुरायो=पच्चंतियरायाणो, रायवंसिता—रायवंसप्पभूया ण रायाणो। रायपेसिया=अन्नतरभोइता। अर्थात्—क्षत्रिय=चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव व मांडलिक राजा कुराजा=किसी प्रदेश का राजा, ठाकुर आदि। राजवंशिक=राजवंश में पैदा हुए, राजा के मामा भानजा आदि किंतु राजा नहीं। राजप्रेस्य=राजा के भृत्य।

४. 'अंतो वा बाहिं वा गच्छंताण वा'—इत्यादि पाठ के बदले पाठान्तर मिलते हैं—(१) वा संणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा (२) वा गच्छंताण वा संणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा' तथा (३) वा गच्छंताण वा संणिविट्ठाणवा असंणिविट्ठाण वा णिमंतेमाणाण वा। अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—(१) घर के अन्दर बैठे हों या बाहर या निमंत्रित किये जाते हों। (२) अन्दर या बाहर जा-आ रहे हों, बैठे हों या निमंत्रित किये जाते हैं, (३) अन्दर या बाहर जा-आ रहे हों, ठहरे हों या न ठहरे हों, या निमंत्रित किये जाते हों। चूर्णिकार ने इस पंक्ति की व्याख्यायों की है—अंतो=अंतो नगरादीणं बहिं—णिग्गमणिग्गंताणं, संणिविट्ठाणं=ठियाणं, इतरेसिं गच्छंताणं, मंगलत्थं पासंडाणं साहूणं वा दिज्जा, णिमंतेति सयमेव, अणिमं० दुक्कस्स देज्जा, देंताणं सयमेव, अदेंताणं अण्णो दिज्जा असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहिज्जा। अर्थात्—अंतो=नगरादि के भीतर, बाहिं=निगम से निर्गत, संणिविट्ठाणं=स्थित, दूसरे जाते हुओं को, मंगलार्थ—पाषण्डों या साधुओं को देता हो, स्वयमेव निमंत्रण दे, अथवा अनिमंत्रितों को मुश्किल से देता हो, जिनको दिया जाना हो, उन्हें स्वयं देता हो, जिनको न देना हो उन्हें दूसरा देता हो, ऐसे घर में अशनादि आहार मिलने पर भी ग्रहण न करे।

मालूम होता है, चूर्णि के अनुसार—**अंतो वा बाहिं वा संणिविट्ठाणं वा असंणिविट्ठाणं वा णिमंतेमाणाणं वा अणिमंतेमाणाणं वा देंताणं वा अदेंताणं वा असणं वा**—यह पाठ है।

दण्डपाशिक आदि के कुल, राजा के मामा, भानजा आदि सम्बन्धियों के कुल, इन कुलों के घर से, बाहर या भीतर जाते हुए, खड़े हुए या बैठे हुए, निमन्त्रण किये जाने या न किए जाने पर, वहाँ से प्राप्त होने वाले अशनादि आहार को ग्रहण न करे।

विवेचन—किन कुलों से आहारग्रहण निषिद्ध—पहले उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय आदि कुलों से प्रासुक एवं एषणीय आहार लेने का विधान किया गया था, अब इस सूत्र में क्षत्रिय आदि कुछ कुलों से आहार लेने का सर्वथा निषेध किया गया है, इसका क्या कारण है? वृत्तिकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—

'एतेषां कुलेषु संपातभयान्न प्रवेष्टव्यम्—इन घरों में संपात—भीड में गिर जाने या निरर्थक असत्यभाषण के भय के कारण प्रवेश नहीं करना चाहिए।

वस्तुतः प्राचीन काल में राजाओं के अन्तःपुर में तथा रजवाड़ों में राजकीय उथल-पुथल बहुत होती थी। कई गुप्तचर भिक्षु के वेष में राज दरबार में, अन्तःपुर तक में घुस जाते थे। अतः साधुओं को गुप्तचर समझकर उन्हें आहार के साथ विष दे दिया जाता होगा; इसलिए यह प्रतिबन्ध लगाया गया होगा। बहुत सम्भव है कुछ राजा और राजवंश के लोग भिक्षुओं के साथ असद् व्यवहार करते होंगे। अथवा उनके यहाँ का आहार संयम की साधना में विघ्न-कर होता होगा।[1]

'खत्तियाण' आदि पदों का अर्थ—खत्तियाण=क्षत्रियों का चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव आदि, **राईण**=राजन्यों का जो क्षत्रियों से भिन्न होते हैं। **कुराईणवा**—कुराजाओं का सरहद के छोटे राजओं का। **राजवंसट्ठियाणवा**—राजवंश में स्थित राजा के मामा, भानजा आदि रिश्तेदारों के कुलों से।[2]

[३४७. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।]

३४७. [यह (आहार-गवेषणा) उस सुविहित भिक्षु या भिक्षुणी की समग्रता-भिक्षुभाव की सम्पूर्णता है।[3]]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. टीका पत्र ३३३।　　　　२. टीका पत्र ३३३।

३. इसका विवेचन प्रथम उद्देशक में किया जा चुका है यहाँ यह पाठ सिर्फ चूर्णि में उद्धृत है, मूल पाठ में नहीं मिलता है।

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

संखडि-गमन-निषेध

३४८. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, मंसादियं[1] वा मच्छादियं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए, अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंग-पणग-दगमट्टिय-

---

१. निशीथ सूत्र (उद्दे-११) में इससे मिलता-जुलता पाठ और साथ में चूर्णिकारकृत उसकी व्याख्या भी देखिये—

जे भिक्खू मंसादियं वा मच्छादियं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा सम्मेलं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं विरूवरूवं हीरमाणं पेहाए। अत्र चूर्णिः—जे भिक्खू ममादियं वा इत्यादि। जम्मि पगरणे मंसं आदीए दिज्जति पच्छा ओदणादि तं मंसादी भन्नति, मंसाण वा गच्छंता आदावेव पगरणं करेंति तं वा मंसादी, आणिएसु मंसेसु आदावेव जणवयस्स मंसपगरणं करेंति पच्छा सयं परिभुंजंति तं वा मंसादी भन्नति। एवं मच्छादियं पि वत्तव्वं। मंसखलं जत्थ मंसाणि सोसिज्जंति। एवं मच्छखलं पि जमन्नगिहातो आणिज्जति तं आहेणं। जमन्नगिहं निज्जति तं पहेणगं। अधवा जं वधुघरातो वरघरं निज्जति तं आहेणं, जं वरघरातो वधुघरं निज्जति तं पहेगणगं। अधवा वरवधूण जं आभव्वं परोप्परं निज्जति तं सव्वं आहेणगं, जमन्नतो निज्जति तं पहेणगं। सव्वाणमादियाण जं हिज्जई निज्जई त्ति तं हिंगोलं, अधवा जं मयभत्तं करडुगादियं तं हिंगोलं। विवाहभत्तं सम्मेलं, अधवा सम्मेलो गोट्ठी, तीए भत्तं सम्मेलं भण्णति। अहवा कम्मारंभेसु ल्हासिगा जे ते सम्मेला, तेसिं जं भत्तं तं सम्मेलं। गिहातो उज्जाणादिसु हीरंतं नीयमानमित्यर्थः। पेहा प्रेक्ष्य'; इति।

अर्थात्—"जे भिक्खू मंसादियं वा इत्यादि।" जिस प्रकरण (संखड़ी-भोज) में प्रारम्भ में मांस दिया/परोसा जाता है, बाद में चावल आदि उसे मांसादिक (भोज) कहते हैं। मांसाशियों के चले जाने की सम्भावना देखकर पहले ही मांस का भोजन बनाता हैं, उसे भी मंसादि भोज कहते हैं, अथवा मांस के लाये जाने पर प्रारम्भ में ही जनपद को मांस भोजन कराता है, फिर स्वयं उपभोग करता हैं, उसे भी मंसादी कहते हैं। इसी प्रकार मत्स्यादि का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। मंसखलं—का अर्थ हैं जहाँ मांस सुखाया जाता है। इसी प्रकार मत्स्यखल भी समझ लेना चाहिए। जिसे अन्य घर से लाया जाता है तब किये जाने वाले भोज को 'आहेणं' कहते हैं। अथवा जब वधू को अपने पितृगृह से वरगृह में लाई जाती है उसे आहेणं और जब वरगृह से वधू अपने पितृगृह में लायी जाती हैं तब उसे कहते है 'पहेणं'। अथवा जब अन्यत्र ले जाया जाता है, तब भी पहेणं कहते हैं। अथवा वर-वधू को आजन्म परस्पर (सम्बन्ध जोड़ने के लिए) ले जाया जाता हैं, वहाँ गोष्ठ की जाती है, उसे कहते हैं—आहेणं। जब अन्य उन्हें कोई ले जाता है, तब उस भोज को 'पहेणग' कहते हैं। सब भोजों के आदि में जो ले जाया जाता है उसे हिंगोल अथवा जो मृतक भोज करंद्धिकादिक होता है, उसे भी हिंगोल कहते हैं। विवाह के निमित्त जो भोज होता हैं वह सम्मेल होता हैं। अथवा सम्मेल कहते हैं गोष्ठी-मिलन को, उसके निमित्त जो भोजन होता है उसे भी सम्मेल कहते हैं। अथवा किसी व्यवसाय या कार्य के प्रारम्भ में जो नर्तक एकत्रित होकर गाते बजाते हैं, उसे भी सम्मेल कहते हैं। उसके साथ जो भोजन होता है उसे भी सम्मेल कहते हैं। घर में उद्यान आदि में ले जाते हुए देखा हैं उसे भी 'सम्मेल' कहा जाता है।

मक्कडासंताणगा, बहवे तत्थ [1]समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा उवागता उवागमिस्संति, अच्चाइण्णा[2] वित्ती, णो पण्णस्स णिक्खमण-पवेसाए णो पण्णस्स वायण-पुच्छण-परियट्टणा-ऽणुप्पेह-धम्माणुयोगचिंताए। से एवं णच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा मंसादियं वा जाव[3] संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पपाणा जाव संताणगा, णो जत्थ बहवे समण-माहण[4] जाव उवागमिस्संति, अप्पाइण्णा वित्ती, पण्णस्स णिक्खमण-पवेसाए, पण्णस्स वायण-पुच्छण-परियट्टणा-ऽणुप्पेह-धम्माणुयोगचिंताए। सेवं णच्चा[5] तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए अभिसंधारेज्ज गमणाए।

३४८. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करते समय भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि इस संखडि के प्रारम्भ में मांस पकाया जा रहा है या मत्स्य पकाया जा रहा है, अथवा संखडि के निमित्त मांस छीलकर सुखाया जा रहा है या मत्स्य छीलकर सुखाया जा रहा है; विवाहोत्तर काल में नव-वधू के प्रवेश के उपलक्ष्य में भोज हो रहा है, या पितृगृह में वधू के पुन: प्रवेश के उपलक्ष्य में भोज हो रहा है, या मृतक-सम्बन्धी भोज हो रहा है, अथवा परिजनों के सम्मानार्थ भोज (गोठ) हो रहा है। ऐसी संखडियों (भोजों) मे भिक्षाचरों को भोजन लाते हुए देखकर संयमशील भिक्षु को वहाँ भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। क्योंकि वहाँ जाने में अनेक दोषों की सम्भावना है, जैसे कि—मार्ग में बहुत-से प्राणी, बहुत-सी हरियाली, बहुत-से ओसकण, बहुत पानी, बहुत-से कीड़ीनगर, पाँच वर्ण की—नीलण-फूलण (फूही) हैं, काई आदि निगोद के जीव हैं, सचित्तपानी से भीगी हुई मिट्टी है, मकड़ी के जाले हैं; उन सबकी विराधना होगी; (इसके अतिरिक्त) वहाँ बहुत-से शाक्यादि—श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र, याचक (भिखारी) आदि आए हुए है, आ रहे हैं तथा आएँगे; संखडिस्थल चरक आदि जनता की भीड़ से अत्यन्त घिरा हुआ है; इसलिए वहाँ प्राज्ञ साधु का निर्गमन-प्रवेश का व्यवहार उचित नहीं है; क्योंकि वहाँ (नृत्य, गीत एवं वाद्य

---

१. चूर्णिकार ने इसके स्थान पर इस प्रकार का पाठान्तर माना है—'बहवे समण-माहणा उवागता उवागमिस्संति'—वहाँ बहुत से श्रमण-ब्राह्मण आ गए हैं, आएँगे।

२. इसके बदले 'तत्थाइण्णा' पाठ मिलता है। अर्थ है—वहाँ संखडि की जगह जनाकीर्ण हो गयी है। चूर्णिकार 'अच्चाइण्णा' पाठ मान कर अर्थ करते हैं—'अत्यर्थं आइण्णा अच्चाइणा' संखडि की भूमि अत्यन्त (खचाखच) भर गई है।

३. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३४८ के पूर्वार्ध में पठित समग्र पाठ समझ लेना चाहिए।

४. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३४८ के पूर्वार्ध में पठित सम्पूर्ण पाठ समझ लें।

५. चूर्णि में पाठान्तर है—'से एवं णच्चा'। अर्थ समान है।

होने से) प्राज्ञ भिक्षु की वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथारूप स्वाध्याय प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः इस प्रकार जानकर वह भिक्षु पूर्वोक्त प्रकार की मांस प्रधानादि संयम-खण्डितकरी पूर्व संखडि या पश्चात् संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का मन में संकल्प न करे।

वह भिक्षु या भिक्षुणी, भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करते समय यह जाने कि नववधू के प्रवेश आदि के उपलक्ष्य में भोज हो रहा है, उन भोजों से भिक्षाचर भोजन लाते दिखायी दे रहे हैं, मार्ग में बहुत-से प्राणी यावत् मकड़ी का जाला भी नहीं है। तथा वहाँ बहुत-से भिक्षु-ब्राह्मणादि भी नहीं आए हैं, न आएंगे और न आ रहे हैं, लोगों की भीड़ भी बहुत कम है। वहां (मांसादि दोष-परिहार-समर्थ) प्राज्ञ (-अपवाद मार्ग में) निर्गमन—प्रवेश कर सकता है, तथा वहाँ प्राज्ञ साधु के वाचना-पृच्छना आदि धर्मानुयोग चिन्तन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, ऐसा जान लेने पर उस प्रकार की पूर्व संखडि या पश्चात् संखडि में संखडि की प्रतिज्ञा से जाने का विचार कर सकता है।

विवेचन—मांसादि-प्रधान संखडि में जाने का निषेध और विधान—जो भिक्षु तीन करण तीन योग से हिंसा का त्यागी है, जो एकेन्द्रिय जीवों की भी रक्षा के लिए प्रयत्नशील है, उसके लिए मांसादि-प्रधान संखडि में तो क्या, किसी भी संखडि में चलकर जाना सर्वथा निषिद्ध बताया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र के पूर्वार्द्ध में मार्ग में स्थित—एकेन्द्रियादि जीवों की विराधना के कारण, भिक्षाचरों की अत्यन्त भीड़ के कारण तथा सारे रास्ते में लोगों के जमघट होने से तथा नृत्य-गीत-वाद्य आदि के कोलाहल के कारण स्वाध्याय-प्रवृत्ति में बाधा की सम्भावना से उस संखडि में जाने का निषेध किया गया है।

किन्तु सूत्र के उत्तरार्द्ध में पूर्वोक्त बाधक कारण न हों तो शास्त्रकार ने उस संखडि में जाने का विधान भी किया है। कहाँ तो संखडि में जाने पर कठोर प्रतिबन्ध और कहाँ मांसादि-प्रधान संखडि में जाने का विधान ? इस विकट प्रश्न पर चिन्तन करके वृत्तिकार इसका रहस्य खोलते हुए कहते हैं[1]—अब अपवाद—(सूत्र) कहते हैं—कोई भिक्षु मार्ग में चलने से अत्यन्त थक गया हो, अशक्त हो गया हो, आगे चलने की शक्ति न रह गयी हो, लम्बी बीमारी से अभी उठा ही हो, अथवा दीर्घ तप के कारण कृश हो गया हो, अथवा कई दिनों से ऊनोदरी चल रही हो, या भोज्य पदार्थ आगे मिलना दुर्लभ हो, संखडिवाले ग्राम में ठहरने के सिवाय कोई चारा न हो, गाँव में और किसी घर में उस दिन भोजन न बना हो, ऐसी विकट परिस्थिति में पूर्वोक्त बाधक कारण न हों तो उस संखडि को अल्पदोषयुक्त मानकर वहाँ जाए, बशर्ते कि उस संखडि में मांस वगैरह पहले ही पका या बना लिया या दे दिया गया हो, उस समय निरामिष भोजन ही वहाँ प्रस्तुत हो। इस प्रकार पूर्वोक्त कारणों में से कोई गाढ़ कारण

---

१. टीका पत्र ३३४।

उपस्थित होने पर मांसादि दोषों के परिहार में समर्थ प्राज्ञ गीतार्थ साधु के लिए उस संखडि में जाने का (अपवाद रूप में) विधान है।

आचार्य शीलांक के इस समाधान से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उत्तरार्ध का विधान किसी कठिन परिस्थिति में फंसे हुए श्रमण की तात्कालिक समस्या के समाधान स्वरूप है। वास्तव में इस प्रकार के भोज (संखडि) में जाना श्रमण का विधि-मार्ग नहीं है, किन्तु अपवाद-मार्ग के रूप में ही यह कथन है। इसका आसेवन श्रमण के स्व-विवेक पर निर्भर है। इस बात की पुष्टि निशीथ सूत्र की चूर्णि भी करती है।[1]

'मंसादियं' आदि शब्दों की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—

मंसादियं=जिस संखडि में मांस ही आदि में (प्रधानतया) हो,

मच्छादियं=जिस संखडि में मत्स्य ही आदि (प्रारम्भ) में (प्रधानतया) हो।

'मंसखलं वा मच्छखलं वा'=संखडि के निमित्त मांस या मत्स्य काट-काटकर सुखाया जाता हो, उसका ढेर मांसखल तथा मत्स्यखल कहलाता है। आहेणं=विवाह के बाद नववधू-प्रवेश के उपलक्ष्य में दिया जाने वाला भोज, पहेणं=पितृगृह में वधू के प्रवेश पर दिया जाने वाला भोज, हिंगोलं=मृतक भोज, संमेलं=परिजनों के सम्मान में दिया जाने वाला प्रीतिभोज (दावत) या गोठ।[2]

गो-दोहन वेला में भिक्षार्थ प्रवेश-निषेध

३४९. से भिक्खू वा २ गाहावति जाव पविसित्तुकामे से ज्जं पुण जाणेज्जा, खीरिणीओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा ४ उवक्खडिज्जमाणं[3] पेहाए, पुरा अप्पजूहिते। सेवं णच्चा णो गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा, खीरिणीओ गावीओ खीरियाओ पेहाए, असणं वा ४ उवक्खडितं पेहाए, पुरा पजूहिते। सेवं णच्चा ततो संजयामेव गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

३४९. गोदोहन-वेला में आहारार्थ गृह प्रवेश निषिद्ध या विहित ? भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करना चाहते हों; (यदि उस समय) यह जान जाएँ कि अभी दुधारू गायों को दुहा जा रहा है तथा अशनादि आहार अभी तैयार किया जा रहा है, या हो

---

१. देखिए इसी सूत्र के मूल पाठ टिप्पण १, पृ० ४१ पर।

२. टीका पत्र ३३४।

३. चूर्णिकार ने इसका भावार्थ इस प्रकार दिया है—'उवक्खडिज्जमाणे संजतट्ठाए'—अर्थात् संयमी साधु के लिये तैयार किये जाते हुए····

रहा है, अभी तक उसमें से किसी दूसरे को दिया नहीं गया है। ऐसा जानकर आहार प्राप्ति की दृष्टि से न तो उपाश्रय से निकले और न ही उस गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

किन्तु (गृहस्थ के यहाँ प्रविष्ट होने पर गोदोहनादि को जान जाए तो) वह भिक्षु उसे जानकर एकान्त में चला जाए और जहाँ कोई आता-जाता न हो, और न देखता हो, वहाँ ठहर जाए। जब वह यह जान ले कि दुधारू गायें दुही जा चुकी हैं और अशनादि चतुर्विध आहार भी अब तैयार हो गया है, तथा उसमें से दूसरों को दे दिया गया है, तब वह संयमी साधु—आहार प्राप्ति की दृष्टि से वहाँ से निकले या उस गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

विवेचन—आहार के लिए प्रवेश निषिद्ध कब कब विहित?—इस सूत्र में गृहस्थ के घर में तीन कारण विद्यमान हों तो आहारार्थ प्रवेश के लिए निषेध किया गया है—

(१) गृहस्थ के यहाँ गायें दुही जा रही हों,

(२) आहार तैयार न हुआ हो,

(३) किसी दूसरे को उसमें से दिया न गया हो।

अगर ये तीनों बाधक कारण न हों तो साधु आहार के लिए उस घर में प्रवेश कर सकता है, वहाँ से निकल भी सकता है।

गृह-प्रवेश में निषेध के जो तीन कारण बताए हैं, उनका रहस्य वृत्तिकार बताते हैं—गायें दुहते समय यदि साधु गृहस्थ के यहाँ जाएगा तो उसे देखकर गायें भड़क सकती हैं, कोइ भद्र श्रद्धालु गृहस्थ साधु को देखकर बछड़े को स्तन-पान करता छुड़ाकर साधु को शीघ्र दूध देने की दृष्टि से जल्दी-जल्दी गायों को दुहने लगेगा, गायों को भी त्रास देगा, बछड़ों के भी दूध पीने में अन्तराय लगेगा। अधपके भात को अधिक ईंधन झोंक कर जल्दी पकाने का प्रयत्न करेगा, भोजन तैयार न देखकर साधु के वापस लौट जाने से गृहस्थ के मन में संक्लेश होगा, वह साधु के लिए अलग से जल्दी-जल्दी भोजन तैयार कराएगा, तथा दूसरों को न देकर अधिकांश भोजन साधु को दे देगा तो दूसरे याचकों या परिवार के अन्य सदस्यों को अन्तराय होगा।[1]

अगर कोइ साधु अनजाने में सहसा गृहस्थ के यहाँ पहुंचा और उसे उक्त बाधक कारणों का पता लगे, तो इसके लिए विधि बताई गई है कि वह साधु एकान्त में, जन-शून्य व आवागमन रहित स्थान में जाकर ठहर जाए; जब गायें दुही जा चुकें, भोजन तैयार हो जाए, तभी उस घर में प्रवेश करे।[2]

अतिथि-श्रमण आने पर भिक्षा विधि

३५०. भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणा[3] वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे—

---

१. टीका पत्र ३३५। २. टीका पत्र ३३५।

३. चूर्णि में इसके स्थान पर पाठान्तर है—'सामाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे'। अर्थ एक-सा है। चूर्णिकार ने इस सूत्र-पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—"भिक्खणसीला भिक्खागा

खुड्डाए खलु अयं गामे, संणिरुद्धाए, णो महालए, से हंता भयंतारो बाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह। संति तत्थेगतियस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावती वा गाहावतिणीओ वा गाहावतिपुत्ता वा गाहावतिधूताओ वा गाहावति-सुण्हाओ वा धातीओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा। तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसिस्सामि, अवि-याइंत्थ[1] लभिस्सामि पिंडं वा लोयं[2] वा खीरं वा दहिं वा णवणीतं वा घयं वा गुलं वा तेल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा संकुलिं[3] फाणितं वा पूपं[4] वा सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव

नामग्रहणा दव्वभिक्खाग। । एगे, ण सव्वे । एवमवधारणे । आहंसु ब्रुवाँ । सामाणा वुड्ढवासी, वसमाणा णवकप्पविहारी, दूतिज्जमाणा मासकप्पं चउमासकप्पं वा काउं संकममाणा, कहिंचि गामे ठिता उडुबद्धे अथवा हिंडमाणा । माइट्ठाणेण मा अम्हं खेत्तसारो भवतु त्ति पाहुणाए आगते २ भणंति—खुड्डाए खलु अयं गामे……।'

—अर्थात्-जो भिक्षणशील हों, वे भिक्षाक कहलाते हैं। यहाँ नामग्रहण किया है, इसलिए- द्रव्य भिक्षाक समझना चाहिए। 'एगे' का अर्थ है—कुछ भिक्षु, सभी नहीं। 'एवं' निश्चय अर्थ में है। 'आहंसु'=कहते हैं। समाणा=वृद्धवासी (स्थिरवासी), वसमाणा=नवकल्प कल्पविहारी। दूतिज्जमाणा =मासकल्प (आठ) एवं चातुर्मासकल्प (एक) करके विचरण करने वाले, किसी ग्राम में ठहरे-ऋतुबद्ध अथवा विचरण करते हुए। 'माइट्ठाणेण' (माया का स्थान यह है कि हमारा क्षेत्र श्रेष्ठ न हो जाय, अन्यथा, ये यहाँ जम जाएँगे इस दृष्टि से) अतिथि (समागत) साधुओं के आने पर वे कहते हैं— "यह गाँव बहुत छोटा है, कहीं अन्यत्र भिक्षा के लिए जाएं, गाँव बहुत बड़ा नहीं है।……।"

निशीथ सूत्र द्वितीय उद्देशक में इसी से मिलता-जुलता पाठ और चूर्णिकार कृत व्याख्या देखिये-'जे भिक्खू सामाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूतिज्जमाणे पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा कुलाइं पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसति।" इसकी चूर्णि—'जे भिक्खू सामाणे' इत्यादि। भिक्खू पूर्ववत्। सामाणो नाम समधीनः अप्रवसितः को सो? वुड्ढो वासः। 'वसमाणो' उडुबद्धिते अट्ठमासे वासावासं च नवमं। एवं नवविहं विहारं विहरंतो वसमाणो भण्णति। अनु=पच्छाभावे, गामातो अन्नो गामो अणुग्गामो, दोसु वासेसु सिसिर-गिम्हेसु वा रीइज्जति त्ति दूइज्जति।"

अर्थात्—'भिक्खू' का अर्थ पूर्ववत् है। 'सामाणो' का अर्थ है-समधीन यानी जो प्रवास (विहार) न करता हो, वह कौन? वृद्धवास। 'वसमाणो' का तात्पर्य है-ऋतुबद्ध—आठ मास में आठ विहार एवं वर्षावास का नौवां विहार, यों जो नौ विहार (कल्प) से विचरण करता हो, वह वसमान कहलाए है। 'अनु' पश्चात् अर्थ में है। ग्राम से अन्य ग्राम को अनुग्राम कहते हैं। दो वासों में शिशिर और ग्रीष्म ऋतुओं में जो विचरण करता है।

१. इसके स्थान पर किसी-किसी प्रति में अवियाइं इत्थ, अवि या इत्थ, अविअ इत्थ-ये पाठान्तर मिलते हैं, अर्थ समान है।

२. 'लोयं' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'लुत्तरसं लोयगं, वण्णादि—अपेतं, असोभणमित्यर्थः। अर्थात्-जिसमें से रस लुप्त हो गया हो, उसे लोयग कहते हैं, जो वर्णादि से रहित, अशोभन (खराब) हो।

३. देखिये-दशवैकालिक (५।१।१०२) में इससे मिलता जुलता पाठ। वहाँ 'संकुलि' (सक्कुलि) का अर्थ तिलसांकली या खजली किया है।

४. 'पूपं' या 'पूवं' पाठ भी सम्यक् प्रतीत होता है।

भोच्चा[1] पिच्चा पडिग्गहं च संलिहिय संमज्जिय ततो पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावतिकुलं पिंडवात-पडियाए पविसिस्सामि वा णिक्खमिस्सामि वा। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थितरातियरेहिं[2] कुलेहिं सामुदाणियं एसितं वेसितं पिंडवातं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा।

३५०. जंघादि बल क्षीण होने से एक ही क्षेत्र में स्थिरवास करने वाले अथवा मास-कल्प विहार करने वाले कोई भिक्षु, अतिथि रूप से अपने पास आए हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले साधुओं से कहते हैं—पूज्यवरों ! यह गाँव बहुत छोटा है, बहुत बड़ा नहीं है, उसमें भी कुछ घर सूतक आदि के कारण रुके हुए हैं। इसलिए आप भिक्षाचरी के लिए बाहर (दूसरे) गाँवों में पधारें।

मान लो, इस गाँव में स्थिरवासी मुनियों में से किसी मुनि के पूर्व-परिचित (माता-पिता आदि कुटुम्बीजन) अथवा पश्चात्परिचित (श्वसुर-कुल के लोग) रहते हैं, जैसे कि—गृहपति, गृहपत्नियाँ, गृहपति के पुत्र एवं पुत्रियाँ, पुत्रवधुएं, धायमाताएं, दास-दासी, नौकर-नौकरानियाँ वह साधु यह सोचे कि जो मेरे पूर्व-परिचित और पश्चात्-परिचित घर हैं, वैसे घरों में अतिथि साधुओं द्वारा भिक्षाचरी करने से पहले ही मैं भिक्षार्थ प्रवेश करूंगा और इन कुलों से अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लूंगा जैसे कि—"शाली के ओदन आदि, स्वादिष्ट आहार, दूध, दही, नवनीत, घृत, गुड़, तेल, मधु, मद्य[3] या मांस अथवा जलेबी, गुड़राब, मालपुए, शिखरिणी नामक मिठाई, आदि। उस आहार को मैं पहले ही खा-पीकर पात्रों को धो-पोंछकर साफ कर लूंगा। इसके पश्चात् आगन्तुक भिक्षुओं के साथ आहार-प्राप्ति के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करूंगा और वहाँ से निकलूंगा।"

इस प्रकार का व्यवहार करने वाला साधु माया-कपट का स्पर्श (सेवन) करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए।

उस (स्थिरवासी) साधु को भिक्षा के समय उन भिक्षुओं के साथ ही उसी गाँव में विभिन्न उच्च-नीच और मध्यम कुलों से सामुदानिक भिक्षा से प्राप्त एषणीय, वेष से उपलब्ध (धात्री आदि दोष से रहित) निर्दोष आहार को लेकर उन अतिथि साधुओं के साथ ही आहार करना चाहिए।

---

१. चूर्णि में इसकी व्याख्या यों की गयी है—'तं भोच्चा पच्छा साहुणो हिंडावेति' जो आहार मिला उसका उपभोग करके फिर आगुन्तक साधुओं को भिक्षा के लिए घुमाता हैं।

२. इसके स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं—'तत्थितरातिरेहिं' 'तत्थितरेतरेहिं' अर्थ समान है।

३. यहाँ 'मद्य' शब्द कई प्रकार के स्वादिष्ट पेय तथा 'मांस' शब्द बहुत गूदे वाली अनेक वनस्पतियों का सामूहिक वाचक हो सकता है, जो कि गृहस्थ के भोज्य-पदार्थों में सामान्यतया सम्मिलित रहती हैं। टीकाकार ने 'मद्य' और 'मांस' शब्दों की व्याख्या छेदशास्त्रानुसार करने की सूचना की है। साथ ही कहा हैं—अथवा कोई अतिशय प्रमादी साधु अतिलोलुपता के कारण मांस मद्य भी स्वीकार कर ले।

—सम्पादक

विवेचन—रस लोलुपता और माया—इस सूत्र का आशय स्पष्ट है। प्राघूर्णक (पाहुने) साधुओं के साथ जो साधु स्वाद-लोलुपतावश माया करता है, वह साधु स्व-पर-वंचना तो करता ही है, आत्म-विराधना और भगवदाज्ञा का उल्लंघन भी करता है। शास्त्रकार की ऐसे मायिक साधु के लिए गम्भीर चेतावनी है। आचारांग चूर्णि और निशीथ चूर्णि में इसका विशेष स्पष्टीकरण किया गया है।[1]

३५१. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३५१. यही संयमी साधु-साध्वी के ज्ञानादि आचार की समग्रता है।[2]

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

अग्रपिण्ड-ग्रहण-निषेध

३५२. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं[3] णिक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभाइज्जमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभुज्जमाणं[4] पेहाए, अग्गपिंडं परिट्ठविज्जमाणं पेहाए, पुरा असिणादि[5] वा अवहारादि वा, पुरा जत्थऽण्णे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा खद्धं[6] खद्धं उवसंकमंति, से हंता अहमवि खद्धं खद्धं उवसंकमामि। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

३५२ : वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के घर में भिक्षा के निमित्त प्रवेश करने पर यह जाने कि अग्रपिण्ड निकाला जाता हुआ दिखायी दे रहा है, अग्रपिण्ड रखा जाता दिखायी दे

---

१. देखिए आचारांग मूल पाठ टिप्पण पृ० ११८।
२. इसका विवेचन सूत्र ३३४ के अनुसार समझ लेना चाहिए।
३. किसी-किसी प्रति में 'अग्गपिंड' और किसी प्रति में 'अग्गपिंड परिभाइज्जमाणं पेहाए' पाठ नहीं है।
४. 'परिभुंजमाणं' पाठान्तर कहीं-कहीं मिलता है।
५. 'असिणादि वा अवहारादिवा' के स्थान पर किन्हीं प्रतियों में 'असणादि वा अवहाराति वा' पाठ है। चूर्णिकार इस पंक्ति का अर्थ यों करते हैं—'पुरा असणादी वा' तत्थेव भुंजंति, जहा बोडियसक्खा, अवहरति णाम उक्कढति' अर्थात् पहले जैसे अन्य बोटिकसदृश भिक्षु अग्रपिण्ड का उपभोग कर गये थे, वैसे ही निर्ग्रन्थ खाता है। अवहरित का अर्थ है—निकालता है।
६. चूर्णिकार के शब्दों में व्याख्या—खद्धं खद्धं णाम बहवे अवसंकमंति तुरियं च, तत्थ भिक्खू वि तहेव। अर्थात्—खद्धं खद्धं का अर्थ है—बहुत से भिक्षुक जल्दी-जल्दी आ रहे हैं; वहाँ भिक्षु भी इसी प्रकार का विचार करता है—तो।

रहा है, (कहीं) अग्रपिण्ड ले जाया जाता दिख रहा है, कहीं वह बांटा जाता दिख रहा है, (कहीं) अग्रपिण्ड का सेवन किया जाता दिख रहा है, कहीं वह फेंका या डाला जाता दृष्टिगोचर हो रहा है, तथा पहले, अन्य श्रमण-ब्राह्मणादि (इस अग्रपिण्ड का) भोजन कर गए हैं एवं कुछ भिक्षाचर पहले इसे लेकर चले गए हैं, अथवा पहले (हम लेंगे, इस अभिप्राय से) यहाँ दूसरे श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र, याचक आदि (अग्रपिण्ड लेने) जल्दी-जल्दी आ रहे हैं, (यह देखकर) कोई साधु यह विचार करे कि मैं भी (इन्हीं की तरह) जल्दी-जल्दी (अग्रपिण्ड लेने) पहुंचूं, तो (ऐसा करने वाला साधु) माया-स्थान का सेवन करता है। वह ऐसा न करे।

विवेचन—माया का सेवन—इस सूत्र में साधु को माया-सेवन से दूर रहने का निर्देश किया गया हैं। यह भी बताया गया है कि माया-सेवन का सूत्रपात कैसे और कब सम्भव है? जब साधु यह देखता है कि गृहस्थ के यहाँ से अग्रपिण्ड निकाला जा रहा है, ले जाया जा रहा है, रखा जा रहा है, बांटा जा रहा है और इधर-उधर फेंका जा रहा है, कुछ भिक्षाचर पहले ले गए हैं और दूसरे दबादब लेने आ रहे हैं, इसलिए मैं भी जल्दी-जल्दी वहाँ पहुंचूं, अन्यथा मैं पीछे रह जाऊंगा, दूसरे भिक्षुक सब आहार ले जाएंगे। यह उसके माया-सेवन का कारण बनता है। उतावली और हड़बड़ी में जब वह चलेगा तो जीवों की विराधना भी सम्भव है, और स्वादलोलुपता की वृद्धि भी। दशवैकालिक सूत्र में चलने की विधि बताते हुए कहा है कि "भिक्षु दबादब न चले, बहुत शान्ति से, अनुद्विग्न, असंभ्रान्त, अमूर्च्छित (अनासक्त), अव्यग्रचित्त से यतनापूर्वक धीरे-धीरे भिक्षा के लिए चले।[1]

'**अग्गपिंड**—अग्रपिण्ड वह है, जो भोजन तैयार होने के बाद दूसरे किसी को न देकर, या न खाने देकर उसमें से थोड़ा-थोड़ा अंश देवता आदि के लिए निकाला जाता है। उसी अग्रपिण्ड की यहाँ देवादि के निमित्त से होने वाली ६ प्रक्रियाएं बताई गयी हैं—

(१) देवता के लिए अग्रपिण्ड का निकालना। (२) अन्यत्र खाना। (३) देवालय आदि में ले जाना। (४) उसमें से प्रसाद बांटना। (५) उस प्रसाद को खाना। (६) देवालय से चारों दिशाओं में फेंकना। इन प्रक्रियाओं के बाद वह अग्रपिण्ड विविध भिक्षाचरों को दिया जाता है, उनमें से कुछ लोग वहीं खा लेते हैं, कुछ लोग जैसे-तैसे—झपट कर ले लेते हैं और चले जाते हैं, कुछ लोग अग्रपिण्ड लेने के लिए उतावले कदमों से आते हैं।[2]

---

१. (क) टीका पत्र ३३६ के आधार पर।
(ख) संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥
से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्विक्खित्तेण चेयसा ॥२॥
पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥
—दशवै० अ० ५/उ० १

२. टीका पत्र ३३६।

'पुरा असिणादि वा' इत्यादि पदों के अर्थ—असिणादि=पहले दूसरे श्रमणादि उस अग्र-पिण्ड का सेवन कर चुके हैं, अवहारादि=कुछ पहले व्यवस्था या अव्यवस्थापूर्वक जैसे-तैसे उसे ले चुके। खद्दं खद्दं=जल्दी-जल्दी।[1]

विषम मार्गादि से भिक्षाचर्यार्थ गमन-निषेध

३५३. से भिक्खू वा २[2] जाव[3] समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि[4] वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेयं। से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणएण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया। तहप्पगारं कायं णो अणंतरहियाए[5] पुढवीए, णो ससणिद्धाए पुढवीए, णो ससरक्खाए पुढवीए, णो चित्तमंताए सिलाए, णो चित्तमंताए लेलूए, कोलावासंसि वा दारुए जीवपतिट्ठिते सअंडे सपाणे जाव[6]

---

१. टीका पत्र ३३६।   २. जहाँ-जहाँ '२' का चिन्ह है वहां 'भिक्खूणी वा' पाठ समझना।

३. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ के अनुसार समग्र पाठ का सूचक है।

४. तुलना करिए—दशवैकालिक (५।२।७ एवं ९ गाथा)

५. 'अणंतरहियाए' आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—"अणंतरहिता नाम, तिरो अंतर्धाने, न अंतर्हिता, सचेतणा इत्यर्थः, सचेतणा अहवा अणंतेहिं रहिता इत्यर्थः। **ससणिद्धा** घडओ [ऽ]त्थ पाणियभरितो पल्हत्थतो, वासं वा पडियमेत्तयं। **ससरक्खा** सचिता मट्टिता तहिं पडति या सगडमादिणा णिज्जमाणी कुंभकारादिणा लवणं वा। **चित्तमंता** सिला सिला एव सचिता। लेलू मट्टिताउंडओ सचित्तो चेव। कोलो नाम घुणो तस्स आवासं कट्ठं, अन्ने वा दारुए जीव-पतिट्ठते हरितादीणं उवरिं उद्देहियणे वा सचित्ते वा सअंडे सपाणे पुव्वभणिता। **आमज्जति** एक्कसिं। **पमज्जति** पुणो पुणो।"

'अणंतरहियाए' आदि पदों की चूर्णिकार-कृत व्याख्या का अर्थ इस प्रकार है—अर्थात् **अणंतर-हिता** (अनन्तर्हिता) का अर्थ होता है—जिसकी चेतना अन्तर्हित न हो—तिरोहित न हो, अर्थात् जो सचेतन हो अथवा अनन्तों (अनन्त निगोद भाव) से रहित हो, वह अनन्त-रहित है। **ससणिद्धा**-स्निग्ध पृथ्वी, जैसे पानी का घड़ा पलट जाने से (मिट्टी पर) वह स्निग्ध हो जाती है, या मिट्टी पर पानी का वर्तन सिर्फ पड़ा हो वह भी स्निग्ध पृथ्वी है। **ससरक्खा** सचित्त मिट्टी, जहाँ गिरती है, जिसे कुम्भकार आदि गाड़ी आदि से ढोकर ले जाते हैं, अथवा सचित्त नमक। **चित्तमंता सिला**=जो सिला ही सचित्त हो, लेलू=मिट्टी का ढेला, जो सचित्त होता है। **कोल**—कहते हैं घुन को, उसका आवास काष्ठ होता है। अन्य जो लकड़ी, जीवप्रतिष्ठित हो, हरित पर या लकड़ी पर दीमक लग जाने से या सचित्त हो, **'सअंडे सपाणे'** का अर्थ पहले कहा जा चुका है। **आमज्जति**=एक बार, **पमज्जति**=बार-बार प्रमार्जन करना है।

६. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ में पठित **'सपाणे'** से **'संताणए'** तक के पाठ का सूचक है।

संताणए णो[1] (?) आमज्जेज्ज वा, णो (?) पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा णिल्लिहेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा[2] जाव अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा।

३५४. से भिक्खू वा[3] २ जाव[4] पविट्ठे समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा गोणं[5] वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं[6] पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थि सीहं वग्घं विगं दीवियं अच्छं तरच्छं परिसरं सियालं विरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चित्ताचेल्लडयं[7] वियालं पडिपहे सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

३५५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे अंतरा से ओवाए[8] वा खाणुं वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जेज्जा। सति परक्कमे संजयामेव [परक्कमेज्जा] णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

बन्द द्वारवाले गृह में प्रवेश-निषेध

३५६. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलस्स दुवारबाहं[9] कंटगबोंदियाए पडिपिहितं पेहाए

---

१. संताणए के बाद 'आमज्जेज्ज वा' और 'पमज्जेज्ज वा' के पूर्व 'णो' शब्द लिपिकार की असावधानी से अंकित हुआ लगता है, वहाँ यह निरर्थक है। इसलिए (?) संकेत है।
२. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३४४ में पठित 'झामथंडिल्लंसि वा' से लेकर 'अण्णतरंसि' तक के पूर्ण पाठ का सूचक है।
३. यहाँ भिक्खू वा के बाद '२' का चिन्ह, भिक्खूणी वा पाठ का सूचक है।
४. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ में पठित 'गाहावइकुलं' से लेकर पविट्ठे तक के पाठ का सूचक हैं।
५. तुलना करिए—दशवैकालिक ५।१।१२ साणं सुइयं गावं दित्तं गोणं हयं गयं—दूरओ परिवज्जिय…
६. चूर्णि में, सर्वप्रथम 'मणुस्सं वियालं' पद है। उसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—"मणुस्सं-विआलो णाम गहिल्लमत्तओ, गहिल्लओ, रणपिसाइयागहितो वा सेसा गोणादि मारगा अलक्कइता वा।" मनुष्यव्याल का अर्थ है—पागल या उन्मत्त, अथवा विक्षिप्त युद्धोन्मादग्रस्त या पिशाचादि-ग्रस्त। शेष गोण (सांड आदि के आगे व्याल विशेषण का अर्थ है—मारक (मरकना)— —।
७. चित्ताचेल्लडयं का अर्थ है—आरण्यक जीवविशेष। सूत्र ५१५ में भी प्रयुक्त है।
८. 'ओवाए' के स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं —'उवाए' उवाओ उववाओ आदि। चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—'खुड्डजाइ उवायांति अस्मिन्निति उवातं' अर्थात्—जिसमें क्षुद्रजातीय प्राणी गिर जाते हैं, उसे 'उवात' कहते हैं। दशवैकालिक (अ० ५।१।४ गा०) में इससे मिलती-जुलती गाथा है, वहाँ 'ओवायं' (अवपात) का अर्थ हरिभद्रसूरि और जिनदासगणि ने खड्डा या गड्डा किया है। अगस्त्यसिंह ने (चूर्णि में) अर्थ किया है—अहोपतणमोवातो खड्डाकूव झिरिडाति। अर्थात् अधःपातन को अवपात कहते हैं, खड्डा कुआ और जीर्णकूप भी अवपात है। —जि० चू० पृ० १६६
९. 'दुवारबाहं' का अर्थ चूर्णिकार ने अग्गदार (अग्रद्वार) किया है।

तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा । तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय ततो संजयामेव अवंगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा ।

३५३. वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहारार्थ जाते समय रास्ते के बीच में ऊँचे भूभाग या खेत की क्यारियाँ हों या खाइयाँ हों, अथवा बांस की टाटी हो, या कोट हो, बाहर के द्वार (बंद) हों, आगल हों, अर्गला-पाशक हों तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी मार्ग से जाए, उस सीधे मार्ग से न जाए; क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का मार्ग है ।

उस विषम-मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा, अथवा गिर जएगा । फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, लींट, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से लिपट सकता है । अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्रादि से उपलिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी—स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से, या घुन लगे हुए काष्ठ से, जीवयुक्त काष्ठ से, एवं अण्डे या प्राणी या जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिस कर साफ करे । न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भाँति लगाए । एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं ।

वह भिक्षु पहले सचित्त-रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे । याचना से प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए । वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जलकर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि की या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यत्नाचारपूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने—(मल-मूत्रादिलिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार-बार सुखाए और शुद्ध करे ।

३५४. वह साधु या साध्वी जिस मार्ग से भिक्षा के लिए जा रहे हों, यदि वे यह जाने कि मार्ग में सामने मदोन्मत्त सांड है, या मतवाला भैंसा खड़ा है, इसी प्रकार दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, वाघ, भेड़िया, चीता, रीछ, व्याघ्र विशेष—(तरच्छ), अष्टापद, सियार बिल्ला (वनबिलाव), कुत्ता, महाशूकर—(जंगली सूअर), लोमड़ा, चित्ता, चिल्लडक नामक एक जंगली जीव विशेष और साँप आदि मार्ग में खड़े या बैठे हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा मार्ग हो तो उस मार्ग से जाए, किन्तु उस सीधे (जीव-जन्तुओं वाले) मार्ग से न जाए ।

३५५. साधु-साध्वी भिक्षा के लिए जा रहे हों, मार्ग में बीच में यदि गड्ढा हो, खूंटा हो या ठूंठ पड़ा हो, कांटे हों, उतराई की भूमि हो, फटी हुयी काली जमीन हो, ऊँची-नीची भूमि हो, या कीचड़ अथवा दलदल पड़ता हो, (ऐसी स्थिति में) दूसरा मार्ग हो तो संयमी

साधु स्वयं उसी मार्ग से जाए, किन्तु जो (गड्ढे आदि वाला विषम, किन्तु) सीधा मार्ग है, उससे न जाए।

३५६. साधु या साध्वी गृहस्थ के घर का द्वार भाग कांटों की शाखा से ढंका हुआ देखकर जिनका वह घर, उनसे पहले अवग्रह (अनुमति) मांगे बिना, उसे अपनी आखों से देखे बिना और रजोहरणादि से प्रमार्जित किए बिना न खोले, न प्रवेश करे और न उसमें से (होकर) निकले; किन्तु जिनका घर है, उनसे पहले अवग्रह (अनुमति) मांग कर अपनी आंखों से देखकर और रजोहरणादि से प्रमार्जित करके उसे खोले, उसमें प्रवेश करे और उसमें से निकले।

विवेचन—खतरे वाले मार्गों से आहारार्थ-गमन न करे—सूत्र ३५३ से सूत्र ३५६ तक शास्त्रकार ने उन मार्गों का उल्लेख किया है, जो संयम, आत्मा और शरीर को हानि पहुंचा सकते हैं। ऐसे चार प्रकार के मार्गों का नाम-निर्देश इस प्रकार किया है—(१) ऊंचा भू-भाग, खाई, कोट, बाहर के द्वार, आगल, अर्गलापाशक आदि रास्ते में पड़ते हों, (२) मतवाला सांड, भैंसा, दुष्ट मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सिंह, बाघ, भेड़िया, चीता रींछ, श्वापद (हिंसक पशु)—अष्टापद, गीदड़, वनविलाव, कुत्ता, जंगली सूअर, लोमड़ा, सांप आदि खतरनाक प्राणी मार्ग में बैठे या खड़े हों (३) मार्ग के बीच में गड्ढा, ठूंठ, कांटे, उतार वाली भूमि, फटी हुई जमीन, ऊवड़-खावड़ जमीन, कीचड़ या दलदल पड़ता हो, तथा (४) गृहस्थ के घर का द्वार कांटों की बाड़ आदि से अवरुद्ध हो तो उस मार्ग या उस घर को छोड़ दे, दूसरा मार्ग साफ और ऐसे खतरों से रहित हो तो उस मार्ग से जाए; दूसरा घर, जो खुला हो, उसमें प्रवेश करे। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है।[1]

खतरों वाले मार्ग से जाने से क्या-क्या हानियाँ हैं, उनका स्पष्ट उल्लेख शास्त्रकार ने स्वयं किया है। जिस घर का द्वार कांटों से अवरुद्ध कर रखा हो, उसमें बिना-अनुमति के,

---

१. (क) ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥
पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥
तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥६॥
साणं सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥१२॥ —दशवै० अ० ५/उ०१

(ख) यहां एक अपवाद भी बताया है—'सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे' यदि अन्य मार्ग न हो तो इन विषम मार्गों से सावधानी व यतनापूर्वक जा सकता है जिससे आत्म-विराधना और संयम-विराधना न हो। 'जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेण वि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजम विराहणा ण भवइ।' —जिनदास चूर्णि पृ० १६९।

ऊपर से दीवार लांघ कर या कांटे हटाकर प्रवेश करने से चोरी समझी जाती है। गृहपति को उस साधु के प्रति घृणा या द्वेष हो सकता है, वह साधु पर चोरी का आरोप लगा सकता है, अथवा द्वार खुला रह जाने से कोई वस्तु नष्ट हो जाने से या किसी चीज की हानि हो जाने से साधु के प्रति शंका हो सकती है। अगर उस घर में जाना अनिवार्य हो तो उस घर के सदस्य की अनुमति लेकर, प्रतिलेखन—प्रमार्जन करके यतनापूर्वक प्रवेश-निर्गमन करना चाहिए। वृत्तिकार ने गाढ़ कारणों से प्रवेश करने की विधि बताई है—वैसे तो (उत्सर्ग मार्ग में) साधु को स्वतः बंद द्वार को खोलकर प्रवेश नहीं करना चाहिए; किन्तु यदि उस घर से ही रोगी, ग्लान एवं आचार्य आदि के योग्य पथ्य मिलना सम्भव हो, वैद्य भी वहाँ हो; दुर्लभ द्रव्य भी वहाँ से उपलभ्य हों, ऊनोदरी तप हो; इन और ऐसे कारणों के उपस्थित होने पर अवरुद्ध द्वार पर खड़े रहकर आवाज देनी चाहिए, तब भी कोई न आए तो स्वयं यथाविधि द्वार खोलकर प्रवेश करना चाहिए और भीतर जाकर घर वालों को सूचित कर देना चाहिए।[1]

'वप्पाणि' आदि शब्दों के अर्थ—वप्पाणि=वप्र—ऊंचा भूभाग; ऐसा रास्ता जिसमें चढ़ाव ही चढ़ाव हैं। अथवा ग्राम के निकटवर्ती खेतों की क्यारी भी वप्र कहलाती है। फलिहाणि=परिखा—खाईयाँ, प्राकार। तोरणानि=नगर का बहिर्द्वार—(फाटक) या घर के बाहर का द्वार, परक्कमे—जिस पर चला जाए; (पैर से कदम रखा जाए) उसे प्रक्रम=मार्ग कहते हैं। अणंतरहियाए=जिसमें चेतना अन्तर्निहित हो=लुप्त न हो—अर्थात् जो सचेतन हो वह पृथ्वी, ससणिद्धाए=सस्निग्ध पृथ्वी, ससरक्खाए=सचित्त मिट्टी, कोलावासंसि वा दारुए=कोल—घुण; जिसमें कोल का आवास हो, ऐसी लकड़ी, जीवपतिट्ठिते=जीवों से अधिष्ठित—जीवयुक्त, आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा—एक बार साफ करे, बार-बार साफ करे, संलिहेज्ज वा णिल्लिहेज्ज वा=अच्छी तरह एक बार घिसे, बार-बार घिसे, उव्वलेज्ज वा उव्वटेज्ज वा=उबटन आदि की भाँति एक बार मले, बार-बार मले, आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा=एक बार धूप में सुखाए, बार-बार धूप में सुखाए। गोणं वियालं=दुष्ट—मतवाला सांड, पडिपहे=ठीक सामने मार्ग पर स्थित, विगं=वृक—भेड़िया, दीवियं=चीता, अच्छं=रींछ भालू, तरच्छं=व्याघ्र विशेष, परिसरं=अष्टापद, कोलसुणयं=महाशूकर, कोकंतियं=लोमड़ा, चित्ताचेल्लडयं=एक जंगली-जानवर, वियालं=सर्प, ओवाए=गड्ढा, खाणुं=ठूंठ या खूंटा, घसी=उतराई की भूमि, भिलुगा=फटी हुयी काली जमीन, विसमे—ऊबड़ खाबड़ जमीन, विज्जले=कीचड़, दलदल, दुवारबाहं=द्वार भाग, कंटग-बोंदियाए=कांटे की झाड़ी से, पडिपिहितं=अवरुद्ध या ढका हुआ या स्थगित, उग्गहं=अवग्रह=अनुमति=आज्ञा, अवंगुणेज्ज=खोले, उद्घाटन करे, अणुण्णविय=अनुमति लेकर।[2]

---

१. टीका पत्र ३३७-३३८।

२. (क) टीका पत्र ३३७-३३८। (ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १२०।

पूर्व-प्रविष्ट श्रमण-माहनादि की उपस्थिति में भिक्षा विधि

३५७. से भिक्खू वा २ जाव[1] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, समणं वा माहणं वा गाम-पिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा।

केवली[2] बूया—आयाणमेयं। पुरा पेहा एतस्सट्ठाए परो असणं[3] वा ४ आहट्टु दलएज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिण्णा, एस हेतु, एस उवएसे—जं णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा।

से त्तमादाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा। से से परो अणावातमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा, से सेवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए णिसट्ठे, तं भुंजह व णं परिभाएह[4] व णं।

तं चेगतिओ पडिगाहेत्ता तुसिणीओ उवेहेज्जा-अवियाइं एयं ममामेव सिया। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से त्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा,[5] २ [त्ता] से पुव्वामेव आलोएज्जा आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए णिसट्ठे। तं भुंजह व णं परियाभाएह व णं।

से णमेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा! तुमं चेव णं परिभाएहि।

से तत्थ परिभाएमाणे णो अप्पणो खद्धं २[6] डायं २ ऊसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ णिद्धं २ लुक्खं २। से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववण्णे बहुसममेव परिभाएज्जा।[7]

से णं परिभाएमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा! मा णं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगतिया[8] भोक्खामो वा पाहामो वा।

से तत्थ भुंजमाणे णो अप्पणो खद्धं खद्धं जाव लुक्खं। से तत्थ अमुच्छिए ४ बहुसममेव भुंजेज्ज वा पाएज्ज वा।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ३२४ के अन्तर्गत समग्र पाठ का सूचक हैं।
२. यह पाठ वृत्ति आदि कई प्रतियों में नहीं हैं।
३. जहाँ '४' का चिन्ह हो वहाँ वह शेष तीनों आहारों का सूचक है।
४. इसके स्थान पर पाठान्तर है—परियाभाएध, परि (ड) यामाएह आदि। अर्थ समान है।
५. गच्छेज्जा के बाद '२' का चिन्ह गच्छ धातु की पूर्वकालिका क्रिया-पद 'गच्छित्ता' का बोधक है।
६. यहाँ से लुक्खं तक जो '२' का चिन्ह है, वह प्रत्येक शब्द से संयुक्त है, वह हरेक शब्द की पुनरावृत्ति का सूचक है।
७. इसके स्थान पर पाठान्तर है—'सम एव परियाभाएज्जा' से णं परियाभाएज्जा परिभाएज्जा से णं' अर्थात् वह उन्हें सम विभाग करे।
८. इसके स्थान पर पाठान्तर मिलता है—'वेगओ ठिया भोक्खामो—एक जगह बैठ कर भोजन करें।

से भिक्खू वा[1] २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो ते उवातिक्कम्म पविसेज्ज वा ओभासेज्ज वा। से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २[2] [त्ता] अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा पडिसेहिए[3] व दिण्णे वा, तओ तम्मि णिवट्टिते[4] संजयामेव पविसेज्ज वा ओभासेज्ज वा।

३५७. वह भिक्षु या—भिक्षुणी भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करते समय यदि यह जाने कि बहुत-से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, (ग्राम-पिण्डोलक), दरिद्र, अतिथि और याचक आदि उस गृहस्थ के यहाँ पहले से ही प्रवेश किए हुए हैं, तो उन्हें देखकर उनके (दृष्टि पथ में आए, इस तरह से) सामने या जिस द्वार से वे निकलते हैं, उस द्वार पर खड़ा न हो।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मों का उपादान—कारण है।

पहली ही दृष्टि में गृहस्थ उस मुनि को वहाँ (द्वार पर) खड़ा देखकर उसके लिए आरम्भ-समारम्भ करके अशनादि चतुर्विध आहार बनाकर, उसे लाकर देगा। अतः भिक्षुओं के लिए पहले से ही निर्दिष्ट यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह उपदेश है कि वह भिक्षु उस गृहस्थ और शाक्यादि भिक्षाचरों की दृष्टि में आए, इस तरह सामने और उनके निर्गमन द्वार पर खड़ा न हो।

वह (उन श्रमणादि को भिक्षार्थ उपस्थित) जान कर एकान्त स्थान में चला जाए, वहाँ जाकर कोई आता-जाता न हो और देखता न हो, इस प्रकार से खड़ा रहे।

उस भिक्षु को उस अनापात और असंलोक स्थान में खड़ा देखकर वह गृहस्थ अशनादि आहार—लाकर दे, साथ ही वह यों कहे—"आयुष्मान् श्रमण! यह अशनादि चतुर्विध आहार मैं आप सब (निर्ग्रन्थ—शाक्यादि श्रमण आदि उपस्थित) जनों के लिए दे रहा हूँ। आप अपनी रुचि के अनुसार इस आहार का उपभोग करें और परस्पर बाँट लें।"

इस पर यदि वह साधु उस आहार को चुपचाप लेकर यह विचार करता है कि, "यह आहार (गृहस्थ ने) मुझे दिया है, इसलिए मेरे ही लिए है"; तो वह माया-स्थान का सेवन करता है। अतः उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

वह साधु उस आहार को लेकर वहाँ (उन शाक्यादि श्रमण आदि के पास) जाए, और वहाँ जाकर सर्वप्रथम उन्हें वह आहार दिखाए; और यह कहे—"हे आयुष्मान् श्रमणादि!

---

१. 'भिक्खु वा' के वाद '२' का अंक 'भिक्खुणी वा' का सूचक है।

२. 'अवक्कमेज्जा' के वाद '२' का अंक 'अवक्कमित्ता' पद का सूचक है।

३. तुलना करिए—

पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए॥ —दशवै० ५/२/१३

४. किसी-किसी प्रति में पाठान्तर है—'नियत्तिए तओ संजया,' अर्थ एक समान है।

यह अशनादि चतुर्विध आहार गृहस्थ (दाता) ने हम सबके लिए—(अविभक्त हो) दिया है। अतः आप सब इसका उपभोग करें और परस्पर विभाजन कर लें।"

ऐसा कहने पर यदि कोई शाक्यादि भिक्षु उस साधु से कहे कि—"आयुष्मन् श्रमण ! आप ही इसे हम सबको बांट दें। (पहले तो वह साधु इसे टालने का प्रयत्न करे)। (विशेष कारणवश ऐसा करना पड़े तो, सब लोगों में) उस आहार का विभाजन करता हुआ वह साधु अपने लिए जल्दी-जल्दी अच्छा-अच्छा प्रचुर मात्रा में वर्णादिगुणों से युक्त सरस साग, स्वादिष्ट-स्वादिष्ट, मनोज्ञ-मनोज्ञ, स्निग्ध-स्निग्ध आहार और उनके लिए रूखा-सूखा आहार न रखे, अपितु उस आहार में अमूर्च्छित, अगृद्ध, निरपेक्ष एवं अनासक्त होकर सबके लिए एकदम समान विभाग करे।

यदि सम-विभाग करते हुए उस साधु को कोई शाक्यादि भिक्षु यों कहे कि—"आयुष्मन् श्रमण ! आप विभाग मत करें। हम सब एकत्रित—(सम्मिलित) होकर यह आहार खा-पी लेंगे।"

(ऐसी विशेष परिस्थिति में) वह उन—पार्श्वस्थादि स्वतीर्थिकों) के साथ आहार करता हुआ अपने लिए प्रचुर मात्रा में सुन्दर, सरस आदि आहार और दूसरों के लिए रूखा-सूखा; (ऐसी स्वार्थी-नीति न रखे); अपितु उस आहार में वह अमूर्च्छित, अगृद्ध, निरपेक्ष और अनासक्त होकर बिलकुल सम मात्रा में ही खाए-पिए।

वह भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षा के लिए गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करने से पूर्व यदि यह जाने कि वहाँ शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, ग्रामपिण्डोलक या अतिथि आदि पहले से प्रविष्ट हैं, तो यह देख वह उन्हें लाँघ कर उस गृहस्थ के घर में न तो प्रवेश करे और न ही दाता से आहारादि की याचना करे। परन्तु उन्हें देखकर वह एकान्त स्थान में चला जाए, वहाँ जाकर कोई न आए-जाए, तथा न देखें, इस प्रकार से खड़ा रहे।

जब वह यह जान ले कि गृहस्थ ने श्रमणादि को आहार देने से इन्कार कर दिया है, अथवा उन्हें दे दिया है और वे उस घर से निपटा दिये गये है; तब संयमी साधु स्वयं उस गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, अथवा आहारादि की याचना करे।

विवेचन—**दूसरे भिक्षाजीवियों के प्रति निर्ग्रन्थ भिक्षु की समभावी नीति :**—प्रस्तुत सूत्र में निर्ग्रन्थ भिक्षु की दूसरे भिक्षाचरों के साथ ५ परिस्थितियों में व्यवहार की समभावी नीतियों का निर्देश किया गया है—

(१) श्रमणादि पहले से गृहस्थ के यहाँ जमा हों तो वह उसके यहां प्रवेश न करे, बल्कि एकान्त स्थान में जाकर खड़ा हो जाए।

(२) यदि गृहस्थ वहाँ आकर सबके लिए इकट्ठी आहार-सामग्री देकर परस्पर बांट कर खाने का अनुरोध करे तो उसका हकदार स्वयं को ही न मान ले, अपितु निश्छल भाव से उन श्रमणादि को वह आहार सौंपकर उन्हें बाँट देने का अनुरोध करे।

(३) यदि वे वह कार्य निर्ग्रन्थ भिक्षु को ही सौंपें तो वह समभावपूर्वक वितरण करे।

(४) यदि वे श्रमणादि उस आहार-सामग्री का सम्मिलित उपयोग करने का अनुरोध करें तो स्वयं ही सरस, स्वादिष्ट आहार पर हाथ साफ न करे, सबके लिए रखे।

(५) वह श्रमणादि भिक्षाचरों को गृहस्थ के यहाँ पूर्व-प्रविष्ट देखकर उन्हें लांघकर न प्रवेश करे और न आहार-याचना करे, अपितु उनके यहाँ से निवृत होने के बाद ही वह प्रवेश करे व आहार-याचना करे।[1]

इन पाँचों परिस्थितियों में शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ साधु को समभाव की नीति, संयम-रक्षा साधुता, निश्छलता के अनुकूल अपने आप को ढ़ाल लेने का निर्देश किया है। इन पाँचों परिस्थितियों में साधु के लिए—विधि–निषेध के निर्देशों को देखते हुए स्पष्ट ध्वनित होता है कि जैन-साधु नियमों की जड़ता में अपने आपको नहीं जकड़ता, वह देश, काल, परिस्थिति, पात्रता और क्षमता के अनुरूप अपने आप को ढाल सकता है। इससे यह भी स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि दूसरे भिक्षाचरों को देखकर वह उनकी सुख-सुविधाओं एवं अपेक्षाओं का भी ध्यान रखे, सामूहिक आहार-सामग्री मिलने पर वह उनसे घृणा-विद्वेषपूर्वक नाक-भौं सिकोड़ कर चुपचाप अपने आप को अकेला ही उस सामग्री का हकदार न माने, बल्कि उन भिक्षाचरों के पास जाकर सारी परिस्थिति निश्छल भाव से स्पष्ट करे, विभाजन का अस्वीकार और उसमें पक्षपात न करे, न ही सहभोजन के प्रस्ताव पर उनसे विमुख हो।[2]

वृत्तिकार निर्ग्रन्थ साधु के इस व्यवहार का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"इस प्रकार का—(सब का साझा) आहार उत्सर्गरूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए; दुर्भिक्ष, मार्ग चलने की थकान, रुग्णता आदि के कारण अपवाद रूप में वह आहार ग्रहण करे।"

"....किन्तु हम सब एकत्र स्थिर होकर खाएंगे-पीएंगे, (शाक्यादि-भिक्षुओं के इस प्रस्ताव पर)···पर-तीर्थिकों के साथ नहीं खाना-पीना चाहिए, स्व-यूथ्यों, पार्श्वस्थ आदि, और साम्भोगिक साधुओं के साथ उन्हें आलोचना देकर आहार पानी सम्मिलित करना चाहिए।[3]

---

१ तुलना करिये—समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१०॥
तं अइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खु-गोयरे।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥११॥
वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा।
अपत्तियं सिया होज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥१२॥
पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥१३॥ —दशवै० अ० ५/उ०२।

२. आचारांग मूल पाठ तथा टीका पत्र ३३९ के आधार पर।

३. (क) टीका पत्र ३३९।
(ख) टीकाकार ने इस विधि को साधु का सामान्य आचार नही माना है, विशेष परिस्थितियों में बाध्य होकर ऐसा करना पड़े, तो वहाँ अत्यन्त सरलतापूर्ण भद्र व्यवहार करने की सूचना है। —सम्पादक

'गामपिंडोलग' आदि पदों के अर्थ ?—ग्रामपिण्डोलक=जो ग्राम के पिण्ड पर निर्वाह करता है।[1] संलोए=सामने दिखायी दे, इस तरह से, सपडिदुवारे=निकलने—प्रवेश करने के द्वार पर। अणावायमसलोए=जहाँ कोई आता-जाता न हो, जहाँ कोई देख न रहा हो। सव्वजणाए णिसट्ठे=सब जनों के लिए (साझा-भोजन) दिया है। परिभाएह=विभाजन-करो। उवेहेज्जा=कल्पना करे, सोचे। अवियाइं=(गृहस्थ ने) अर्पित किया है। खद्धं खद्धं=जल्दी-जल्दी या प्रचुर मात्रा में। डायं—शाक, व्यञ्जन। ऊसढं=उच्छ्रित=वर्णादिगुणों से युक्त=सुन्दर। रसियं=सरस, अमुच्छिए आदि चार पद एकार्थक हैं; किन्तु क्रमशः यों हैं अमूर्च्छित, अगृध्द, निरपेक्ष और अनासक्त। बहुसममेव=प्रायः सममात्रा में, वेरातिया=एकत्र व्यवस्थित होकर, ओभासेज्ज=दाता से याचना करे, णिवट्टिते=निपटा देने पर—निवृत्त होने पर।[2]

३५८. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

सू० ३५८. यही उस भिक्षु अथवा भिक्षुणी के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप आदि के आचार की समग्रता=सम्पूर्णता है।[3]

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

छठा उद्देशक

<u>कुक्कुटादि प्राणी होने पर अन्य मार्ग-गवेषणा</u>

३५९. से भिक्खू वा २ जाव[4] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, रसेसिणो बहवे पाणा घासेसणाए संथडे संणिवतिए पेहाए, तंजहा—कुक्कुडजातियं वा सूयरजातियं वा, अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संणिवतिया पेहाए, सति परक्कमे संजया[5] णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

३५९. वह भिक्षु या भिक्षुणी आहार के निमित्त जा रहे हों, उस समय मार्ग में यह जाने कि रसान्वेषी बहुत-से प्राणी आहार के लिए झुण्ड के झुण्ड एकत्रित होकर (किसी पदार्थ

---

१. (क) पिण्डोलग—पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला भिखारी (—उत्त० बृहद्वृत्ति पत्र २५०)
   (ख) कृपणं वा पिण्डोलकं—दशवै०हारि० टीका पृ० १८४।

२. टीका पत्र ३३९-३४०।

३. इसका विवेचन प्रथम उद्देशक के सू० ३३४ को समान समझना चाहिए।

४. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ३२४ में पठित समग्र पाठ का सूचक है।

५. संजया के स्थान पर पूर्वापरसूत्रों में 'संजयामेव' शब्द मिलता है, तथापि संयत का सम्बोधन या संयत—सम्यगुपयुक्त शब्द का वाचक है।

पर) टूट पड़े हैं, जैसे कि—कुक्कुट जाति के जीव, शूकर जाति के जीव, अथवा अग्रपिण्ड पर कोए झुण्ड के झुण्ड टूट पड़े हैं; इन जीवों को मार्ग में आगे देखकर संयत साधु या साध्वी अन्य मार्ग के रहते, सीधे उनके सम्मुख होकर न जाएँ।

विवेचन—**दूसरे प्राणियों के आहार में विघ्न न डालें**—इस सूत्र में षट्काय-प्रतिपालक साधु-साध्वियों के लिए भिक्षार्थ जाते समय मार्ग में अपना आहार करने में जुटे हुए पशु-पक्षियों को देखकर उस मार्ग से न जाकर अन्य मार्ग से जाने का निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है, वे बेचारे प्राणी भय के मारे अपना आहार छोड़कर उड़ जायेंगे या इधर-उधर भागने लगेंगे, इससे (१) एक तो उन प्राणियों के आहार में अन्तराय पड़ेगा, (२) दूसरे वे साधु-साध्वी के निमित्त से भयभीत होंगे. (३) तीसरे वे हड़बड़ाकर उड़ेंगे या भागेंगे इसमें वायुकायिक आदि अन्य जीवों की विराधना सम्भव है और (४) चौथे, उनके अन्यत्र उड़ने या भागने पर कोई क्रूर व्यक्ति उन्हें पकड़कर बन्द भी कर सकता है, मार भी सकता है।

पक्षीजाति और पशुजाति के प्रतीक—प्रस्तुत सूत्र में कुक्कुट जातीय द्विपद और शूकर जातीय चतुष्पद प्राणी के ग्रहण से समस्त पक्षीजातीय द्विपद और पशुजातीय चतुष्पद प्राणियों का ग्रहण कर लेना चाहिए। जैसे कुक्कुट पक्षी की तरह चिड़िया, कबूतर, तीतर, बटेर आदि अन्य पक्षीगण तथा सूअर की तरह कुत्ता, बिल्ली, गाय, भैंस, गधा, घोड़ा आदि पशुगण। अग्रपिण्ड भक्षण के निमित्त जुटे हुए कौओं के दल को अन्तराय डालने का निषेध तो अलग से किया है।[1]

'**रसेसिणो**' आदि पदों के अर्थ—**रसेसिणो**=रस—स्वाद का अन्वेषण करने वाले, **घासेसणाए**—अपने ग्रास (दाना-चुगा या आहार) की तलाश में **संणिवतिए**—सन्निपतित=उड़ कर आये हुए, या अच्छी तरह जुटे हुए, संलग्न।[2]

भिक्षार्थ प्रविष्ट का स्थान व अंगोपांग संचालन-विवेक

३६०. से भिक्खू वा २ जाव समाणे णो गाहावतिकुलस्स दुवारसाहं[3] अवलंबिय[4] २

---

१. आचारांगवृत्ति पत्रांक ३४०   २. वही पत्रांक ३४०

३. 'दुवारसाहं' के स्थान पर चूर्णिकार आदि ने 'दुवारबाहं' पाठ ठीक माना है सूत्र ३५६ में भी यही पाठ है।

४. 'अवलंबण' आदि शब्दों की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—**अवलंबण**=**अवत्थंभण** काएण वा हत्थेण वा दुब्बलकुट्टिट उद्देहि पक्खहिते। **फलहितं**=फलिहो चेव, **दारं**=उत्तरंतरो, **कवाडं**=**तोरणेसु** एते चेव दोसा। **दगछड्डणगं**=जत्थ पाणियं छड्डिज्जति। **चंदणिउदगं**= जहिं उच्चिट्ठभायणादी धुव्वंति।
अर्थात् अवलम्बन कहते हैं—अवस्तम्भन=सहारा लेना, शरीर से या हाथ से दुर्बल और लड़खड़ाती देह के लिए। फलिह=बाँस आदि की टाटी। दार=द्वार, **कवाडं**=(कपाट) **तोरणेसु**= =तोरणों में ये दोष हैं। **दगछड्डणगं**=जहाँ पानी फेंका जाता है। **चंदणिउदगं**=जहाँ झूंठे बर्तन आदि धोये जाते हैं।

चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स दगछड्डणमेत्तए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स चंदणिउयए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स असिणाणस्स[1] वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स आलोयं वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं वा बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय २ ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा। णो गाहावतिं अंगुलियाए उद्दिसिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए चालिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए तज्जिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उक्खुलंपिय २ जाएज्जा, णो गाहावतिं वंदिय २ जाएज्जा, णो व णं फरुसं वदेज्जा।

सचित्त संसृष्ट-असंसृष्ट आहार-एषणा

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए तंजहा—गाहावतिं वा जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं भोयणजातं ?

से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा। से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भगिणी ति वा मा एतं तुमं हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा पधोवाहि[3] वा, अभिकंखसि मे दातुं एमेव दलयाहि।

से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा ४[4] सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता पधोइत्ता आहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारेणं पुरोकम्मकतेणं हत्थेण वा ४[5] असणं वा ४[6] अफासुयं[7] अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुणेवं[8] जाणेज्जा णो पुरेकम्मकतेणं, उदउल्लेणं। तहप्पगारेणं उदउल्लेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—णो उदउल्लेण, ससणिद्धेण। सेसं तं चेव।

---

१. सिणाणस्स वच्चस्स आदि शब्दों का अर्थ यों है—सिणाणं जहिं ण्हायंति—यानी जहाँ स्नान करते हैं—स्नान-घर। इसी प्रकार 'वच्च' शब्द भी शौचालय को सूचित करता है।
२. अवलंबिय उद्दिसिय आदि पदों के आगे '२' का अंक सर्वत्र उसी पद की पुनरावृत्ति का सूचक है।
३. पाठान्तर है—'पहोएहि', अर्थ समान है।
४. 'हत्थं वा' में ४ का अंक 'अमत्तं वा, दव्विं वा भायणं वा' इन पदों का सूचक है।
५. हत्थेण वा के आगे ४ का अंक 'अमत्तेण वा, दव्विएण वा भायणेण वा' इन तीन पदों का सूचक है।
६. 'असणं वा' के आगे '४' का अंक शेष तीनों आहारों का सूचक है।
७. 'अफासुयं' के आगे 'जाव' शब्द 'अणेसणिज्जं लाभे संते' इन पदों का सूचक है।
८. इसके स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं 'पुण एव, पुण एवं।' अर्थ समान है।

एवं ससरक्खे मट्टिया ऊसे हरियाले हिंगुलुए मणोसिला अंजणे लोणे गेरुय वण्णिय सेडिय सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस उक्कुट्ठ असंसट्ठेण ।[1]

अह पुणेवं जाणेज्जा-णो असंसट्ठे, संसट्ठे । तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहेज्जा ।

अह पुण एवं जाणेज्जा-असंसट्ठे, संसट्ठे । तपहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव[2] पडिगाहेज्जा ।

३६०. आहारादि के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी उसके घर के दरवाजे की चौखट (शाखा) पकड़कर खड़े न हों, न उस गृहस्थ के गंदा पानी फेंकने के स्थान पर खड़े हों, न उनके हाथ-मुंह धोने या पीने के पानी बहाये जाने की जगह खड़े हों, और न ही स्नानगृह, पेशाबघर या शौचालय के सामने (जहाँ व्यक्ति बैठा दिखता हो, वहाँ) अथवा निर्गमन-प्रवेश द्वार पर खड़े हों। उस घर के झरोखे आदि को, मरम्मत की हुई दीवार आदि को, दीवारों की सन्धि को, तथा पानी रखने के स्थान को, बार-बार बाहें उठाकर या फैलाकर अंगुलियों से बार-बार उनकी ओर संकेत करके, शरीर को ऊंचा उठाकर या नीचे झुकाकर, न तो स्वयं देखे, और न दूसरे को दिखाए। तथा गृहस्थ (दाता) को अंगुलि से बार-बार निर्देश करके (वस्तु की) याचना न करे, और न ही अंगुलियाँ बार-बार चलाकर या अंगुलियों से भय दिखाकर गृहपति से याचना करे। इसी प्रकार अंगुलियों से शरीर को बार-बार खुजलाकर या गृहस्थ की प्रशंसा या स्तुति करके आहारादि की याचना न करे। (न देने पर) गृहस्थ को कठोर वचन न कहे।

गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी किसी व्यक्ति को भोजन करते हुए देखे, जैसे कि : गृहस्वामी, उसकी पत्नी, उसकी पुत्री या पुत्र, उसकी पुत्रवधू या गृहपति के दास-दासी या नौकर-नौकरानियों में से किसी को, पहले अपने मन में विचार करके कहे—आयुष्मान गृहस्थ (भाई)! या हे बहन! इसमें से कुछ भोजन मुझे दोगे ?

उस भिक्षु के ऐसा कहने पर यदि वह गृहस्थ अपने हाथ को, मिट्टी के वर्तन को, दर्वी (कुड़छी) को या कांसे आदि के वर्तन को ठंडे (सचित्त) जल से, या ठंडे हुए उष्णजल से एक बार धोए या बार-बार रगड़कर धोने लगे तो वह भिक्ष पहले उसे भली-भाँति देखकर और विचार कर कहे—'आयुष्मन् गृहस्थ! या बहन! तुम इस प्रकार हाथ, पात्र, कुड़छी या वर्तन को ठंडे सचित्त पानी से या कम गर्म किए हुए (सचित्त) पानी से एक बार या बार-बार मत धोओ। यदि मुझे भोजन देना चाहती हो तो ऐसे—(हाथ आदि धोए बिना) ही दे दो।'

---

१. इसके विशेष स्पष्टीकरण एवं तुलना के लिए दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उं० १ गा० ३२ से ५१ तक मूल एवं टिप्पणी सहित देखिये।

२. 'फासुयं' के आगे 'जाव' शब्द 'एसणिज्जं लाभे संते' इन पदों का सूचक है।

साधु के इस प्रकार कहने पर यदि वह (गृहस्थ भाई या बहन) शीतल या अल्प उष्ण-जल से हाथ आदि को एक बार या बार-बार धोकर उन्हीं मे अशनादि आहार लाकर देने लगे तो उस प्रकार के पुरःकर्म-रत (देने से पहले हाथ आदि धोने के दोष मे युक्त) हाथ आदि से लाए गए अशनादि चतुर्विध आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

यदि साधु यह जाने कि दाता के हाथ, पात्र आदि भिक्षा देने के लिए (पुरःकर्मकृत) नहीं धोए हैं, किन्तु पहले से ही गीले हैं; (ऐसी स्थिति में भी) उस प्रकार के सचित्त जल से गीले हाथ, पात्र, कुड़छी आदि से लाकर दिया गया आहार भी अप्रासुक-अनेषणीय जानकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

यदि यह जाने कि हाथ आदि पहले से गीले तो नहीं हैं, किन्तु सस्निग्ध (जमे हुए थोड़े जल मे युक्त) हैं, तो उस प्रकार के सस्निग्ध हाथ आदि से लाकर दिया गया आहार........भी ग्रहण न करे।

यदि यह जाने कि हाथ आदि जल से आर्द्र या सस्निग्ध तो नहीं है, किन्तु क्रमशः सचित्त मिट्टी, क्षार (नौनी) मिट्टी, हड़ताल, हिंगलू (सिंगरफ), मेनसिल, अंजन, लवण, गेरू, पीली मिट्टी, खड़िया मिट्टी, सौराष्ट्रिका (गोपीचंदन), बिना छना (चावल आदि का) आटा, आटे का चोकर, पीलुपर्णिका के गीले पत्तों का चूर्ण आदि में से किसी से भी हाथ आदि संसृष्ट (लिप्त) हैं तो उस प्रकार के हाथ आदि से लाकर दिया गया आहार........भी ग्रहण न करे।

यदि वह यह जाने कि दाता के हाथ आदि सचित्त जल से आर्द्र, सस्निग्ध या सचित्त मिट्टी आदि से असंसृष्ट (अलिप्त) तो नहीं है, किन्तु जो पदार्थ देना है, उसी से (किसी दूसरे के) हाथ आदि संसृष्ट (सने) हैं तो ऐसे (उसके) हाथों या बर्तन आदि से दिया गया अशनादि आहार प्रासुक एवं एषणीय मानकर प्राप्त होने पर ग्रहण कर सकता है।

(अथवा) यदि वह भिक्षु यह जाने कि दाता के हाथ आदि सचित्त जल, मिट्टी आदि मे संसृष्ट (लिप्त) तो नहीं हैं, किन्तु जो पदार्थ देना है, उसी से उसके हाथ आदि संसृष्ट हैं तो ऐसे हाथों या बर्तन आदि से दिया गया अशनादि आहार प्रासुक एवं एषणीय समझकर प्राप्त होने पर ग्रहण करे।

विवेचन—**अंगोपांग-संयम और आहारग्रहण**—इस सूत्र में आहार ग्रहण के पूर्व मन, वचन काया और इन्द्रियों की चपलता, असंयम और लोलुपता से बचने का विधान किया गया है। इसमें हाथ, पैर, भुजा, शरीर के अंगोपांग, नेत्र और अंगुलि और वाणी के संयम का ही नहीं, अपितु जिह्वा, श्रोत्र, स्पर्शेन्द्रिय आदि पर भी संयम रखने की, साथ ही इन सबके असंयम अनियन्त्रण मे हानि की बात भी ध्वनित कर दी है। दरवाजे की चौखट, जीर्ण-शीर्ण या अस्थिर हो तो उसे पकड़कर खड़े होने से अकस्मात् वह गिर सकती है, स्वयं गिर सकता है, स्वयं के चोट लग सकती है। बर्तन आदि धोने या हाथ मुंह धोने के स्थान पर खड़े रहने मे साधु के

प्रति घृणा, प्रवचन के प्रति हीलना हो सकती है, तथा स्नान, शौच आदि करने के स्थान के सामने या द्वार पर खड़े होने से साधु के देखते शौचादि क्रिया निःशंक होकर गृहस्थ न कर सकेगा, विरोध और विद्वेष तथा अपमान का भाव भी साधु के प्रति जग सकता है। गवाक्ष, दीवार की सन्धि आदि स्थानों की ओर अंगुलि आदि से संकेत करके देखने-दिखाने से किसी वस्तु के चुराये या नष्ट हो जाने पर साधु के प्रति शंका हो सकती है। उसके चरित्र पर भी संदेह उत्पन्न हो सकता है।[1] इसी प्रकार अंगुलि से इशारा करके, धमकी दिखाकर या खुजला-कर अथवा प्रशंसा करके आहार लेना भी भय, दैन्य और लोलुपता आदि का द्योतक है। इन सब एषणा-दोषों से बचना चाहिए।

'दगच्छड्डणमत्तए' आदि पदों का अर्थ—दगछडणमत्तए=झूठे बर्तन आदि धोया हुआ पानी डालने के स्थान में, चंदणिउयए=हाथ-मुंह धोने या पीने का पानी बहाने के स्थान में, वच्चस्स=मूत्रालय या शौचालय के, आलोयं=आलोक-प्रकाश-स्थान-बारी, झरोखा या रोशन-दान आदि को थिग्गलं=मरम्मत की हुई दीवार आदि को. संधि=दीवार की सन्धि को, उण्णमिय=ऊंचा करके. ओणमिय=नीचे झुकाकर, णिज्झाएज्जा=देखे-दिखाये, उक्खुलंपिय=खुजलाकर, वंदिय=स्तुति या प्रशंसा करके, तज्जिय=धमकी या डर दिखाकर।

संसृष्ट-असंसृष्ट आहार-ग्रहण का निषेध-विधान—सूत्र ३६० के उत्तरार्ध में हाथ, मिट्टी का बर्तन, कुड़छी तथा कांसे आदि का बर्तन, सचित्त जल आदि से संसृष्ट हो तो आहार ग्रहण करने का निषेध और इनसे असंसृष्ट हाथ आदि से ग्रहण करने का विधान किया गया है। संक्षेप में सचित्त वस्तु से संसृष्ट आहार लेने का निषेध तथा उससे असंसृष्ट वस्तु लेने का विधान है।[2]

निशीथ भाष्य की चूर्णि में संसृष्ट के १८ प्रकार बतलाए गए हैं—

(१) पूर्वकर्म[3] (साधु के आहार लेने से पूर्व हाथ आदि धोकर देना)।

(२) पश्चात्कर्म (साधु के आहार लेने के पश्चात् हाथ आदि धोना)।

(३) उदकार्द्र[4] (बूंदें टपक रही हों, इस प्रकार से गीले हाथ आदि)।

(४) सस्निग्ध[5] (केवल गीले-से हाथ किन्तु बूंदें न टपकती हों आदि)।

(५) सचित्त मिट्टी[6] (मिट्टी का ढ़ेला या कीचड़)।

---

१ (क) टीका पत्र ३४०।
(ख) तुलना कीजिए—आलोयं थिग्गलं दारं संधि-दगभवणाणि य।
चरंतो न विणिज्झाए. संकट्ठाणं विवज्जए॥ —दशवै० ५।१।१५

२ टीका पत्र ३४१ से।

३ पुरेकम्मं नाम जं साधूणं दट्ठूण हत्थं भायणं धोवइ.......। —दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १७८

४ उदकार्द्रोनाम गलदुदकबिन्दुयुक्तः —दशवै० हारिभद्रीय टीका पृ० १७०

५ जं उदगेण किंचि णिद्धं, ण पुण गलति तं संसिणिद्धं। —अगस्त्य० चूर्णि पृ० १०८

६ मट्टियाकडउमट्टिया चिक्खलो —जि० चू० पृ० १७९

(६) सचित्त क्षार (खारी या नौनी मिट्टी)[6]।

(७) हड़ताल।

(८) हींगलू।

(९) मेनसिल।

(१०) अंजन।

(११) नमक।

(१२) गेरू (लाल मिट्टी)।

(१३) पीली मिट्टी।[7]

(१४) खड़िया मिट्टी।[8]

(१५) सौराष्ट्रिका[9] (सौराष्ट्र में पायी जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी, जिसे 'गोपी-चंदन' भी कहते हैं)।

(१६) तत्काल पीसा हुआ विना छना आटा।[10]

(१७) चावलों के छिलके।[11]

(१८) गीली वनस्पति का चूर्ण या फलों के बारीक टुकड़े।[12]

इनमें पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध ये चार अप्काय से सम्बन्धित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उक्कुट्ठ—ये तीन वनस्पतिकाय से सम्बन्धित है और शेष ग्यारह पृथ्वी-काय से सम्बन्धित हैं।[13] दशवैकालिक सूत्र में 'एवं' और 'बोधव्वं' ? ये दो पद संग्रहगाथाओं के सूचक हैं। चूर्णिकार ने चूर्णि में इसके पूर्वोक्त 'उदउल्लं' (उदकार्द्र) से लेकर 'उक्कुट्ठं' तक संसृष्ट योग्य सत्तरह सचित्त पदार्थों को लेकर सत्तरह गाथाएं दी हे।[14]

---

६ (क) उसो नाम पंसुखारो —जिन० चू० पृ० १७९
(ख) उसो लवणपंसू —अगस्त्य० चू० पृ० १०९

७ वण्णिया पीयमट्टिया, वर्णिका=पीली मिट्टी —जिन० चू० पृ० १७९

८ सेडिया-सेटिका-खटिका=खड़िया मिट्टी —टीका पत्र ३४१ से

९ सोरट्ठिया=सौराष्ट्र्याढकी तुवरी पर्पटी कालिका सती।
सुजाता देशभाषायां गोपीचन्दनमुच्यते॥ —शालिग्राम निघन्टु पृ० ६४

१० आमपिट्ठं आमलोट्ठो सो अप्पिंधणो पोरिसिमित्तेण परिणमइ बहुइंधणो आरतो परिणमइ।
—जि० चू० पृ० १७९

११ कुक्कुसा=चाउलत्तया (चावलों के छिलके) —जिनदास चूर्णि पृ० १७९

१२. उक्कुट्ठो णाम सचित्त वणस्सति पत्रंकुरफलाणि वा उदूखले छुब्भति, तेहि हत्थो लित्ता……।
—निशीथ० भा० गा० १४८ चू०।

१३. निशीथ भाष्य चूर्णि गा०।

१४. (क) एवं उदओल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे॥३३॥

दो तरह से आहार लिया जा सकता है—

(१) जो देने को उद्यत है, उसके हाथ आदि सचित्त पानी आदि में सने हैं, परन्तु देय वस्तु सचित्त से लिप्त नहीं है, ऐसी स्थिति में सचित्त से सने हुए हाथ आदि जिसके न हों, वह अन्य व्यक्ति देना चाहे तो साधु उस आहार को ले सकता है।

(२) दाता के हाथ आदि सचित्त जल आदि से संसृष्ट नहीं हैं, किन्तु देय वस्तु से संसृष्ट हैं तो ले-ले।[1]

सचित्त-मिश्रित आहार-ग्रहण निषेध

३६१. से भिक्खू वा २ [जाव समाणे][2] से ज्जं पुण जाणेज्जा–पिहुयं वा बहुरयं[3] वा जाव चाउलपलंबं वा अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव मक्कडासंताणाए कोट्टिसु वा कोट्टेंति वा कोट्टिस्संति वा उप्फणिंसु[4] वा ३। तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा अफासुयं जाव[5] णो पडिगाहेज्जा।

३६२. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव संताणाए भिंदिसु वा भिंदंत वा भिंदिस्संति वा रुंचिसु[6] वा ३, बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३६३. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४ अगणिणिक्खित्तं, तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुसकए य।
उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥३४॥
असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥३५॥ —दशवै० ५/१

(ख) दशवै० चूर्णि०पृ० १७८ में देखिए १७ गाथाएं।

१. टीका पत्र ३४१ से।

२. अन्य प्रतियों में, वृत्ति में भी 'जाव समाणे' पद है, ऐसा प्रतीत होता है।

३. 'बहुरयं वा' के बाद पठित 'जाव' शब्द 'भुज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा' सूत्र ३२६ के पाठ का सूचक है।

४. 'उप्फणिंसु वा' के बाद '३' का अंक 'उप्फणंति वा उप्फणिस्संति वा' का सूचक है।

५. यहाँ 'अफासुयं' के बाद 'जाव' शब्द अणेसणिज्जं मण्णमाणे लाभे संते' इतने पाठ का सूचक है।

६. 'रुंचिसु वा ३' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—रुंचिसु वा रुचंति वा, रुचिस्संति वा इत्यर्थो ज्ञेयः। पीसा था, पीसती है, या पीसेगी—यह अर्थ समझना चाहिए।

केवली बूया—आयाणमेयं। अस्संजए भिक्खुपडियाए उस्सिचमाणे वा निस्सिचमाणे[1] वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा उतारेमाणे[2] वा उयत्तमाणे अगणिजीवे हिंसेज्जा। अह भिक्खुणं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिण्णा, एस हेतू, एस कारणं, एसुवदेसे—जं तहप्पगारं असणं वा ४ अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६१. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट साधु-साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि शालि-धान, जौ, गेहूं आदि में सचित्त रज (तुष सहित) बहुत है, गेहूं आदि अग्नि में भूंजे हुए हैं, किन्तु वे अर्धपक्व हैं, गेहूं आदि के आटे में तथा कुटे हुए धान में भी अखण्ड दाने हैं, कण-सहित चावल के लम्बे दाने सिर्फ एक बार भुने हुए या कुटे हुए हैं, अतः असंयमी गृहस्थ भिक्षु के उद्देश्य से सचित्त शिला पर, सचित्त मिट्टी के ढ़ेले पर, घुन लगे हुए लक्कड़ पर, या दीमक लगे हुए जीवाधिष्ठित पदार्थ पर, अण्डे सहित, प्राण-सहित या मकड़ी आदि के जालों सहित शिला पर उन्हें कूट चुका है, कूट रहा है या कूटेगा; उसके पश्चात् वह उन—(मिश्रजीवयुक्त) अनाज के दानों को लेकर उपन चुका है, उपन रहा है या उपनेगा; इस प्रकार के (भूसी से पृथक् किए जाते हुए) चावल आदि अन्नों को अप्रासुक और अनेपणीय जानकर साधु ग्रहण न करे।

३६२. गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु-साध्वी यदि वह जाने कि असंयमी गृहस्थ किसी विशिष्ट खान में उत्पन्न सचित्त नमक या समुद्र के किनारे खार और पानी के संयोग से उत्पन्न उद्भिज्ज लवण के सचित्त शिला, सचित्त मिट्टी के ढ़ेले पर, घुन लगे लक्कड़ पर या—जीवाधिष्ठित पदार्थ पर, अण्डे, प्राण, हरियाली, बीज या मकड़ी के जाले सहित शिला पर टुकड़े कर चुका है, कर रहा है या करेगा, या पीस चुका है, पीस रहा है या पीसेगा तो साधु ऐसे सचित्त या सामुद्रिक लवण को अप्रासुक—अनेषणीय समझ कर ग्रहण न करे।

३६३. गृहस्थ के घर आहार के लिए प्रविष्ट साधु-साध्वी यदि यह जान जाए कि अशनादि आहार अग्नि पर रखा हुआ है, तो उस आहार को अप्रासुक—अनेषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मों के आने का मार्ग है; क्योंकि असंयमी गृहस्थ साधु के उद्देश्य से अग्नि पर रखे हुए बर्तन में से आहार को निकालता हुआ, उफनते हुए दूध आदि को जल आदि के छींटे देकर शान्त करता हुआ, अथवा उसे हाथ आदि से एक बार या बार-बार हिलाता हुआ, आग पर से उतारता हुआ या बर्तन को टेढ़ा करता हुआ वह अग्निकायिक जीवों की हिंसा करेगा। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही प्रतिपादित किया है कि उसकी यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण है और यह उपदेश है कि वह (साधु

१. 'निस्सिचमाणे' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'णिसिंचति तहिं अण्णं छुभति' अर्थात् बर्तन में अन्न ऊरते (आंधण डालते) समय अन्न को मसलती है।

२. उतारेमाणे का आशय चूर्णि में दिया है—'उतारेमाणे वा अगणिविराहणा' उतारते हुए अग्नि की विराधना होती है।

या साध्वी) अग्नि (आंच) पर रखे हुए आहार को अप्रासुक और अनेषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण न करे।

विवेचन—**सचित्त से संपृक्त आहार-ग्रहण का निषेध**—प्रस्तुत तीनों सूत्र (३६१, ३६२, ३६३) में क्रमशः वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिक एवं अग्निकायिक जीवों से संस्पृष्ट आहार के ग्रहण करने का निषेध किया गया है। चावल, गेहूँ, बाजरी, जो मक्का आदि को गृहस्थ भंजते हैं, सेंकते हैं, मूड़ी, धानी या फूली आदि बनाते हैं, अथवा उसके कच्चे सिट्टों को आग में सेंकते हैं, अथवा उन्हें गर्म पानी में उबालते हैं या उन्हें कूटते-पीसते हैं। इन सब प्रक्रियाओं में बहुत से अखण्ड दाने रह जाते है, पूरी तरह से अग्नि में न पकने के कारण या शस्त्र-परिणत ठीक से न होने के कारण वनस्पति और पृथ्वी (विविध प्रकार की मिट्टी) भी कच्ची या अर्धपक्व सचित्त रह जाती है। इसलिए सचित्त से संस्पृष्ट वनस्पतिकायिक अनाज या फल आदि, पृथ्वीकायिक नमक आदि को गृहस्थ साधु के लिए और अधिक कूट-पीस कर या शस्त्र-परिणत करके रखता है, रख रहा है या रखेगा, ऐसा मालूम होने पर साधु को उस आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[1]

'उफणिसु' आदि शब्दों के अर्थ—**उफणिसु**=चावलों आदि का भूसा अलग करने के लिए सूप में भर कर हवा में ऊपर से गिराने को उपनना कहते हैं, यहाँ उनकी—भूतकालिक क्रिया है। **भिंदिसु**=भेदन कर चुका, टुकड़े कर लिए। **रुंचिसु**=पीस लिया। **बिलं वा लोणं**=किसी विशिष्ट खान में उत्पन्न हुआ लवण, उपलक्षण से सैन्धव, सैंचल आदि नमक का भी ग्रहण कर लेना चाहिए '**उब्भियं वा लोणं** उद्‌भिज्ज लवण=समुद्र के तट पर क्षार और जल के सम्पर्क से जो तैयार होता है, वह उद्‌भिज्ज लवण है।[2]

उस्सिचमाणे=आँच पर रखे बर्तन में से आहार को बाहर निकालता हुआ, **निस्सिचमाणे**=उफनते हुए दूध आदि को पानी के छींटे देकर शान्त करता हुआ, **आमज्जमाणे-पमज्जमाणे**=हाथ से एक बार हिलाता हुआ, बार-बार हिलाता हुआ, **उतारेमाणे**=आँच पर से नीचे उतारता हुआ **उयत्तमाणे**=बर्तन को टेढ़ा करता हुआ।

३६४. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३६४. यह (सचित्त—संसृष्ट आहार-ग्रहण-विवेक) ही उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आचार—) समग्रता है।[3]

छठा उद्देशक समाप्त

---

१. टीका पत्र ३४३ के आधार पर।
२. तुलना कीजिये—
विडमुब्भेइमं लोणं तेल्लं सप्पियं च फाणियं……। —दशवै० अ० ६ गा० १७
३. इसका विवेचन प्रथम उद्देशक के ३३४ वें सूत्र की तरह समझें।

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

मालाहृत दोष-युक्त आहार-ग्रहण निषेध

३६५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४[1] खंधंसि[2] वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासादंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवणिक्खित्ते सिया। तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ अफासुयं णो पडिगाहेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेयं। अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूहलं वा अवहट्टु[3] उस्सविय दुरुहेज्जा[4]। से तत्थ दुरुहमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा। से तत्थ पयलमाणे मा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा बाहु वा ऊरुं वा उदरं वा सीसं वा अण्णतरं वा कायंसि इंदियजायं लूसेज्ज वा, पाणाणि वा ४[5] अभिहणेज्ज वा, वत्तेज्ज[6] वा, लेसेज्ज वा, संघसेज्ज वा, संघट्टेज्ज वा, परियावेज्ज वा, किलामेज्ज वा, [उद्दवेज्ज वा ?,] ठाणाओ ठाणं संकामेज्ज वा, [जीवियाओ ववरोवेज्ज वा ?][7]। तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६६. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४

---

१. यहाँ 'असणं वा' के बाद '४' का अंक शेष तीनों आहारों का सूचक है।

२. 'खंधंसि वा' की व्याख्या चूर्णि में इस प्रकार की गयी है—खंधो पागारओ, अथवा खंधो, सो तज्जातो अतज्जातो वा, अतज्जातो अडवीए गोउलादिसु उवनिक्खित्तं होज्ज, अतज्जातो घरे चेव, पाहाणखंधोवा, तज्जातो गिरिणगरे, अतज्जातोऽन्यत्र। अर्थात् स्कन्ध प्राकारक का नाम है। अथवा स्कन्ध दो प्रकार का होता है—तज्जात और अतज्जात। अतज्जात वह है, जो जंगल में, गोकुल आदि में डाला जाता है। अतज्जात स्कन्ध घर में ही पाषाण का बना हुआ स्कन्ध होता है, तज्जात होता है गिरिनगर में—उसी पत्थर से जो बनता है।

३. 'अवहट्टु' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'अवहट्टु=अण्णतो गिण्हित्ता अण्णहि ठवेति।' अवहट्टु का अर्थ है—अन्य स्थान से लेकर अन्य स्थान में रख देता है।

४. 'दुरुहेज्जा' के स्थान पर 'दुरुहेज्ज' तथा 'द्रूहेज्जा' पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ समान है।

५. 'पाणाणि वा' के आगे '४' का चिन्ह 'भूयाणि वा, जीवाणि वा, सत्ताणि वा' का सूचक है।

६. इसके स्थान पर 'वित्तासिज्ज', 'वित्तसेज्ज' आदि पाठान्तर मिलते हैं अर्थ होता है—विशेष रूप से त्रास देगा।

७. यहाँ भी आवश्यकोक्त ऐर्यापथिकी सूत्र के इस पाठ के अनुसार क्रम माना है—'अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओठाणं, संकामिया, जीवियाओ ववरोविया।'

'कोट्ठिगातो[2] वा कोलेज्जातो[3] वा अस्संजए भिक्खुपडियाए उक्कुज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्ट दलएज्जा। तहप्पगारं असणं वा ४ मालोहडं ति णच्चा लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६५. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि अशनादि चतुर्विध आहार गृहस्थ के यहाँ भींत पर, स्तम्भ पर, मंच पर, घर के अन्य ऊपरी भाग (आले) पर, महल पर, प्रासाद आदि की छत पर या अन्य उस प्रकार के किसी ऊँचे स्थान पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के ऊँचे स्थान से उतार कर दिया जाता अशनादि चतुर्विध आहार अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर साधु ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मबन्ध का उपादान—कारण है; क्योंकि असंयत गृहस्थ भिक्षु को आहार देने के उद्देश्य से (ऊँचे स्थान पर रखे हुए आहार को उतारने हेतु) चौकी, पट्टा, सीढ़ी (निःश्रेणी) या ऊखल आदि को लाकर ऊँचा करके उस पर चढ़ेगा। ऊपर चढ़ता हुआ वह गृहस्थ फिसल सकता है या गिर सकता है। वहाँ से फिसलते या गिरते हुए उसका हाथ, पैर, भुजा, छाती, पेट, सिर या शरीर का कोई भी अंग (इन्द्रिय समूह) टूट जाएगा, अथवा उसके गिरने से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन हो जाएगा, वे जीव नीचे (धूल में) दब जाएँगे, परस्पर चिपक कर कुचल जाएँगे, परस्पर टकरा जाएँगे, उन्हें पीड़ाजनक स्पर्श होगा, उन्हें संताप होगा, वे हैरान हो जाएँगे, वे त्रस्त हो जाएँगे, या एक (अपने) स्थान

---

१. निशीथ चूर्णि (उ० १७) में इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है—'पुरिसपमाणा हीणाहिया वा वि चिक्खलमयी कोट्ठिया भवति। कोलेज्जो नाम धंसमओ कडवल्लो सट्टई वि भण्णति, अन्ने भणंति उट्टिया। उवरिहुत्तकरणं उक्किज्जित, उद्धाए तिरियहुत्तकरणं अवकुज्जिया वा, ओहरिय त्ति पेढिय-मादिसु आरुभिउं ओतारेति। अहवा उच्चं कुज्जा उक्कज्जिया दंडायतं तद्वद्गृह्णाति, कायं कुब्जं कृत्वा गृह्णाति, ओणमिय इत्यर्थः।'

अर्थात पुरुषप्रमाण अथवा न्यूनाधिक ऊँची चिकनी कोष्टिका होती है। कोलेज्ज—कहते हैं धस जाने वाली चटाई का बाड़ जिसे सट्टइ (टाटी) भी कहते हैं। अन्य आचार्य इसे उष्ट्रिका कहते हैं। ऊपर गर्दन करना उक्कज्जित है, ऊँचा होकर तिरछी गर्दन करना अवकुज्जिया है, ओहरिय कहते हैं—जहाँ ऊँची चौकी आदि पर चढ़ कर उतारा जाता है। अथवा उक्कज्जिया का अर्थ है—ऊँचा उठकर दंडायमान होकर आहार ग्रहण करता (पकड़ना) है। शरीर को कुबड़ा करके—अर्थात् नीचे झुककर।

२. इसके स्थान पर 'कुट्ठिगाओ', 'कोट्ठितातो', 'कोट्ठियाओ', 'कोट्ठिगाओ' आदि पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार ने 'कोट्ठिगा' पाठ ही माना है, जिसका अर्थ होता है—अन्न-संग्रह रखने की कोठी।

३. 'कोलेज्जातो' के स्थान पर चूर्णिकार 'कालेज्जाओ' पाठ मान कर व्याख्या करते हैं—'कालेज्जाओ वंसमओ उवरिं संकुओ मूडिगहो—भूमीए वा खणित्तु भूमीघरगं उवरिं संकडं हेट्ठा विच्छिण्णं अग्गिणा दहित्ता कज्जति, ताहिं सुचिरं पि गोहूमादी धण्णं अच्छति'

अर्थात्—कालिज्ज का अर्थ है—बांस का बनाया हुआ भूमिगृह, जो ऊपर से संकड़ा और नीचे से चौड़ा हो, अग्नि से जब उस भूमि को जला देते हैं, तब उसमें चिरकाल तक गेहूँ आदि अन्न अधिक होते हैं।

से दूसरे स्थान पर उनका संक्रमण हो जाएगा, अथवा वे जीवन से भी रहित हो जाएँगे। अतः इस प्रकार के मालाहृत (ऊँचे स्थान से उतार कर लाये गए) अशनादि चतुर्विध आहार के प्राप्त होने पर भी साधु उसे ग्रहण न करे।

३६६. आहार के लिए, गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु या साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि असंयत गृहस्थ- साधु के लिए अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी आदि की बड़ी क़ोठी में से या ऊपर से संकड़े और नीचे से चौड़े भूमिगृह में से नीचा होकर, कुबड़ा होकर या टेढा होकर निकाल कर देना चाहता है, तो ऐसे अशनादि चतुर्विध आहार को मालाहृत (दोष से युक्त) जान कर प्राप्त होने पर भी वह साधु या साध्वी ग्रहण न करे।

विवेचन— मालाहृत दोषयुक्त आहार ग्रहण न करे—इन दोनों सूत्रों में मालाहृत दोष से युक्त आहार ग्रहण करने का निषेध है, साथ ही इस निषेध का कारण भी बताया है। मालाहृत गवेषणा (उद्‌गम) का १३वां दोष है। ऊपर, नीचे या तिरछी दिशा में जहाँ हाथ आसानी से न पहुंच सके, वहाँ पंजों पर खड़े होकर या सीढी, तिपाई, चौकी आदि लगाकर साधु को आहार देना 'मालाहृत' दोष है। इसके मुख्यतया तीन प्रकार हैं—(१) ऊर्ध्व-मालाहृत (ऊपर से उतारा हुआ), (२) अधोमालाहृत (भूमिगृह, तलघर या तहखाने से निकाल कर लाया हुआ), (३) तिर्यग्-मालाहृत—ऊंडे वर्तन या कोठे आदि में से झुक कर निकाला हुआ। इनमें से भी हर एक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन-तीन भेद हैं।

एड़ियाँ उठा कर हाथ फैलाते हुए छत में टंगे छींके आदि से कुछ निकाल कर लाना जघन्य-ऊर्ध्वमालाहृत है, सीढ़ी आदि लगाकर ऊपर की मंजिल से उतार कर लाई गई वस्तु उत्कृष्ट-ऊर्ध्वमालाहृत है, सीढ़ी लगाकर मंच, खंभे या दीवार पर रखी हुई वस्तु उतार कर लाना मध्यम-मालाहृत है।[1]

मालाहृत दोषयुक्त आहार लेने से क्या-क्या हानियाँ हैं? इसे मूल पाठ में बता दिया है। अहिंसा महाव्रती साधु अपने निमित्त से दूसरे प्राणी की जरा-सी भी हानि, क्षति या हिंसा सहन नहीं कर सकता, इसी कारण इस प्रकार का आहार लेने का निषेध किया है।[2]

'खंधंसि' आदि पदों के अर्थ—खंधंसि—दीवार या भित्ति पर। स्कन्ध का अर्थ चूर्णिकार प्राकारक (छोटा प्राकार) करते हैं, अथवा दो प्रकार का स्कन्ध होता है—तज्जात, अतज्जात। तज्जात स्कन्ध पहाड़ की गुफा में पत्थर का स्वतः बना हुआ आला या लटान होती है और अतज्जात कृत्रिम होती है, घरों में पत्थर का या ईंटों का आला या लटान बनाई जाती है, चीजें रखने के लिए। थंभंसि=शिला या लकड़ी के बने हुए स्तम्भ पर, मंचं=चार लट्ठों को

१. (क) पिण्डनिर्युक्ति गा० ३५७, (ख) दशवैकालिक ५।१।६७, ६८, ६९, (ग) दशवै० चूर्णि (अग०) पृ० ११७।
२, आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४३-३४४।
३. वही, पत्रांक ३४३-३४४।

बांध कर बनाया हुआ ऊँचा स्थान मंच या मचान कहलाता है, उस पर, मालंसि=छत पर या ऊपर की मंजिल पर। पासादंसि=महल पर, हम्मियतलंसि=प्रासाद की छत पर। पयलेज्ज=फिसल जाएगा, पवडेज्ज=गिर पड़ेगा। लूसेज्ज—चोट लगेगी या टूट जाएगा। कोट्ठिगातो=कोष्ठिका=अन्न संग्रह रखने की मिट्टी-तृण-गोबर आदि की कोठी से, कोलेज्जातो=ऊपर से संकड़े और नीचे से चौड़े से भूमिघर से। उक्कुज्जिय=शरीर ऊंचा करके झुक कर तथा कुबड़े होकर, अवउज्जिय=नीचे झुक कर, आहारिय=तिरछा—टेढ़ा होकर।

उद्‌भिन्न-दोष युक्त आहार-निषेध

३६७. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ मट्टिओलित्तं। तहप्पगारं असणं वा ४ जाव[1] लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

केवली बूया—आयाणमेयं। अस्संजए भिक्खुपडियाए मट्टिओलित्तं असणं वा उब्भिंदमाणे पुढवीकायं समारंभेज्जा, तह तेउ-वाउ-वणस्सति-तसकायं समारंभेज्जा, पुणरवि ओलिंपमाणे पच्छाकम्मं करेज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४[2] जं तहप्पगारं मट्टिओलित्तं असणं वा ४ अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६७. गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी यह जाने कि वहाँ अशनादि चतुर्विध आहार मिट्टी से लीपे हुए मुख वाले बर्तन में रखा हुआ है तो इस प्रकार का आहार प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्म आने का कारण है। क्योंकि असंयत गृहस्थ साधु को आहार देने के लिए मिट्टी से लीपे आहार के बर्तन का मुंह उद्‌भेदन करता (खोलता) हुआ पृथ्वीकाय का समारम्भ करेगा, तथा अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय तक का समारम्भ करेगा। शेष आहार की सुरक्षा के लिए फिर बर्तन को लिप्त करके वह पश्चात्कर्म करेगा। इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही प्रतिपादित कर दिया है कि साधु-साध्वी की यह प्रतिज्ञा है, यह हेतु है, यह कारण है और यही उपदेश है कि वह मिट्टी से लिप्त बर्तन को खोल कर दिये जाने वाले अशनादि चतुर्विध आहार को अप्रासुक एवं अनेषणीय समझ कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—उद्‌भिन्न दोष युक्त आहार ग्रहण न करें—इस सूत्र में उद्‌गम के १२ वें उद्‌भिन्न नामक दोष से युक्त आहार के ग्रहण करने का निषेध किया गया है।[3] यहाँ तो सिर्फ

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ३२४ में पठित 'अफासुयं अणेसणिज्जं मण्णमाणे' तक के पाठ का सूचक है।

२. यहाँ 'पुव्वोवदिट्ठा' से आगे '४' का अंक 'जं तहप्पगारं' तक समग्र पाठ का सूचक है, सूत्र ३६७ के अनुसार।

३. टीका पत्र ३४४ के आधार पर।

मिट्टी के लेप से लिप्त बर्तन के मुख को खोलकर दिया गया आहार लेने में उद्‌भिन्नदोष बताया है, किन्तु दशवैकालिकसूत्र में बताया गया है कि जल-कुम्भ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढ़ा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यों से पिहित (ढके, लिपे और मूंदे हुए) बर्तन का श्रमण के लिए मुँह खोलकर आहार देती हुयी महिला को मुनि निषेध करे कि 'मैं इस प्रकार का आहार नहीं ले सकता।'[1] उद्‌भिन्न से यहाँ मिट्टी का लेप ही नहीं, लाख, चपड़ा, कपड़ा, लोह, लकड़ी आदि द्रव्यों से वंद बर्तन का मुँह खोलने का भी निरूपण अभीष्ट है, अन्यथा सिर्फ मिट्टी के लेप से बन्द बर्तन के मुँह को खोलने में ही षट्काय के जीवों की विराधना कैसे संभव है ?

पिण्डनिर्युक्ति गाथा ३४८ में उद्‌भिन्न दो प्रकार का बताया गया है—(१) पिहित-उद्‌भिन्न और (२) कपाट-उद्‌भिन्न।

चपड़ी, मिट्टी, लाख आदि से बन्द बर्तन का मुँह खोलना पिहित उद्‌भिन्न है, और बंद किवाड़ का खोलना कपाटोद्‌भिन्न है। पिधान (ढक्कन-लेप) सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है, उसे साधु के लिए खोला जाए और बन्द किया जाए तो वहाँ पश्चात्कर्म एवं आरम्भजन्य हिंसा की सम्भावना है।[2] इसीलिए यहाँ पिहित-उद्‌भिन्न आहार-ग्रहण का निषेध किया है। लोहा-चपड़ी आदि से वंद बर्तन को खोलने में अग्निकाय का समारम्भ स्पष्ट है, अग्नि प्रज्वलित करने के लिए हवा करनी पड़ती है, इसलिए वायुकायिक हिंसा भी सम्भव है, घी आदि का ढक्कन खोलते समय नीचे गिर जाता है तो पृथ्वीकाय,—वनस्पतिकाय और छोटे-छोटे त्रसजीवों की विराधना भी सम्भव है। बर्तनों के कई छांदण (बंद) मुँह खोलते समय और बाद में भी पानी से भी गृहस्थ धोते हैं, इसलिए अप्काय की भी विराधना होती है। लकड़ी का डाट बनाकर लगाने से वनस्पतिकायिक जीवों की भी विराधना सम्भव है।[3]

षट्काय जीव-प्रतिष्ठित आहार-ग्रहण निषेध

३६८. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ पुढविक्कायपतिट्ठितं। तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

अप्काय-अग्निकाय प्रतिष्ठित आहार-ग्रहण निषेध

से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ आउकायपतिट्ठितं तह चेव। एवं अगणिकायपतिट्ठितं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

---

१. दगावारएण पिहियं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वावि लेवेण, सिलेसेण व केणइ ॥४५॥
तं च उब्भिंदिया देज्ज, समणट्ठाए व दावए।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥४६॥
—दसवै० अ० ५ उ० १

२. (क) आचा० टीका पत्र ३४४ के आधार पर। (ख) पिण्डनिर्युक्ति गाथा ३४८।

३. आचा० टीका पत्र ३४४ के आधार पर।

केवली बूया—आयाणमेयं ।

अस्संजए भिक्खुपडियाए अगणिं उस्सिक्किय[1] णिस्सिक्किय ओहरिय[2] आहट्टु दलएज्जा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[3] ४ जाव णो पडिगाहेज्जा ।

वायुकाय-हिंसाजनित निषेध :

से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा—असणं वा ४ अच्चुसिणं अस्संजए भिक्खुपडियाए सूवेण वा विहुवणेण[4] वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पेहुणेण वा पेहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमेज्ज वा वीएज्जा वा । से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा मा एतं तुमं असणं वा ४ अच्चुसिणं सूवेण[5] वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि। से सेवं वदंतस्स परो सूवेण वा जाव वीइत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं जाव[6] णो पडिगाहेज्जा ।

वनस्पति-प्रतिष्ठित आहार ग्रहण-निषेध

से भिक्खू वा २ जाव समाणे[7] से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ वणस्सतिकायपतिट्ठितं । तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सतिकायपतिट्ठितं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा । एवं तसकाए वि ।

३६८. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट भिक्षु या भिक्षुणी यदि यह जाने की यह अशनादि चतुर्विध आहार—पृथ्वीकाय (सचित्त मिट्टी आदि) पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझकर साधु-साध्वी ग्रहण न करे ।

वह भिक्षु या भिक्षुणी आदि....यह जाने कि—अशनादि आहार अप्काय (सचित्त जल आदि) पर रखा हुआ है, तो इस प्रकार के आहार को अप्रासुक अनेषणीय जानकर ग्रहण न करे ।

---

१. इन दोनों पदों के स्थान पर 'उस्सिकिया णिस्सिक्किया',—'उस्सिकिय णिस्सिकिय, 'उस्सिकिय णिस्सिकिय और—'उस्संकिय णिस्सिक्किय' पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ प्रायः समान है। उस्सिकिय का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—उस्सिकिय=यानी बुझा कर । अन्य टीका में 'ओस (उस्स) क्किय' पाठ मान कर अर्थ किया है—प्रज्वाल्य=जलाकर ।

२. ओहरिय का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'उत्तारेतु'=उतारकर ।

३. यहाँ 'पुव्वोवदिट्ठा' के आगे '४' का चिन्ह सूत्र ३६७ के अनुसार—'णो पडिगाहेज्जा' तक समग्र पाठ समझें ।

४. 'विहुवणेण' के स्थान पर 'विधुवणेण' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—विधुवणं=वीयणओ=व्यंजनक=पंखा ।

५. सूवेण का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—सूवं-सुप्पं=सूप (छाज) ।

६. अफासुयं के आगे जाव शब्द पडिग्गाहेज्जा तक सूत्र ३२४ के अनुसार समग्र पाठ समझें ।

७. 'जाव' के अन्तर्गत सूत्र ३२४ से अनुसार 'समाणे' तक का समग्र पाठ समझें ।

वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि...यह जाने कि अशनादि आहार अग्निकाय (आग या आँच) पर रखा हुआ है, तो ऐसे आहार को अप्रासुक तथा अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—यह कर्मों के उपादान का कारण है; क्योंकि असंयत गृहस्थ साधु के उद्देश्य से—अग्नि जलाकर, हवा देकर, विशेष प्रज्वलित करके या प्रज्वलित आग में से ईन्धन निकाल कर, आग पर रखे हुए बर्तन को उतार कर, आहार लाकर दे देगा, इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने साधु-साध्वी के लिए पहले से बताया है, यही उनकी प्रतिज्ञा है, यही हेतु है, यही कारण है और यही उपदेश है कि वे सचित्त—पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पर प्रतिष्ठित आहार को अप्रासुक और अनेषणीय मानकर प्राप्त होने पर ग्रहण न करें।

गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी को यह ज्ञात हो जाए कि साधु को देने के लिए यह अत्यन्त उष्ण आहार असंयत गृहस्थ सूप—(छाजने) से, पंखे से ताड़ पत्र, खजूर आदि के पत्ते, शाखा, शाखा खण्ड से, मोर के पंख से अथवा उससे बने हुए पंख से, वस्त्र से वस्त्र के पल्ले से, हाथ से या मुंह से, फूंक मार कर पंखे आदि से हवा करके ठंडा करके देनेवाला है। वह पहले (देखते ही) विचार करे और उक्त गृहस्थ से कहे—आयुष्मन् गृहस्थ! या आयुष्मती भगिनी! तुम इस अत्यन्त गर्म आहार को सूप, पंखे....हाथ-मुंह आदि से फूंक मत मारो और न ही हवा करके ठंडा करो। अगर तुम्हारी इच्छा इस आहार को देने की हो तो, ऐसे ही दे दो। इस पर भी वह गृहस्थ न माने और उस अत्युष्ण आहार को सूप पंखे आदि से हवा देकर ठण्डा करके देने लगे तो उस आहार को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यह जाने कि यह अशनादि चतुर्विध आहार वनस्पतिकाय (हरी सब्जी, पत्ते आदि) पर रखा हुआ है तो उस प्रकार के वनस्पतिकाय प्रतिष्ठित आहार (चतुर्विध) को अप्रासुक और अनेषणीय जानकर प्राप्त होने पर न ले।

इसी प्रकार त्रसकाय से प्रतिष्ठित आहार हो तो....उसे भी अप्रासुक एवं अनेषणीय मानकर ग्रहण न करे।

विवेचन—षट्कायिक जीव-प्रतिष्ठित आहार ग्रहण न करे—इस सूत्र में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय; यों पांच एकेन्द्रिय जीवों और त्रसकाय (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के) जीवों के ऊपर रखा हुआ या उनसे संसृष्ट आहार हो तो उसे ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

कई वार ऐसा होता है कि आहार अचित्त और प्रासुक होता है, किन्तु उस आहार पर या आहार के वर्तन के नीचे या आहार के अन्दर कच्चा पानी, सचित्त नमक आदि, हरी वनस्पति या बीज आदि स्थित हो, अग्नि का स्पर्श हो (आग से बार-बार बर्तन को उतारा रखा जा रहा हो) या फूंक मारकर अथवा पंखे आदि से हवा की जा रही हो अथवा उस

आहार में—पानी में धनेरिया, चींटी, लट, मक्खी, फुंआरे आदि जीव पड़े हों या सांप, विच्छू आदि आहार के बर्तन के नीचे या ऊपर बैठे हों अथवा उस आहार पर चींटियां लगी हुई हों, मक्खियाँ बैठी भिनभिना रही हों, या अन्य कोई उड़ने वाला प्राणी उस आहार पर बैठा हो या मंडरा रहा हो तो ऐसी स्थिति में उस आहार को सचित्त प्रतिष्ठित माना जाता है, साधु के लिए वह ग्राह्य नहीं होता।[1] क्योंकि—अहिंसा महाव्रती साधु अपने आहार के लिए किसी भी जीव को जरा-सा भी कष्ट नहीं दे सकता। यही कारण है कि वह इतना सावधानीपूर्वक चलता है। इस सूत्र में शंकित, मक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित, इन दस एषणा-दोषों का समावेश हो जाता है।[2]

पानक-एषण

३६९. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा, तंजहा—उस्सेइमं वा[3] संसेइमं वा चाउलोदगं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं अधुणाधोतं अणंबिलं अव्वोक्कंतं[4] अपरिणतं अविद्धत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। अह पुणवं जाणेज्जा चिराधोतं अंबिलं वक्कंतं परिणतं विद्धत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. तुलना करें :—
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा॥ ५७॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ५८॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा॥ ५९॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ६०॥
असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च संघट्टिया दए। ६१॥
तं भवे भत्तपाणं तु; संजयाण अकप्पियं।
देंतयं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ६२॥
एवं उस्सक्किया ओसक्किया, उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया, ओवत्तिया ओयरिया दए॥ ६३॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ६४॥
होज्ज कट्ठं सिलं वा वि, इट्ठालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥ —दसवै० ५/उ० १

२. आचारांग टीका पत्र ३४५ के आधार पर।

३. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ०५, उ०१, गा० १०६।

४. 'अव्वोक्कंतं' के स्थान पर अव्वक्कंत पाठ मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—सचेयणं=सचेतन।

३७०. से भिक्खू वा २ जाव[1] समाणे से ज्जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा तंजहा–तिलोदगं[2] वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियडं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं पाणगजातं ? से सेवं वदंतं परो वदेज्जा—आउसंतो समणा ! चेवेदं पाणगजातं पडिग्गहेण वा उस्सिचियाणं ओयत्तियाणं[3] गिण्हाहि। तहप्पगारं पाणगजातं सयं वा गेण्हेज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहेज्जा।

३७१. से भिक्खू वा जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगं जाणेज्जा—अणंतरहिताए पुढवीए जाव संताणए उद्धट्टु उद्धट्टु[4] णिक्खित्ते सिया। अस्संजते भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीतोदएण वा संभोएत्ता आहट्ट दलएज्जा। तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३६९. गृहस्थ के घर में पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि पानी के इन प्रकारों को जाने,—जैसे कि—आटे का हाथ लगा हुआ पानी, तिल धोया हुआ पानी, चावल धोया हुआ पानी, अथवा अन्य किसी वस्तु का इसी प्रकार का तत्काल धोया हुआ पानी हो, जिसका स्वाद चलित—(परिवर्तित) न हुआ हो, जिसका रस अतिक्रान्त न हुआ (बदला न) हो, जिसके वर्ण आदि का परिणमन न हुआ हो, जो शस्त्र-परिणत न हुआ हो, ऐसे पानी को अप्रासुक और अनेषणीय जानकर मिलने पर भी साधु-साध्वी ग्रहण न करे।

इसके विपरीत यदि वह यह जाने कि यह बहुत देर का चावल आदि का धोया हुआ धोवन है, इसका स्वाद बदल गया है, रस का भी अतिक्रमण हो गया है, वर्ण आदि भी परिणत हो गए हैं और शस्त्र-परिणत भी है तो उस पानक (जल) को प्रासुक और एषणीय जानकर प्राप्त होने पर साधु-साध्वी ग्रहण करे।

३७०. गृहस्थ के यहाँ पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी अगर इस प्रकार का पानी जाने, जैसेकि तिलों का (धोया हुआ) उदक; तुषोदक, यवोदक, उबले हुए चावलों का ओसामण (मांड), कांजी का वर्तन धोया हुआ जल, प्रासुक उष्ण जल अथवा इसी प्रकार का अन्य—द्राक्षों को धोया हुआ पानी (धोवन) इत्यादि जल-प्रकार पहले, देखकर ही साधु गृहस्थ से कहे—"आयुष्मान् गृहस्थ (भाई) या आयुष्मती बहन ! क्या मुझे इन जलों (धोवन पानी) में से किसी जल (पानक) को दोगे ?" साधु के इस प्रकार कहने पर वह गृहस्थ यदि कहे कि "आयुष्मन

---

१. 'जाव' के आगे का 'समाणे' तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।
२. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ०५, उ०१, गा० ८८, ९२।
३. इसके स्थान पर पाठान्तर इस प्रकार है—'उसिंचियाणं अवत्तियाणं'। अर्थ समान है।
४. इसके स्थान पर 'ओहट्टु निक्खित्ते', 'उहट्टु २ निक्खित्ते' पाठान्तर है। अर्थ समान है।

श्रमण ! जल पात्र में रखे हुए पानी को अपने पात्र से आप स्वयं उलीच कर या जल के वर्तन को उलटकर ले लीजिए।" गृहस्थ के इस प्रकार कहने पर साधु उस पानी को स्वयं ले ले अथवा गृहस्थ स्वयं देता हो तो उसे प्रासुक और एषणीय जान कर प्राप्त होने पर ग्रहण कर ले।

३७१. गृहस्थ के यहाँ पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि इस प्रकार का पानी जाने कि गृहस्थ ने प्रासुक जल को व्यवधान रहित (सीधा) सचित्त पृथ्वी पर, सस्निग्ध पृथ्वी पर, सचित्त पृथ्वी पर, सचित्त शिला पर, सचित्त मिट्टी के ढ़ेले या पाषाण पर, घुन लगे हुए लक्कड़ पर, दीमक लगे जीवाधिष्ठित पदार्थ पर, अण्डे, प्राणी, वीज, हरी वनस्पति, ओस, सचित्त जल, चींटी आदि के बिल, पाँच वर्ण की काई, कीचड़ से सनी मिट्टी, मकड़ी के जालों से युक्त पदार्थ पर रखा है, अथवा सचित्त पदार्थ से युक्त वर्तन से निकालकर रखा है। असंयत गृहस्थ भिक्षु को देने के उद्देश्य से सचित्त जल टपकते हुए अथवा जरा-से गीले हाथों से, सचित्त पृथ्वी आदि से युक्त वर्तन से, या प्रासुक जल के साथ सचित्त (शीतल) उदक मिलाकर लाकर दे तो उस प्रकार के पानक (जल) को अप्रासुक और अनेषणीय मानकर साधु उसे मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—अग्राह्य और ग्राह्य जल—साधु के लिए भोजन की तरह पानी भी अचित्त ही ग्राह्य है, सचित्त नहीं। गर्म पानी (तीन उबाल आने पर) अचित्त हो जाता है, परन्तु ठण्डा पानी भी चावल, तिल, तुष, जौ, द्राक्ष आदि धोने, काँजी, आटे, छाछ आदि के वर्तन धोने से वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श बदल जाने पर अचित्त और प्रासुक हो जाता है। वह पानी, जिसे शास्त्रीय भाषा में 'पानक' कहा गया है, भिक्षाविधि के अनुसार साधु ग्रहण कर सकता है, बशर्ते कि वह पानी ताजा धोया हुआ न हो, उसका स्वाद बदल गया हो, गन्ध भी बदल गया हो, रंग भी परिवर्तित हो गया हो, और विरोधी शस्त्र द्वारा निर्जीव हो गया हो, इसी प्रकार उस प्रासुक जल का बर्तन किसी सचित्त जल, पृथ्वी, वनस्पति, अग्नि आदि के या त्रसकाय के नीचे, ऊपर या स्पर्श करता हुआ न हो, पंखे, हाथ आदि से हवा करके न दिया जाता हो, उसमें पृथ्वी कायादि या द्वीन्द्रियादि त्रसजीव न पड़े हों, उसमें सचित्त पानी मिलाकर न दिया जाता हो। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त प्रकार का प्रासुक अचित्त जल सचित्त वस्तु से बिल्कुल अलग रखा हो तो साधु के लिए ग्राह्य है, अन्यथा नहीं।[1]

---

१. (क) टीका पत्र ३४६ के आधार पर।
(ख) दसवै० जिनदास चूर्णि पृ० १८५।

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोयं विवज्जए॥ ७५॥
जं जाणेज्ज चिराधोयं, मइए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे॥ ७६॥ —दसवै० ५/१

दशवैकालिक आदि आगमों में इसका विस्तृत निरूपण है।

'पाणगजायं' आदि पदों के अर्थ—पाणगजायं—पानक (पेयजल) के प्रकार, उस्सेइमं=आटा ओसनते समय जिस पानी में हाथ धोए जाते हैं, डुबोये जाते हैं, वह पानी उस्स्वेदिम कहलाता हैं। संसेइमं=तिल धोया हुआ पानी अथवा अरणि या लकड़ी बुझाया हुआ पानी संस्वेदिम होता हैं।[1] अहुणाधोयं=ताजा धोया हुआ (धोवन) पानी; अणंबिलं=जो अपने स्वाद से चलित न हुआ हो, अव्वुक्कंतं=रसादि से अतिक्रान्त न हुआ हो, अपरिणयं=वर्णादि परिणत (परिवर्तन) न हुआ हो, अविद्धत्थं=विरोधी शस्त्र द्वारा जिसके जीव विध्वस्त न हुए हों, अफासुयं=सचित्त, आयामं=चावलों का ओसामण=मांड, सोवीरं=कांजी या कांजी का पानी, सुद्धवियडं=शुद्ध उष्ण प्रासुक जल, पडिग्गहेण=पात्र से, उस्सिंचियाणं=उलीच कर, ओयत्तियाणं=उलट या उडेलकर, अणंतरहियाए पुढवीए=बीच में व्यवधान से रहित पृथ्वी पर, उद्धट्टु=निकालकर, सकसाएण मत्तेण=सचित्त पृथ्वी आदि के अवयव से संलिष्ट पात्र (वर्तन) से, 'सीतोदएण संभोएत्ता'=शीतल (सचित्त) उदक के साथ मिलाकर।[2]

३७२. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं।

यह (आहार-पानी की गवेषणा का विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि आचार सम्बन्धी) समग्रता है।[3]

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ

अष्टम उद्देशक

अग्राह्य-पानक निषेध

३७३. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा, तंजहा—अंबपाणगं वा अंबाडगपाणगं वा कविट्ठपाणगं[4] वा मातुलुंगपाणगं[5] वा मुद्दियापाणगं वा दालिमपाणगं वा खज्जूरपाणगं वा णालिएरपाणगं वा करीरपाणगं वा कोलपाणगं वा आमलगपाणगं वा चिंचापाणगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं पाणगजातं सअट्ठियं सकणुयं सबीयगं[6] अस्संजए

—दसवै० पृ० ५ उ० १

१. आटे का धोवन भी 'संसेइमं कहलाता है।
२. टीका पत्र ३४६।
३. इसका विवेचन प्रथम उद्देशक के सूत्र ३३४ के अनुसार समझ लेना चाहिए।
४. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ०५, उ०२, गा० २३।
५. इसके स्थान पर 'मातुलंग'—'मोतुलिंग' पाठान्तर मिलता है।
६. सबीयगं के स्थान पर साणुबीयकं पाठ मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'अनु=स्तोके, छो (थो) वेण बीतेण सह=साणुबीयकं।'—अणु का अर्थ हैं थोड़ा। थोड़े-से बीजों के सहित 'साणुबीजक' कहलाता है।

भिक्खुपडियाए छब्वेण वा दूसेण वा वालगेण वा अवीलियाण परिपीलियाण परिस्साइयाण[1] आहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३७३. गृहस्थ के घर में पानी के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि इस प्रकार का पानक जाने, जैसे कि आम्रफल का पानी, अंबाडक (आम्रातक), फल का पानी, कपित्थ (कैंथ) फल का पानी, बिजौरे का पानी, द्राक्षा का पानी, दाड़िम (अनार) का पानी, खजूर का पानी, नारियल (डाभ) का पानी, करीर (करील) का पानी, बेर का पानी, आँवले के फल का पानी, इमली का पानी, इसी प्रकार का अन्य पानी पानक) है, जो कि गुठली सहित है, छाल आदि के सहित है, या बीज सहित है, और कोई असंयत गृहस्थ साधु के निमित्त बाँस की छलनी से, वस्त्र से, गाय आदि के पूँछ के बालों से बनी छलनी से एक बार या बार-बार मसल कर, छानता है और (उसमें रहे हुए छाल, बीज, गुठली आदि को अलग करके) लाकर देने लगता है, तो साधु-साध्वी इस प्रकार के पानक (जल) को अप्रासुक और अनेषणीय मान कर मिलने पर भी न ले।

विवेचन—आम्र आदि का पानक ग्राह्य या अग्राह्य? आम आदि के फलों को धो कर, या उनका रस निकालते समय बार-बार हाथ लगाने से जो धोवन पानी तैयार होता है, उस पानी के रंग, स्वाद, गंध और स्पर्श में तो परिवर्तन हो जाता है, इसलिए वह प्रासुक होने के कारण ग्राह्य हो जाता है, किन्तु उस पानी में यदि इन फलों की गुठली, छिलके, पत्ते, बीज आदि पड़े हों, अथवा कोई भावुक गृहस्थ उस पानी में पड़े हुए गुठली आदि सचित्त पदार्थों को साधु के समक्ष या उसके निमित्त मसलकर तथा छलनी कपड़े आदि से छानकर सामने लाकर देने लगे तो वह प्रासुक पानक भी सचित्त संस्पृष्ट या आरम्भ-जनित होने से अप्रासुक एवं अग्राह्य हो जाता है।

द्राक्षा, आँवला, इमली एवं बेर आदि का कई पदार्थों को तो तत्काल निचोड़ कर पानक बनाया जाता है। वृत्तिकार कहते है कि ऐसा पानक (पानी) उद्‌गम (१६ उद्‌गम) दोषों से दूषित होने के कारण अनेषणीय है। आधाकर्म आदि १६ उद्‌गम दोष दाता के द्वारा लगाए जाते है। इनको यथायोग्य समझ लेना चाहिए।[2]

---

१. चूर्णिकार ने इन तीनों क्रियाओ का अर्थ इस प्रकार किया है—
आवीलेती एक्कंसि, परिपीलेति बहुसो, परिसएति गालेति। अर्थात् एक बार मर्दन करने को 'आपील' बार-बार मर्दन करने को 'परिपील' और छानने को 'परिसए' कहते है।

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४६ के आधार पर।
(ख) एषणा दोषों का वर्णन सूत्र, ३२४ पृष्ठ ८ पर देखें।
(ग) तुलना कीजिए—"कविट्ठं माउलिगं च, मूलगं मूलगत्तियं।
आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि न पत्थए॥" —दसवै० ५।२।२३

'अंबाडग' आदि पदों के अर्थ—'अंबाडग' का अर्थ आम्रातक (आँवला) किया है,[1] किन्तु आगे 'आमलग' शब्द आता है, इसलिए अम्बाड कोई अन्य फल विशेष होना चाहिए।[2] मातुलुंग=विजौरे का फल, मुद्दिय=द्राक्षा, कोल=बेर, आमलग=आँवला, चिंचा[3]=इमली। अट्ठियं=गुठली सहित, सकणुअं=छाल आदि सहित, छब्वेण=बाँस की छलनी से, वालगेण=बालों से बनी छलनी से, आवीलियाण परिपीलियाण=एक बार मसल या निचोड़ कर, बार-बार मसल या निचोड़ कर, परिस्साइयाण=छान कर।

आहार-गन्ध में अनासक्ति

३७४. से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय २ से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे 'अहो गंधो, अहो गंधो' णो गंधमाघाएज्जा।

३७४. वह भिक्षु या भिक्षुणी आहार प्राप्ति के लिए जाते समय पथिक-गृहों (धर्मशालाओं) में, उद्यानगृहों में, गृहस्थों के घरों में या परिव्राजकों के मठों में अन्न की सुगन्ध, पेय पदार्थ की सुगन्ध तथा कस्तूरी इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की सौरभ को सूँघ-सूँघ कर उस सुगन्ध के आस्वादन की कामना से उसमें मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रस्त एवं आसक्त होकर—'वाह! क्या ही अच्छी सुगन्धि है!' कहता हुआ (मन में सोचता हुआ) उस गन्ध की सुवास न ले।

विवेचन—आहारार्थ जाते समय सावधान रहे—शास्त्र में अंगार, धूम आदि ५ दोष बताए हैं, जिन्हें साधु आहार का उपभोग करते समय राग द्वेष-ग्रस्त होकर लगा लेता है।[4] प्रस्तुत सूत्र में आहार-पानी का सीधा उपभोग न होकर उनके सुगन्ध की सराहना करके परोक्ष उपभोग का प्रसंग है, जिसे शास्त्रकार ने परिभोगैषणा दोष के अन्तर्गत माना है। इस प्रकार खाद्य-पेय वस्तुओं की महक में आसक्त होने से वस्तु तो पल्ले नहीं पड़ती, सिर्फ राग (आसक्ति) के कारण कर्मबन्ध होता है। इसलिए इस सूत्र में गन्ध में होने वाली आसक्ति से बचने का निर्देश किया गया है।

इस सूत्र से ध्वनित होता है कि भिक्षा के लिए जाते समय मार्ग में पड़ने वाली धर्मशालाओं, उद्यानगृहों, गृहस्थगृहों में या मठों में कहीं प्रीतिभोज के लिए तैयार किये जा रहे सरस-सुगन्धित स्वादिष्ट पदार्थों की महक पा कर साधु का मन विचलित हो जाता है,

---

१. (क) पाइअ सद्द महण्णवो, पृ० ११।
   (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४६।
२. महाराष्ट्र में 'अम्बाडी' नामक पत्तेदार सब्जी होती है जिसका स्वाद खट्टा व कषैला होता है।
३. मराठी में चिंच इमली के अर्थ में आज भी प्रयुक्त होता है।
४. देखें सूत्र ३२४ का टिप्पण पृष्ठ ८।

संखडि में जाना वर्जित होने के कारण वह वहाँ जा नहीं पाता, केवल उन पदार्थों की सुगन्ध से ललचा कर तथा उनकी सुगन्धि की प्रशंसा करके रह जाता है। ऐसा करने से साधु की स्वाद-लोलुपता और आसक्ति बढ़ जाती है, जो घोर कर्मबन्ध की कारण है।[1]

'आगंतारेसु' आदि पदों का अर्थ—आगंतारेसु=नगर के बाहर के घर, जिनमें आ-आ कर पथिक ठहरते हैं, उनमें, चूर्णि के अनुसार अर्थ है[2]—आगंतार=मार्ग, मार्ग में आगार=गृह है—आगन्तागार; अथवा जहाँ आ-आ कर आगार (गृहस्थ) ठहरते है, उन आगन्तागारों में। परियावसहेसु[3]=भिक्षु आदि के मठों में, चूर्णिकार के अनुसार परिव्राजकादि के आवासों में। आसायपडियाए—आस्वादन की अपेक्षा से, या घ्राणसुख-राग-वश।[4] मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने—चारों एकार्थक-से, किन्तु थोड़ा-थोड़ा अन्तर। अर्थ इस प्रकार है—मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रस्त और आसक्त।[5]

अपक्क-शस्त्र-अपरिणत वनस्पति आहार ग्रहण-निषेध

३७५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा सालुयं[6] वा विरालियं वा सासवणालियं वा[7], अण्णतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणतं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३७६. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा मिरियं[8] वा मिरियचुण्णं वा सिंगबेरं वा सिंगबेरचुण्णं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३७७. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पलंबजातं जाणेज्जा, तंजहा अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालपलंबं वा झिज्झिरिपलंबं वा सुरभिपलंबं वा सल्लइपलंबं

---

१. आचारांग वृत्ति, मूल पाठ आदि के आधार से पत्रांक ३४७-३४८।

२. आगंतारो मग्गो, मग्गे गिहं, अहवा यत्र आगत्य आगत्यागारास्तिष्ठन्ति तं आगंतारागारं। —आचारांग चूर्णि

३. 'परिव्वायगादीणं आवासो परियावसधो।' —आचारांग चूर्णि

४. आसायपडिता घाणसुहरागो। —आचारांग चूर्णि

५. (क) आचारांग चूर्णि।
(ख) आचारांग वृत्ति, पत्रांक ३४८।

६. सालुयं के स्थान पर 'सालगं' मान कर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—सालगं उप्पलकदगो, सालगं=उत्पलकन्द।

७. तुलना कीजिए— सालुयं वा विरालियं, कुमुदुप्पलनालियं।
मुणालियं सासवनालियं उच्छुखंडं अनिव्वुडं॥ —दशवै० ५/२/१८

८. मराठी में आज भी 'मीरे' काली मिर्च के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं पलंबजातं आमगं असत्थपरिणतं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

३७८. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पवालजातं जाणेज्जा, तंजहा–आसोत्थपवालं[1] वा णग्गोहपवालं वा पिलंखुपवालं वा णिपूरपवालं वा सल्लइपवालं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं पवालजातं आमगं असत्थपरिणतं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

३७९. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण सरडुयजायं[2] जाणेज्जा, तंजहा—सरडुयं वा कविट्ठसरडुयं वा दालिमसरडुयं वा बिल्लसरडुयं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं सरडुयजातं आमं असत्थपरिणतं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

३८०. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण मंथुजातं[3] जाणेज्जा, तंजहा—उंबरमंथुं[3] वा णग्गोहमंथुं वा पिलक्खुमंथुं वा आसोट्ठमंथुं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं मंथुजातं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

३८१. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा आमडागं[4] वा पूतिपिण्णागं[5] वा मधुं[6] वा मज्जं वा सप्पिं वा खोलं वा पुराणगं, एत्थ पाणा अणुप्पसूता, एत्थ पाणा जाता,

---

१. देखिए आचा० चूर्णि में 'आसोत्थ....आदि पदों का अर्थ—"आसोढपलासं वा, आसोढ्ढो (ठो) पिप्पलो तेसिं पल्लवा खज्जंति । नग्गोहो नाम वडो, पिलक्खू पिप्परी, णिपूरसल्लइए वि । अर्थात् आसोढ पिप्पल को कहते है, उसके पत्ते खाये जाते हैं । न्यग्रोध बड़ का नाम है, पिलक्खु=पिप्परी, णिपूर=सल्लकी को भी कहते हैं ।

२. 'सरडुयं' के स्थान पर सरदुयं पाठान्तर है ।
तथा तंजहा के बाद पठित 'सरडुयं वा' के स्थान पर किसी-किसी प्रति में कविट्ठसरडुयं वा अथवा अंबसरडुयं वा पाठान्तर है । चूर्णिकृत अर्थ 'अंबसरडुगं तरुणगं डोहियं वा, एवं अंबाडगं-कविट्ठ-दाडिम-बिल्लाण वि । आम्र का सरडुय तरुणक फल विशेष है । इसी प्रकार अंबाडक, कपित्थ, अन्तर और बेलफलों के भी सरडुय को समझें ।

३. मंथुनाम फलचूर्णो', एवं णग्गोह-पिलक्खू-असोट्ठाणं अर्थात् मंथुफल चूर्ण अर्थ में है । इसी प्रकार न्यग्रोध, प्लक्ष एवं अश्वत्थ फलों के चूर्ण अर्थ में समझ लेना चाहिए ।

४. चूर्णि में आमडागं के स्थान पर अमडढागं पाठ मानकर अर्थ किया गया है—अमडढागं पत्रं', न मृतं अमृतं सजीवमित्यर्थः । अर्थात् अमड=नहीं मरा हुआ=सजीव डाग—यानी पत्र अमडढाग है ।

५. पूतिपिण्णागं का अर्थ चूर्णिकार ने किया है 'पूतीपिण्णाओ सरिसवखलो, अहवा सव्वो चेव खलो कुधितो पूतिपिण्णाओ अर्थात् पूतिपिण्णाओ—सरसों के खल का नाम है अथवा सभी प्रकार के कुथित =सड़े हुए खल को पूतिपिण्याक कहते हैं ।

६. मधु आदि के विकृत हो जाने का समर्थन चूर्णिकार ने किया है—'महुंपि संसज्जति तव्वण्णेहिं । एवं णवणीय-सप्पी वि ।' मधु (शहद) भी विकृत हो जाने पर उस रंग के जीवो से संसक्त हो जाता है, इसी प्रकार मक्खन और घी अपने वर्ण के जीवों से संसक्त हो जाते हैं ।

एत्थ पाणा संवुड्ढा, एत्थ पाणा अवक्कंता, एत्थ पाणा अपरिणता, एत्थ पाणा अविद्धत्था[1], णो पडिगाहेज्जा।

३८२. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा उच्छुमेरगं वा अंककरेलुयं[2] वा णिक्खारगं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा पूतिआलुगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३८३. से भिक्खू वा २ [जाव समाणे] से ज्जं पुण जाणेज्जा उप्पलं वा उप्पलणालं वा भिसं वा भिसमुणालं वा पोक्खलं[3] वा पोक्खलथिभगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३८४. से भिक्खू वा २ जाव समाणे[4] से ज्जं पुण जाणेज्जा अग्गबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंधबीयाणि वा पोरबीयाणि वा अग्गजायाणि वा मूलजायाणि वा खंधजायाणि वा पोर-जायाणि वा णण्णत्थ तक्कलिमत्थएण वा तक्कलिसीसेण वा णालिएरिमत्थएण वा खज्जूरि-मत्थएण वा तालमत्थएण वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव[5] णो पडिगा-हेज्जा।

---

१. चूर्णिकार के मतानुसार 'एत्थ पाणा अणुप्पसूता से....एत्थ पाणा अविद्धत्था' तक के पाठ में केवल प्रारम्भ में 'एत्थ पाणा' है, बाद में जाता संवुड्ढा आदि पाठों के साथ 'एत्थ पाणा' पाठ नहीं है। चूर्णिमान्य व्याख्या इस प्रकार है—एत्थ पाणा अणुसूता। जाता। संवुद्धा। वक्कंता जीवा, एत्थ तिसु णत्थि। परिणया।—विद्धत्था। एत्थ संजमविराहणा वलीकवग्गुलेमादि दोसा।'

— इनमें प्राणी उत्पन्न होते हैं, जन्म लेते है, वृद्धि पाते हैं, जीव व्युत्क्रान्त होते है, परिणत और विध्वस्त होते है। प्रारम्भ के सिवाय बाद में क्रमशः तीनों के साथ 'एत्थ' नहीं है।

२. अंककरेलुयं—आदि वनस्पति के अस्तित्व की साक्षी चूर्णिकार इस प्रकार देते हैं—'अंककरेलुगं वा लिखरगं वा एते गोल्लविसए। कसेरुग—सिंघाडग कोंकणेसु।—अर्थात अंककरेलुक और लिखरग गोल्लदेश में होते हैं और कसेरुक तथा सिंघाडग होते है कोंकण देश में।

३. (क) चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'पुक्खलत्थिभगं' पाठ मान कर व्याख्या की है—पुक्खलत्थिभगं पुक्खरच्छिवगा कच्छभओ। अर्थात्—पुष्करास्तिभग पुष्कर (कमल) की जड़ में होता है, नदी या सरो-वर के कच्छ (तट) के पास उत्पन्न होता है।

(ख) तुलना कीजिए—

से किंतं जलरुहा ?......पोक्खले पोक्खलत्थिभए।'

—पण्णवणा पृ० २१ पं० १०

'पुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए'।

—सूय० २/३/५४

४. जाव के बाद समाणे तक का समग्र पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।

५. तहप्पगारं के बाद जाव शब्द सू० ३२४ के अनुसार अफासुयं से लेकर णो पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूचक है।

३८५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा उच्छुं वा काणं अंगारिगं समट्ठं वइदूमितं वेत्तग्गगं वा कदलिऊसुगं[1] वा अण्णतरं[2] वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३८६. से भिक्खू वा २ जाव[3] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा लसुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकंदं वा लसुणचोयगं वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणतं जाव[4] णो पडिगाहेज्जा।

३८७. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा अच्छियं[5] वा कुंभिपक्कं तेंदुगं[6] वा वेलुगं वा कासवणालियं वा, अण्णतरं वा आमं असत्थपरिणतं जाव णो पडिगाहेज्जा।

३८८. से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलिं वा[7] चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पडगं[8] वा, अण्णतरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणतं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

---

१. कदलिऊसुगं के स्थान पर चूर्णिकार ने कंदलीउस्सुगं पाठ माना है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है—कंदलीउस्सुगं मज्झं कतलीए हत्थिदंतसंठितं। कंदलीउस्सुगं=कंदली के बीच में हाथी-दांत के आकार का होता है।

२. अण्णतरं वा तहप्पगारं की व्याख्या चूर्णिकार करते हैं—'कलातो सिंबा, फलो चणगो, उसिं सेंगा तस्स चेव, एवं मुग्गमासाण वि, आमत्ता ण कप्पंति।' कला कहते हैं चने को। उसिं का अर्थ है—उसी की सीग यानी फली। इसी प्रकार मूंग, मोठ और उड़द की भी फली। सेंगा=फली (मराठी भाषा में आज भी प्रयुक्त) होती है, कच्ची होने से साधु को लेना कल्पनीय नहीं है।

३. जाव से गाहावइकुलं से लेकर समाणे तक का समग्र पाठ सू० ३२४ के अनुसार है।

४. यहाँ जाव शब्द से अफासुयं से लेकर णो पडिगाहेज्जा तक का समग्र पाठ सूत्र ३२४ के अनुसार समझें।

५. अच्छियं के स्थान पर कहीं-कहीं अच्छिकं, कहीं अत्थियं पाठान्तर मिलता है। अर्थ दोनों का समान है। चूर्णिकार 'अत्थियं' पाठ मानकर कहते हैं—अत्थियं कुम्भीए पच्चति—अस्थिक कुंभी में पकाया जाता है।

६. तुलना कीजिए—

'........अत्थियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ....।' —दशवै० ५/१/७४

७. कणपूयलि की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—'कणा तंदुलिकणियाओ, कुंडओ कुक्कुसा, तेहिं चेव पूवलिता आमिता।' अर्थात् कण=चावल के दाने, कुंड—कहते हैं उनके चोकर (छाणस) को, चोकर में चावल के भूसे सहित दाने होते हैं, जो सचित्त होने से उसकी पोली (रोटी) बनाते समय साथ में रह जाते हैं, इसलिए ग्राह्य नहीं है।

८. चूर्णिकार मान्य पाठान्तर इस प्रकार है—तिलपप्पडं आमगं असत्थपरिणयं लाभे संते नो पडिग्गाहेज्जा। तिलपपड़ी, कच्ची (अपक्व) और अशस्त्र-परिणत होने से मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३७५. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जानें कि वहाँ कमलकन्द, पलाशकन्द, सरसों की बाल तथा अन्य इसीप्रकार का कच्चा कन्द है, जो शस्त्र परिणत नहीं हुआ है, ऐसे कन्द आदि को अप्रासुक जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३७६. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ पिप्पली, पिप्पली का चूर्ण, मिर्च या मिर्च का चूर्ण, अदरक या अदरक का चूर्ण तथा इसी प्रकार का अन्य कोई पदार्थ या चूर्ण, जो कच्चा (हरा) और अशस्त्र-परिणत है, उसे अप्रासुक जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३७७. गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि वहाँ प्रलम्ब-फल के ये प्रकार जाने—जैसे कि—आम्र-प्रलम्ब-फल, अम्बाडगफल, ताल-प्रलम्ब-फल, वल्ली-प्रलम्ब-फल, सुरभि-प्रलम्ब-फल, शल्यकी का प्रलम्ब-फल, तथा इसी प्रकार का अन्य प्रलम्ब फल का प्रकार, जो कच्चा और अशस्त्र-परिणत है, उसे अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३७८. गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी अगर वहाँ प्रवाल के ये प्रकार जाने—जैसे कि—पीपल का प्रवाल, बड़ का प्रवाल, पाकड़ वृक्ष का प्रवाल, नन्दी वृक्ष का प्रवाल, शल्यकी (सल्लकी) वृक्ष का प्रवाल, या अन्य उस प्रकार का कोई प्रवाल है, जो कच्चा और अशस्त्र-परिणत है, तो ऐसे प्रवाल को अप्रासुक और अनेषणीय जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३७९. गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि कोमल फल के ये प्रकार जाने—जैसे कि शलाद फल, कपित्थ (कैथ) का कोमल फल, अनार का कोमल फल, बेल (बिल्व) का कोमल फल अथवा अन्य इसी प्रकार का कोमल (शलादु) फल, जो कि कच्चा और अशस्त्र-परिणत है, तो उसे अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर प्राप्त होने पर भी न ले।

३८०. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि (हरी वनस्पति के) मन्थु=चूर्ण के ये प्रकार जाने, जैसे कि—उदुम्बर (गुल्लर) का मंथु (चूर्ण), बड़ का चूर्ण, पाकड़ का चूर्ण, पीपल का चूर्ण अथवा अन्य इसी प्रकार का चूर्ण है, जो कि अभी कच्चा व थोड़ा पीसा हुआ है, और जिसका योनि-बीज विध्वस्त नहीं हुआ है, तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय जान कर प्राप्त होने पर भी न ले।

३८१. गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जान जाए कि वहाँ कच्ची (अधपकी) भाजी है, सड़ी हुई खली है, मधु, मद्य, घृत और मद्य के नीचे का कीट (कीचड़) बहुत पुराना है तो उन्हें ग्रहण न करे, क्योंकि उनमें प्राणी पुनः उत्पन्न हो जाते है, उनमें प्राणी जन्मते है, संवर्धित होते है, इनमें प्राणियों का व्युत्क्रमण नहीं होता, ये प्राणी शस्त्र-परिणत नहीं होते, न ये प्राणी विध्वस्त होते है।

३८२. गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ

इक्षुखण्ड --गंडेरी है, अंककरेलु, निक्खारक, कसेरू, सिंघाड़ा एवं पूतिआलुक नामक वनस्पति है, अथवा अन्य इसीप्रकार की वनस्पति विशेष है, जो अपक्व (कच्ची) तथा अशस्त्र-परिणत है, तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३८३. गृहस्थ के यहाँ भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ नीलकमल आदि या कमल की नाल है, पद्म कन्दमूल है, या पद्मकन्द के ऊपर की लता है, पद्मकेसर है, या पद्मकन्द है, तथा इसीप्रकार का अन्य कन्द है, जो कच्चा (अपक्व) है, शस्त्र-परिणत नहीं है तो उसे अप्रासुक व अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३८४. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ अग्रबीज वाली, मूल बीज वाली, स्कन्धबीज वाली तथा पर्वबीज वाली वनस्पति है, एवं अग्रजात, मूलजात, स्कन्धजात तथा पर्वजात वनस्पति है, (इनकी यह विशेषता है कि ये अग्र-मूल आदि पूर्वोक्त भागों के सिवाय अन्य भाग से उत्पन्न नहीं होती) तथा कन्दली का गूदा (गर्भ), कन्दली का स्तबक, नारियल का गूदा, खजूर का गूदा, ताड़ का गूदा तथा अन्य इसी प्रकार की कच्ची और अशस्त्र-परिणत वनस्पति है, उसे अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

३८५. गृहस्थ के यहाँ प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ ईख है, छेद वाला काना ईख है, तथा जिसका रंग बदल गया है, जिसकी छाल फट गई है, सियारों ने थोड़ा-सा खा भी लिया है, ऐसा फल है, तथा बेंत का अग्रभाग है, कदली का मध्य भाग है एवं इसी प्रकार की अन्य कोई वनस्पति है, जो कच्ची और अशस्त्र-परिणत है, तो उसे साधु अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी न ले।

३८६. गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि जाने कि वहाँ लहसुन है, लहसुन का पत्ता, उसकी नाल (डंडी) लहसुन का कंद या लहसुन की बाहर की (गीली) छाल, या अन्य उस प्रकार की वनस्पति है, जो कि कच्ची (अपक्व) और अशस्त्र-परिणत है, तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय मानकर मिलने पर ग्रहण न करे।

३८७. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ आस्थिक वृक्ष के फल, टैम्बरु के फल, टिम्ब (बेल) का फल, काश्यपालिका (श्रीपर्णी) का फल, अथवा अन्य इसीप्रकार के फल, जो कि गड्ढे में दबा कर धुंए आदि से पकाये गए हों, कच्चे (बिना पके) हैं तथा शस्त्र-परिणत नहीं हैं ऐसे फल को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी नहीं लेना चाहिए।

३८८. गृहस्थ के घर में आहार के निमित्त प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ शाली धान आदि अन्न के कण है, कणों से मिश्रित छाणक (चोकर) है, कणों से मिश्रित कच्ची रोटी चावल, चावलों का आटा, तिल, तिलकूट, तिलपपड़ी (तिलपट्टी) है, अथवा

अन्य उसी प्रकार का पदार्थ है जो कि कच्चा और अशस्त्र-परिणत है, तो उसे अप्रासुक और अनेषणीय जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—अपक्व और अशस्त्र-परिणत आहार क्यों अग्राह्य—सू० ३७५ से ३८८ तक में मुख्य रूप से विविध प्रकार की वनस्पति से जनित आहार को अपक्व,[1] अर्धपक्व, अशस्त्र-परिणत, या अधिकोज्झितधर्मीय—अधिक भाग फेंकने योग्य, पुराने बासी सड़े हुए जीवोत्पत्ति युक्त आदि लेने का निषेध किया है, क्योंकि वह अप्रासुक और अनेषणीय होता है। यों तो अधिकांश आहार वनस्पतिजन्य ही होता है, फिर भी कुछ आहार गोरस (दूध, दही, मक्खन, घी आदि) जनित और कुछ प्राणियों द्वारा संगृहीत (मधु आदि) आहार होता है।[2]

शास्त्र में वनस्पति के दस प्रकार बताए हैं—

१. मूल,	२. कन्द,
३. स्कन्ध,	४. त्वचा,
५. शाखा,	६. प्रवाल,
७. पत्र,	८. पुष्प,
९. फल और	१०. बीज।[3]

इनमें से त्वचा (छाल) शाखा, पुष्प आदि कुछ चीजें तो सीधी आहार में काम नहीं आतीं, वे औषधि के रूप में काम आती हैं। यहाँ इन दसों में आहारोपयोगी कुछ वनस्पतियों के प्रकार बता कर उन्हीं के समान अन्य वनस्पतियों को कच्ची, अपक्व, अर्धपक्व, या अशस्त्र-परिणत के रूप में लेना निषिद्ध बताया है। इन सूत्रों में क्रमशः इन वनस्पतियों का उल्लेख किया है—

(१) कमल आदि का कन्द, (२) पिप्पल, मिर्च, अदरक आदि का चूर्ण, (३) आम्र आदि

---

१. अपक्व'—शास्त्रों में 'आम' शब्द अपक्व के अर्थ में तथा 'अभिन्न' शब्द 'शस्त्र-अपरिणत' 'असत्थ परिणते'—के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
'जो फल पक कर वृक्ष से स्वयं नीचे गिर जाता है या पकने पर तोड़ लिया जाता है, उसे पक्व कहते हैं। पक्व फल भी सचित्त-बीज, गुठली आदि से संयुक्त होता है। जब उसे शस्त्र से विदारित कर, बीज आदि को दूर कर या अग्नि आदि से संस्कारित कर दिया जाता है, तब वह **'भिन्न'** अथवा शस्त्र-परिणत कहलाता है। अपक्व—अर्धपक्व या अर्धसंस्कारित फल भी सचित्त एवं शस्त्र-अपरिणत (अग्राह्य) कोटि में गिना गया है।
—देखें बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक १ सूत्र १-२ की व्याख्या (कप्पसुत्त १/१-२, मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल')

२. आचारांग मूल एवं वृत्ति पत्रांक ३४७-३४८।

३. दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १३८—
मूले कंदे खंधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥

के प्रलम्ब फल (४) विविध वृक्षों के प्रवाल, (५) कपित्थ आदि के कोमल फल, (६) गुल्लर, बड़, पीपल आदि का मंथु (चूर्ण), (७) जलज वनस्पतियाँ, (८) पद्म आदि कन्द के मूल आदि (९) अग्र-मूल-स्कन्ध-पर्व-बीजोत्पन्न वनस्पतियाँ, (१०) ईख, बेंत आदि की विकृति. (११) लहसुन और उसके सभी अवयव, (१२) आस्थिक आदि वृक्षों के फल, (१३) बीज रूप वनस्पति और तन्निर्मित आहार, (१४) अधपको पत्तों की भाजी, सड़ी खली, तथा विकृत गोरस जनित आहार।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र (अ-३६) में वनस्पतिकाय के मुख्यतया दो भेद बताए हैं—(१) साधारण और (२) प्रत्येक।

साधारण वनस्पति में शरीर एक होता है, तथा प्राण—आत्माएँ अनेक होती हैं, जैसे कन्द, मूल, आलू, अदरक, लहसुन, हलदी आदि। प्रत्येक शरीरवाली वनस्पति (जिसके एक शरीर में आत्मा भी एक ही होती है) वृक्ष, गुल्म, गुच्छ, लता, वल्ली, तृण, वलय पर्व, कुहुण, जलरूह, औषधि (गेहूँ आदि अन्न), तने, हरित (हरियाली दूब आदि) अनेक प्रकार की होती है।[2]

यहाँ जितनी भी वनस्पतियों का निर्देश किया है, वे जब तक हरी, या कच्ची होती हैं, किसी स्व-काय, पर-काय या उभय-काय शस्त्र से परिणत नहीं होती, या फल के रूप में परिपक्व नहीं होतीं, तब तक अप्रासुक (सचित्त) और अनेषणीय मानी जाती हैं; वे साधु के लिए ग्राह्य नहीं होती।

सालुयं आदि पदों के अर्थ—शालूक आदि अपक्वरूप में खाए जाते हैं, इसलिए इनके ग्रहण का निषेध किया गया है। सालुयं=उत्पल-कमल का कन्द (जड़)। यह जलज कन्द होता है। विरालियं=पलाशकन्द, विदारिका का कन्द। यह कन्द स्थलज और पत्ते से उत्पन्न होता है।[3] सासवनालियं=सर्षप (सरसों) की नाल।[4] पिप्पलि=कच्ची हरी पीपर। पिप्पल चुण्णं=हरी पीपर को पीस कर उसकी चटनी बनाई जाती है, या उसे कूट कर चूर-चूर किया जाता है, उसे पीपर का चूर्ण कहते हैं। मिरियं=काली या हरी कच्ची मिर्च। सिंगबेरं=कच्चा अदरक। सिंगबेरचुण्णं=कच्चे अदरक को कूट पीस कर चटनी बनाई जाती है।[5] पलंब=लम्बा लटकनेवाला फल।[6] पवाल=नवांकुर या किसलय नया कोमल पत्ता।[7] सरडुय=

---

१. आचारांग वृत्ति के आधार पर पत्रांक ३४७-३४८।
२. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६ गा० ९४ से १०० तक।
३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४७, (ख) दशवै० ५/२/१८ हारि० टीका प० १८५।
४. दशवै० ५/२/१८ जिन० चूर्णि पृ० १९७।
५. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४७।
६. पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ५६९।
७. पाइअ सद्दमहण्णवो पृ० ५७५।

जिसमें गुठली न बंधी हो, ऐसा कोमल (कच्चा) फल।[1] मंथु=फल का कूटा हुआ चूर्ण, चूरा, बुकनी।[2] आमयं=कच्चा। दुरुक्कं=थोड़ा पीसा हुआ। साणुबीयं=जिसका योनि बीज विध्वस्त न हुआ हो। उच्छुमेरकं=ईख का छिलका उतार कर छोटे-छोटे टुकड़े किये हुए हों, वह गंडेरी। अंककरेलुअं आदि सिंघाड़े की तरह जल में पैदा होने वाली वनस्पतियां हैं।[3] अग्गबीयाणि=उत्पादक भाग को बीज कहते हैं जिसके अग्र भाग बीज होते हैं, जैसे—कोरंटक, जपापुष्प आदि वे अग्रबीज कहलाते हैं। मूलबीयाणि=जिन (उत्पलकंद आदि) के मूल ही बीज हैं। खंधबीयाणि=जिन (अश्वत्थ, थूहर, कैथ आदि) के स्कन्ध ही बीज हैं, वे। पोरबीयाणि=जिन (ईख आदि) के पर्व—पोर ही बीज हैं, वे। काणगं=छिद्र हो जाने से काना फल, या ईख। अंगारियं=रंग बदला हुआ, या मुर्झाया हुआ फल। संमिस्सं=जिसका छिलका फटा हुआ हो। विगदूमियं=सियारों द्वारा थोड़ा खाया हुआ। वेत्तग्गगं=बेंत का अग्र भाग। लसुणचोयगं=लहसुन के ऊपर का कड़ा छिलका।[4] अत्थियं आदि प्रत्येक कुम्भीपक्व से सम्बन्धित हैं।[5] आमडागं=कच्चा हरा पत्ता, जो अपक्व या अर्धपक्व हो, पूतिपिण्णागं का अर्थ—सड़ा हुआ खल होता है, दशवैकालिक जिनदास चूर्णि के अनुसार पूति का अर्थ सरसों की पिट्ठी का पिण्ड है। पिण्याक का अर्थ है—खल।[6]

पुराने मधु-मद्य-घृतादि अग्राह्य—मधु, मद्य, घृत आदि कुछ पुराने हो जाने पर इनमें उनके ही जैसे रंग के जीव पैदा हो जाते हैं, जो वहीं बार-बार जन्म लेते, बढ़ते हैं, जो वहीं बने रहते हैं। इसीलिए कहा है—एत्थ पाणाअणुप्पसूता ……अविद्धत्था।[7]

'तक्कलीमत्थएण' का तात्पर्य—कन्दली के मस्तक, (मध्यवर्ती गर्भ), कंदली के सिर, नारियल के मस्तक और खजूर के मस्तक के सिवाय अन्यत्र जीव नहीं होता। इनके मस्तक स्थान छिन्न होते ही जीव समाप्त हो जाता है।[8]

३८९. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३८९. यह (वानस्पतिकायिक आहार-गवेषणा) उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि से सम्बन्धित) समग्रता है।[9]

॥ अट्ठम उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. (क) पाइअसद्द० पृ० ८७९। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४७।
२. (क) पाइअसद्द० पृ० ६६४। (ख) दशवै० जिन० चूर्णि पृ० १९०।
३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८।
४. (क) दशवै० हारि० टीका प० १३६। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८।
५. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४९।
६. (क) आचारांग वृत्ति पत्र ३४८। (ख) दशवै० जिन० चूर्णि पृ० १९८।
७. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८।
८. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३४८। (ख) आचा० चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १३३।
९. इसका विवेचन ३३४वें सूत्र के अनुसार समझें।

णवमो उद्देसओ

नवम उद्देशक

आधाकर्मिक आदि ग्रहण-निषेध

३९०. इह खलु पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा संतेगतिया सड्ढा भवंति गाहावती वा जाव[1] कम्मकरी वा। तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता वयमंता गुणमंता संजता संवुडा बंभचारी उवरया मेहुणातो धम्मातो णो खलु एतेसिं कप्पति आधाकम्मिए असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा भोत्तए वा पातए वा। से ज्जं पुण इमं अम्हं अप्पणो अट्ठाए णिट्ठितं, तंजहा—असणं वा ४, सव्वमेयं समणाणं णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा वि अप्पणो सयट्ठाए असणं वा ४ चेतिस्सामो। एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं अणेसणिज्जं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

३९१. से भिक्खू वा २ जाव[2] समाणे वा वसमाणे[3] वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे, से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा[4] जाव रायहाणिंसि वा संतेगतियस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावती वा जाव कम्मकरी वा। तहप्पगाराइं कुलाइं णो पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

केवली बूया—आयाणमेयं। पुरा पेहा एतस्स परो अट्ठाए असणं वा ४ उवकरेज्ज[5] वा उवक्खडेज्ज वा। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४[6] जं णो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, से तत्थ

---

१. यहाँ जाव शब्द से गाहावती से लेकर कम्मकरी तक का समग्र पाठ सू० ३४७ के अनुसार समझें।
२. जाव शब्द से यहाँ गाहावइकुलं से लेकर समाणे तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।
३. 'समाणे वसमाणे' के सम्बन्ध में चूर्णिकार कहते हैं—समाणादी—पुव्वभणिता—'समान' आदि के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है देखें सूत्र ३५० पृष्ठ ४५ का टिप्पण ३।
४. यहाँ जाव शब्द से गामंसि वा से लेकर रायहाणिंसि तक का सारा पाठ सू०३३८ के अनुसार समझें।
५. उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा के स्थान पर उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा पाठ मानकर चूर्णिकार इन दोनों क्रियाओं का अर्थ इस प्रकार करते हैं—उवकरेति परिवच्छेति, उवक्खडेति रंधेति। अर्थात् उवकरेति—सब ओर से सामग्री एकत्रित करता है, उवक्खडेति—पकाता है।
६. पुव्वोवदिट्ठा के बाद '४' का चिन्ह सू० ३५७ के अनुसार एस पतिण्णा आदि चार बातों का सूचक है।

कालेणं अणुपविसेज्जा[1], २ [त्ता] तत्थितरातिरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारेज्जा ।

३९२. अह[2] सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आधाकम्मियं असणं वा ४ उवकरेज्ज वा उवक्खडेज्ज वा । तं चेगतिओ तुसिणीओ उवेहेज्जा, आहडमेयं[3] पच्चाइक्खिस्सामि । मातिट्ठाणं संफासे । णो एवं करेज्जा । से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा णो खलु मे कप्पति आहाकम्मियं असणं वा ४ भोत्तए वा पायए वा, मा उवकरेहिं, मा उवक्खडेहिं ।

से सेवं वदंतस्स परो आहाकम्मियं असणं वा ४ उवक्खडेत्ता आहट्टु दलएज्जा । तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

३९०. यहाँ (जगत में) पूर्व में, पश्चिम में, दक्षिण में या उत्तर दिशा में कई सद्गृहस्थ, उनकी गृहपत्नियाँ, उनके पुत्र-पुत्री, उनकी पुत्रवधू, उनकी दास-दासी, नौकर-नौकरानियाँ होते हैं, वे बहुत श्रद्धावान् होते हैं और परस्पर मिलने पर इस प्रकार बातें करते हैं—"ये पूज्य श्रमण भगवान् शीलवान् व्रतनिष्ठ, गुणवान्, संयमी. आस्रवों के निरोधक, ब्रह्मचारी एवं मैथुनकर्म से निवृत होते हैं । आधार्कामिक अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, खाना-पीना इन्हें कल्पनीय नहीं है । अतः हमनें अपने लिए जो आहार बनाया है, वह सब हम इन श्रमणों को दे देंगे, और हम अपने लिए बाद में अशनादि चतुर्विध आहार बना लेंगे ।"

उनके इस प्रकार के वार्तालाप को सुनकर तथा (दूसरों से) जानकर, साधु या साध्वी इस प्रकार के (आधार्कामिक आदि दोषयुक्त) अशनादि चतुर्विध आहार को अप्रासुक और अनेषणीय मानकर मिलने पर ग्रहण न करे ।

३९१. शारीरिक अस्वस्थता तथा वृद्धावस्था के कारण एक ही स्थान पर स्थिरवास करने वाले या ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले साधु या साध्वी, किसी ग्राम में यावत् राजधानी में भिक्षाचर्या के लिए जब गृहस्थों के यहाँ जाने लगें, तब यदि वे यह जान जाएँ कि इस गाँव में यावत् राजधानी में किसी (अमुक) भिक्षु के पूर्व-परिचित (माता-पिता आदि सम्बन्धीजन) या पश्चात्-परिचित सास-ससुर आदि—गृहस्थ, गृहस्थपत्नी, उसके पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू, दास-दासी, नौकर-नौकरानियाँ आदि श्रद्धालुजन रहते हैं तो इस प्रकार के घरों में भिक्षाकाल से पूर्व आहार पानी के लिए जाए-आए नहीं ।

---

१. यहाँ '२' का चिन्ह 'अणुपविसित्ता' का सूचक है ।
२. इस वाक्य का चूर्णिमान्य पाठान्तर इस प्रकार है—अह से काले पविट्ठस्स वि उवक्खडिज्जा । अर्थात्—यदि भिक्षाकाल में प्रविष्ट होने पर भी वह भोजन तैयार करे ।
३. आहडमेयं पच्चाइक्खिस्सामि के स्थान पर पाठान्तर मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—आहूतं पडियाइक्खिस्सं—अर्थात् गृहस्थ को पास में बुला कर मना कर दूंगा ।

केवली भगवान कहते हैं—यह कर्मों के आने का कारण है, क्योंकि समय से पूर्व अपने घर में साधु या साध्वी को आए देखकर वह उसके लिए आहार बनाने के सभी साधन जुटाएगा, अथवा आहार तैयार करेगा। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थंकरों द्वारा पूर्वोपदिष्ट यह प्रतिज्ञा हैं, यह हेतु, कारण या उपदेश है कि वह इस प्रकार के परिचित कुलों में भिक्षाकाल से पूर्व आहार पानी के लिए जाए-आए नहीं। बल्कि स्वजनादि या श्रद्धालु परिचित घरों को जानकर एकान्त स्थान में चला जाए, वहाँ जाकर जहाँ कोई आता-जाता और देखता न हो, ऐसे एकान्त में खड़ा हो जाए। ऐसे स्वजनादि सम्बद्ध ग्राम आदि में भिक्षा के समय प्रवेश करे और स्वजनादि से भिन्न अन्यान्य घरों से सामुदानिक रूप से एषणीय तथा वेषमात्र से प्राप्त (उत्पादनादि दोष-रहित) निर्दोष आहार प्राप्त करके उसका उपभोग करे।

३९२. यदि कदाचित् भिक्षा के समय प्रविष्ट साधु को देख वह (श्रद्धालु—परिचित) गृहस्थ उसके लिए आधाकर्मिक आहार बनाने के साधन जुटाने लगे या आहार बनाने लगे, उसे देखकर भी वह साधु इस अभिप्राय से चुपचाप देखता रहे कि "जब यह आहार लेकर आएगा, तभी उसे लेने से इन्कार कर दूंगा" यह माया का स्पर्श करना है। साधु ऐसा न करे। वह पहले से ही इस पर ध्यान दे और (आहार तैयार करते देख) कहे—"आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) या बहन! इस प्रकार का आधाकर्मिक आहार खाना या पीना मेरे लिए कल्पनीय (आचरणीय) नहीं है। अतः मेरे लिए न तो इसके साधन एकत्रित करो, और न इसे बनाओ।"

उस साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ आधाकर्मिक-आहार बनाकर लाए और साधु को देने लगे तो वह साधु उस आहार को अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर मिलने पर भी न ले।

विवेचन—आधाकर्मादि दोष क्या, उसका त्याग क्यों? कैसे जाना जाए? सूत्र ३९०-३९१ और ३९२ इन तीन सूत्रों में आधाकर्म-दोषयुक्त आहार से बचने का विधान हैं। आधाकर्मदोष का लक्षण यह है—किसी खास साधु को मन में रखकर उसके निमित्त से आहार बनाना, सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त को पकाना। यह दोष ४ प्रकार से साधु को लगता है—(१) प्रतिसेवन—बारबार आधाकर्मी आहार का सेवन करना, (२) प्रतिश्रवण—आधाकर्मी आहार के लिए निमंत्रण स्वीकार करना, (३) संवसन—आधाकर्मी आहार का सेवन करने वाले साधुओं के साथ रहना, और (४) अनुमोदन—आधाकर्मी आहार का उपभोग करने वालों की प्रशंसा एवं अनुमोदना करना।[1]

प्रस्तुत तीन सूत्रों में आधाकर्म दोष लगने के पाँच कारणों से सावधान कर दिया है—(१) साधुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धान्वित एवं प्रभावित होने से अपने लिए बनाया हुआ आहार साधुओं को देकर अपने लिए बाद में तैयार करने का विचार करते सुनकर सावधान हो जाए

---

१. पिण्डनिर्युक्ति गाथा ९३, ९५ टीका।

(२) पूर्व-पश्चात्-परिचित गृहस्थों के यहाँ भिक्षाकाल से पूर्व न जाए, (३) कदाचित अनजाने में चला भी जाए, तो उन घरों से बचकर अन्य घरों में भिक्षा करे। (४) भिक्षाकाल में भिक्षाटन करते देख परिचित गृहस्थ को आधाकर्मिक दोषयुक्त आहार बनाते जान कर उसे वैसा करने से इन्कार कर दे, (५) फिर भी बनाकर देने लगे तो उस आहार को न ले।

आधाकर्म के साथ-साथ उद्गम के अन्य दोष भी अपने खास परिचित घरों से लेने में लगने की सम्भावना हो।[1]

ग्रासैषणा दोष-परिहार

३९३. से भिक्खू वा २ जाव[2] समाणे से ज्जं पुण जाणेज्जा, मंसं वा मच्छं वा[3] भज्जिज्जमाणं पेहाए तेल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए णो खद्धं खद्धं उवसंकमित्तु ओभासेज्जा णण्णत्थ गिलाणाए।[4]

३९४. से भिक्खू वा २ जाव समाणे अण्णतरं भोयणजातं पडिगाहेत्ता सुब्भिं सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेति। मातिट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

सुब्भिं[5] वा दुब्भिं वा सव्वं भुंजे ण छड्डए।

३९५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे अण्णतरं वा पाणगजायं पडिगाहेत्ता पुप्फं पुप्फं आविइत्ता कसायं कसायं परिट्ठवेति। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा। पुप्फं पुप्फे ति वा कसायं कसाए ति वा सव्वमेणं भुंजेज्जा, ण किंचि वि परिट्ठवेज्जा।

३९६. से भिक्खू वा २ बहुपरियावण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्ता साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया। तेसिं अणालोइया अणामंतिया[6] परिट्ठवेति। मातिट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५१ के आधार पर।

२. यहाँ जाव शब्द से गाहावइकुलं से लेकर समाणे तक का पाठ सूत्र ३२४ के अनुसार समझें।

३. 'मंसं वा……तेल्लपूयं वा' तक चूर्णिकार मान्य पाठान्तर इस प्रकार है—मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए सक्कुलिं वा पूवं वा तेल्लापूतं वा…। अर्थात मांस और मत्स्य को भूँजे जाते हुए देखकर, पूड़ी- पूआ या तेल का पूआ कड़ाही में बनाते देखकर……।

४. णण्णत्थ गिलाणाए के स्थान पर णण्णत्थ गिलाणिए,……गिलाणीए, णण्णत्थ गिलाणो आदि पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार ने तीसरा पाठान्तर माना है जिसका अर्थ है—ग्लान (रोगी) के सिवाय।

५. 'सुब्भि……से लेकर छड्डए' तक का पाठान्तर इस प्रकार है—'सुब्भिं ति वा दुब्भिं ति वा सव्वमेयं भुंजिज्जा, नो किंचि वि परिट्ठविज्जा' सुगन्धित हो या दुर्गन्धित, उस सब आहार का—उपभोग कर ले, किंचित भी न परठे=न डाले।

६. अणामंतिया के स्थान पर अणासंसिया पाठ किसी-किसी प्रति में मिलता है। उसका अर्थ है—दूसरों की अपेक्षा किये विना।

से त्तमादाए तत्थ गच्छेज्जा २ [त्ता][1] से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा ४ बहुपरियावण्णे, तं भुंजह व णं[2] [परिभाएह व णं]। से सेवं वदंतं परो वदेज्जा—आउसंतो समणा ! आहारमेतं असणं वा ४ जावतियं २[3] सरति तावतियं २ भोक्खामो वा पाहामो वा। सव्वमेयं परिसडति सव्वमेयं भोक्खामो वा पाहामो वा।

३९३. गृहस्थ के घर में साधु या साध्वी के प्रवेश करने पर उसे यह ज्ञात हो जाए कि वहाँ अपने किसी अतिथि के लिए मांस या मत्स्य भुना जा रहा है, तथा तेल के पुए बनाए जा रहे हैं, इसे देखकर वह अतिशीघ्रता से पास में जाकर याचना न करे। रुग्ण साधु के लिए अत्यावश्यक हो तो किसी पथ्यानुकूल सात्विक आहार की याचना कर सकता है।

३९४. गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए जाने पर वहाँ से भोजन लेकर जो साधु सुगन्धित (अच्छा-अच्छा) आहार स्वयं खा लेता है और दुर्गन्धित (खराब-खराब) बाहर फेंक देता है, वह माया-स्थान का स्पर्श करता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। अच्छा या खराब, जैसा भी आहार प्राप्त हो, साधु उसका समभावपूर्वक उपभोग करे, उसमें से किंचित् भी फेंके नहीं।

३९५. गृहस्थ के यहाँ पानी के लिए प्रविष्ट जो साधु-साध्वी वहाँ से यथाप्राप्त जल लेकर वर्ण-गन्ध-युक्त (मधुर) पानी को पी जाते हैं और कसैला-कसैला पानी फेंक देते हैं, वे मायास्थान का स्पर्श करते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। वर्ण-गन्धयुक्त अच्छा या कसैला जैसा भी जल प्राप्त हुआ हो, उसे समभाव से पी लेना चाहिए, उसमें से जरा-सा भी बाहर नहीं डालना चाहिए।

३९६. भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर में प्रविष्ट साधु-साध्वी उसके यहाँ से बहुत-सा (आवश्यकता से अधिक) नाना प्रकार का भोजन ले आएं (और उतना खाया न जाए तो) वहाँ जो साधर्मिक, सांभोगिक समनोज्ञ तथा अपरिहारिक साधु-साध्वी निकटवर्ती रहते हों, उन्हें पूछे (दिखाए) बिना एवं निमंत्रित किये बिना जो साधु-साध्वी उस आहार को परठ (डाल) देते हैं, वे मायास्थान का स्पर्श करते हैं, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।

वह साधु उस आहार को लेकर उन साधर्मिक, समनोज्ञ साधुओं के पास जाए। वहाँ जाकर सर्वप्रथम उस आहार को दिखाए और इस प्रकार कहे-आयुष्मान् श्रमणो ! यह चतुर्विध आहार हमारी आवश्यकता से बहुत अधिक है, अतः आप इसका उपभोग करें, और अन्यान्य भिक्षुओं को वितरित कर दें। इस प्रकार कहने पर कोई भिक्षु यों कहे कि—'आयुष्मान् श्रमण!

---

१. यहाँ '२' का चिन्ह गम धातु की पूर्वकालिक क्रिया के रूप गच्छित्ता का सूचक है।

२. तं भुंजह व णं आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—मे असणपाणखाइमसाइमे भुंजह वा णं परिभाएह वा णं=भुजंध सतमेव परिभाएध अण्णमण्णोसि देह। अर्थात्—इस अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का स्वयं उपभोग करो और अन्यान्य साधुओं को दो।

३. यहाँ '२' का चिन्ह पुनरावृत्तिका सूचक है।

इस आहार में से जितना हम खा-पी सकेंगे, खा-पी लेंगे, अगर हम यह सारा का सारा उपभोग कर सके तो सारा खा-पी लेंगे।

विवेचन—स्वादलोलुपता और माया—प्रस्तुत चार सूत्रों में संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण, इन पाँच ग्रासैषणा या परिभोगैषणा के दोषों को, साधुजीवन में प्रविष्ट होने वाली स्वादलोलुपता और उसके साथ संलग्न होने वाली मायावृत्ति के माध्यम से ध्वनित कर दिया है। वास्तव में, जब साधुता के साथ स्वादुता का गठजोड़ हो जाता है, तब मांसाहारी, निर्मांसाहारी, घृणित-अघृणित, निन्द्य-अनिन्द्य कैसा ही घर हो, जरा-सा विशेष भावुक देखा कि ऐसा साधु समय-कु-समय कारण-अकारण, मर्यादा-अमर्यादा का विचार किये बिना ही ऐसे गृहस्थ के यहां जा पहुंचता है। इससे अपने संयम की हानि तो होती ही है, धर्मसंघ की बदनामी बहुत अधिक होती है। भले ही वह साधु आमिषाहारी के यहाँ से निरामिष भोजन ही लेता हो, परन्तु स्थूलदृष्टि जनता की आँखों में तो वह वर्तमान अन्य भिक्षुओं की तरह सामिषभोजी ही प्रतीत होगा।

यही कारण है कि शास्त्रकार ने **णण्णत्थ गिलाणाए** कहकर स्पष्टतया सावधान कर दिया है कि रोगी के कार्य के सिवाय ऐसे आमिषभोजी घर में न तो प्रवेश करे, न उससे सात्त्विक भोजन की भी याचना करे?

मनोज्ञ आहार-पानी का उपभोग और अमनोज्ञ का परित्याग : चिन्तनीय—स्वादलोलुपता, धर्मसंघ एवं तथाकथित साधुओं के प्रति अश्रद्धा और मायावृद्धि का कारण है। यदि किसी कारण वश अधिक आहार आ गया हो, या गृहस्थ ने भावुकतावश पात्र में अधिक भोजन उंडेल दिया हो तो ऐसे आहार को खाने के बाद, शेष बचे हुए आहार का परिष्ठापन करने से पहले ढाई कोस के अन्दर निम्नोक्त प्रकार के साधु-साध्वियों की खोज करके, वे हों तो उन्हें मनुहार करके दे देने का शास्त्रकार ने विधान किया है—[1] (१) साधर्मिक, (२) सांभोगिक, (३) समनोज्ञ और (४) अपारिहारिक।[2] इन चारों का एक दूसरे से उत्तरोत्तर सूक्ष्म सम्बन्ध है।[3]

पिण्डनिर्युक्ति में नाम आदि १२ प्रकार के साधर्मियों का उल्लेख है। वह इस प्रकार है—(१) नाम साधर्मिक (२) स्थापना साधर्मिक, (३) द्रव्य साधर्मिक, (४) क्षेत्रसाधर्मिक, (५) काल साधर्मिक, (६) प्रवचन साधर्मिक (७) लिंग (वेष) साधर्मिक, (८) ज्ञान साधर्मिक, (९) दर्शन साधर्मिक, (१०) चारित्र-साधर्मिक, (११) अभिग्रह साधर्मिक और (१२) भावना साधर्मिक। इनमें से नामादि से लेकर काल-साधर्मिक तक को छोड़कर शेष ७ प्रकार के साधर्मिकों के साथ यथायोग्य व्यवहार का विवेक करना चाहिए।[4]

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५२ के आधार से
(ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १३६

२. साधर्मिक आदि चारों पदों का अर्थ पहले किया जा चुका है देखें सूत्र ३२७ एवं ३३१ का विवेचन।

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५२

४. पिण्डनिर्युक्ति गा० १३८ से १४१ तक

ग्रासैषणा-विवेक

३९७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा असणं व ४ परं समुद्दिस्स बहिया णीहडं तं परेहिं असमणुण्णातं अणिसिट्ठं[1] अफासुयं जाव[2] णो पडिगाहेज्जा। तं परेहिं समणुण्णातं समणुसट्ठं[3] फासुयं जाव[4] लाभे संते पडिगाहेज्जा।

३९७. गृहस्थ के घर में आहार प्राप्ति के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि दूसरे (गुप्तचर, भाट आदि) के उद्देश्य से बनाया गया आहार देने के लिए निकाला गया है, परन्तु अभी तक उस घरवालों ने उस आहार को ले जाने की अनुमति नहीं दी है और न ही उन्होंने उस आहार को ले जाने या देने के लिए उन्हें सौंपा है, (ऐसी स्थिति में) यदि कोई उस आहार को लेने की साधु को विनति करे तो उसे अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर स्वीकार न करे।

यदि गृहस्वामी आदि ने गुप्तचर भाट आदि को उक्त आहार ले जाने की भलीभांति अनुमति दे दी है तथा उन्होंने वह आहार उन्हें अच्छी तरह से सौंप दिया है और कह दिया है—तुम जिसे चाहो दे सकते हो, (ऐसी स्थिति में) साधु को कोई विनति करे तो उस आहार को प्रासुक और एषणीय समझकर ग्रहण कर लेवें।

विवेचन—आहार-ग्रहण में विवेक—इस सूत्र में एक के स्वामित्व का आहार दूसरा कोई देने लगे तो साधु को कब लेना है, कब नहीं ? इस सम्बन्ध में स्पष्ट विवेक बताया है। जिसका उस आहार पर स्वामित्व है, उस घरवाले यदि दूसरे व्यक्ति को उस आहार को सौंप दे और यथेच्छ दान की अनुमति दे दें तो वह आहार साधु के लिए ग्राह्य है अन्यथा नहीं।

नीहडं आदि पदों के अर्थ—नीहडं = निकाला गया है, असमणुण्णातं = किसको देना है, इसकी सम्यक् प्रकार से अनुज्ञा (अनुमति) नहीं दी गई है, अणिसिट्ठं = सौंपा नहीं गया है।[5]

३९८. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

३९८. यही उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञान-दर्शनादि की) समग्रता है।[6]

॥ णवमो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. इसके स्थान पर असमणिट्ठं पाठान्तर है। अर्थ होता है—सम्यक् प्रकार से नहीं दिया गया है।
२. अफासुयं के बाद जाव शब्द अणेसणिज्जं मण्णमाणे लाभे संते'—इतने पाठ का सूचक है।
३. समणुसट्ठं के स्थान पर पाठान्तर मिलते हैं। समणिसट्ठं, समणिट्ठं णिसट्ठं तथा णिसिट्ठं आदि। अर्थ क्रमशः यों है—सम्यक् रूप से सौंप दिया, अच्छी तरह से दिया है, दे दिया है, सौंप दिया है।
४. यहाँ फासुयं के बाद जाव शब्द एसणिज्जं मण्णमाणे—इतने पाठ का सूचक है।
५. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५२
६. इसका विवेचन सूत्र ३३४ के अनुसार समझें।

दसमो उद्देसओ

दसम उद्देशक

आहार-वितरण विवेक

३९९. से एगतिओ साहारणं वा पिंडवातं पडिगाहेत्ता ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलाति। मातिट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से त्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा, गच्छित्ता पुव्वामेव एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! संति मम पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा, तंजहा—आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणधरे वा गणावच्छेइए वा, अवियाइं एतेसिं खद्धं खद्धं दाहामि?+ से णेवं वदंतं परो वदेज्जा—कामं[1] खलु आउसो! अहापज्जत्तं निसिराहि।+ जावइयं २ परो वदति तावइयं[2] २ णिसिरेज्जा। सव्वमेतं परो वदति सव्वमेयं णिसिरेज्जा।

४००. से एगइओ मणुण्णं भोयणजातं पडिगाहेत्ता पंतेण भोयणेण पलिच्छाएति 'मामेतं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमादिए[3] तं [जहा–] आयरिए वा जाव गणावच्छेइए वा'। णो खलु मे कस्सइ किंचि वि दातव्वं सिया। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

से त्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा, २ [त्ता] पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलु इमं खलु त्ति आलोएज्जा। णो किंचि वि विणिगूहेज्जा।[4]

४०१. से एगतिओ अण्णतरं भोयणजातं पडिगाहेत्ता भद्दयं भद्दयं भोच्चा विवण्णं विरसमाहरति। मातिट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा।

३९९. कोई भिक्षु बहुत-से साधुओं के लिए गृहस्थ के यहाँ से साधारण अर्थात् सम्मिलित आहार लेकर आता है और उन साधार्मिक साधुओं से विना पूछे ही (अपनी इच्छा से) जिसे-जिसे चाहता है, उसे-उसे बहुत-बहुत दे देता है; तो ऐसा करके वह माया-स्थान का स्पर्श करता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

असाधारण आहार प्राप्त होने पर भी आहार को लेकर गुरुजनादि के पास जाए; वहाँ जाते ही सर्वप्रथम इस प्रकार कहे—"आयुष्मन् श्रमणो! यहाँ मेरे पूर्व-परिचित (जिनसे दीक्षा अंगीकार की है) तथा पश्चात्-परिचित (जिनसे श्रुताभ्यास किया है), जैसे कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर (गच्छ प्रमुख) या गणावच्छेदक आदि; अगर

\+ इस चिन्ह का पाठ कुछ प्रतियों में नहीं है।

१. कामं खलु आउसो······आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—कामं णाम इच्छातः अहापज्जत्तं जहापज्जत्तं, जावइयं वा वदेज्जा। काम का अर्थ है—स्वेच्छा से, जिसके लिए जितना पर्याप्त हो, अथवा जितना आचार्यादि कहें······।

२. जावइयं और तावइयं के पश्चात् '२' का चिन्ह उसी की—पुनरावृत्ति का सूचक है।

३. इसके स्थान पर सदमादिए, सतमातिए पाठान्तर मिलते हैं। अर्थ समान है।

४. इसके स्थान पर पाठान्तर है—विणिग्गहेज्जा, निग्गहेज्जा, णिगूहेज्जा, अर्थ क्रमशः यों है—अदला-बदली (हेरा-फेरी) करे, अपने कब्जे में करे, छिपाए—माया करे।

आपकी अनुमति हो तो मैं इन्हें पर्याप्त आहार दूं।" उसके इस प्रकार कहने पर यदि गुरुजनादि कहें—'आयुष्मन् श्रमण ! तुम अपनी इच्छानुसार उन्हें यथापर्याप्त आहार दे दो।' ऐसी स्थिति में वह साधु जितना-जितना वे कहें, उतना-उतना आहार उन्हें दे दें। यदि वे कहें कि 'सारा आहार दे दो', तो सारा का सारा दे दें।

४००. यदि कोई भिक्षु भिक्षा में सरस स्वादिष्ट आहार प्राप्त करके उसे नीरस तुच्छ आहार से ढक कर छिपा देता है, ताकि आचार्य, उपाध्याय, यावत् गणावच्छेदक आदि मेरे प्रिय व श्रेष्ठ इस आहार को देखकर स्वयं न ले लें। मुझे इसमें मे किसी को कुछ भी नही देना है। ऐसा करने वाला साधु मायास्थान का स्पर्श करता है। साधु को ऐसा छल-कपट नहीं करना चाहिए।

वह साधु उस आहार को लेकर आचार्य आदि के पास जाए और वहाँ जाते ही सबसे पहले झोली खोल कर पात्र को हाथ में ऊपर उठा कर 'इस पात्र में यह है, इसमें यह है', इस प्रकार एक-एक पदार्थ उन्हे बता दे। कोई भी पदार्थ जरा-सा भी न छिपाए।

४०१. यदि कोई भिक्षु गृहस्थ के घर से प्राप्त भोजन को लेकर मार्ग में ही कहीं, सरस-सरस आहार को स्वयं खाकर शेष बचे तुच्छ एवं नीरस आहार को उपाश्रय में आचार्यादि के पास लाता है, तो ऐसा करने वाला साधु मायास्थान का सेवन करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए।

विवेचन—स्वाद-लोलुपता और प्रच्छन्नता—साधु-जीवन में जरा-सी भी माया अनेक दोषों, यहाँ तक कि सत्य, अहिंसा और अस्तेय, इन तीन महाव्रतों का ध्वंस कर देती है; क्योंकि ऐसा साधक मायावश वास्तविकता को छिपाता है, इससे सत्य महाव्रत को आंच आती है, तथा मायावश महान् रत्नाधिकों को न बताकर छिप-छिप कर सरस आहार स्वयं खा जाता है, इससे अचौर्य महाव्रत भंग होता है, तथा मायावश प्रासुक, एषणीय एवं कल्पनीय का विचार न करके जैसा-तैसा दोषयुक्त आहार ले आता है तो अहिंसा-महाव्रत भी खण्डित हो जाता है। आहार-वितरण में पक्षपात करता है तो समता का भी नाश हो जाता है; साथ ही स्वाद-लोलुपता भी बढ़ती जाती है।[1]

इन तीनों सूत्रों में स्वादलोलुपता और माया से बचने का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इन तीन सूत्रों में माया-दोष के तीन कारणों की सम्भावना का चित्रण प्रस्तुत किया गया है—(१) आहार-वितरण के समय पक्षपात करने से, (२) सरस आहार को नीरस आहार से दबा कर रखने से, (३) भिक्षा-प्राप्त सरस आहार को उपाश्रय में लाए बिना बीच में ही कहीं खा लेने से।[2]

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५३ के आधार पर, (ख) दशवै० ५/२/३१-३२, ३४, ३५

२. तुलना कीजिए—सिया एगइओलद्धुं विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा विवण्णं-विरसमाहरे॥ —दशवै० ५/२/३३

पुरेसंथुया, पच्छासंथुया आदि शब्दों के अर्थ—यहाँ प्रसंगवश पुरेसंथुया का अर्थ होता है—पूर्व-परिचित—जिन श्रमण महापूज्य से मैंने दीक्षा ग्रहण की है, वे तथा उनसे सम्बन्धित, तथा पच्छासंथुआ का अर्थ होता है—जिन महाभाग से मैंने शास्त्रों का अध्ययन—श्रवण किया है, वे तथा उनसे सम्बन्धित—पश्चात्-परिचित। पवत्ती=साधुओं को वैयावृत्य आदि में यथायोग्य प्रवृत्त करने वाला प्रवर्त्तक। थेरे=स्थविर साधु जो संयम आदि में विषाद पाने वाले साधुओं को स्थिर करता है। गणी=गच्छ का अधिपति। गणधरे=गुरु के आदेश से साधुगण को लेकर पृथक् विचरण करने वाला आचार्यकल्प मुनि। गणावच्छेइए=गणावच्छेदक—गच्छ के कार्यों हितों का चिन्तक। अवियाइं=इत्यादि, खद्धं खद्धं=अधिक-अधिक। णिसिरेज्जा=दे। पलिच्छाएति=आच्छादित कर (ढक) देता है। सयमाए स्वयं खाऊंगा। 'वाइए'=दिया गया है। उत्ताणए हत्थे=सीधी हथेली में। विणिगूहेज्जा=छिपाए।[1]

बहु-उज्झितधर्मी-आहार-ग्रहण निषेध

४०२. से भिक्ख वा २[2] से ज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा संबलिं वा संबलिथालिगं[3] वा, अस्सिं खलु पडिग्गाहियंसि अप्पे भोयणजाते बहुउज्झियधम्मिए, तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा जाव संबलिथालिगं वा अफासुयं जाव[4] णो पडिगाहेज्जा।

४०३. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा बहुअट्ठियं वा मंसं मच्छं वा बहुकंटगं, अस्सिं खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे भोयणजाते बहुउज्झियधम्मिए, तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

४०४. से भिक्खू वा २ जाव[5] समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएण मंसेण उवणिमंतेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए? एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा णो खलु मे कप्पति बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिकंखसि मे दाउं, जावतितं[6] तावतितं पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं।

से सेवं वदंतस्स परो अभिहट्टु अंतोपडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परियाभाएत्ता णिहट्टु

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५३
२. यहाँ '२' का चिन्ह गम्‌धातु की पूर्वकालिक क्रिया 'गच्छित्ता' का सूचक है।
३. संबलियालिगं के स्थान पर पाठान्तर है, सिबलिथालिगं, सिबलियालियं, संबलिथालगं, सिबलिथालं। अर्थ एक-सा है।
४. यहाँ जाव शब्द अफासुयं से लेकर णो पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूत्र ३२४ के अनुसार सूचक है।
५. यहाँ जाव शब्द सू० ३२४ के अनुसार गाहावइकुलं से समाणे तक के पाठ का सूचक है।
६. इसके स्थान पर जावतितं (तावइयं) गाहावति तं पोग्गलं······'पाठान्तर है।

दलएज्जा। तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा।

से य आहच्च पडिगाहिते सिया, तं णो[1] हि त्ति वएज्जा, णो धि त्ति वएज्जा, णो अणह त्ति वएज्जा। से त्तमादाय एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे[2] जाव संताणए मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाए से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा[3] जाव पमज्जिय पमज्जिय परिट्ठवेज्जा।

४०२. गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वहाँ ईख के पर्व का मध्य भाग है, पर्व-सहित इक्षुखण्ड (गंडेरी) है, पेरे हुए ईख के छिलके हैं, छिला हुआ अग्रभाग है, ईख की बड़ी शाखाएं हैं, छोटी डालियां हैं, मूंग आदि की तोड़ी हुई फली तथा चौले की फलियाँ पकी हुई हैं, (किसी निमित्त से अचित्त हैं), परन्तु इनके ग्रहण करने पर इनमें खाने योग्य भाग बहुत थोड़ा और फेंकने योग्य भाग बहुत अधिक है, (ऐसी स्थिति में) इस प्रकार के अधिक फेंकने योग्य आहार को अकल्पनीय और अनेषणीय मानकर मिलने पर भी न ले।

४०३. गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रविष्ट साधु या साध्वी यदि यह जाने कि इस गूदेदार पके फल (मांस) में बहुत गुठलियाँ (अस्थि) हैं, या इस अनन्नास (मच्छ) में बहुत कांटे हैं, इसे ग्रहण करने पर इस आहार में खाने योग्य भाग अल्प है, फेंकने योग्य भाग अधिक है, तो इस प्रकार के बहुत गुठलियों तथा बहुत कांटों वाले गूदेदार फल के प्राप्त होने पर उसे अकल्पनीय समझ कर न ले।

४०४. भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए प्रवेश करे, तब यदि वह बहुत-सी गुठलियों एवं बीज वाले फलों के लिए आमंत्रण करे—"आयुष्मन् श्रमण! क्या आप बहुत-सी गुठलियों एवं बीज वाले फल लेना चाहते हैं?" इस प्रकार का वचन सुनकर और उस पर विचार करके पहले ही साधु उससे कहे—आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) या बहन! बहुत-से बीज-गुठली से युक्त फल लेना मेरे लिए कल्पनीय नहीं है। यदि तुम मुझे देना चाहते/चाहती

---

1. तं णो हि त्ति वएज्जा, णो धि त्ति वएज्जा, णो अणह त्ति वएज्जा—के स्थान पर पाठान्तर है—णो हि त्ति वएज्जा, णो वि त्ति वएज्जा, णो हुंदह त्ति वएज्जा,······णो अणह त्ति वएज्जा। इन सबका भावार्थ चूर्णिकार ने यों दिया है—'बहुअट्ठिते दिण्णे हि त्ति हिति हस्सि विति य णं वा फरुसं ण भणेज्जा'—गृहस्थ द्वारा बहुत गुठलियों वाला आहार देने पर हिहि करके उसकी हँसी न उड़ाए, और न ही कठोर वचन बोले।
2. यहाँ जाव शब्द से अप्पंडे से लेकर संताणए तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।
3. यहाँ झामथंडिल्लंसि वा के बाद जाव शब्द सू० ३२४ के अनुसार पमज्जिय तक के पाठ का सूचक है।

हो तो इस फल का जितना गूदा (गिर=सार भाग) है, उतना मुझे दे दो, बीज-गुठलियाँ नही।

भिक्षु के इस प्रकार कहने पर भी वह गृहस्थ अपने बर्तन में से उपर्युक्त फल लाकर देने लगे तो जब उसी गृहस्थ के हाथ या पात्र में वह हो तभी उस प्रकार के फल को अप्रासुक और अनेषणीय मानकर लेने से मना कर दे—प्राप्त होने पर भी न ले। इतने पर भी वह गृहस्थ हठात्—बलात् साधु के पात्र में डाल दे तो फिर न तो हाँ-हूँ कहे न धिक्कार कहे और न ही अन्यथा (भला-बुरा) कहे, किन्तु उस आहार को लेकर एकान्त में चला जाए। वहाँ जाकर जीव-जन्तु, काई, लीलण फूलण, गीली मिट्टी, मकड़ी के जाले आदि से रहित किसी निरवद्य उद्यान में या उपाश्रय में बैठकर उक्त फल के खाने योग्य सार भाग का उपभोग करे और फेंकने योग्य बीज, गुठलियों एवं कांटों को लेकर वह एकान्त स्थल में चला जाए, वहाँ दग्ध भूमि पर, या अस्थि राशि पर अथवा लोहादि के कूड़े पर, भूसे के ढेर पर, सूखे गोवर के ढेर पर या ऐसी ही किसी प्रासुक भूमि पर प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उन्हें परठ (डालें) दे।

विवेचन—**अग्राह्य आहार : खाने योग्य कम, फेंकने योग्य अधिक**—सू० ४०२ मे ४०४ में ऐसे आहार का उल्लेख किया गया है, जिसमें स्वयं पक जाने पर भी या अग्नि से शस्त्र-परिणत हो जाने पर भी खाने योग्य भाग अल्प रहता है और फेंकने योग्य भाग बहुत अधिक रहता है। इसलिए ऐसा आहार प्रासुक होने पर भी अनेषणीय और अग्राह्य है। कदाचित् गृहस्थ ऐसा बहु-उज्झितधर्मी आहार देने लगे तो साधु को उसे स्पष्ट कह देना चाहिए कि ऐसा आहार लेना मेरे लिए कल्पनीय नहीं है। कदाचित् भावुकतावश हठात् कोई गृहस्थ साधु के पात्र में वैसा आहार डाल दे तो उसे उक्त गृहस्थ को कुछ भी उपालम्भ या दोष दिये बिना चुपचाप एकान्त में जाकर उसमें से सार भाग का उपभोग करके फेंकने योग्य भाग को अलग निकाल कर एकान्त निरवद्य जीव जन्तु-रहित स्थान देखभाल एवं साफ करके वहाँ डाल देना चाहिए। ऐसे बहु-उज्झितधर्मी आहार में यहाँ चार प्रकर के पदार्थ बताए हैं—(१) ईख के टुकड़े और उसके विविध अवयव, (२) मूंग, मोठ चौले आदि की हरी फलियाँ, (३) ऐसे फल जिनमें बीज और गुठलियाँ बहुत हों—जैसे तरबूज, ककड़ी, सीताफल, पपीता, नीबू, बेल, अनार, आदि, (४) ऐसे फल जिसमें कांटे अधिक हों, जैसे अनन्नास आदि।[1]

---

१. मूल सूत्र में '**बहु अट्ठियं मंसं मच्छं वा बहुकंटगं**' इन पदों को देख कर सहसा यह भ्रम हो जाता है कि क्या जैन साधु, जो षट्काय के रक्षक हैं, पंचेन्द्रिय-वध से निष्पन्न तथा नरक-गमन के कारण मांस और मत्स्य का ग्रहण और सेवन कर सकते है? भले ही वह अग्नि में पका हुआ हो, संस्कारित हो?

आचारांग चूर्णिकार और वृत्तिकार[2] दोनों इस सूत्र की व्याख्या साधारणत: मांस-मत्स्यपरक करते है।

चूर्णिकार ने भी इस विषय में कोई समाधान नहीं दिया, अगर प्राचीनपरम्परा के अनुसार कुछ समाधान दिया भी हो तो आज वह उपलब्ध नहीं है, लेकिन वृत्तिकार इसे आपवादिक सूत्र मानकर कहते है– 'इस प्रकार मांस सूत्र भी समझ लेना चाहिए। मांस का ग्रहण कभी सद्वैद्य की प्रेरणा से, मकड़ी आदि के काटने हर उस असह्य पीड़ा के उपशमनार्थ वाह्य परिभोग में, पसीना आदि होने से, ज्ञानादि में उपकारक होने से उपयोगी देखा गया है। भुज् धातु यहाँ जूते के उपयोग की तरह वाह्य परिभोग के अर्थ में है, खाने के अर्थ में नही।[1] निष्कर्ष यह है कि ये दोनों ही आचार्य मुनि के लिए इसे अभक्ष्य मानते हैं। दशवैकालिक सूत्र (अ० ५) में भी इसी से—मिलती-जुलती दो गाथाएं हैं—

बहु अट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटय।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥७३॥
अप्पेसिया भोयणजाए, बहु-उज्झियधम्मिए।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥७४॥

दोनों का अर्थ स्पष्ट है। दशवैकालिक सूत्र के कुछ व्याख्याकारों ने मांस-मत्स्य-शब्दों का लोक-प्रसिद्ध मांस-मत्स्यपरक और कइयों ने वनस्पतिपरक अर्थ किया है। इस सूत्र के चूर्णिकार इस गाथा का अर्थ मांस (पुद्गल) मत्स्य (अनिमिष) परक करते है, वे कहते है—साधु को मांस खाना नही कल्पता, फिर भी किसी देश, काल और परिस्थिति की अपेक्षा से इस आपवादिक सूत्र की रचना हुयी है।[2] इस सूत्र के टीकाकार हरिभद्रसूरि मांस-परक अर्थ के सिवाय वनस्पतिपरक अर्थ मतान्तर द्वारा स्वीकार करते है।[3] प्रसिद्ध टब्बाकार पार्श्वचन्द्रसूरि ने मूलतः ही वनस्पतिपरक अर्थ किया है। इसलिए पुद्गल या मांस का अर्थ-प्राणिविकार, कलेवर, फल या उसका गूदा, इनमें से कोई हो सकता है। अनिमिष और मत्स्य भी मत्स्य तथा वनस्पति—दोनों का वाचक हो सकता है।

इस प्रकरण का समग्र अनुशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि 'मंस-मच्छ' शब्द द्वयर्थक—दो अर्थवाले है। द्वयर्थक शब्द का आशय समझने के लिए वक्ता का (१) सिद्धान्त (२) व्यवहार और उसकी (३) अर्थ-परम्परा पर विचार करना चाहिए। अगर मात्र शब्द को पकड़कर उसका लोक-प्रचलित अर्थ कर दिया जाय तो वक्ता के मूल सिद्धान्त के साथ अन्याय होगा।

आगम के वक्ता (अर्थोपदेष्टा) सर्वज्ञ प्रभु महावीर परम अहिंसावादी व परम कारुणिक थे। उन्होंने मद्य, मत्स्य, मांस जैसे जुगुप्सनीय पदार्थों के सेवन का स्थान-स्थान पर निषेध किया है, न केवल निषेध; बल्कि इनका सेवन-नरक आदि घोर दुर्गति का कारण बताया है,

भगवान महावीर ने अपने जीवन-व्यवहार में, या किसी भी गणधर आदि ने कभी इस प्रकार

---

१. 'एवं मांस सूत्रमपि नेयम्। अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं—सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्—फलवद् दृष्टम्। भुजिश्चात्र बहिपरिभोगार्थो. नाभ्यवहारार्थो पदातिभोगवदिति।
—आचा० वृत्ति पत्रांक ३५४।

२. (क) मंसं व णेव कप्पति साहूणं, कंचि देसं कालं पडुच्च इमं सुत्तमागतं।
—दसवै० जिनदास चूर्णि पृ० १८४

(ख) मंसातीण अग्गहणे सति, देसकालगिलाणावेक्खमिवमववात सुत्तं।
—दसवै० अगस्त्य सिंह चूर्णि पृ० ११८

३. 'बहुस्थि' 'पुग्गलं'—मांसम्, 'अनिमिषं' मत्स्यं वा 'बहुकण्टकम्', अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथा विधफलाभिधाने एते।—हारि० टीका पत्र १७६।

अग्राह्य लवण-परिभोग-परिष्ठापन विधि

४०५. से भिक्खू वा २ जाव समाणे सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहए बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं परियाभाएत्ता णीहट्टु दलएज्जा। तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहेज्जा।

से य आहच्च पडिग्गाहिते सिया, तं च णातिदूरगते जाणेज्जा, से त्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा, २ [त्ता] पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा इमं किं ते जाणता दिण्णं उदाहु अजाणता? से य भणेज्जा—णो खलु मे जाणता दिण्णं, अजाणता; कामं खलु आउसो! इदाणिं णिसिरामि, तं भुंजह व णं परियाभाएह व णं। तं परेहिं समणुण्णायं समणुसट्ठं ततो संजतामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा।

जं च णो संचाएति भोत्तए वा पायए वा, साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया तेसिं अणुप्पदातव्वं सिया। णो जत्थ साहम्मिया सिया जहेव बहु-परियावण्णे कीरति तहेव कायव्वं सिया।

४०५. गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए साधु या साध्वी को यदि गृहस्थ बीमार साधु के लिए खांड आदि की याचना करने पर अपने घर के भीतर रखे हुए बर्तन में से बिड-लवण या उद्भिज-लवण को विभक्त करके उसमें से कुछ अंश निकाल कर, बाहर लाकर देने लगे तो वैसे लवण को जब वह गृहस्थ के पात्र में या हाथ में हो तभी उसे अप्रासुक अनेषणीय समझ कर लेने से मना कर दे। कदाचित् सहसा उस अचित्त नमक को ग्रहण कर लिया हो, तो मालूम होने पर वह गृहस्थ (दाता) यदि निकटवर्ती हो तो, लवणादि को लेकर वापिस उसके पास जाए। वहाँ जाकर पहले उसे वह नमक दिखलाए, कहे—आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) या आयुष्मती बहन! तुमने मुझे यह लवण जानबूझ कर दिया है, या अनजाने में?

के पदार्थों को ग्रहण नहीं किया। बल्कि आधाकर्म दोष की तरह मासादि भोजन को मूलतः अशुद्ध मानकर उसका परिहार किया है।

उक्त शब्दों का अर्थ स्पष्टतः ज्यों का त्यों—आज तक किसी भी आचार्य व विद्वान आगमज्ञ ने मान्य नहीं किया। या तो इसे अपवाद सूत्र माना है या इन शब्दों का अर्थ अनेक प्राचीन आयुर्वेदिक आदि ग्रन्थों के आधार पर—वनस्पतिपरक स्वीकार किया है।

हमारे विचार में अपवाद सूत्र मानने का भी कोई विशेष महत्त्व नहीं, क्योंकि श्रमण ऐसी पंचेन्द्रिय-हिंसाजन्य वस्तु को शरीर के बाह्य उपभोग में भी नहीं लेता। अतः उनका वनस्पतिअर्थ ही अधिक संगत लगता है। इसी सूत्र में—(अध्ययन १ सूत्र ४५) पंचेन्द्रिय शरीर तथा वनस्पति शरीर की समानधर्मिता स्पष्टतः बतायी है, अतः वनस्पति विशेष में गूदे, बीज, गुठली, कांटे आदि के कारण उनकी भी—पंचेन्द्रिय शरीर के विकार (मांस-हड्डी) आदि के साथ—तुलना की जा सकती है। भारत के अनेक प्रान्तों (बंगाल-बिहार-पंजाब) में आज भी 'मच्छ' 'कुकडी' आदि शब्द वनस्पति विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होते है।

—सम्पादक

यदि वह कहे—मैंने जानबूझ कर नहीं दिया है, अनजाने में ही दिया है, किन्तु आयुष्मन्! अब यदि आपके काम आने योग्य है तो मैं आपको स्वेच्छा से जानबूझ कर दे रहा/रही हूँ। आप अपनी इच्छानुसार इसका उपभोग करें या परस्पर बांट लें।" घरवालों के द्वारा इस प्रकार की अनुज्ञा मिलने तथा वह वस्तु समर्पित की जाने पर साधु अपने स्थान पर आकर (अचित्त हो तो) उसे यतनापूर्वक खाए तथा पीए।

यदि (उतनी मात्रा में) स्वयं उसे खाने या पीने में असमर्थ हो तो वहाँ आस-पास जो साधर्मिक, सांभोगिक, समनोज्ञ एवं अपारिहारिक साधु रहते हों, उन्हें (वहाँ जाकर) दे देना चाहिए। यदि वहाँ आस-पास कोई साधर्मिक आदि साधु न हों तो उस पर्याप्त से अधिक आहार को जो परिष्ठापनविधि बताई है, तदनुसार एकान्त निरवद्य स्थान में जाकर उसे परठ (डाल) दे।

विवेचन—एक के बदले दूसरी वस्तु मिलने पर—इस सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—भिक्षु अपने रुग्ण साधु के लिए गृहस्थ के यहाँ जाकर खांड या बूरे की याचना करता है, परन्तु वह गृहस्थ सफेद रंग देखकर खांड या बूरे के बदले नमक एक बर्तन में से अपने हाथ में या किसी पात्र में लेकर साधु को देने लगता है, उस समय अगर साधु को यह मालूम हो जाए कि यह नमक है तो न ले, कदाचित् भूल से वह नमक ले लिया गया है, और बाद में पता लगता है कि यह तो बूरा या खांड नहीं, नमक है, तो वह पुनः दाता के पास जाकर पूछे कि आपने यह वस्तु जानकर दी है या अनजाने? दाता कहे कि दी तो अनजाने मगर अब जानकर देता हूँ। आप इसका परिभोग करें अथवा बंटवारा कर लें। इस प्रकार कहकर और दाता खुशी से अनुज्ञा दे दे, उसे समर्पित कर दे तो स्वयं उसका यथायोग्य उपभोग करे, आवश्यकता से अधिक हो तो निकटवर्ती साधर्मिकों को ढूंढ़ कर उन्हें दे दे, यदि वे भी न मिले तो फिर परिष्ठापनविधि के अनुसार उसे परठ दे।

तात्पर्य यह है कि एक वस्तु की याचना करने पर गृहस्थ यदि भूल से दूसरी वस्तु दे दे और साधु उसे लेकर चला जाय, तो भी जब साधु को वास्तविकता का पता लगे तो उसकी प्रामाणिकता इसी में है कि वह उस वस्तु को लेकर वापिस दाता के पास जाए और स्थिति को स्पष्ट कर दे। ऐसा न करने पर गृहस्थ को उसकी प्रामाणिकता में अविश्वास हो सकता है।[1]

४०६. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

४०६. यही (एषणाविधि का विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी की सर्वांगीण—समग्रता है।[2]

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५४ के आधार पर।

२. इसका विवेचन ३३४ के अनुसार समझें।

इक्कारसमो उद्देसओ

एकादश उद्देशक

माया-परिभोगैषणा-विचार

४०७. भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे मणुण्णं भोयणजातं लभित्ता—से य भिक्खु गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भिक्खू णो भुंजेज्जा तुमं चेव णं भुंजेज्जासि। से 'एगतितो भोक्खामि' त्ति कट्टु पलिउंचिय २ आलोएज्जा, तंजहा—इमे पिंडे, इमे लोए, इमे तित्तए, इमे कडुयए, इमे कसाए, इमे अंबिले, इमे महुरे, णो खलु एत्तो किंचि गिलाणस्स सदति त्ति। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा। तहाठितं[1] आलोएज्जा जहाठितं गिलाणस्स सदति त्ति, तं [जहा]-तित्तयं तित्तए ति वा, कडुयं २, कसायं २, अंबिलं २, महुरं २।[2]

४०८. भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे [वा] मणुण्णं भोयणजातं लभित्ता—से य भिक्खू गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भिक्खू णो भुंजेज्जा आहरेज्जासि णं। णो खलु मे अंतराए आहरिस्सामि।[+] इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म[+]

४०७. एक क्षेत्र में (वृद्धावस्था, रुग्णता आदि कारणवश पहले से) स्थिरवासी समसमाचारी वाले साधु अथवा ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले(आगन्तुक) साधु भिक्षा में मनोज्ञ भोजन प्राप्त होने पर कहते हैं—जो भिक्षु ग्लान (रुग्ण) है, उसके लिए तुम यह मनोज्ञ आहार ले लो और उसे ले जाकर दे दो। अगर वह रोगी भिक्षु न खाए तो तुम खा लेना। उस भिक्षु ने उनसे (रोगी के लिए) वह आहार लेकर सोचा—'यह मनोज्ञ आहार मैं अकेला ही खाऊंगा।' यों विचार कर उस मनोज्ञ आहार को अच्छी तरह छिपा कर रोगी भिक्षु को दूसरा आहार दिखलाते हुए कहता है—भिक्षुओं ने आपके लिए यह आहार दिया है। किन्तु यह आहार आपके लिए पथ्य नहीं है, यह रुक्ष है, यह तीखा है, यह कड़वा है, यह कसेला है, यह खट्टा है, यह अधिक मीठा है, अतः रोग बढ़ानेवाला है। इससे आप (ग्लान) को कुछ भी लाभ नहीं होगा।' इस प्रकार कपटाचरण करने वाला भिक्षु मातृस्थान का स्पर्श करता है। भिक्षु को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। किन्तु जैसा भी आहार हो, उसे वैसा ही दिखलाए—अर्थात् तिक्त को

---

१. तहाठितं……सदति का पाठान्तर है—तहेव तं आलोएज्जा जहेव तं गिलाणस्स सवति—इसका भावार्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार दिया है—जहत्थियं आलोएइ, जहा गिलाणस्स सदति। अर्थात्—यथार्थ रूप में ग्लान के समक्ष प्रगट करे, जिससे ग्लान का उपकार हो।

२. यहाँ '२' का अंक 'तित्तयं' की भाँति सर्वत्र पुनरावृत्ति का सूचक है।

\+ यह पाठ मुनि जम्बूविजयजी की प्रति में नहीं है, किन्तु चूर्णि एवं टीका के अनुसार होना चाहिए।

तिक्त यावत् मीठे को मीठा बताए। रोगी को स्वास्थ्य लाभ हो, वैसा पथ्य आहार देकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करे।

४०८. यदि समनोज्ञ स्थिरवासी साधु अथवा ग्रामानुग्राम विचरण करने वाले (दूसरे स्थान से आए) साधुओं को मनोज्ञ भोजन प्राप्त होने पर यों कहें कि 'जो भिक्षु रोगी है, उसके लिए यह मनोज्ञ (पथ्य) आहार ले जाओ, अगर वह रोगी भिक्षु इसे न खाए तो यह आहार वापस हमारे पास ले आना, क्योंकि हमारे यहां भी रोगी साधु है। इस पर आहार लेने वाला वह साधु उनसे कहे कि यदि मुझे आने में कोई विघ्न उपस्थित न हुआ तो यह आहार वापस ले आऊंगा।' (यों वचन-बद्ध साधु वह आहार रुग्ण साधु को न देकर स्वयं खा जाता है, तो वह मायास्थान का स्पर्श करता है।) उसे उन पूर्वोक्त कर्मों के आयतनों (कारणों) का सम्यक् परित्याग करके (सत्यतापूर्वक यथातथ्य व्यवहार करना चाहिए।)

विवेचन—**मायारहित आहार-परिभोग का निर्देश**—सू० ४०७ और ४०८ में शास्त्रकार ने आहार के उपभोग के साथ कपटाचार से सावधान रहने का निर्देश दिया है। निर्दोष भिक्षा के साथ जहाँ स्वाद-लोलुपता जुड़ जाती है, वहां मायाचार, दम्भ और दिखावा आदि बुराइयां साधु जीवन में घुस जाती है। रुग्ण साधु के लिए लाया हुआ पथ्य आहार उसे न देकर वाक्-छल से उसे उलटा-सीधा समझा कर स्वयं खाजाता है, वह साधु मायाचार करता है। वृत्तिकार उक्त मायाचारी साधु के मायाचार को दो भागो में विभक्त करते है—(१) पहले वह मन में ही कपट करने का घाट घड़ लेता है, (२) तदनन्तर ग्लान भिक्षु को वह आहार अपथ्य बताकर स्वयं खा लेता है।

सूत्र ४०८. में भी वह रुग्ण भिक्षु के साथ कपट करने के लिए उन्हीं पूर्वोक्त बातों को दोहराया है। इसमें थोड़ा-सा अन्तर यह है कि आहार लाने वाला साधु उन आहारदाता साधुओं के साथ वचनबद्ध हो जाता है, कि अगर वह रुग्ण साधु इस आहार का उपभोग नही करेगा तो कोई अन्तराय न होने पर मैं इस आहार को वापस आपके पास ले आऊंगा।" किंतु रुग्ण साधु के पास जाकर उसे पुराने आहार की अपथ्यता के दोषों को बताकर रुग्ण को वह आहार न देकर स्वाद-लोलुपतावश स्वयं उस आहार को खा जाता है और उन साधुओं को बता देता है कि रुग्ण-सेवा-काल में ही मेरे पेट में पीड़ा उत्पन्न हो गई, इस अन्तरायवश मैं उस ग्लानार्थ दिये गए आहार को लेकर न आ सका, इस प्रकार दोहरी माया का सेवन करता है।[1]

'इच्चेयाइं आयतणाइं'—चूर्णिकार के शब्दों में व्याख्या—कदाचित् रुकावट होने के कारण वह ग्लानसाधु के लिए उस आहार पानी को न भी ले जा सके। जैसे कि सूर्य अस्त होने आया हो, रास्ते में सांड या भैंसा मारने को उद्यत हो, मतवाला हाथी हो, कोई पीड़ा हो गई हो,

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५५ के आधार से

किन्तु यह सब यथातथ्य न बतलाकर बनावटी बातें बनाता है तो ये सब संसार-परिवृद्धिकारक दोषों के आयतन (स्थान) हैं।[1]

सप्त पिंडैषणा-पानैषणा

४०९. अह भिक्खू जाणेज्जा सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ।

[१] तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते।

तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा मत्तएण वा असणं वा ४ सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं पडिगाहेज्जा—पढमा पिंडेसणा।

[२] अहावरा दोच्चा पिंडेसणा—संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, तहेव दोच्चा पिंडेसणा।

[३] अहावरा तच्चा पिंडेसणा—इह खलु पाईणं वा[2] ४ संतेगतिया सड्ढा भवंति गाहावती वा जाव कम्मकरी वा। तेसिं च णं अण्णतरेसु विरूवरूवेसु भायणजातेसु उवणिक्खित्तपुव्वे सिया, तं जहा—थालंसि वा पिढरगंसि[3] वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा। अह पुणेवं जाणेज्जा असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते। से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहए वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भगिणी ति वा एतेण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण संसट्ठेण मत्तेण संसट्ठेण वा हत्थेण असंसट्ठेण मत्तेण अंसि पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा णिहट्टु ओवित्तु दलयाहि। तहप्पगारं भोयणजातं सयं वा जाएज्जा परो वा से देज्जा। फासुयं एसणिज्जं जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा। तच्चा पिंडेसणा।

[४] अहावरा चउत्था पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण[4] जाणेज्जा पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा, अंसि खलु पडिग्गाहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाते।

---

१. आचारांग चूर्णि—"कादाइ वाघातेण ण णेज्जा वि तं भत्तपाणं गिलाण, अत्थंतो सूरो, गोणा अस्सा वा मारणगा, खंधावारो हत्थी मत्तो, सूलं वा होज्जा। इच्चेयाइं आयतणाइं—आयतणा दोषाइं अप्पसत्थाइं संसारस्स...।" आचा० मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ १४२

२. 'पाईणं 'वा' के बाद ४ का अंक सूत्र ३८० के अनुसार शेष तीनों दिशाओं का सूचक है।

३. पिढरगंसि के स्थान पर पाठान्तर है—पिढरंसि।—चूर्णिकार ने इन पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—'पिहडए वा अन्नंमि छूढं। सरगं वंसमयं पच्छिगादिपिडिया छब्बगपलगं वा। वरगंसि वा, ध (व ?) रा भूमी, जहा वरं हंतीति वराहं उत्किरतीत्यर्थः, तं अलिंदिगा वा कुडगं वा। परगं मणिमयमदि।' अर्थात्—पिठर (तपेली) पर जो कि अन्न में रखी हुयी है, सरक=बांस की पिटारी, छबड़ी या टोकरी; वरगंसि=वरा=भूमि, जो भूमि को उखाड़ता है, वह है वराह। वराह (सूअर) के लिए धान्य रखने का पात्र विशेष या कुंडा। परगं=मणिमय बहुमूल्य पात्र, भाजन।

४. यहाँ जाव शब्द से सू० ३२६ के अनुसार पिहुयं से लेकर चाउलपलंबं तक का पाठ समझें।

तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं जाएज्जा जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पिंडेसणा।

[५] अहावरा पंचमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ जाव समाणे उवहितमेव[1] भोयणजातं जाणेज्जा, तंजहा- सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा। अह पुणेवं जाणेज्जा बहुपरिया-वण्णे पाणीसु दगलेवे। तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा णं जाएज्जा[2] जाव[3] पडिगाहेज्जा पंचमा पिंडेसणा।

[६] अहावरा छट्ठा पिंडेसणा[4]—से भिक्खू वा २ उग्गहियमेव भोयणजायं जाणेज्जा जं च सयट्ठाए उग्गहितं जं च परट्ठाए उग्गहितं तं पादपरियावण्णं तं पाणिपरियावण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। छट्ठा पिंडेसणा।

[७] अहावरा सत्तमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ जाव समाणे बहुउज्झितधम्मियं भोयणजायं जाणेज्जा जं चऽण्णे बहवे दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा णावकंखंति तहप्पगारं उज्झितधम्मियं भोयणजायं सयं व णं जाएज्जा परो वा से देज्जा जाव पडिगाहेज्जा। सत्तमा पिंडेसणा। इच्चेयाओ सत्त पिंडेसणाओ।

[८] अहावराओ सत्त पाणेसणाओ। तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा-असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते। तं चेव भाणियव्वं, णवरं चउत्थाए णाणत्तं, से भिक्खू वा २ जाव समाणे से ज्जं पुण पाणगजातं जाणेज्जा, तंजहा तिलोदगं वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्धवियडं वा, अस्सिं खलु पडिग्गाहितंसि अप्पे पच्छाकम्मे, तहेव जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. उवहितमेव के स्थान पर चूर्णिकार ने उवगहितं पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—उवगहियं भुंज-माणस्स सअट्ठाए उवणीतं। अर्थात् उपगृहिता नामक पिण्डैषणा में उपगृहीत का अर्थ है—भोजन करने वाला अपने लिए थाली आदि में भोजन परोसकर लाया है।

२. इसके स्थान पर पाठान्तर है—जातेज्जा, जाणेज्जा, अर्थ है, याचना करे, जाने।

३. यहाँ जाव शब्द से सू० ३२४ के अनुसार फासुयं से लेकर 'पडिगाहेज्जा' तक का पाठ समझें।

४. छठी पिण्डैषणा का भावार्थ चूर्णिकार के शब्दों में—छट्ठा उग्गहिता पग्गहिता, उग्गहितं दव्वं हत्थ गतं, पग्गहितं दाहिण-हत्थगतं दिज्जमाणं एलुगविक्खंभमेत्तं, जस्स वि अट्ठाए उग्गहियं पग्गहियं सो वि तं नेच्छति, पावपरियावन्नं कंसभाय (णे) णत्थि दगलेवो पाणीसु णत्थि, दगलेवो देंतस्स नियत्तो भावो छट्ठी अर्थात्—छठी पिण्डैषणा उद्गृहीता प्रगृहीता है। उद्गृहीत=द्रव्य हस्तगत किया है। प्रगृहीत=दाहिने हाथ में लिया हुआ द्रव्य, दाता और आदाता के बीच में देहली के द्वार तक का अन्तर है। जिसके लिए वह भोज्यद्रव्य हस्तगत किया और दाएँ हाथ में लिया गया है, वह भी उसे नहीं चाहता, कांसी का बर्तन कच्चे पानी से लिप्त नहीं है, और न हाथ कच्चे पानी से लिप्त है, जिनको देना था, दिया जा चुका है। यह है—छठी पिण्डैषणा।

४१०. इच्चेतासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे णो एवं वदेज्जा–मिच्छा पडिवण्णा खलु एते भयंतारो, अहमेगे सम्मा[1] पडिवण्णे।

जे एते भयंतारो एताओ पडिमाओ पडिवज्जित्ताणं विहरंति जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्जित्ताणं विहरामि सव्वे पेते[2] उ जिणाणाए उवट्ठिता अण्णोण्णसमाहीए एवं च णं विहरंति।

४०६. अब (विगत वर्णन के बाद) संयमशील साधु को सात पिण्डैषणाएं और सात पानैषणाएं जान लेनी चाहिए।

(१) उन सातों में से पहली पिण्डैषणा है—असंसृष्ट हाथ और असंसृष्ट पात्र। (दाता का) हाथ और बर्तन उसी प्रकार की (सचित्त) वस्तु से असंसृष्ट (अलिप्त) हों तो उनसे अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले। यह पहली पिण्डैषणा है।

(२) इसके पश्चात् दूसरी पिण्डैषणा है—संसृष्ट हाथ और संसृष्ट पात्र। यदि दाता का हाथ और बर्तन (अचित्त वस्तु से) लिप्त है तो उनसे वह अशनादि चतुर्विध आहार की स्वयं याचना करे या वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर ग्रहण करले। यह दूसरी पिण्डैषणा है।

(३) इसके अनन्तर तीसरी पिण्डैषणा इस प्रकार है—इस क्षेत्र में पूर्व आदि चारों दिशाओं में कई श्रद्धालु व्यक्ति रहते हैं, जैसे कि वे गृहपति, गृहपत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, पुत्रवधुएं, धायमाताएं दास, दासियां, अथवा नौकर, नौकरानियां है। उनके यहां अनेकविध वर्तनों में पहले से भोजन रखा हुआ होता है, जैसे कि थाल में, तपेली या बटलोई (पिठर) में, सरक (सरकण्डों से बने सूप आदि) में परक (बांस से बनी छबड़ी या टोकरी) में, वरक (मणि आदि से जटित बहुमूल्य पात्र) में। फिर साधु यह जाने कि गृहस्थ का हाथ तो (देय वस्तु से) लिप्त नहीं है, बर्तन लिप्त है, अथवा हाथ लिप्त है, बर्तन अलिप्त है, तब वह पात्रधारी (स्थविरकल्पी) या पाणिपात्र (जिनकल्पी) साधु पहले ही उसे देखकर कहे— आयुष्मन् गृहस्थ! या आयुष्मती बहन! तुम मुझे असंसृष्ट हाथ से संसृष्ट बर्तन से अथवा संसृष्ट हाथ से असंसृष्ट बर्तन से, हमारे पात्र में या हाथ पर वस्तु लाकर दो। उस प्रकार के भोजन को या तो वह साधु स्वयं मांग ले, या फिर बिना मांगे ही गृहस्थ लाकर दे तो उसे प्रासुक एवं एषणीय समझ कर मिलने पर ले ले। यह तीसरी पिण्डैषणा है।

(४) इसके पश्चात् चौथी पिण्डैषणा इस प्रकार है—भिक्षु यह जाने कि गृहस्थ के यहाँ कूटकर तुष अलग किए हुए चावल आदि अन्न है, यावत्, भुग्न शालि आदि चावल हैं, जिनके ग्रहण करने पर पश्चात्-कर्म की सम्भावना नहीं है, और न ही तुष आदि गिराने पड़ते हैं, इस

---

१. सम्मा के स्थान पर सम्मं पाठान्तर है, अर्थ समान है।

२. इसके स्थान पर सव्वे एते, सव्वे वि ते पाठान्तर हैं।

प्रकार के धान्य यावत् भुग्न शालि आदि चावल या तो साधु स्वयं माँग ले; या फिर गृहस्थ बिना माँगे ही उसे दे तो प्रासुक एवं एषणीय समझ कर प्राप्त होने पर ले ले। यह चौथी पिण्डैषणा है।

(५) इसके बाद पांचवी पिण्डैषणा इस प्रकार है—'....साधु यह जाने कि गृहस्थ के यहां अपने खाने के लिए किसी बर्तन में या भोजन (पिरोस) कर रखा हुआ है, जैसे कि सकोरे में, कांसे के बर्तन में, या मिट्टी के किसी बर्तन में। फिर यह भी जान जाए कि उसके हाथ और पात्र जो सचित्त जल से धोए थे, अब कच्चे पानी से लिप्त नहीं है। उस प्रकार के आहार को प्रासुक जानकर या तो साधु स्वयं मांग ले या गृहस्थ स्वयं देने लगे तो वह ग्रहण करले। यह पांचवी पिण्डैषणा है।

(६) इसके अनन्तर छठी पिण्डैषणा यों हैं—'...भिक्षु यह जाने कि गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए बर्तन में से भोजन निकाला है, परन्तु दूसरे ने अभी तक उस आहार को ग्रहण नहीं किया है, तो उस प्रकार का भोजन गृहस्थ के पात्र में हो या उसके हाथ में हो, उसे प्रासुक और एषणीय जानकर मिलने पर ग्रहण करे। यह छठी पिण्डैषणा है।

(७) इसके पश्चात् सातवीं पिण्डैषणा यों है—गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ साधु या साध्वी वहाँ बहु-उज्झितधर्मिक (जिसका अधिकांश फेंकने योग्य हो, इस प्रकार का) भोजन जाने, जिसे अन्य बहुत-से द्विपद-चतुष्पद (पशु-पक्षी एवं मानव) श्रमण (बौद्ध आदि भिक्षु), ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी लोग नहीं चाहते, उस प्रकार के उज्झितधर्म वाले भोजन की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे दे तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जान कर मिलने पर ले ले। यह सातवीं पिण्डैषणा है। इस प्रकार ये सात पिण्डैषणाएँ हैं।

(८) इसके पश्चात् सात पानैषणाएं है। इन सात पानैषणाओं में से प्रथम पानैषणा इस प्रकार है—असंसृष्ट हाथ और असंसृष्ट पात्र। इसी प्रकार (पिण्डैषणाओं की तरह) शेष सब पानैषणाओं का वर्णन समझ लेना चाहिए।

इतना विशेष है कि चौथी पानैषणा में नानात्व का निरूपण है—वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करने पर जिन पान के प्रकारों के सम्बन्ध में जाने, वे इस प्रकार है—तिल का धोवन, तुष का धोवन, जौ का धोवन (पानी), चावल आदि का पानी (ओसामण), कांजी का पानी, या शुद्ध उष्णजल। इनमें से किसी भी प्रकार के पानी के ग्रहण करने पर निश्चय ही पश्चात्कर्म नहीं लगता हो तो उस प्रकार के पानी को प्रासुक और एषणीय मानकर ग्रहण करले।

४१०. इन सात पिण्डैषणाओं तथा सात पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा (प्रतिज्ञा या अभिग्रह) को स्वीकार करने वाला साधु (या साध्वी) इस प्रकार न कहे कि इन सब साधु-भदन्तों ने मिथ्यारूप से प्रतिमाएं स्वीकार की है, एकमात्र मैंने ही प्रतिमाओं को सम्यक् प्रकार से स्वीकार किया है।" (अपितु वह इस प्रकार कहे—) जो ये साधु-भगवन्त इन

प्रतिमाओं का स्वीकार करके विचरण करते हैं, जो मैं भी इस प्रतिमा का स्वीकार करके विचरण करता हूँ, ये सभी जिनाज्ञा में उद्यत हैं और इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे की समाधि-पूर्वक विचरण करते है।

विवेचन—सात पिण्डैषणाएँ और सात पानैषणाएं : विहंगावलोकन—सूत्र ४०९ और ४१० में इस अध्ययन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विविध पहलुओं से पिण्डैषणा और पानैषणा के सम्बन्ध में यत्र तत्र उल्लेख किया गया है, उसके सारांश रूप में फलश्रुति सहित विहंगावलोकन प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में सात पिण्डैषणाओं का नाम इस प्रकार है—(१) असंसृष्टा, (२) संसृष्टा, (३) उद्धृता, (४) अल्पलेपा, (५) उपस्थिता या उद्गृहीता, (६) प्रगृहीता, और (७) उज्झितधर्मिका। इसी प्रकार संक्षेप में सात पानैषणाएँ हैं—(१) असंसृष्टा, (२) संसृष्टा (३) उद्धता, (४) अल्पलेपा या नानात्वसंज्ञा (५) उद्गृहीता, (६) प्रगृहीता और (७) उज्झित धर्मिका। इन सबमें प्रतिपादित विषय की झांकी बताने के लिए शास्त्रकार ने एक-एक सूत्र का संक्षिप्त निरूपण कर दिया है। इसी प्रकार पानैषणा के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

कुल मिलाकर संक्षेप में सुन्दर निष्कर्ष दे दिया गया है, ताकि मन्दबुद्धि एवं विस्मरण-शील साधु-साध्वी भी पुनः-पुनः अपने गुरुजनादि से न पूछकर सूत्ररूप में इन एषणाओं को हृदयंगम करलें।

इन दोनों प्रकार की एषणाओं में गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा या ग्रासैषणा का समावेश हो जाता है।[1]

अधिकारी—वृत्तिकार के अनुसार इन पिण्डैषणा-पानैषणाओं के अधिकारी दोनों प्रकार के साधु हैं—गच्छान्तर्गत (स्थविरकल्पी) और गच्छविनिर्गत (जिनकल्पी)। गच्छान्तर्गत स्थविरकल्पी साधु-साध्वियों के लिए सातों ही पिण्डैषणाओं और पानैषणाओं का पालन करने की भगवदाज्ञा है, किन्तु गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) साधुओं के लिए प्रारम्भ की दो पिण्डैषणाओं-पानैषणाओं का ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है, शेष पाँचों पिण्ड-पानैषणाओं का अभिग्रहपूर्वक ग्रहण करने की अनुज्ञा है।[2]

दृष्टिकोण—अध्ययन की परिसमाप्ति पर शास्त्रकार ने इन पिण्ड-पानैषणाओं के पालन कर्ता को अपना दृष्टिकोण तथा व्यवहार उदार एवं नम्र रखने के लिए दो बातों की ओर ध्यान खींचा है—(१) अहंकारवश दूसरों को हीन मत मानो, न उन्हें हेयदृष्टि से देखो, (२) स्वयं को भी हीन मत मानो, न हीनता की वृत्ति को मन में स्थान दो। वृत्तिकार इसका तात्पर्य बताते हुए कहते है—इन सात पिण्ड-पानैषणाओं में से किसी एक प्रतिमा को ग्रहण

---

१. (क) आचारांग वृत्ति, पत्रांक ३५७ के आधार पर
(ख) आचारांग चूर्णि—मूलपाठ टिप्पण पृ० १४३

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५७

करनेवाला साधु ऐसा न कहे कि मैंने ही पिण्डैषणादि का शुद्ध अभिग्रह धारण किया है, अन्य प्रतिमाओं को ग्रहण करनेवाले इन दूसरे साधुओं ने नहीं।" बल्कि चाहे वह गच्छनिर्गत (जिन कल्पी) हो या गच्छान्तर्गत (स्थविरकल्पी), उसे सभी प्रकार की साधना में उद्यत साधुओं को समदृष्टि से देखना चाहिए, किन्तु उत्तरोत्तर (एकेक अंग की) पिण्डैषणा का अभिग्रह धारण करनेवाले साधु को पूर्व-पूर्वतर पिण्डैषणा के अभिग्रह धारक साधु की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

यही मानना चाहिए कि मैं और ये दूसरे सब साधु भगवन्त यथाशक्ति पिण्डैषणादि के अभिग्रह विशेष को धारण करके यथायोग विचरण करते है। सब जिनाज्ञा में है या जिनाज्ञा-नुसार संयम-पालन करने हेतु उद्यत (दीक्षित) हुए हैं। जिसके लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप जो भी समाधि विहित है उस समाधि के साथ संयम-पालन के लिए प्रयत्नशील वे सभी साधु जिनाज्ञा में हैं, वे जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। कहा भी है—

"जो साधु एक या दो वस्त्र रखता है, तीन वस्त्र रखता है, या बहुत वस्त्र रखता है, या अचेलक रह सकता है, ये विविध साधनाओं के धनी साधक एक दूसरे की निन्दा नहीं करते, क्योंकि ये सभी साधु जिनाज्ञा में हैं।[1]

४११. एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

४११. इस प्रकार जो साधु-साध्वी (गौरव-लाघवग्रन्थि से दूर रहकर निरहंकारता एवं आत्मसमाधि के साथ आत्मा के प्रति समर्पित होकर) पिण्डैषणा-पानैषणा का विधिवत् पालन करते हैं, उन्हीं में भिक्षुभाव की या ज्ञानादि आचार की समग्रता है।

॥ एकादश उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम पिंडैषणा अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३५८

शय्यैषणा : द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

✡ आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन का नाम 'शय्यैषणा' है।

✡ शय्या का अर्थ यहाँ लोक-प्रसिद्ध बिछौना, गद्दा या 'सेज' ही नहीं है, अपितु सोने-बैठने, भोजनादि क्रिया करने तथा आवश्यक, स्वाध्याय, जप, तप आदि धार्मिक क्रिया करने के लिए आवास-स्थान, आसन, संस्तारक, सोने-बैठने के लिए पट्टा, चौकी आदि सभी पदार्थों का समावेश 'शय्या' में हो जाता है। संक्षेप में वसति-स्थान या आवास-स्थान (उपाश्रयादि) तथा तदन्तर्गत शयनीय उपकरणों को 'शय्या' कहा जा सकता है।[1]

✡ प्रस्तुत अध्ययन में क्षेत्रशय्या, कालशय्या तथा द्विविध भावशय्या को छोड़कर केवल उस द्रव्यशय्या का विवेचन ही विवक्षित है, जो संयमी साधुओं के योग्य हो।[2]

✡ द्रव्यशय्या तीन प्रकार की होती है—सचित्ता, अचित्ता, मिश्रा।[3]

✡ एषणा का अर्थ है—अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग के विषय में संयम-नियम के अनुकूल चिन्तन—विवेक करना।[4]

✡ संयमी-साधु के लिए योग्य द्रव्य शय्या के अन्वेषण, ग्रहण और परिभोग के सम्बन्ध में कल्प्य-अकल्प्य का चिन्तन/विवेक करना शय्यैषणा है, जिसमें शय्या-सम्बन्धी एषणा का निरूपण हो, उस अध्ययन का नाम शय्यैषणा-अध्ययन है।[5]

✡ धर्म के लिए आधारभूत शरीर के परिपालनार्थ एवं निर्वहन के लिए जैसे पिण्ड (आहार-पानी) की आवश्यकता होती है, वैसे ही शरीर को विश्राम देने, उसकी—सर्दी-गर्मी रोगादि से सुरक्षा करके धर्मक्रिया के योग्य रखने हेतु शय्या की आवश्यकता होती है। इसलिए 'पिण्डैषणा' में 'पिण्ड-विशुद्धि' की तरह—'शय्यैषणा'

---

१. (क) टीका पत्र ३५८ के आधार पर।
   (ख) दशवै० जिन० चूर्णि पृ० २७६।
२. आचारांग निर्युक्ति गा० २९८, ३०१।
३. आचारांग निर्युक्ति गा० २९९।
४. 'पाइअ सद्दमहण्णवो' पृ० १६४।
५. टीका पत्र ३५८ के आधार पर।

में 'शय्या-विशुद्धि' की तथा पिण्ड ग्रहण के समय गुण-दोष—विवेक की तरह शय्याग्रहण के समय भी शय्या के गुण-दोष-विवेक का प्रतिपादन किया गया है।[1]

- ☆ शय्यैषणा अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में वसति के उद्गमादि दोषों तथा गृहस्थादि संसक्त वसति से होने वाली हानियों का चिन्तन है।
- ☆ द्वितीय उद्देशक में वसति सम्बन्धी विभिन्न दोषों की सम्भावना एवं उससे सम्बन्धित विवेक एवं त्याग का प्रतिपादन है।
- ☆ तृतीय उद्देशक में संयमी साधु के साथ वसति में होने वाली छलनाओं से सावधान रहने तथा सम-विषम वसति में समभाव रखने का विधान है।[2]
- ☆ प्रस्तुत अध्ययन सूत्र संख्या ४१२ से प्रारम्भ होकर ४६३ पर समाप्त होता है।

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०२।
 (ख) टीका पत्र ३५६ के आधार पर।
२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०३; ३०४।
 (ख) टीका पत्र ३५६ के आधार पर।

बीयं अज्झयणं 'सेज्जा'

पढमो उद्देसओ

शय्यैषणा : द्वितीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

उपाश्रय-एषणा [प्रथम विवेक]

४१२. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा उवस्सयं एसित्तए, अणुपविसित्ता गामं वा णगरं वा जाव[1] रायहाणिं वा से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा सअंडं सपाणं जाव[2] संताणयं, तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतेज्जा।

से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं[2], तहप्पगारे उवस्सए पिडलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव ठाणं वा[3] ३ चेतेज्जा।

४१२. साधु या साध्वी उपाश्रय की गवेषणा करना चाहे तो ग्राम या नगर यावत् राजधानी में प्रवेश करके साधु के योग्य उपाश्रय का अन्वेषण करते हुए यदि यह जाने कि वह उपाश्रय अंडों से यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो वैसे उपाश्रय में वह साधु या साध्वी स्थान (कायोत्सर्ग), शय्या (संस्तारक) और निषीधिका (स्वाध्याय) न करे।

वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय को अंडों यावत् मकड़ी के जाले आदि से रहित जाने; वैसे उपाश्रय का यतनापूर्वक प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके उसमें कायोत्सर्ग, संस्तारक एवं स्वाध्याय करे।

विवेचन—उपाश्रय-निर्वाचन में प्रथम विवेक—प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय की एषणा विधि बतलाई गई है। 'उपाश्रय' शब्द यहाँ साधु के निमित्त सुरक्षित रखे हुए स्थान का नाम नहीं है, अपितु गृहस्थ द्वारा अपने उपयोग के लिए बनाये हुए स्थान विशेष का नाम है। प्राचीन काल में साधु जिस स्थान को भलीभाँति देखभाल कर तथा निर्दोष और जीव-जन्तु-रहित स्थान जानकर चुन लेता था, गृहस्थ द्वारा उसमें ठहरने की अनुमति दे देने पर ठहर जाता था, तब वह अपने समझने या लोगों को समझाने भर के लिए उसे **'उपाश्रय संज्ञा'** दे देता था, किन्तु जब साधु वहां से अन्यत्र विहार कर जाता था, उसका उपाश्रय नाम मिट जाता था।

---

१. यहाँ जाव शब्द से **'णगरं वा'** से लेकर **रायहाणिं** तक समग्र पाठ सू० ३३८ के अनुसार समझें।
२. यहाँ जाव शब्द से **सपाणं** से लेकर **संताणयं** तक समग्र पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।
३. यहाँ **ठाणं वा** के बाद '३' का चिन्ह **सेज्जं वा णिसीहियं वा** पाठ का सूचक है।

इस प्रकार उपाश्रय कोई नियत आवास स्थान नहीं होता था। परन्तु वर्तमान में 'उपाश्रय' शब्द साधु-साध्वियों के ठहरने के नियत स्थान में रूढ़ हो गया है।[1]

स्थान का निर्वाचन करते समय साधु को सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि उसमें अंडे, जीव जन्तु, बीज, हरियाली, ओस, कच्चा पानी, काई, लीलन-फूलन, गीली मिट्टी या कीचड़, मकड़ी के जाले आदि तो नहीं है? क्योंकि साधु अगर अंडे या जीव जन्तुओं आदि से युक्त स्थान में ठहरेगा तो अनेक जीवों की विराधना उसके निमित्त से होगी, अतः अहिंसा का पूर्ण उपासक मुनि ऐसे हिंसा की सम्भावनावाले स्थान का निर्वाचन कैसे कर सकता है? हाँ, ये सब जीव जन्तु आदि जहाँ न हों, ऐसे निरवद्य स्थान को चुनकर उसमें वह ठहरे।[2]

उपाश्रय का निर्वाचन—चयन साधु मुख्यतया तीन कार्यों के लिए करता था—

(१) कायोत्सर्ग के लिए,

(२) सोने-बैठने आदि के लिए।

(३) स्वाध्याय के लिए।

इसके लिए यहाँ तीन विशिष्ट शब्द प्रयुक्त किए गए है—ठाणं, सेज्जं, निसीहियं—इन तीनों का अर्थ है—ठाणं—स्थान=कायोत्सर्ग। सेज्जं=शय्या=संस्तारक अथवा उपाश्रय /वसति। निसीहियं=स्वाध्याय-भूमि। प्राचीन काल में स्वाध्याय-भूमि आवास-स्थान से अलग एकान्त-स्थान में होती थी, जहाँ लोगों के आवागमन का निषेध होता था, इसीलिए स्वाध्याय-भूमि को निषेधिकी[3]—(दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित 'नसिया') कहा जाता था।

उपाश्रय-एषणा [द्वितीय विवेक]

४१३. से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा-अस्सिंपडियाए एगं[4] साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं[5]

---

१. दसवैकालिक अगस्त्य० चूर्णि पृ० ११६, सेज्जा उवस्सओ।

२. टीका पत्र ३६० के आधार पर।

३. (क) टीका पत्र ३६० के आधार पर।
(ख) दशवै० ५/२/ अगस्त्य० चूर्णि पृ० १२६—'णिसीहिया सज्झायठाणं, जम्मि वा रुक्खमूलादौ सैव निसीहिया।'

४. चूर्णिकार के अनुसार यहाँ ६ आलाप 'एगं साहम्मियं' को लेकर होते है—'एगं साहम्मियं समुद्दिस्स छ आलावा तहेव जहा पिंडेसणाए, णवरं बहिया णीहडं छ, णीसगडं वा छ, इतगं णीणिज्जति।' यहाँ एक साधर्मिक को लेकर ६ आलाप उसी तरह होते हैं, जिस तरह पिण्डैषणा अध्ययन में बताए गए थे। विशेष यह है कि बहिया नीहडं के ६ तथा णीसगडं के ६ आलाप यहाँ से अन्यत्र लागू होते हैं।
तात्पर्य यह है कि बहिया नीहडं वा, अणीहडं वा, अत्तट्ठियं वा, अणत्तट्ठियं वा, परिभुत्तं वा, अपरिभुत्तं वा; ये ६ पद शय्याऽध्ययन में उपयोगी नहीं है, चूर्णिकार का यह आशय प्रतीत होता है।

५. पाणाइं के बाद '४' के अंक से पाणाइं, भूताइं, जीवाइं सत्ताइं ऐसा पाठ सर्वत्र समझें।

४ समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेति। तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा अपुरिसंतरकडे वा जाव[1] आसेविते वा[2] २ णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा। एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ।

४१४. [१] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स तं चेव भाणियव्वं।

[२] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा–बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स पाणाइं[3] ४ जाव[4] चेतेति। तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे[5] जाव अणासेविते णो ठाणं वा[6] ३ चेतेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा–पुरिसंतरकडे[7] जाव आसेविते। पडिलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव ठाणं वा ३[8] चेतेज्जा।

४१३. यदि साधु ऐसा उपाश्रय जाने, जो कि (भावुक गृहस्थ द्वारा) इसी प्रतिज्ञा से अर्थात किसी एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का समारम्भ (उपमर्दन) करके बनाया गया है, उसी के उद्देश्य से खरीदा गया है, उधार लिया गया है, निर्बल से छीना गया है, उसके स्वामी की अनुमति के बिना लिया गया है, या साधु के समक्ष बनाया गया है, तो ऐसा उपाश्रय; चाहे वह पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत, उसके मालिक द्वारा अधिकृत हो या अनधिकृत, उसके स्वामी द्वारा परिभुक्त हो या अपरिभुक्त, अथवा उसके स्वामी द्वारा आसेवित हो या अनासेवित, उसमें कायोत्सर्ग, शय्या-संस्तारक या स्वाध्याय न करे।

जैसे एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से बनाए गए विशेषणों से युक्त उपाश्रय में कायोत्सर्गादि का निषेध किया गया है, वैसे ही बहुत-से साधर्मिक साधुओं, एक साधर्मिणी साध्वी, बहुत-सी साधर्मिणी साध्वियों के उद्देश्य से बनाए हुए आदि विशेषणों से युक्त उपाश्रय में कायोत्सर्गादि का निषेध समझना चाहिए।

४१४. [१] वह साधु या साध्वी यदि ऐसा उपाश्रय जाने, जो (आवास स्थान) बहुत-से श्रमणों, ब्राह्मणों, अतिथियों, दरिद्रों एवं भिखारियों को गिन-गिन कर उनके उद्देश्य से प्राणी

---

१. यहाँ जाव शब्द से अपुरिसंतरकडे से आसेविते तक का पाठ सू० ३३१ के अनुसार समझें।
२. आसेविते वा के बाद '२' का चिन्ह अणासेविते वा पाठ का सूचक है सूत्र ३३१ के अनुसार।
३. पाणाइं के आगे '४' का अंक 'पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं' इन चारों पदों का सूचक है।
४. 'जाव' शब्द से 'समारंभ से लेकर चेतेति तक का सारा पाठ सू० ३३१ के अनुसार समझें।
५. यहाँ जाव शब्द से अपुरिसंतरकडे से लेकर 'अणासेविते' तक पाठ सू० ३३१ के अनुसार समझें।
६. 'ठाणं वा' के आगे तीन का अंक 'सेज्जं वा निसीहियं वा' का सूचक है।
७. यहाँ जाव शब्द से पुरिसंतरकडे से आसेविते तक का समग्र पाठ सू० ३३२ के अनुसार समझें।

आदि का समारम्भ करके बनाया गया है, खरीदा आदि गया हैं, वह अपुरुषान्तरकृत आदि हो, तो ऐसे उपाश्रय में कायोत्सर्ग, शय्यासंस्तारक एवं स्वाध्याय न करे।

[२] वह साधु या साध्वी यदि ऐसा उपाश्रय जाने; जो कि बहुत-से श्रमणों, ब्राह्मणों, अतिथियों, दरिद्रों एवं भिखमंगों के खास उद्देश्य से बनाया तथा खरीदा आदि गया है, ऐसा उपाश्रय अपुरुषान्तरकृत आदि हो. अनासेवित हो तो, ऐसे उपाश्रय में कायोत्सर्ग, शय्यासंस्तारक या स्वाध्याय न करे।

इसके विपरीत यदि ऐसा उपाश्रय जाने, जो श्रमणादि को गिन-गिन कर या उनके उद्देश्य से बनाया आदि गया हो, किन्तु वह पुरुषान्तरकृत है, उसके मालिक द्वारा अधिकृत है, परिभुक्त तथा आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके उसमें यतनापूर्वक कायोत्सर्ग, शय्या या स्वाध्याय करे।

विवेचन—उपाश्रय-निर्वाचन का द्वितीय विवेक—प्रस्तुत दो सूत्रों में उपाश्रय-निर्वाचन का द्वितीय विवेक बताया है। इनमें मुख्यतया चार बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान खींचा गया है—

(१) जो उपाश्रय एक या अनेक निर्ग्रन्थ साधर्मिक साधु-साध्वियों के लिए बनाया, खरीदा आदि गया हो।

(२) जो उपाश्रय सर्वसाधारण भिक्षाचरों (जिनमें निर्ग्रन्थ श्रमण भी आ जाते हैं) की गिनती करके या उनके निमित्त बनाया, खरीदा आदि गया हो।

(३) किन्तु इन दोनों प्रकार के उपाश्रयों में से प्रथम प्रकार के उपाश्रय के सम्बन्ध में पुरुषान्तर-अपुरुषान्तरकृत, अधिकृत-अनधिकृत, स्थापित-अस्थापित, परिभुक्त-अपरिभुक्त या आसेवित-अनासेवित का कोई पता न हो तथा दूसरे प्रकार के उपाश्रय अपुरुषान्तरकृत आदि हों तो ऐसे उपाश्रयों में कायोत्सर्गादि क्रिया न करे।

(४) यदि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के उपाश्रयों के सम्बन्ध में पक्का पता लग जाए कि वे पुरुषान्तरकृत हैं, अलग से स्थापित नहीं हैं, दाता द्वारा अधिकृत, परिभुक्त या आसेवित हैं, तो ऐसे उपाश्रय में कायोत्सर्गादि क्रिया करे।[1]

औद्देशिक उद्गमादि दोषों से बचने के लिए ही शास्त्रकार ने ऐसा विधान किया है।

उपाश्रय-एषणा [तृतीय विवेक]

४१५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—अस्संजए भिक्खुपडियाए कडिए[2]

---

१. टीका पत्र ३६० के आधार पर।

२. '**कडिए**' इत्यादि पाठ की व्याख्या देखिए—बृहत्कल्प भाष्य गा० ५८३, और निशीथ भाष्य २०४७ में —**कडितो** पासेहिं, **ओकंबितो** उवरिं उल्लवितो, छत्तो उवरि चेव, लेत्तो कुड्डाए, ते उत्तरगुणा मूलगुणे उवहणंति। **घट्ठा**—विसमा समीकता, **मट्ठा**—माइंता, **समट्ठा**—पमज्जिता, **संपधूविता**—दुग्गंधा

वा उवकंबिए वा छत्ते वा लेत्ते वा घट्ठे वा मट्ठे वा संमट्ठे वा संपधूविए वा।[1] तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—पुरिसंतरकडे जाव[2] आसेविते, पडिलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव जाव चेतेज्जा।

४१६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—अस्संजते भिक्खुपडियाए खुड्डियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा जहा पिंडेसणाए जाव[3] संथारगं संथारेज्जा बहिया वा णिण्णक्खु[4]। तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे[5] जाव अणासेविए णो ठाणं वा[6] ३ चेतेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—पुरिसंतरकडे जाव आसेविते, पडिलेहित्ता पमज्जित्ता ततो संजयामेव जाव[7] चेतेज्जा।

४१७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—अस्संजए भिक्खुपडियाए उदकपसूताणि[8] कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि

सुगंधीकता।'"वंसग कडणोक्कंबण छावण लेवण दुवारभूमी य। सप्परिकम्मा सेज्जा (वसही) एसा मूलोत्तरगुणेसु॥' अर्थात्—**कडितो**—चटाइयों आदि के द्वारा चारों ओर से आच्छादित या सुसंस्कृत करना, **ओकम्बितो**—खंभों पर बांसों को तिरछे रखना, **छत्तो**—घास दर्भ आदि से ऊपर का भाग आच्छादित कर देना, **लेत्तो**—दीवार आदि पर गोबर आदि से लीपना, ये उत्तरगुण (उत्तर परिकर्म) है, जो मूलगुणों (मूल परिकर्म) को नष्ट कर देते हैं। **घट्ठा**—चूने, पत्थर आदि खुरदरे पदार्थ से घिस कर विषम स्थान को सम बनाना, **मट्ठा**—कोमल बनाना, **समट्ठा**—साफ कर देना, **संपधूविता**—धूप आदि सुगन्ध द्रव्यों से दुर्गन्ध को सुगन्धित करना।

१. निशीथ चूर्णि उ० ५ में, मलयगिरिसूरिविरचित वृहत्कल्पवृत्ति (पृ० १६६) में तथा कल्पसूत्र किरणावली व्याख्या (पृ० १७५) में भी इन शब्दों की व्याख्या क्रमशः इसी प्रकार मिलती है।—सं०
२. यहाँ जाव शब्द से पुरिसंतरकडे से लेकर आसेविते तक का समग्र पाठ सूत्र ३३२ के अनुसार समझें।
३. यहाँ जाव शब्द **पिंडेषणाध्ययन** में पठित **महल्लियाओ कुज्जा** से लेकर **संथारगं** तक के पाठ का सूचक है, सूत्र ३३८ के अनुसार।
४. '**णिण्णक्खु**' के स्थान पर '**णिण्णक्ख** पाठ मानकर चूर्णि में व्याख्या की गयी है—'**णिण्णक्खं णीणताति (णीणवाति) अंतो वा बाहिं वा**' अर्थात्—अन्दर ले जाता है या बाहर निकालता है।
५. यहाँ जाव शब्द से '**अपुरिसंतरकडे**' से लेकर **अणासेविए** तक का समग्र पाठ सू० ३३१ के अनुसार समझें।
६. यहाँ ठाणं वा के बाद '३' का चिन्ह **सेज्जं वा णिसीहियं वा** पाठ का सूचक है।
७. यहाँ जाव शब्द से **संजयामेव** से लेकर **चेतेज्जा** तक का पाठ सूत्र ४१२ के अनुसार समझें।
८. इस पंक्ति की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—**उदए पसूयाणि—कंदाणि वा**......, **एवं मूल-बीय-हरियाणि उदगप्पसूयाणि वा इतराणि वा संजयट्ठाए णीणेज्जा**' अर्थात् पानी में पैदा हुए कंद'''एवं मूल, बीज, हरियाली, जल में पैदा हुए अन्य पदार्थों को साधु के निमित्त से बाहर निकाले।

वा ठाणाओ ठाणं साहरंति बहिया वा णिण्णक्खु । तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव णो[1] ठाणं वा ३ चेतेज्जा ।

अह पुणेवं जाणेज्जा–पुरिसंतरकडे जाव[2] चेतेज्जा ।

४१८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा–अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरंति बहिया वा णिण्णक्खु । तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा ।

अह पुणेवं जाणेज्जा–पुरिसंतरकडे जाव चेतेज्जा ।

४१५. वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि ऐसा उपाश्रय जाने जो कि असंयत गृहस्थ ने साधुओं के निमित्त बनाया है, काष्ठादि लगाकर संस्कृत किया है, बाँस आदि से बाँधा है, घास आदि से आच्छादित किया है, गोबर आदि से लीपा है, संवारा है, घिसा है, चिकना (सुकोमल) किया है, या ऊबड़खाबड़ स्थान को समतल बनाया है, दुर्गन्ध आदि को मिटाने के लिए धूप आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित किया है, ऐसा उपाश्रय यदि अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसमें कायोत्सर्ग, शय्यासंस्तारक और स्वाध्याय न करे। यदि वह यह जान जाए कि ऐसा (पूर्वोक्त प्रकार का) उपाश्रय पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके यतनापूर्वक उसमें स्थान आदि क्रिया करे।

४१६. वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने, कि असंयत गृहस्थ ने साधुओं के लिए जिसके छोटे द्वार को बड़ा बनाया है, जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में बताया गया है, यहाँ तक कि उपाश्रय के अन्दर और बाहर की हरियाली उखाड़-उखाड़ कर, काट-काट कर वहाँ संस्तारक (बिछौना) बिछाया गया है, अथवा कोई पदार्थ उसमें से बाहर निकाले गये हैं, वैसा उपाश्रय यदि अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो वहाँ कायोत्सर्गादि क्रियाएं न करे।

यदि वह यह जाने कि ऐसा (पूर्वोक्त प्रकार का) उपाश्रय पुरुषान्तरकृत है, यावत् आसेवित है तो उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके यतनापूर्वक किया जा सकता है।

४१७. वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने, कि असंयत गृहस्थ, साधुओं के निमित्त से पानी से उत्पन्न हुए कंद, मूल, पत्तों, फूलों या फलों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जा रहा है, भीतर से कंद आदि पदार्थों को बाहर निकाला गया है, ऐसा उपाश्रय यदि अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसमें साधु कायोत्सर्गादि क्रियाएं न करे।

यदि वह यह जाने कि ऐसा (पूर्वोक्त प्रकार का) उपाश्रय पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित

---

१. यहाँ जाव शब्द से '**अपुरिसंतरकडे**' से लेकर '**णो ठाणं वा**' तक का समग्र सूत्र ३३१ के अनुसार समझें।

२. यहाँ जाव शब्द से **पुरिसंतरकडे** से लेकर **चेतेज्जा** तक का समग्र पाठ सूत्र ३३२ के अनुसार समझें।

है तो उसका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके यतनापूर्वक स्थानादि कार्य के लिए वह उपयोग कर सकता है।

४१८. वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने कि असंयत-गृहस्थ साधुओं को उसमें ठहराने की दृष्टि से (उसमें रखे हुए) चौकी, पट्टे, निसैनी या ऊखल आदि सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा रहा है, अथवा कई पदार्थ बाहर निकाल रहा है, यदि वैसा उपाश्रय अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो साधु उसमें कायोत्सर्गादि कार्य न करे।

यदि फिर वह जान जाए कि वह उपाश्रय पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित है, तो उसका प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके यतनापूर्वक उसमें स्थानादि कार्य करे।

विवेचन—कैसे उपाश्रय का निषेध, विधान? तृतीय विवेक—सूत्र ४१५ से सूत्र ४१८ तक में उपाश्रय-निर्वाचन का तृतीय विवेक बताया गया है। इन सूत्रों में साधुओं के निमित्त, तथा अपुरुषान्तरकृत आदि चार प्रकार के उपाश्रयों के उपयोग का निषेध है—

(१) वह संस्कारित-सुसज्जित किया गया हो।

(२) उसकी तोड़-फोड़ तथा मरम्मत की जा रही हो।

(३) उसमें से कन्द-मूल आदि स्थानान्तर किये या निकाले जा रहे हो।

(४) चौकी, पट्टे आदि सामग्री वहाँ से अन्यत्र ले जायी जा रही हो, उसमें से भारी-भरकम सामान बाहर निकाला जा रहा हो।[1]

इस प्रकार मकान को परिकर्मित—संस्कारित करने तथा उसकी मरम्मत कराने, उसमें पड़े हुए सचित्त-अचित्त सामान को स्थानान्तर करने, निकालने आदिमें मूलगुण-उत्तरगुण-विरा-की सम्भावना[2] बृहत्कल्पभाष्य और निशीथभाष्य में व्यक्त की गई है। यही कारण है कि आचारांग में इन्ही चार प्रकार के—उपाश्रयों के उपयोग का विधान है, बशर्ते कि वे पुरुषान्तर-कृत हों, साधु के लिए ही स्थापित न किए गए हों, दाता द्वारा अधिकृत, परिभुक्त और आसे-वित हों।[3]

णिण्णक्खू का अर्थ है—निकालता है।[4]

पुरुषान्तरकृत आदि देने पर—वे उपाश्रय साधु के लिए औद्देशिक, क्रीत, उधार लिए हुए या आरम्भकृत आदि दोषों से युक्त नहीं रहते। इन्हीं लक्षणों से पहचाने जा सकते हैं कि ये उपाश्रय निर्दोष/निरवद्य हैं। इसी कारण शास्त्रकार ने ऐसे उपाश्रयों के निर्वाचन का विवेक बताया है। चूंकि गृहस्थ जब किसी मकान को अपने लिए बनाता है, या अपने किसी कार्य के लिए उस पर अपना अधिकार रखता है, अपने या समूह के प्रयोजन के लिए स्थापित करता है,

---

१. (क) टीका पत्र ३६१ के आधार पर।
२. बृहत्कल्प भाष्य ५८३-५८४। देखिए वे पंक्तियां आचा० मूलपाठ टिप्पणी सूत्र ४१५।
३. निशीथ भाष्य २०४७-४८
४. टीका पत्र ३६१ के आधार पर।

स्वयं उसका उपयोग करता है, दूसरे लोगों को उपयोग करने के लिए देता है, तब वह मकान साधु के उद्देश्य से निर्मित-संस्कारित नहीं रहता, वह अन्यार्थकृत हो जाता है। साधु के लिए दशवैकालिक सूत्र में पर-कृत मकान में रहने का विधान है।[1]

मूलगुण-दोष[2] से दूषित मकान तो पुरुषान्तरकृत होने पर भी कल्पनीय नहीं, इसलिए अन्य विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं—"नीहडे अत्तट्ठिए परिभुत्ते आसेविते।"

उपाश्रय-एषणा [चतुर्थ विवेक]

४१९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, तंजहा–खंधंसि[3] वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि णण्णत्थ आगाढागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा[4] ३ चेतेज्जा।

से य आहच्च चेतिते सिया, णो तत्थ सीतोदगवियडेण[5] वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पादाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा मुहं वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा णो तत्थ ऊसढं[6] पकरेज्जा, तंजहा–उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा वंतं वा पित्तं वा पूतिं वा सोणियं वा अण्णतरं वा सरीरावयवं।

केवली बूया–आयाणमेतं। से तत्थ ऊसढं पकरेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ

---

१. (क) आचारांग मूल, वृत्ति पत्र ३६१।
   (ख) अन्नट्ठं पगडं लयणं, भएज्ज सयणासणं।
   उच्चारभूमिसंपन्नं इत्थी-पसु-विवज्जियं॥ —दशवै० अ० ८ गा० ५१.
२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६१ में मूलगुण-दोष ये बताए गए हैं—
   'पट्ठी वंसो दो धारणा उ चत्तारि मूलवेलीओ।' देखे सूत्र ४४३ का विवेचन
३. खंधंसि आदि पदों का अर्थ निशीथ चूर्णि उ०४ में इस प्रकार है—'खंधो पागारो, पेढं वा, फलिहो अग्गला, अकुड्डो मंचो, सो य मंडवो। गिहोवरि मालो दुभूमिगादि। विज्जूहगवक्खोवसोभिओ पासादो। सव्वो परिडायालं हम्मतलं।'—स्कन्ध=प्राकार या एक खम्भे पर टिकाया हुआ उपाश्रय, फलिहो=अर्गला, मंचो=बिना दीवार का स्थान, वही मंडप होता है। मालो=घर के ऊपर जो दूसरी आदि मंजिल हो, पासादो=अनेक कमरों से सुशोभित महल। हम्मतलं=सबसे ऊपर की अटारी।
४. 'ठाणं वा' के बाद '३' का अंक 'सेज्जं वा निसीहियं वा' पाठ का सूचक है।
५. 'सीतोदगवियडेण' आदि पदों का अर्थ देखिये निशीथ चूर्णि उ० ४ में—'सीतोदगं अतावितं वियडं ति व्यपगतजीवं। उसिणंति तावियं तं चेव ववगयजीवं। एक्कंसि उच्छोलणं, पुणो पुणो धोवणं पधोवणं।' सीतोदगं=गर्म नहीं किया हुआ, वियडं=जीवरहित-प्रासुक जल। उसिणं=गर्म किया हुआ, वह भी जीव रहित जल होता है। उच्छोलणं=एक बार धोना, पधोवणं=बार-बार धोना।
६. ऊसढं का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में 'उच्छिते उस्सट्ठं उच्चारादि।' ऊपर से उच्चारादि का उत्सर्जन-त्याग करना उत्सृष्ट है। इसके अनेक पाठान्तर हैं—ओसड्ढं, ऊसड्ढं, ऊसढं आदि।

पयलमाणे पवडमाणे वा हत्थं वा जाव सीसं वा अण्णतरं वा कायंसि इंदियजातं लूसेज्जा, पाणाणि वा अभिहणेज्ज[1] वा जाव ववरोवेज्ज वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[2] ४ जं तहप्पगारे उवस्सए अंतलिक्खजाते णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४१६. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय (मकान) को जाने, जो कि एक स्तम्भ पर है, या मचान पर है, दूसरी आदि मंजिलपर है, अथवा महल के ऊपर है, अथवा प्रासाद के तल (भूमितल में या छत पर) बना हुआ है, अथवा इसी प्रकार के किसी ऊँचे स्थान पर स्थित है, तो किसी अन्यन्तगाढ़ (असाधारण) कारणके विना उक्त प्रकार के उपाश्रयमें स्थान-स्वाध्याय आदि कार्य न करे।

कदाचित् किसी अनिवार्य कारणवश ऐसे उपाश्रय में ठहरना पड़े, तो वहाँ प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से हाथ, पैर, आँख, दाँत या मुँह एक बार या बार-बार न धोए, वहाँ से मल-मूत्रादि का उत्सर्ग न करे, जैसे कि उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), मुख का मल (कफ़), नाक का मैल, वमन, पित्त, मवाद, रक्त तथा शरीर के अन्य किसी भी अवयव के मल का त्याग वहाँ न करे, क्योंकि केवलज्ञानी प्रभु ने इसे कर्मों के आने का कारण बताया है।

वह (साधु) वहाँ से मलोत्सर्ग आदि करता हुआ फिसल जाए या गिर पड़े। ऊपर से फिसलने या गिरने पर उसके हाथ, पैर, मस्तक या शरीर के किसी भी भाग में, या इन्द्रिय पर चोट लग सकती है, ऊपर से गिरने से स्थावर एवं त्रस प्राणी भी घायल हो सकते हैं, यावत् प्राणरहित हो सकते हैं।

अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर आदि द्वारा पहले से ही बताई हुई यह प्रतिज्ञा है, हेतु है, कारण है और उपदेश है कि इस प्रकार के उच्च स्थान में स्थित उपाश्रय में साधु कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे।

विवेचन—उच्चस्थ उपाश्रय निषेध : चतुर्थ विवेक—इस एक ही सूत्र में एक ही खंभे, मंच आदि या अटारी के रूप में महल पर या छत पर बने हुए मकान में ठहरने का साधु के लिए निषेध किया गया है, ठहरने से होने वाली कायिक-अंगोपांगीय हानि तथा प्राणि-विराधना का भी उल्लेख किया गया है।

प्राचीनकाल में साधु प्रायः ऐसे ही मकान में ठहरते थे, जो कच्चा छोटा-सा और जीर्ण-शीर्ण होता था, जिसमें किसी गृहस्थ परिवार का निवास नहीं होता था। कच्चे और छोटे मकान का प्रतिलेखन-प्रमार्जन भी ठीक तरह से हो जाता था, और मलमूत्रादि विसर्जन भी पंचम समिति के अनुकूल हो जाता था। ऊपर की मंजिल में, या बहुत ऊँचे मकान से मल-

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'अभिहणेज्ज वा' से लेकर 'ववरोवेज्ज वा' तक का सारा पाठ सूत्र ३६५ के अनुसार है।

२. 'पुव्वोवदिट्ठा' के बाद '४' का अंक सूत्र ३५७ के अनुसार 'उवएसे' तक के पाठ का सूचक है।

मूत्रादि परिष्ठापन की बहुत ही दिक्कत होती थी, रात के अंधेरे में नीचे उतरते समय पैर फिसल जाने, सिर या अन्य अंगों के चोट लग जाने का खतरा तो निश्चित था। [आजकल की तरह गृहस्थ के कई मंजिले मकान में शौचादि परठने की व्यवस्था को उस युग का साधुवर्ग स्वीकार नहीं करता था।] अतः यह निषेध उस युग के मकानों और कठोर संयमी साधुओं को लक्ष्य में रखकर किया गया है। अत्यन्त गाढ़ागाढ़ कारणवश यतनापूर्वक ऐसे मकान में ठहरने का विधान भी शास्त्रकार ने 'णण्णत्थ आगाढागाढेहिं कारणेहिं' पदों द्वारा किया है।[1]

'हम्मियतलंसि' आदि पदों के अर्थ—वृत्तिकार 'हम्मियतलंसि' का अर्थ हर्म्यतल—भूमिगृह करते हैं, किन्तु निशीथ चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—'सव्वोपरि डायालं हम्मतलं'—सबसे ऊपर की अट्टालिका हर्म्यतल है। उच्छोलेज्ज पधोएज्ज—एक बार धोना उच्छोलण है, बार-बार धोना पधोवण। ऊसढ्ठं=मलमूत्रादि का त्याग।[2]

उपाश्रय-एषणा [पंचम विवेक]

४२०. से[3] भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा सइत्थियं सखुड्डं सपसुभत्त-पाणं। तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२१. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतिकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स। अलसगे[4] वा विसूइया वा छड्डी वा णं उब्बाहेज्जा, अण्णतरे वा से दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा। अस्संजते कलुण-पडियाए तं भिक्खुस्स गातं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मक्खे-

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३६१ के आधार से

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६२

३. इस पाठ के बदले प्राचीन प्रतियों में यह पाठ अधिक प्रचलित देखा गया—'से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—ससागारियं सागणियं सउदयं सइत्थियं सखुड्डपसुभत्तपाणं....।' चूर्णि में इसी पाठ के अनुसार व्याख्या मिलती है—सागारिया=पासडंत्थगिहत्थपुरिसेहिं, सागणियाए=अगणि-संघट्टो, सउदयाए=उदगवहो सेहगिलाणादिदोसा, सह इत्थिताहि सइत्थिया=आतपरसमुत्था, सखुड्डति=खुड्डाणि चेडरूवाणि सण्णाभूमि गच्छंति पढंते य वंदंताणि इहरहा य वाउलेंति, अहवा खुड्डा सीह-यग्घ-सुणगा, पसु=गोणमहिसादि, व्रतभंगमादिदोसा, एतेसु, भत्तपाणाइं च दट्ठु सेहाणं भुत्ताभुत्त-दोसा।' अर्थात्—सागारिया=पाखण्डी गृहस्थ पुरुष, उनके साथ, सागणियाए=अग्नि का संघट्टा=स्पर्श, सउदयाए=जलकाय विराधना नवदीक्षित-ग्लानादिदोष, सइत्थिया=स्त्रियों के साथ, गृहस्थ की अपनी एवं दूसरे की स्त्रियाँ। सखुड्ड=क्षुद्र व्यक्ति, दास रूप, जो शौच स्थान आदि की ओर जाते तथा पढते समय वंदना करते है, अन्यथा बड़बड़ाते हैं, अथवा खुड्डा=क्षुद्र प्राणी सिंह—व्याघ्र—कुत्ता आदि, पसु=सांड, भैंसा आदि। इत्यादि दोषों से व्रतभंग हो जाता है, इनके आहार-पानी को देख कर नवदीक्षित साधु को भुक्त-अभुक्त दोष लगने की सम्भावना है।

४. 'अलसगे' का अर्थ वृत्तिकार के शब्दों में—'हस्तपादादिस्तम्भः श्वयथुर्वा' अर्थात् 'अलसगे' का अर्थ है—हाथ, पैर आदि का शून्य-जड़ हो जाना, या सूजन हो जाना।

ज्ज वा, सिणाणेव वा कक्केण वा लोद्धेण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पहोएज्ज वा सिणावेज्ज वा सिंचेज्ज वा दारुणा[1] वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा उज्जालेत्ता [पज्जालेत्ता ?] कायं आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पतिण्णा[2] ४ जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२२. आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स। इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरी वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा वहंति वा रुंभंति वा उद्दवेंति वा। अह भिक्खू णं उच्चावयं[3] मणं णियच्छेज्जा—एते खलु अण्णमण्णं अक्कोसंतु वा, मा वा अक्कोसंतु, जाव मा वा उद्दवेंतु।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं ३ चेतेज्जा।

४२३. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतीहिं सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावती अप्पणो सअट्ठाए[4] अगणिकायं[5] उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा विज्झावेज्ज वा। अह भिक्खू

---

१. 'दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु' की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—'परियट्टेति दारु' अहवा उत्तरा धरा संजोएत्ता अगणिं पाडित्ता उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता।'....दारुण परिणामणं परियट्टणं अभिणवजणणं वा।' दारुणा=लकड़ी से, दारुपरिणामं=लकड़ी का घर्षण—पर्यावर्तन करके अथवा ऊपर नीचे की लकड़ियों को जोड़कर आग सुलगाकर उज्ज्वलित-प्रज्ज्वलित करके। लकड़ियों का परिणामन=परिवर्तन करना यानी बुझी हुई लकड़ियों की जगह नई लकड़ी जलाने के लिए रखना।

२. 'पतिण्णा' के बाद '४' का अंक सू० ३५७ के अनुसार 'एस हेतु एस कारणे एस उवएसे' का सूचक है।

३. उच्चावयं का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—अणेगप्पगारं—अनेक प्रकार का।

४. 'सअट्ठाए' की व्याख्या वृत्तिकार के शब्दों में—'स्वार्थमग्निसमारम्भे क्रियमाणे' अपने प्रयोजन के लिए अग्निसमारम्भ किये जाने पर।

५. 'अगणिकायं उज्जालिज्जा' आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—अगणिकायं उज्जालिज्जा ससणिद्ध एवं एत्थ उज्जालिज्जा। उज्जलंते चोरा सावयं वा ण एहि त्ति। अहवा सुट्ठु विज्झवितो, मा एयं पेच्छितु तेणगा एहि ति। एवं कस्सइ उज्जोओ पि तो, कस्सति अंधगारो।' अर्थात्—'अगणिकायं उज्जालिज्जा' इस पाठ का तात्पर्य यह है 'कि कोई श्रद्धालु गृहस्थ स्नेहवश अग्नि को इसलिए उज्ज्वलित करता है कि अग्नि के प्रज्वलित होने पर चोर या श्वापद (सिंह आदि हिंस्र प्राणी) नहीं आएंगे। अथवा (आग को) अच्छी तरह बुझा दो, ताकि इसे (अन्धकार) देखकर चोर नहीं आएंगे, अत: किसी को प्रकाश प्रिय होता है, किसी को अन्धकार।

उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा—एते खलु अगणिकायं उज्जालेंतु वा मा वा, उज्जालेंतु, पज्जालेंतु वा, मा वा पज्जालेंतु, विज्झावेंतु वा, मा वा विज्झावेंतु। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२४. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतीहिं सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावतिस्स कुंडले वा गुणे वा मणी वा मोत्तिए वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा कडगाणि वा तुडियाणि वा तिसरगाणि वा पालंबाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा मुत्तावली वा कणगावली वा रयणावली वा तरुणियं[1] वा कुमारिं अलंकियविभूसियं पेहाए अह भिक्खू उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, एरिसिया[2] वाऽऽसी ण वा एरिसिया इति वा णं बूया, इति वा णं मणं साएज्जा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२५. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतीहिं सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावतिणीओ वा गाहावतिधूयाओ वा गाहावतिसुण्हाओ वा गाहावतिधातीओ वा गाहावतिदासीओ वा गाहावतिकम्मकरीओ वा, तासिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव[3] उवरता मेहुणातो धम्मातो णो खलु एतेसिं कप्पति मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टित्तए, जा[4] य खलु एतेसिं सद्धिं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टेज्जा पुत्तं खलु सा लभेज्जा ओयंस्सि तेयंस्सि वच्चंस्सि जसंस्सि संपरायियं आलोयदरिसणिज्जं। एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्मा तासिं च णं अण्णतरी सड्ढी तं तवंस्सि भिक्खुं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टावेज्जा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

---

१. चूर्णिकार 'तरुणियं वा कुमारिं' का तात्पर्य बताते हैं—'तरुणियं कुमारिं मज्झिमवयं वा' अर्थात्-युवती, तरुण कुमारी, अथवा मध्यमवयस्का।

२. 'एरिसिया वाऽऽसी ण वा' के बदले पाठान्तर है—'एरिसिगा वा सा, णो वा'। अर्थ समान है। इस पंक्ति की व्याख्या चूर्णिकार यों करते हैं—एरिसिगा मम भोतिगा आसि, ण वा एरिसिगा, भणिज्ज वा णं मए समाणे संचिक्खाहि। मणं साएज्जा कहं मम एताए सद्धिं मेलतो होज्जा, अहवा सा कण्णा ताहे चितेति—एस मम पडुप्पज्जेज्जा।' अर्थात्—मेरी भार्या ऐसी थी, अथवा ऐसी नहीं थी, अथवा उसे कहे कि तू मेरे साथ रहा। मन में आकांक्षा करे कि मेरा इसके साथ कैसे मेल हो; अथवा वह कन्या उसके लिए मन में विचार करे कि 'यह (साधु) मुझे स्वीकार कर ले।'

३. यहाँ 'जाव' शब्द से 'भगवंतो' से लेकर 'उवरंता' तक का समग्र पाठ सू० ३६० के अनुसार समझें।

४. 'जा य खलु एतेसिं' आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार यों करते हैं—जा एतेहिं सद्धिं मेहुणं अपुत्ता पसयति, धूयवियाइणी पुत्तं पुत्तवियाइणी, ओयंस्सि=ओरालसरीरं, तेयस्सी=सूरः वच्चंसि=दीप्तिवान्, जसंसी=लोकपसंस, संपराइयं=पराक्रमः, आलोगदरिसणिज्ज=दरिसणादेव मणप्रीतिजणणं। अर्थात्—जो नारी इनके साथ मैथुन क्रीड़ा करती है, वह अपुत्रा संतान प्रसव करती है, पुत्राभिलाषिणी पुत्रवती हो जाती है। वह पुत्र ओयंस्सि—विशाल शरीर वाला, तेयंस्सि=शूरवीर, वच्चंसि=दीप्तिमान्, जसंसी—लोक प्रशंसित या प्रसिद्ध, संपराइयं=पराक्रमी, आलोगदरिसणिज्जं=देखते ही मन में प्रीति पैदा करने वाला।

४२०. वह भिक्षु या भिक्षुणी जिस उपाश्रय को स्त्रियों से, बालकों से, क्षुद्र प्राणियों से या पशुओं से युक्त जाने तथा पशुओं या गृहस्थ के खाने-पीने योग्य पदार्थों से जो भरा हो तो इस प्रकार के उपाश्रय में साधु कायोत्सर्ग आदि कार्य न करे।

४२१. साधु का गृहपतिकुल के साथ (एक ही मकान में) निवास कर्मबन्ध का उपादान कारण है। गृहस्थ परिवार के साथ निवास करते हुए हाथ पैर आदि का कदाचित् स्तम्भन (शून्यता या जड़ता) हो जाए अथवा सूजन हो जाए, विशूचिका (अतिसार) या वमन की व्याधि उत्पन्न हो जाए, अथवा अन्य कोई ज्वर, शूल, पीड़ा, दुःख या रोगातंक पैदा हो जाए, ऐसी स्थिति में वह गृहस्थ करुणाभाव से प्रेरित होकर उस भिक्षु के शरीर पर तेल, घी नवनीत, अथवा वसा से मालिश करेगा या चुपड़ेगा। फिर उसे प्रासुक शीतल जल या उष्ण जल से स्नान कराएगा, अथवा कल्क, लोध, वर्णक, चूर्ण या पद्म से एक बार घिसेगा, बार-बार जोर से घिसेगा, शरीर पर लेप करेगा, अथवा शरीर का मैल दूर करने के लिए उबटन करेगा। तदन्तर प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से एक बार धोएगा या बार-बार धोएगा मल-मलकर नहलाएगा, अथवा मस्तक पर पानी छींटेगा, तथा अरणी की लकड़ी को परस्पर रगड़ कर अग्नि उज्ज्वलित-प्रज्वलित करेगा। अग्नि को सुलगाकर और अधिक प्रज्वलित करके साधु के शरीर को थोड़ा अधिक तपायेगा।

इस तरह गृहस्थकुल के साथ उसके घर में ठहरने से अनेक दोषों की संभावना देखकर तीर्थंकर प्रभु ने भिक्षु के लिए पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह ऐसे गृहस्थकुलसंसक्त मकान में न ठहरे, न ही कायोत्सर्गादि क्रियाएं करे।

४२२. साधु के लिए गृहस्थ-संसर्गयुक्त उपाश्रय में निवास करना अनेक दोषों का कारण है क्योंकि उसमें गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्रियाँ, पुत्रवधूएं, दास-दासियाँ- नौकर-नौकरानियाँ आदि रहती हैं। कदाचित् वे परस्पर एक-दूसरे को कटु वचन कहें, मारें-पीटें, बंद करें या उपद्रव करें। उन्हें ऐसा करते देख भिक्षु के मन में ऊंचे-नीचे भाव आ सकते हैं। कि ये परस्पर एक दूसरे को भला-बुरा कहें, मारें-पीटें या उपद्रव आदि करें या परस्पर लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, उपद्रव आदि न करें।

इसीलिए तीर्थंकरों ने पहले से ही साधु के लिए ऐसी प्रतिज्ञा बताई है, हेतु, कारण या उपदेश दिया है कि वह गृहस्थसंसर्गयुक्त उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि करे।

४२३. गृहस्थों के साथ एक मकान में साधु का निवास करना इसलिए भी कर्मबन्ध का कारण है कि उसमें गृहस्वामी अपने प्रयोजन के लिए अग्निकाय को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करेगा, प्रज्वलित अग्नि को बुझाएगा। वहाँ रहते हुए भिक्षु के मन में कदाचित् ऊंचे-नीचे परिणाम आ सकते हैं—कि ये गृहस्थ अग्नि को उज्वलित करे, अथवा उज्वलित न करें, तथा ये अग्नि को प्रज्वलित करें अथवा प्रज्वलित न करें, अग्नि को बुझा दें या न बुझाएं।

इसीलिए तीर्थंकरों ने पहले से साधु के लिए ऐसी प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और

उपदेश दिया है कि वह उस प्रकार के (गृहस्थसंसक्त) उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रिया करे।

४२४. गृहस्थों के साथ एक जगह निवास करना साधु के लिए कर्मबन्ध का कारण है। उसमें निम्नोक्त कारणों से राग-द्वेष के भावों का उत्पन्न होना सम्भव है—जैसे कि उस मकान में गृहस्थ के कुण्डल, करधनी, मणि, मुक्ता, चांदी, सोना या सोने के कड़े, बाजूबंद, तीनलड़ा-हार, फूलमाला, अठारह लड़ी का हार, नौ लड़ी का हार, एकावली हार, मुक्तावली हार या कनकावली हार, रत्नावली हार, अथवा वस्त्राभूषण आदि से अलंकृत और विभूषित युवती या कुमारी कन्या को देखकर भिक्षु अपने मन में ऊंच-नीच संकल्प-विकल्प कर सकता है कि ये (पूर्वोक्त) आभूषण आदि मेरे घर में भी थे, एवं मेरी स्त्री या कन्या भी इसी प्रकार की थी, या ऐसी नहीं थी। वह इस प्रकार के उद्‌गार भी निकाल सकता हैं, अथवा मन ही मन उनका अनुमोदन भी कर सकता है।

इसीलिए तीर्थंकरों ने पहले से ही साधुओं के लिए ऐसी प्रतिज्ञा का निर्देश दिया है, ऐसा हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि साधु ऐसे (गृहस्थ-संसक्त) उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रियाएँ करे।

४२५. और फिर यह सबसे बड़े दोष का कारण है—गृहस्थों के साथ एक स्थान में निवास करने वाले साधु के लिए कि उसमें गृहपत्नियाँ, गृहस्थ की पुत्रियाँ, पुत्रवधुएं, उसकी धायमाताएं, दासियाँ या नौकरानियां भी रहेंगी। उनमें कभी परस्पर ऐसा वार्तालाप भी होना सम्भव है कि "ये जो श्रमण भगवान होते हैं, वे शीलवान्, वयस्क, गुणवान्, संयमी, शान्त, ब्रह्मचारी एवं मैथुन धर्म से सदा उपरत होते हैं। अतः मैथुन-सेवन इनके लिए कल्पनीय नहीं है। परन्तु जो स्त्री इनके साथ मैथुन-क्रीड़ा में प्रवृत्त होती है, उसे ओजस्वी, तेजस्वी, प्रभावशाली, रूपवान् और यशस्वी तथा संग्राम में शूरवीर, चमक दमक वाले एवं दर्शनीय पुत्र की प्राप्ति होती है।"

इस प्रकार की बातें सुनकर, मन में विचार करके उनमें से पुत्र-प्राप्ति की इच्छुक कोई स्त्री उस तपस्वी भिक्षु को मैथुन-सेवन के लिए अभिमुख कर ले, ऐसा सम्भव है।

इसीलिए तीर्थंकरों ने साधुओं के लिए पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा बताई है, उनका हेतु, कारण या उपदेश ऐसा है कि साधु उस प्रकार के गृहस्थों से संसक्त उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रिया करें।

विवेचन—गृहस्थ-संसक्त स्थान में निवास के खतरे और सावधानी—सू० ४२० से ४२५ तक गृहस्थादि-संसक्त स्थान में साधु का निवास निषिद्ध बताकर उसमें निवास से उत्पन्न होने वाले भय स्थलों से सावधान किया गया है। सामान्यतः ब्रह्मचारी और संयमी साधुओं के लिए ब्रह्मचर्यरक्षा की दृष्टि से तीन प्रकार के निवास स्थान (उपाश्रय या मकान) वर्जित

बताए गए हैं—(१) स्त्री-संसक्त स्थान, (२) पशु-संसक्त स्थान और (३) नपुँसक-संसक्त स्थान।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा अपरिग्रह तीनों दृष्टियों मे ६ प्रकार के निवास-स्थानक वर्जित बताए हैं—(१) स्त्रियों से संसक्त, (२) पशुओं मे संसक्त, (३) नपुंसक संसक्त, (४) क्षुद्र मनुष्यों से या नन्हे शिशुओं से संसक्त, (५) हिंस्र एवं क्षुद्र प्राणियों मे संसक्त एवं (६) सागारिक—गृहस्थ तथा उसके परिवार से संसक्त उपाश्रय।

पशुओं से संसक्त धर्मस्थान में रहने से ब्रह्मचर्य हानि के अतिरिक्त अविवेकी गृहस्थ यदि पशुओं को भूखे-प्यासे रखता है, समय पर चारा-दाना नहीं देता, पानी नहीं पिलाता, या अकस्मात् आग लग गई, ऐसी स्थिति में बंधनबद्ध पशुओं का आर्त्तनाद साधु से देखा नहीं जाएगा गृहस्थ की अनुपस्थिति में उसे करुणावश पशुओं के लिए यथायोग्य करना या कहना पड़ सकता है। नपुंसक संसक्त स्थान तो ब्रह्मचर्य हानि की दृष्टि से वर्जित है ही। क्षुद्र मनुष्यों से संसक्त मकान में रहने से वे छिद्रान्वेषी, द्वेषी एवं प्रतिकूल होकर बरावर साधु को हैरान और बदनाम करते रहेंगे। शिशुओं से युक्त स्थान में रहने से साधु को उन नन्हें बच्चों को देख कर मोह उत्पन्न हो सकता है। उनकी माताएँ साधुओं के पास उन्हें लाएँगी, छोड़ देंगी, तब स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होगी। सिंह, सर्प, बाघ आदि हिंस्र प्राणियों से युक्त स्थान में रहने से साधु के मन में भय पैदा होगा, निद्रा नही आएगी। स्त्रियों से संसक्त स्थान में रहने से ब्रह्मचर्य-हानि की संभावना तो है ही। अन्यतीर्थिक साधुओं एवं भिक्षाजीवी परिव्राजकों आदि के साथ रहने में भी अपने संयम को खतरा है, अपरिपक्व साधक उनकी बातों से बहक भी सकता है, गृहस्थ और उसके परिवार से संसक्त मकान में निवास भी अनेक खतरों से भरा है।

कुछ खतरों का संकेत यहाँ शास्त्रकार ने किया है–(१) भिक्षु के अकस्मात दुःसाध्य-रोग हो जाने पर गृहस्थ द्वारा उसके उपचार करने में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय की विराधना की सम्भावना, (२) परस्पर लड़ाई-झगड़ों से साधु के चित्त में संक्लेश, (३) गृहस्थ अपने लिए खाने-पकाने के साथ-साथ साधु के लिए भी अग्नि समारम्भ करके भोजन बनाएगा। (४) गृहस्थ के घर में विविध आभूषणों तथा सुन्दर युवतियों को देख-कर पूर्वाश्रम स्मरण से मोहोत्पत्ति तथा कामोत्तेजना की सम्भावना। (५) अधिक स्त्री संसर्ग से पुत्राभिलाषिणी स्त्री के साथ सहवास की सम्भावना। इन सब संभावनाओं को ध्यान में रखकर शास्त्रकार ने तीर्थंकर भगवान द्वारा साधु के लिए उपदिष्ट प्रतिज्ञा, हेतु कारण और उपदेश को बार-बार दुहराकर खतरों से सावधान किया है।

---

१. (क) स्थानांग सूत्र स्था. ९ उ० १　　　　　　(ख) उत्तराध्ययन सूत्र अ. १६.११

२. (क) आचारांग सूत्र वृत्ति पत्रांक ३६१, ३६२ के आधार पर

(ख) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १४७ (मुनि जम्बूविजयजी)

'विसूइया' आदि पदों के अर्थ—विसूइया=विसूचिका—हैजा, छड्डी=वमनरोग, उब्बाहेज्जा=पीड़ित करें, कक्केण=चन्दनादि के उबटन द्रव्य से। वृत्तिकार के अनुसार—काषायरंग के द्रव्य के काढे से, वण्णेण=कम्पिल्लक आदि द्रव्यों से बने हुए लेपसे, उच्चावचं मणंनियच्छेज्जा=मन ऊंचा-नीचा करेगा, उच्च मन—ऐसा न करें, अवच मन=ऐसा करें। चूर्णिकार के मत से अनेक प्रकार का मन। समट्ठाए=अपने प्रयोजन से, गुणे=करधनी, कडगाणि=कड़े, तुडियाणि—बाजूबन्द, पालंबाणि=लम्बी पुष्पमाला, सड्ढी=पुत्रोत्पत्ति में श्रद्धा रखने वाली स्त्री, पडियारणाए=मैथुन-सेवन करने के लिए आउट्टावेज्जा=प्रवृत्त करे, अभिमुख करे। साएज्जा=आकांक्षा करे।[1]

४२६. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

४२६ यही (शय्यैषणा-विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी की (ज्ञानादि आचार की) समग्रता है।

॥ शय्यैषणा-अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

गृहस्थ संसक्त उपाश्रय-निषेध

४२७. गाहावती नामेगे सुइसमायारा भवंति, भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे से तग्गंधे दुग्गंधे[2] पडिकूले पडिलोमे यावि भवति, जं पुव्वकम्मं तं पच्छाकम्मं, जं पच्छाकम्मं तं पुव्वकम्मं[3], ते भिक्खुपडियाए वट्टमाणा करेज्ज वा णो वा करेज्जा।

---

१. (क) पाइअ सद्दमहण्णवो
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६२,३६३
(ग) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १४६

२. से गंधे दुग्गंधे' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में—'तेण तेसिं सो गंधो पडिकूलो' इस कारण उन (गृहस्थों) को वह गन्ध प्रतिकूल लगता है।

३. जं पुव्वकम्मं आदि पंक्ति का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में—"जं पुव्वकम्मं ति गिहत्थाणं पुव्वकम्मं उच्छोलणं, तं च पच्छा पव्वज्जाए वि कुज्जा, मा उड्डाहो होहिति, तत्थ बाउसदोसा, अह ण करेति तो उड्डाहो। अहवा ताइं पुव्वपए जामेता ईओ पच्छा संजयउवरोहा, सुत्तत्थाणं उसूरे वा, पच्छिमाए पोरिसीए जेमेताइओ ताहं संजयाणं पाढवाघातो त्ति पदे चेव जिमिताइं। उवक्खडणा वि एवं प्रत्यागते उस्सक्कणं, उस्सक्कणदोसा भिक्खुभावो भिक्खुपडियाए वट्टमाणा करेज्ज वा ण वा।' "अर्थात्—गृहस्थों का जो पूर्व कर्म—शरीर प्रक्षालन आदि का, उसे अब प्रव्रज्या लेने के पश्चात् भी करेगा, इसलिए कि निन्दा न हो। ऐसा करने से बकुश (विभूषादि से चरित्र को मलिन करने वाले) दोष होते

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[1] ४ जं तहप्पगारे उवस्सए ठाणं वा[2] ३ चेतेज्जा।

४२८. आयाणमेतं भिक्खुस्स गाहावतीहिं सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावतिस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवे भोयणजाते उवक्खडिते सिया, अह पच्छा भिक्खुपडियाए असणं वा ४ उवक्खडेज्ज वा उवकरेज्ज वा, तं च भिक्खू अभिकंखेज्जा भोत्तए वा पातए वा वियट्टित्तए वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं णो तहप्पगारे उवस्सए ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४२९. आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावतिणा सद्धिं संवसमाणस्स। इह खलु गाहावतिस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिण्णपुव्वाइं भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिदेज्ज वा किणेज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालेज्ज वा पज्जालेज्ज वा, तत्थ भिक्खू अभिकंखेज्जा आतावेत्तए वा पयावेत्तए वा वियट्टित्तए वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४३०. से भिक्खू वा २ उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जमाणे रातो वा वियाले वा गाहावतिकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणेज्जा, तेणो य तस्संधिचारी अणुपविसेज्जा, तस्स भिक्खुस्स णो कप्पति एवं वदित्तए—अयं[3] तेणे पविसति वा णो वा पविसति, उवल्लियति वा णो वा उव-

---

हैं। यदि ऐसा नहीं करता है तो वदनामी होती है। अथवा साधुओं के लिहाज से भोजनादि जो पूर्व कर्म हैं, उन्हें गृहस्थ बाद में करता है। सूत्रार्थ पौरसी के वाद सूर्यास्त होने पर। अन्तिम पौरसी में भोजन इत्यादि करने पर साधुओं के स्वाध्याय में विघ्न पड़ता है, यह सोचकर गृहस्थ भोजनादि कार्य पहले कर लेता है। भोजन बनाने का कार्य भी साधुओं के अनुरोध से इस प्रकार के विघ्न के कारण स्थगित कर देता हैं। साधु अपनी चर्या आगे-पीछे करता है या स्थगित कर देता है। गृहस्थ भिक्षु के अनुरोध से कई नित्यकार्य करते हैं, नहीं भी करते।

१. 'पुव्वोवदिट्ठा' के वाद '४' का अंक यहाँ 'एस उवएसो' तक के पाठ का सूचक है।

२. 'ठाणं वा' के वाद '३' का अंक 'सेज्जं वा निसीहियं वा' पाठ का सूचक है।

३. चूर्णिकार 'अतेणं तेणगमिति संकति' इस वाक्य की व्याख्या यों करते हैं—"अयं उवचरए, उवचरओ णाम चारिओ, ताणि वा साहुं चेव भणंति—अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं एत्थ अकासी चोरचारियं, आसी वा एत्थ। एत्थ सब्भावे कहिए चोरातो भयं, तुण्हिक्के पच्चंगिरा। अतेणं तेणगमिति संकति। सागारिए भवे दोसा।'

—साधु अगर चोरों के विषय में सच्ची बात कहता है, किन्तु चोरों का पता न लगने पर वे गृहस्थ उसी (साधु) को यों कहते हैं कि—यह चोर है, यह उपचरक=गुप्तचर है। इसी ने यहाँ चोरी (चारी=भेद वताने का कार्य) की है यही यहाँ था। ऐसी स्थिति में अगर वह साधु सच्ची वात कह देता है तो चोरों से भय है, यदि मौन रहता है तो उसके प्रति अप्रतीति होती है, जो साधु चोर नहीं है, उसके प्रति चोर की शंका होती है। अतः गृहस्थ—संसक्त स्थान में यह दोष सम्भव है।

ल्लियति, आपतति वा णो वा आपतति, वदति[1] वा णो वा वदति, तेण हडं, अण्णेण हडं, तस्स हडं, अण्णस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं हंता, अयं एत्थमकासी। तं तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणमिति संकति।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[2] ४ जाव णो चेतेज्जा।

४२७. कोई गृहस्थ शौचाचार-परायण होते हैं और भिक्षुओं के स्नान न करने के कारण तथा मोकाचारी होने के कारण उनके मोकलिप्त शरीर और वस्त्रों से आने वाली वह दुर्गन्ध उस गृहस्थ के लिए दुर्गन्ध-प्रतिकूल और अप्रिय भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त वे गृहस्थ (स्नानादि) जो कार्य पहले करते थे, अब भिक्षुओं की अपेक्षा (लिहाज) से बाद में करेंगे और जो कार्य बाद में करते थे, वे पहले करने लगेंगे अथवा भिक्षुओं के कारण वे असमय में भोजनादि क्रियाएं करेंगे या नहीं भी करेंगे। अथवा वे साधु उक्त गृहस्थ के लिहाज से प्रतिलेखनादि क्रियाएं समय पर नहीं करेंगे, बाद में करेंगे, या नहीं भी करेंगे। इसलिए तीर्थंकरादि ने भिक्षुओं के लिए पहले से ही यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के (गृहस्थ-संसक्त) उपाश्रय में कायोत्सर्ग ध्यान आदि क्रियाएं न करें।

४२८. गृहस्थों के साथ (एक मकान में) निवास करने वाले साधु के लिए वह कर्मबन्ध का कारण हो सकता है क्योंकि वहाँ (उस मकान में) गृहस्थ अपने निज के लिए नाना प्रकार के भोजन तैयार किये होंगे, उसके पश्चात् वह साधुओं के लिए अशनादि चतुर्विध आहार तैयार करेगा, उसकी सामग्री जुटाएगा। उस आहार को साधु भी खाना या पीना चाहेगा या उस आहार में आसक्त होकर वहीं रहना चाहेगा। इसलिए भिक्षुओं के लिए तीर्थंकरों ने पहले से यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु कारण और उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के (गृहस्थ-संसक्त) उपाश्रय में स्थानादि कार्य न करे।

४२९. गृहस्थ के साथ (एक मकान में) ठहरने वाले साधु के लिए वह कर्मबन्ध का कारण हो सकता है; क्योंकि वहीं (उस मकान में ही) गृहस्थ अपने स्वयं के लिए पहले नाना प्रकार के काष्ठ-इन्धन को काटेगा, उसके पश्चात् वह साधु के लिए भी विभिन्न प्रकार के इन्धन को काटेगा, खरीदेगा या किसी से उधार लेगा और काष्ठ (अरणि) से काष्ठ का घर्षण करके अग्निकाय को उज्ज्वलित एवं प्रज्वलित करेगा। ऐसी स्थिति में सम्भव है, वह साधु भी गृहस्थ की तरह शीत निवारणार्थ अग्नि का आताप और प्रताप लेना चाहेगा, तथा उसमें आसक्त होकर वहीं रहना चाहेगा।

---

१. वदति के स्थान पर वयइ पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'व्रजति'—अर्थात् जाता है।
२. पुव्वोवदिट्ठा के बाद '४' का चिन्ह सूत्र ३५७ के अनुसार यहाँ से 'उवएसे' तक के पाठ का सूचक है।

इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही भिक्षु के लिए यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह इस प्रकार के (गृहस्थ संसक्त) उपाश्रय में स्थान आदि कार्य न करे।

४३०. (गृहस्थ संसक्त मकान में ठहरने पर) वह भिक्षु या भिक्षुणी, रात में या विकाल में मल-मूत्रादि की बाधा (हाजत) होने पर गृहस्थ के घर का द्वारभाग खोलेगा, उस समय कोई चोर या उसका सहचर घर में प्रविष्ट हो जाएगा तो उस समय साधु को मौन रखना होगा। ऐसी स्थिति में साधु के लिए ऐसे कहना कल्पनीय नहीं है कि यह चोर प्रवेश कर रहा है, या प्रवेश नहीं कर रहा है, यह छिप रहा है, या नहीं छिप रहा है, नीचे कूद रहा है या नहीं कूदता है, बोल रहा है या नहीं बोल रहा है, इसने चुराया है, या किसी दूसरे ने चुराया है, उसका धन चुराया है अथवा दूसरे का धन चुराया है; यही चोर है, यह उसका उपचारक (साथी) है, यह घातक है, इसी ने यहाँ यह (चोरी का) कार्य किया है। और कुछ भी न कहने पर जो वास्तव में चोर नहीं है, उस तपस्वी साधु पर (गृहस्थ को) चोर होने की शंका हो जाएगी। इसीलिए तीर्थंकर भगवान् ने पहले से ही साधु के लिए यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि वह गृहस्थ से संसक्त उपाश्रय में न ठहरे, न कायोत्सर्गादि क्रिया करे।

विवेचन—गृहस्थ संसक्त उपाश्रय : अनेक अनर्थों का आश्रय—पूर्व उद्देशक में भी शास्त्रकार ने गृहस्थ संसक्त उपाश्रय में निवास को अनेक अनर्थों की जड़ बताया था। इस उद्देशक के प्रारम्भ में फिर उसी गृहस्थ संसक्त उपाश्रय के दोषों को विविध पहलुओं से शास्त्रकार समझाना चाहते हैं। सूत्र ४२७ से ४३० तक इसी की चर्चा है। इन सूत्रों में चार पहलुओं से गृहस्थ संसक्त उपाश्रय निवास के दोष बताए गए हैं—

(१) साफ-सुथरा रहने वाले व्यक्ति के मकान में साधु के ठहरने पर परस्पर एक-दूसरे के प्रति शंका-कुशंका से खिचे-खिचे रहेंगे, दोनों के कार्य का समयचक्र उलट-पुलट हो जाएगा।

(२) गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाने के बाद साधुओं के लिए खासतौर से भोजन बनाएगा, साधु स्वादलोलुप एवं आचार भ्रष्ट हो जाएगा।

(३) साधु के लिए गृहस्थ ईंधन खरीदेगा या किसी तरह जुटाएगा, अग्नि में जलाएगा, साधु भी वहाँ रहकर आग में हाथ सेंकने लगेगा।

(४) मकान में चोर घुस जाने पर साधु धर्म-संकट में पड़ जाएगा कि गृहस्थ को कहे कि न कहे। दोनों में ही दोष है।

ये और इस प्रकार के अन्य खतरे गृहस्थ संसक्त मकान में रहते हैं। इसलिए यहाँ भी शास्त्रकार ने तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट प्रतिज्ञा और उपदेश को बारम्बार दुहराकर साधु को

चेतावनी दी है।[1] चूर्णिकार ने इन सूत्रों का रहस्य अच्छे ढंग से समझाया है।[2]

'सुईसमाचारा' आदि पदों के अर्थ—सुईसमाचारा=शौचाचारपरायण भागवतादि भक्त या बनठन कर (इत्र-तेल, फुलेल आदि लगाए) रहने वाले सफेदपोश, पडिलोमे=विद्वेषी, दुवारबाहं= द्वारभाग को, अवंगुणेज्जा=खोलेगा, उवल्लियति=छिपता है, आपतति=नीचे कूद रहा है।[3]

उपाश्रय-एषणा : विधि-निषेध

४३१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा, तं [जहा-] तणपुंजेसु[4] वा पलालपुंजेसु वा सअंडे[5] जाव संताणए। तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतेज्जा।

से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा तणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडे[6] जाव चेतेज्जा।

४३१. जो साधु या साध्वी उपाश्रय के सम्बन्ध में यह जाने कि उसमें (रखे हुए) घास के ढेर या पुआल के ढेर, अंडे, बीज, हरियाली, ओस, सचित्त जल, कीड़ी नगर, काई, लीलण-फूलण, गीली मिट्टी, या मकड़ी के जालों से युक्त है तो इस प्रकार के उपाश्रय में वह स्थान, शयन आदि कार्य न करे।

यदि वह साधु या साध्वी ऐसा उपाश्रय जाने कि उसमें (रखे हुए) घास के ढेर या पुआल के ढेर, अंडों, बीजों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त नहीं है तो इस प्रकार के उपाश्रय में वह स्थान-शयनादि कार्य करे।

विवेचन—जीव जन्तु संसक्त उपाश्रय वर्जित, जीव-रहित नहीं—साधु अपने निमित्त से किसी भी जीव को हानि पहुँचाना नहीं चाहता। उसकी अहिंसा की पराकाष्ठा है—समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान समझना। ऐसी स्थिति में वह अपने निवास के लिए जो स्थान

---

१. टीका पत्र ३६४ के आधार पर।

२. आचारांग चूर्णि, देखिए मूल पाठ टिप्पण।

३. टीका पत्र ३६४।

४. तणपुंजेसु पलालपुंजेसु की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—तणपुंजा गिहाणं उवरि तणा कया, पलालं वा मंडपस्स उवरिं हेट्ठा भूमी रमणिज्जा, सअंडेहिं णो ठाणं चेतिज्जा, अप्पंडेहिं चेतिज्जा। अर्थात्—तृण का ढेर तृणपुंज कहलाता है, जो कि घरों पर किया जाता है, अथवा मंडप पर पराल बिछाई जाती है। अतः नीचे की भूमि रमणीय है, किन्तु वह अंडों या जीवजन्तु से युक्त है तो स्थान (निवास) न करे। जो अंडे आदि से रहित स्थान हो, वही निवास करे।

५. सअंडे के बाद जाव शब्द सअंडे से लेकर संताणए तक का पाठ सूत्र ३५६ के अनुसार समझें।

६. अप्पंडे के बाद 'जाव' शब्द चेतेज्जा तक के पाठ का सूचक है, सू० ३२४ के अनुसार।

चुनेगा, उसमें अगर जीवों के अंडे हों, बीज हों, अन्न हों, हरियाली उगी हुई हो, ओस या कच्चा पानी हो, गीली मिट्टी हो, काई या लीलण-फूलण हो अथवा चींटियों का बिल आदि हो तो ऐसे मकान में या स्थान में निवास करने से उन सब जीवों को पीड़ा होगी, वे साधु की जरा-सी असावधानी से दब या मर सकते हैं, यहाँ तक कि उन्हें स्पर्श करने से भी उन्हें दुःख हो सकता है। वनस्पति सजीव है, पानी में भी जीव हैं, यह बात वर्तमान जीव वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके सिद्ध कर दी है। इसी कारण साधु को ऐसे उपाश्रय में रहकर कोई भी क्रिया करना निषिद्ध बताया है। साथ ही जीवों से रहित, शुद्ध, निर्दोष स्थान हो तो वहाँ निवास करने का विधान किया है।[1]

'पलालपुंजेसु'—चावलों की घास को पराल या पुआल कहते हैं, उसके ढेर को पलाल-पुंज कहते है।

नव विध शय्या-विवेक

४३२. से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अभिक्खणं २ साहम्मिएहिं ओवयमाणेहिं णो ओवतेज्जा।[2]

४३३. से आगंतारेसु वा[3] ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो कालातिक्कंतकिरिया वि भवति।

४३४. से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावित्ता तं दुगुणा दुगुणेण अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो उवट्ठाणकिरिया यावि भवति।

४३५. इह खलु पाईणं वा[4] ४ संतेगतिया सड्ढा भवंति, तंजहा-गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति, तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि[5] वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाणि वा पवाणि

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६५ के आधार पर।

२. णो ओवतेज्जा के स्थान पर पाठान्तर है—'णो वएज्जा, णो य वतेज्जा। वृत्तिकार अर्थ करते है—'नावपतेत्'—वहाँ मासकल्पादि निवास न करे।

३. आगंतारेसु वा के बाद '४' का चिन्ह 'आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा' तक के पाठ का सूचक है, सूत्र ४३२ के अनुसार।

४. पाईणं वा के बाद '४' का अर्थ शेष तीनों दिशाओं का सूचक है।

५. चूर्णिकार के शब्दों में आएसणाणि' आदि पदों की व्याख्या—

आएसणाणि—छरण सिज्झंति वणि बुज्झंति, अहवा लोहारसालमादी। आयतणं=पासंडाणं अवच्छत्तिया कुड्डस्स पासे। देवउलं=वाणमंतररहितं, देउलं सवाणमंतरं सपडिमं इत्यर्थः। सभा=

वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुधाकम्मंताणि[1] वा दब्भकम्मंताणि वा वब्भकम्मंताणि वा वव्वकम्मंताणि[2] वा इंगालकम्मंताणि वा कट्ठकम्मंताणि वा[3] सुसाणकम्मंताणि वा गिरिकम्मंताणि वा कंदरकम्मंताणि वा संतिकम्मंताणि वा सेलोवट्ठाणकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा। जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा तेहिं ओवतमाणेहिं ओवतंति[4] अयमाउसो ! अभिक्कंतकिरिया या वि भवति।

४३६. इह खलु पाईणं वा जाव[5] ४ तं रोयमाणेहिं बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमए समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तं जहा—आएसणाणि वा

मंडवो वलभी वा सवाणमंतरा इतरा वा। पवा=जत्थ पाणितं दिज्जइ। पणितगिहं=आवणो सकुड्डओ। पणियसाला=आवणो चेव अकुड्डओ, जाणगिहं=रहादीण वासकुड्डं, साला=एएसिं चेव अकुड्डा। छुहा (सुधा) कडा; छुहा जत्थ कोहाविज्जति वा, दब्भा=दब्भा वलिज्जति छिज्जति वा। वव्वओ विप्पि (छि) ज्जंति) वलिज्जति य। वब्मा=वरत्ताजा गदीणं (गड्डीणं) दलिज्जंति। इंगाल-कट्ठकम्मं एतेसिं सालातो भवंति। सुसाणे गिहाइं। गिरि=जहा खहणागिरिम्मि लेणमादी। कंदरा=गिरिगुहा। संति=संतीए घराइं। सेल=पाहाणघराइ। उवट्ठाणगिहं=जत्थ गावीओ उट्ठावित्तु दुब्भंति। सोभणं ति भवणं भा दीप्तौ।—अर्थात्—आएसणाणि=जहाँ क्षार पकाया जाता है, अग्नि बुझाई जाती है, अथवा लुहारकी शालादि। आयतणं=पाखण्डियों के ठहरने का स्थान, जो मन्दिर की दीवार के पास होते हैं। देवउलं=वाणव्यन्तर देव से रहित या सहित, प्रतिमा सहित देवालय। सभा=मंडप या छत्र वाणव्यन्तर देव सहित या रहित। पवा=प्रपा प्याऊ जहाँ पानी पिलाया जाता है, पणितगिहं=आपण (दूकान) दीवार सहित, पणियसाला=विना दीवार की खुली दूकान, जाणगिहं=रथादि रखने का स्थान। साला=रथ आदि का खुला स्थान विना दीवार का। छुहा=खड़ी या मकान पोतने का चूना जहाँ पकाया जाता है। दब्भा=दर्भ जहाँ काटे या मोड़ें जाते हैं, वव्वओ=घास की चटाइयाँ टोकरियाँ आदि जहाँ बनाई जाती है, वब्भा=जहाँ चमड़े के वरत—रस्से आदि बनते हैं। इंगालकट्ठकम्मं=कोयला तथा काष्ठकर्म बनाने की शालाएं, सुसाणे गिहाइं=श्मशान में बने घर, गिरि=गिरिगृह, जैसे खहणागिरि पर मकान बने हैं। कंदरा=पर्वत की गुफा में काट-छील कर बनाया हुआ घर, संति=शान्ति कर्म के लिए बनाए गए गृह, सेल=पाषाणगृह, उवट्ठाणगिहं=जहाँ गायें आदि खड़ी करके दूही जाती हैं, उपस्थानगृह। भवणं=शोभनगृह—सुन्दर भवन।

१. 'सुधा' के वदले पाठान्तर है—'छुहा'। अर्थ समान है।
२. वव्वकम्मंताणि के वदले पाठान्तर है—'वक्ककम्मंताणि' अर्थ होता है—वल्कल—छाल से चटाई कपड़े आदि बनाने के कारखाने।
३. कहीं कहीं सुसाणकम्मंताणि के वदले 'सुसाणगिहं' या 'सुसाणघरं' पाठान्तर हैं। अर्थात् श्मशान में वना हुआ घर।
४. 'ओवतंति' के वदले पाठान्तर है—उवयंति।
५. पाइणं वा के वाद '४' का अंक शेष तीन दिशाओं का सूचक है।

जाव गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा[1] जाव भवणगिहाणि वा तेहिं अणोवतमाणेहिं ओवयंति अयमाउसो ! अणभिक्कंतकिरिया या वि भवति ।

४३७. इह खलु पाईणं वा, ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा—गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति-जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता जाव उवरता मेहुणाओ धम्माओ, णो खलु एतेसिं भयंताराणं कप्पति आधाकम्मिए उवस्सए वत्थए, से ज्जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयट्ठाए[2] चेतियाइं भवंति, तं जहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा सव्वाणि ताणि समणाणं णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा वऽप्पणो सयट्ठाए चेतेस्सामो, तंजहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा।

एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, २ [त्ता] इतरातितरेहिं[3] पाहुडेहिं[4] वट्टंति, अयमाउसो ! वज्जकिरिया यावि भवति ।

४३८. इह खलु पाईणं वा ४[5] संतेगतिया सड्ढा भवंति, तेसिं च णं आयारगोयरे जाव[6] तं रोयमाणेहिं वहवे समण-माहण[7] जाव पगणिय[8] २ समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेति-

---

१. 'आएसणाणि' वा से लेकर 'गिहाणि वा' तक का पाठ सू० ४३५ के अनुसार 'जाव' शब्द से सूचित किया है।

२. अप्पणो सयट्ठाए की चूर्णिकृत व्याख्या—"साहू सीलमंत त्ति काऊणं एते आहाकम्मम्मि ण वट्टंति अप्पणो सयट्ठाए एतेसिं देमो अप्पणो अण्णाइं करेमो।'—अर्थात् ये साधु शीलवान साधु-धर्म-मर्यादा में स्थित हैं, इसलिए ये आधाकर्मादि दोष युक्त स्थान में नहीं रहते, अतः अपने निजी प्रयोजन के लिए मकान बनवा कर इन्हें देंगे, और अपने लिए दूसरा बनवा लेंगे।'

३. इतरातितरेहिं के बदले पाठान्तर मिलते हैं—इतराइतरेहिं इयरंतरेहिं, इतरातिरेहिं।" चूर्णिकार इसका भावार्थ करते हैं—'कालातिक्कंता अणभिक्कंता इमा वज्जा इतरा, एवं सेसा वि, इतरा इतरा अपसत्थतरा इत्यर्थः।' अर्थात्—कालातिक्रान्ता, अनभिक्कंता और यह वर्ज्या इतरा है, इसी प्रकार शेष शय्या उत्तरोत्तर इतना समझ लेना चाहिए। अर्थात् वे एक दूसरे से इतरा इतरा = अप्रशस्ततरा हैं।

४. पाहुडेहिं की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—पाहुडेहिं--पाहुडंति वा पहेणगं ति वा एगट्ठं। कस्य ? कर्मवन्धस्य। निरतस्य पाहुडाइं दुग्गतिपाहुडाइं च अप्पसत्था सेवणाए। एसा वज्जकिरिया।" अर्थात्-पाहुडं और पहेणगं (वस्तु की भेंट) ये दोनों एकार्थक हैं, यानी एक ही अर्थ—प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। किस अर्थ को ? कर्मबन्ध के अर्थ को। सावद्य कर्म से विरत साधु के लिए (साधु के निमित्त बने हुए मकानों की भेंट) दुर्गति की भेंट है, क्योंकि इसके पीछे अप्रशस्तभावों का सेवन होता है। यह वर्ज्य क्रिया है।

५. पाईणं वा के आगे '४' का अंक शेष तीनों दिशाओं का सूचक है।

६. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ४३५ के अनुसार 'आयारगोयरे' से लेकर 'तं रोयमाणेहिं' तक का समग्र पाठ समझना चाहिए।

७. 'समण-माहण' के आगे 'जाव' शब्द सूत्र ४३५ के अनुसार 'पगणिय' तक समग्र पाठ का सूचक है।

८. पगणिय आदि के बाद '२' का अंक सर्वत्र उसी शब्द की पुनरावृत्ति का सूचक हैं।

याइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा[1] जाव गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, २ [त्ता] इयराइयरेहिं पाहुडेहिं [वट्टंति, ?] अयमाउसो ! महावज्जकिरिया यावि भवति।

४३९. इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं[2] रोयमाणेहिं बहवे समणजाते समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, जे + भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा+ उवागच्छंति, २ [त्ता] इतरातितरेहिं पाहुडेहिं [वट्टंति, ?] अयमाउसो ! सावज्जकिरिया यावि भवति।

४४०. इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं एगं समणजातं समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा महता पुढविकायसमारंभेणं[3] जाव[4] महता तसकायसमारंभेणं महता संरंभेणं महता समारंभेणं महता आरंभेणं महता विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं, तंजहा-छावणतो लेवणतो संथार-दुवार-पिहणतो, सीतोदगए[5] वा परिट्ठवियपुव्वे भवति, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इतराइतरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! महासावज्जकिरिया यावि भवति।

४४१. इह खलु पाईणं वा ४[6] जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेतियाइं भवंति, तंजहा-आएसणाणि वा[7] जाव गिहाणि वा महता पुढविकायसमा-

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'आएसणाणि वा' से लेकर 'गिहाणि वा' तक का समग्र पाठ सूत्र ४३५ के अनुसार समझें।

\+ इस चिन्ह के अन्तर्गत जो पाठ है, वह किसी किसी प्रति में नही है।

२. यहाँ 'जाव' शब्द से पाईणं वा से लेकर 'तं रोयमाणेहिं' तक का समग्र पाठ सू० ४३५ के अनुसार समझें।

३. इन पंक्तियों के स्थान पर पाठान्तर है—'....समारंभेणं एवं आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइ, महया तस....। महया संरंभेण महया आरंभेण, महया आरंभ-समारंभेणं, महासंरंभेणं महया आरंभेणं महया समारंभेणं।'

४. यहाँ जाव शब्द से 'आउकाय ....तेउकाय.......वाउकाय.......वणस्सइकाय समारंभेणं'' आदि पाठ समझना चाहिए।

५. सीतोदगए के स्थान पर पाठान्तर है—'सीतोदगए', 'सीतोदगघडे', 'सीओदएण वा'। चूर्णिकार इसका तात्पर्य समझाते है—'सीतोदगघडे—अब्भंतरतो संण्णिक्खित्तो, अगणिकायं वा उज्जालेंति, पाउया वा'—
—अर्थात् ठंडे सचित्त पानी के घड़े अन्दर रख दिए हैं, अग्नि जलाता है या प्रकाश करता है।

६. पाईणं वा के बाद '४' का चिन्ह शेष तीन दिशाओं का सूचक है।

७. 'आएसणाणि' से लेकर 'गिहाणि' तक का पाठ सूत्र ४३५ के अनुसार 'जाव' शब्द से समझें।

रंभेणं जाव अगणिकाये वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इतराइतरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवति।

४३२ पथिकशालाओं में उद्यान में निर्मित विश्रामगृहों में, गृहस्थ के घरों में, या तापसों के मठों आदि में जहाँ (—अन्य सम्प्रदाय के) साधु बार-बार आते-जाते (ठहरते) हों, वहाँ निर्ग्रन्थ साधुओं को मासकल्प आदि नहीं करना चाहिए।

४३३. हे आयुष्मन् ! जिन पथिकशाला आदि में साधु भगवन्तों ने ऋतुबद्ध मासकल्प —(शेषकाल) या वर्षावास कल्प (चातुर्मास) बिताया है, उन्हीं स्थानों में अगर वे बिना कारण पुनः-पुनः निवास करते हैं, तो उनकी वह शय्या (वसति-स्थान) कालातिक्रान्त क्रिया—दोष से युक्त हो जाती है।

४३४ हे आयुष्मन् ! जिन पथिकशालाओं आदि में, जिन साधु भगवन्तों ने ऋतुबद्ध कल्प या वर्षावासकल्प बिताया है, उससे दुगुना-दुगुना काल (मासादिकल्प का समय) अन्यत्र बिताये बिना पुनः उन्ही (पथिकशालाओं आदि) में आकर ठहर जाते हैं तो उनकी वह शय्या (निवास स्थान) उपस्थान-क्रिया दोष से युक्त हो जाती है।

४३५. आयुष्मन् ! इस संसार में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण अथवा उत्तर दिशा में कई श्रद्धालु (भावुक भक्त) होते है, जैसे कि गृहस्वामी गृहपत्नी, उसकी पुत्र-पुत्रियां, पुत्रवधुएँ, धायमाताएँ, दास-दासियाँ या नौकर-नौकरानियाँ आदि; उन्होंने निर्ग्रन्थ साधुओं के आचार व्यवहार के विषय में तो सम्यक्तया नहीं सुना है, किन्तु उन्होंने यह सुन रखा है कि साधु-महात्माओं को निवास के लिए स्थान आदि का दान देने से स्वर्गादि फल मिलता है। इस बात पर श्रद्धा, प्रतीति एवं अभिरुचि रखते हुए उन गृहस्थों ने (अपने-अपने ग्राम या नगर में) बहुत-से शाक्यादि श्रमणों, ब्राह्मणों, अतिथि-दरिद्रों और भिखारियों आदि के उद्देश्य से विशाल मकान बनवा दिये हैं। जैसे कि लुहार आदि की शालाएं, देवालय की पार्श्ववर्ती धर्मशालाएं, सभाएँ, प्रपाएं (प्याऊ), दूकानें, मालगोदाम, यानगृह, रथादि बनाने के कारखाने, चूने के कारखाने, दर्भ, चर्म एवं वल्कल (छाल) के कारखाने, कोयले के कारखाने, काष्ठ-कर्मशाला, श्मशान भूमि में बने हुए घर, पर्वत पर बने हुए मकान, पर्वत की गुफा से निर्मित आवासगृह शान्ति कर्म गृह, पाषाण मण्डल (या भूमिगृह आदि) उस प्रकार के लुहारशाला से लेकर भूमिगृह आदि तक के गृहस्थ निर्मित आवास स्थानों में, (जहां कि शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण आदि पहले ठहरे हुए है, (उन्हीं में) बाद में) निर्ग्रन्थ आकर ठहरते हैं, तो वह शय्या अभिक्रान्त क्रिया से युक्त हो जाती है।

४३६. हे आयुष्मन् ! इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में अनेक श्रद्धालु (भक्त) होते हैं, जैसेकि गृहपति यावत उसके नौकर-नौकरानियाँ आदि। निर्ग्रन्थ साधुओं के आचार विचार से अनभिज्ञ इन लोगों ने श्रद्धा, प्रतीति और अभिरुचि से प्रेरित होकर बहुत से श्रमण, ब्राह्मण

आदि के उद्देश्य से विशाल मकान बनवाए हैं, जैसे कि लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि। ऐसे लोहकार शाला यावत् भूमि गृहों में चरकादि परिव्राजक, शाक्यादि श्रमण इत्यादि पहले नहीं ठहरे हैं, (वे बनने के बाद से अब तक खाली पड़े रहे हैं), ऐसे मकानों में अगर निर्ग्रन्थ श्रमण आकर पहले-पहल ठहरते हैं, तो वह शय्या अनभिक्रान्त क्रिया से युक्त हो जाती है। अकल्पनीय है।

४३७. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कई श्रद्धा भक्ति से युक्त जन है, जैसे कि गृहपति यावत् उसकी नौकरानियाँ। उन्हें पहले से ही यह ज्ञात होता है, कि ये श्रमण भगवन्त शीलवान् यावत् मैथुनसेवन से ऊपरत होते हैं, इन भगवन्तों के लिए आधाकर्मदोष से युक्त उपाश्रय में निवास करना कल्पनीय नहीं है। अतः हमने अपने प्रयोजन के लिए जो ये लोहकारशाला यावत् भूमि गृह आदि मकान बनवाए हैं, वे सब मकान हम इन श्रमणों को दे देंगे, और हम अपने प्रयोजन के लिए बाद में दूसरे लोहकारशाला आदि मकान बना लेंगे।

गृहस्थों का इस प्रकार का वार्तालाप सुनकर तथा समझकर भी जो निर्ग्रन्थ श्रमण गृहस्थों द्वारा (भेंट रूप में) प्रदत्त उक्त प्रकार के लोहकारशाला आदि मकानों में आकर ठहरते हैं, वहाँ ठहर कर वे अन्यान्य छोटे-बड़े उपहार रूप घरों का उपयोग करते है, तो आयुष्मान् शिष्य! उनकी वह शय्या (वसतिस्थान) वर्ज्यक्रिया से युक्त हो जाती है।

४३८. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कई श्रद्धालुजन होते है, जैसे कि-गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्री, पुत्र, पुत्रवधू, धायमाता, दास-दासियां आदि। वे उनके आचार-व्यवहार से तो अनभिज्ञ होते हैं, लेकिन वे श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से प्रेरित होकर बहुत से श्रमण, ब्राह्मण यावत् भिक्षाचरों को गिन-गिन कर उनके उद्देश्य से जहाँ-तहाँ लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि विशाल भवन बनवाते हैं। जो निर्ग्रन्थ साधु उस प्रकार के (गृहस्थों द्वारा श्रमणादि की गिनती करके बनवाये हुए) लोहकारशाला आदि भवनों में आकर रहते है, वहाँ रहकर वे अन्यान्य छोटे-बड़े उपहार रूप में प्रदत्त घरों का उपयोग करते हैं तो वह शय्या उनके लिए महावर्ज्य क्रिया से युक्त हो जाती है।

४३९. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कई श्रद्धालु व्यक्ति होते हैं, जैसे कि—गृहपति, उसकी पत्नी यावत् नौकरानियाँ आदि। वे उनके आचार-व्यवहार से तो अज्ञात होते हैं, लेकिन श्रमणों के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से युक्त होकर सब प्रकार के श्रमणों के उद्देश्य से लोहकारशाला यावत् भूमिगृह बनवाते है। सभी श्रमणों के उद्देश्य से निर्मित उस प्रकार के (लोहकारशाला अदि) मकानों में जो निर्ग्रन्थ श्रमण आकर ठहरते हैं, तथा गृहस्थों द्वारा उपहार रूप में प्रदत्त अन्यान्य गृहों को उपयोग करते हैं, उनके लिए वह शय्या सावद्यक्रिया दोष से युक्त हो जाती है।

४४०. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में गृहपति, उनकी पत्नी, पुत्री, पुत्रवधू आदि कई श्रद्धा-भक्ति से ओतप्रोत व्यक्ति हैं, उन्होंने साधुओं के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में तो

जाना-सुना नहीं है, किन्तु उनके प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से प्रेरित होकर उन्होंने किसी एक ही प्रकार के निर्ग्रन्थ श्रमण वर्ग के उद्देश्य से लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि मकान जहाँ-तहाँ बनवाए हैं। उन मकानों का निर्माण पृथ्वीकाय के महान् समारम्भ से यावत् त्रसकाय के महान् संरम्भ-समारम्भ और आरम्भ से तथा नाना प्रकार के महान् पाप कर्मजनक कृत्यों से हुआ है जैसे कि—साधु वर्ग के लिए मकान पर छत आदि डाली गई हैं, उसे लीपा गया है, संस्तारक कक्ष को सम बनाया गया है, द्वार के ढक्कन लगाया गया है, इन कार्यों में शीतल सचित्त पानी पहले ही डाला गया है, (शीतनिवारणार्थ—) अग्नि भी पहले प्रज्वलित की गयी है। जो निर्ग्रन्थ श्रमण उस प्रकार के आरम्भ-निर्मित लोहकारशाला आदि मकानों में आकर रहते हैं, भेंट रूप में प्रदत्त छोटे-बड़े गृहों में ठहरते हैं, वे द्विपक्ष (द्रव्य से साधुरूप और भाव से गृहस्थरूप) कर्म का सेवन करते हैं। आयुष्मन्! (उन श्रमणों के लिए) यह शय्या महासावद्यक्रिया दोष से युक्त होती है।

४४१. इस संसार में पूर्वादि दिशाओं में कतिपय गृहपति यावत् नौकरानियाँ श्रद्धालु व्यक्ति है। वे साधुओं के आचार-व्यवहार के विषय में सुन चुके हैं, वे साधुओं के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से प्रेरित भी हैं, किन्तु उन्होंने अपने निजी प्रयोजन के लिए यत्र-तत्र मकान बनवाए हैं, जैसे कि लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि। उनका निर्माण पृथ्वीकाय के यावत् त्रसकाय के महान संरम्भ-समारम्भ एवं आरम्भ से तथा नानाप्रकार के पापकर्मजनक कृत्यों से हुआ है। जैसे कि—छत डालने-लीपने, संस्तारक कक्ष सम करने तथा द्वार का ढक्कन बनाने में पहले सचित्त पानी डाला गया है, अग्नि भी प्रज्वलित की गई है। जो पूज्य निर्ग्रन्थ श्रमण उस प्रकार के (गृहस्थ द्वारा अपने लिए निर्मित) लोहकारशाला यावत् भूमिगृह आदि वास स्थानों में आकर रहते हैं, अन्यान्य प्रशस्त उपहाररूप पदार्थों का उपयोग करते हैं वे एकपक्ष (भाव से साधुरूप) कर्म का सेवन करते हैं। हे आयुष्मन्! (उन श्रमणों के लिए) यह शय्या अल्पसावद्यक्रिया (निर्दोष) रूप होती हैं।

विवेचन—नौ प्रकार की शय्याएं : कौन-सी अग्राह्य कौनसी ग्राह्य? सूत्र ४३२ से लेकर ४४१ तक नौ प्रकार की शय्याओं का प्रतिपादन करके शास्त्रकार ने प्रत्येक प्रकार की शय्या के गुण-दोषों का विवेक भी बता दिया है। बृहत्कल्प भाष्य में भी शय्याविधिद्वार में इन्हीं नौ प्रकार की शय्याओं का विस्तार से निरूपण किया है—

कालातिक्कंतोवट्ठाण-अभिकंत-अणभिकंता य।
वज्जा य महावज्जा सावज्ज महऽप्पकिरिया य॥

अर्थात्—शय्या नौ प्रकार की होती है, जैसेकि—(१) कालातिक्रान्ता, (२) उपस्थाना, (३) अभिक्रान्ता, (४) अनभिक्रान्ता, (५) वर्ज्या, (६) महावर्ज्या, (७) सावद्या, (८) महासावद्या और (९) अल्पक्रिया।

भाष्यकार एवं वृत्तिकार ने वहाँ प्रत्येक का लक्षण देकर विस्तृत वर्णन दिया है जो इस प्रकार है—

(१) कालातिक्रान्ता—वह शय्या है, जहां साधु ऋतुबद्ध (मासकल्प—शेष) काल और वर्षा काल (चौमासे) में रहे हों, ये दोनों काल पूर्ण होने पर भी जहाँ ठहरा जाए।

(२) उपस्थाना—ऋतुबद्धवास और वर्षावास का जो काल नियत है, उससे दुगुना काल अन्यत्र विताए विना ही अगर पुनः उसी उपाश्रय में आकर साधु ठहरते हैं तो वह उपस्थाना-शय्या कहलाती है।[1]

(३) अभिक्रान्ता—जो शय्या (धर्मशाला) सार्वजनिक और सार्वकालिक (यावन्तिकी) है, उसमें पहले से चरक, पाषण्ड, गृहस्थ आदि ठहरे हुए हैं, बाद में निर्ग्रन्थ साधु भी आकर ठहर जाते हैं तो वह अभिक्रान्ता-शय्या कहलाती है।

(४) अनभिक्रान्ता—वैसी ही सार्वजनिक-सार्वकालिक (यावन्तिकी) शय्या (धर्मशाला) में चरकादि अभी तक ठहरे नहीं हैं, उसमें यदि निर्ग्रन्थ साधु ठहर जाते हैं, तो वह अनभिक्रान्ता कहलाती है।

(५) वर्ज्या—वसति (शय्या) वह कहलाती है, जो अपने लिए गृहस्थ ने बनवाई थी, लेकिन बाद में उसे साधुओं को रहने के लिए दे दी, और स्वयं ने दूसरी वसति अपने लिए बनवा ली। वह वर्जित होने के कारण साधु के लिए वर्ज्या—त्याज्य है।

(६) महावर्ज्या—जो वसति (मकान) बहुत-से श्रमणों, भिक्षाचरों, ब्राह्मणों आदि के ठहरने के लिए गृहस्थ नये सिरे से आरम्भ करके बनवाता है, वह महावर्ज्या कहलाती है।[2] वह अकल्पनीय है।

(७) सावद्या—जो वसति पाँचों ही प्रकार के श्रमणों (निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक, आजीवक) के लिए गृहस्थ बनाता है, वह सावद्या-शय्या कहलाती है।

(८) महासावद्या—जो सिर्फ जैन-श्रमणों के निमित्त ही गृहस्थ द्वारा बनवाई जाती है, वह महासावद्या-शय्या कहलाती है।[3]

---

१. चूर्णिकार के शब्दों में उपस्थाना की व्याख्या—'उवट्ठाणा-एते चेव करेत्ता दुगुणं अपरिहरेत्ता पुणो करेति।'—अर्थात्—उपस्थाना दोषयुक्त शय्या वह है, जहाँ ऋतुबद्धवास या वर्षावास—ये दोनों नियतकाल तक बिताकर उनसे दुगुना-दुगुना काल विताए विना ही पुनः ऋतुबद्धवास या वर्षावास किया जाए।" उदाहरण के लिए एक मासकल्प ठहरकर दो मास बाहर बिताना तथा एक वर्षावास करके दो वर्षावास अन्यत्र बिताना यह विधि है, इसका उल्लंघन करने पर उपस्थानाक्रिया लगती है।

२. चूर्णिकार महावर्ज्या और सावद्या-शय्या का अन्तर बताते हुए कहते हैं—"महावज्जा पासंडाणं अट्ठाए, एसा चेव वत्तव्वया, सावज्जा पंचण्हं समणाणं पगणित २, एसा चेव वत्तव्वया"—अर्थात्—महावर्ज्या पाषण्डों—साधुवेषधारियों के लिए होती है, यह वक्तव्यता (गुरु-परम्परा) है; तथा सावद्या पाँच प्रकार के श्रमणों के लिए बनवाई जाती है, यह वक्तव्यता है।

३. 'महासावद्या' के सम्बन्ध में चूर्णिकारकृत व्याख्या—"महासावज्जा एगं समणजातं, समुद्दिस जाव भवणगिहाणि वा महता छज्जीवनिकाय-समारंभेणं महता आरंभसमारंभेणं अणेगप्पगारेहिं च आरंभेहि संजयट्ठाए छावेंति, लिप्पंति संथारगा ओयट्टगा कुणंति, दुवारं करेंति, पिधति वाडो।'—

(६) अल्पसावद्यक्रिया—जो शय्या पूर्वोक्त (कालातिक्रान्तादि) दोषों से रहित गृहस्थ के द्वारा केवल अपने ही लिए, अपने ही प्रयोजन से बनाई जाती है, और उसमें विचरण करते हुए साधु अनायास ही ठहर जाते है, वह अल्प सावद्यक्रिया कहलाती है।[1] 'अल्प' शब्द यहाँ अभाव का वाचक है। अतएव ऐसी वसति सावद्यक्रिया रहित अर्थात् निर्दोष है।[2]

कालातिक्रान्ता आदि के सूत्रों से पूर्व अन्य मतानुयायी साधुओं के वारवार आवागमन वाले आवास स्थानों में निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए ऋतुवद्ध मासकल्प या चातुर्मासकल्प करने का निषेध किया गया है, उसका कारण यह है कि ऊपरा-ऊपरी किसी एक ही स्थान में मासकल्प या चातुर्मासकल्प करने से दूसरे स्थानों को लाभ नहीं मिलता, साधुओं के दर्शन-श्रवण के प्रति अरुचि एवं अश्रद्धा पैदा हो जाती है। 'अतिपरचयादवज्ञा' वाली कहावत भी चरितार्थ हो सकती है। मूल में यहाँ 'साहम्मिएहिं ओवयमाणेहिं' पद हैं, जिनका शब्दशः अर्थ होता है—यदि साधर्मिक साधु बरावर आते-जाते हों तो···।

इन नौ प्रकार की शय्याओं में पहले-पहले की ८ शय्याएँ[3] दोष युक्त होने से साधुओं के लिए अविहित मालूम होती है, अन्तिम 'अल्पसावद्यक्रिया' या 'अल्पक्रिया' शय्या विहित है। वास्तव में देखा जाए तो प्रथम दो प्रकार की शय्या (वसतिस्थान या मकान) अपने आप में दोषयुक्त नहीं है, वे दोनों साधु के अविवेक के कारण दोषयुक्त बनती है। अभिक्रान्ता और अनभिक्रान्ता शय्या को वृत्तिकार क्रमशः अल्पदोषा और अकल्पनीया वताते हैं। अभिक्रान्ता में उक्त आवास स्थानों के निर्माण में भावुक गृहस्थ का उद्देश्य सभी प्रकार के भिक्षाचरों को ठहराने का होता है, उनमें 'निर्ग्रन्थ-श्रमण' भी उसके निर्माण-उद्देश्य के अन्तर्गत आ जाते है।

—अर्थात्—एक प्रकार के साधर्मिक श्रमण-वर्ग के उद्देश्य से गृहस्थ जो लोहकारशाला यावत् भवनगृह आदि वनवाता है, षट्जीवनिकाय के महान् सम्मारम्भ से, महान आरम्भ-समारम्भ से। साथ ही अनेक प्रकार के आरम्भों से संयमी साधु के लिए मकान पर छप्पर छाता है, लीपता है, संस्तारकों को अदल-बदल करता है, द्वार वनवाता है, वाड़ा वन्द करता है। वृत्तिकार किसी एक साधर्मिक के उद्देश्य से बनाई हुई शय्या को महासावद्या कहते है।

१. चूर्णिकार ने अल्पसावद्या की व्याख्या इस प्रकार की है—"अप्पसावज्जाए—अप्पणो सयट्ठाए चेवेति, इतराइतरेहिं, इह अप्पसत्थाणि वज्जिता पसत्थेहिं पाहुडेहिं णेव्वाणस्स सग्गस्स वा एगपक्खं कम्मं सेवति। एगवक्खं इरियावहियं। एसा अप्पसावज्जा।"—अल्पसावद्या शय्या—गृहस्थ अपने—निजी प्रयोजन के लिए वनवाता है। इतराइतरेहिंपाहुडेहिं·······इसमें अप्रशस्त प्राभृत (साधु के लिए सावद्यक्रिया से युक्त मकान की भेंट) छोड़कर साधु प्रशस्त प्राभृतों (तप, संयम, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि निरवद्य क्रियाओं के उपहारों) से निर्वाण का या स्वर्ग के एकपक्षीय कर्म का सेवन करता है। एकपक्ष=ईर्यापथिक। यह अल्पसावद्याशय्या का स्वरूप है।

२. वृहत्कल्पभाष्य मलय० वृत्ति गा० ५९३ से ५९९ तक।

३. एक मत के अनुसार—९ में से—अभिक्रान्ता एवं अल्पसावद्यक्रिया दो को छोड़कर शेष ७ अग्राह्य है।

और अनभिक्रान्ता में तो वे आवासगृह अभी पुरुषान्तरकृत, परिभुक्त एवं आसेवित न होने से अकल्पनीय हैं ही—निर्ग्रन्थ साधुओं के आवास के लिए।

वर्ज्या और महावर्ज्या दोनों प्रकार की शय्या अकल्पनीय हैं, क्योंकि वर्ज्या में साधु-समाचारी से अनभिज्ञ गृहस्थ साधु को उपाश्रय देने हेतु पहले अपने लिए बनाने का बहाना बनाता है; महावर्ज्या में गृहस्थ उक्त आवासस्थान को श्रमणादि की गणना करके उनके निमित्त से ही उक्त आवासगृह बनवाता है, इसलिए वह निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए कल्पनीय नहीं हो सकता। अब रही सावद्या और महासावद्या शय्या। जब गृहस्थ सभी प्रकार के श्रमणों के लिए आवासगृह बनवाता है, उसमें ठहरने पर निर्ग्रन्थ साधु के लिए वह सावद्या शय्या हो जाती है, क्योंकि सावद्या में तो उपाश्रय-निर्माण में षट्कायिक-जीवों का संरभ, समारम्भ और आरम्भ होता है। वही शय्या जब खासतौर से सिर्फ निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए ही गृहस्थ बनवाता है, और उसमें निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी ठहरते हैं तो वह उनके लिए 'महा-सावद्या' हो जाती है। वृत्तिकार ने दोनों प्रकार की शय्याओं को अकल्पनीय, अप्रासुक एवं अनेषणीय बताई हैं। महासावद्याशय्या का सेवन करने से साधु द्विपक्ष-दोष का भागी होता है।

पाँच प्रकार के श्रमण ये हैं—'निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुअ-आजीव पंचहा समणा' (१) निर्ग्रन्थ, (२) शाक्य (बौद्ध), (३) तापस, (४) गैरिक और (५) आजीवक ये पाँच प्रकार के श्रमण हैं।

जहाँ गृहस्थ केवल अपने निमित्त अपने ही विशिष्ट प्रयोजन के लिए विभिन्न मकानों का निर्माण कराता है, उसमें आरम्भजनित क्रिया उस गृहस्थ को लगती है, साधु तो उसमें विहार करता हुआ आकर अनायास—सहज रूप में ही ठहर जाता है, मासकल्प या चातुर्मास कल्प बिताता है तो उसके लिए वह अल्पक्रिया-शय्या निर्दोष है, कल्पनीय है। यहाँ वृत्तिकार 'अल्प' शब्द को अभाववाचक मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस आवासस्थान के निर्माण में साधु को आधाकर्मादि कोई दोष नहीं लगता. कोई क्रिया नहीं लगती, वह परिकर्मादि से मुक्त सावद्यक्रियारहित शय्या है। उस उपाश्रय में निरवद्य क्रियाएँ साधु करता है, इसलिए शास्त्रकार ने मूल में इसका नाम 'अल्पक्रिया' न रखकर 'अल्पसावद्यक्रिया' रखा है।

'उडुबद्धियं' आदि पदों के अर्थ—उडुबद्धियं=ऋतुबद्धकाल—शेषकाल यानी चातुर्मास छोड़-कर आठ मास; मासकल्प, वासावासियं=वर्षावास सम्बन्धी काल—चातुर्मास काल या चातुर्मास कल्प। उवातिणित्ता=व्यतीत करके, अपरिहरित्ता=परिहार न करके, यानी अन्यत्र न बिता-कर। सड्ढा=श्राद्ध=श्रावक गण या श्रद्धालु भक्तजन। आएसणाणि=लुहार, सुनार आदि की शालाएँ, आयतणाणि=देवालयों के पास बनी हुई धर्मशालाएँ या कमरे। सभा=वैदिक आदि लोगों की शालाएँ, पणियगिहाणि=दूकानें, पणियसालाओ=विक्रेय वस्तुओं को रखने के गोदाम, कम्मंताणि=कारखाने, दब्भ=दर्भ, वब्भ=वर्ध्र=चमड़े की बरत—रस्सा, वव्व या वक्क=वल्कल—छाल। सेलोवट्ठाण=पाषाणमण्डप, भवणगिहाणि=भूमिगृह, तलघर। पाहुडेहिं=

उपहार रूप में प्राप्त, भेंट दिये हुए गृह, वट्टति=उपयोग में लाते हैं। वहवे समणजाते=अनेक प्रकार के श्रमणों=पंचविध श्रमणों को, एगं समणजातं=सिर्फ एक प्रकार के निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग को, उवागच्छंति=आकर रहते हैं, ठहरते हैं।

'छावणतो' का तात्पर्य है—संयमी साधु के लिए गृहस्थ मकान पर छप्पर छाता है, या मकान पर छत डालता है।

संथार-दुवारपिहणतो— का तात्पर्य है—साधु के लिए ऊबड़-खाबड़ संस्तारक भूमि—सोने की जगह को समतल करवाता है, तथा द्वार को बन्द करने या ढकने के लिए कपाट आदि बनवाता है; या द्वार को बन्द करवाता है।

दुपक्खं ते कम्मं सेवंति—वृत्तिकार ने इस पंक्ति की व्याख्या यों की है—

"द्रव्य से वे साधुवेषी हैं, किन्तु साधु जीवन में आधाकर्म-दोष युक्त उपाश्रय (वसति) के सेवन के कारण भाव से गृहस्थ हैं। एक ओर राग और एक ओर द्वेष है, एक ओर ईर्यापथ है तो दूसरी ओर साम्परायिक है, इस प्रकार द्रव्य से साधु के और भाव से गृहस्थ के कर्मो का सेवन करने के कारण वे 'द्विपक्षकर्म' का सेवन करते हैं।

एगपक्ख ते कम्म सेवंति=वे (साधु) एक पक्षीय यानी साधु-जीवन के लिए कल्पनीय, उचित, उपयुक्त कर्म (कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, शयनासनादि क्रियाएँ) करते हैं।

४४२. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

सूत्र ४४२. यह (शय्यैषणाविवेक) ही उस भिक्षु या भिक्षुणी के लिए (ज्ञानादि आचार-युक्त भिक्षुभाव की) समग्रता है।

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

उपाश्रय-छलना-विवेक

४४३. से य णो सुलभे[1] फासुए उंछे अहेसणिज्जे, णो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं, तंजहा—छावणतो लेवणतो संथार-दुवार पिहाणतो पिंडवातेसणाओ। से य भिक्खू चरियारते ठाण-

१. से य णो सुलभे० आदि पंक्तियों का रहस्यार्थ चूर्णिकार के शब्दों में—

संबंधो अफासुगाणं विवेगो, फासुगाणं गहणं वसहीणं। से य णो सुलभे फासुए उवस्सए। आहारो सुहं सोहिज्जति, वसही दुक्खं उंछं अण्णातं अण्णातेण, कतरे उंछे? अहेसणिज्जे जहा एसणिज्जें। सड्ढो पुच्छति उज्जुगं साहुं—किमत्थ साहुणो ण अच्छंति? भणति—पडिस्सतो णत्थि

रते णिसीहियारते सेज्जा-संथार-पिंडवातेसणारते, संति भिक्खुणो एवमक्खाइणो उज्जुकडा[1] णियागपडिवण्णा[2] अमायं कुव्वमाणा वियाहिता।

संतेगतिया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा[3] भवति, एवं णिक्खित्तपुव्वा भवति, परिभाइयपुव्वा भवति, परिभुत्तपुव्वा भवति, परिट्ठवियपुव्वा भवति, एवं वियागरेमाणे समिया वियागरेइ ?

हंता भवति।

४४३. वह प्रासुक, उंछ और एषणीय उपाश्रय सुलभ नहीं है। और न ही इन सावद्यकर्मों (पापयुक्त क्रियाओं) के कारण उपाश्रय शुद्ध (निर्दोष) मिलता है, जैसे कि कहीं साधु के निमित्त उपाश्रय का छप्पर छाने से या छत डालने से, कहीं उसे लीपने-पोतने से, कही संस्तारक भूमि सम करने से, कहीं उसे बन्द करने के लिए द्वार लगाने से, कहीं शय्यातर-गृहस्थ द्वारा साधु के लिए आहार बनाकर देने से एषणादोष लगाने के कारण।

[कदाचित उक्त दोषों से रहित उपाश्रय मिल भी जाए, फिर भी साधु की आवश्यक

अप्पणो व णाउं पडिस्सयं करेउं (इ ?), एवं नो सुलभे फासुए उंछे। ण य सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं ति कारणेहिं, काणि वा ताणि ? छावणं गलमाणीते कुड्डमाणीते, भूमीते वा लेवणं, संथारओ उयट्टगो दुवारा खुड्डगा महल्लगा करेंति, पिहणं वाडस्स दारस्स वा, पिंडवातं वा मम गिण्ह, ण दोसा।"

—अर्थात् यहाँ प्रसंग अप्रासुक उपाश्रयों का विवेक और प्रासुकों का ग्रहण करना है। वही प्रासुक उपाश्रय सुलभ नहीं है। आहार की शोध सुखपूर्वक हो सकती है, वसति की दुःखपूर्वक। कोई श्रावक भद्र साधु से पूछता है—साधु इस गाँव में क्यों नहीं टिकते ? वह कहता है—उपाश्रय नहीं है। साधु के लिए श्रावक उपाश्रय बनवाते हैं। इस कारण प्रासुक और उंछ उपाश्रय सुलभ नहीं हैं। इन सावद्य युक्त कारणों (प्राभृतों) से उपाश्रय शुद्ध (निर्दोष) नही रहता—वे कौन से कारण हैं ? वे ये हैं—साधु के लिए मकान के गले (ऊपर के सिरे) से लेकर या दीवार से लेकर उस पर छप्पर छा देना, या छत डाल देना, जमीन (फर्स) पर लीपना, संस्तारक भूमि का कूट-पीट कर चूर-चूर कर डालना, छोटे दरवाजों को बड़े बनाना, वाड़े या दरवाजे को ढकना या किवाड़ बनाना, फिर शय्यातर गृहस्थ की ओर आहार लेने का आग्रह, न लो तो द्वेषभाव। ये सब सावद्यकर्म रूप कारण हैं।

१. 'उज्जुकडा' के स्थान पर पाठान्तर है— उज्जुयकडा, उज्जुयडा, उजुअडा, उज्जुया आदि।

२. णियागपडिवण्णा का अर्थ चूर्णिकार ने किया है— चरित्तपडिवण्णा चारित्रप्रतिपन्न=मोक्षार्थी।

३. उक्खित्तपुव्वा आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में देखिए—"सो गिहत्थो मज्झ अस्सिं भत्ति, एकेसां एगता उक्खित्तपुव्वा पढमं साहूणं उक्खिवति अग्गे भिक्खं हिंडताणं.........उक्खित्तपुव्वा, मा एतं चरगादीणं देह। परिभुत्तपुव्वा तं अप्पणा भुंजंति साहूण य देंति, परिट्ठवियपुव्वा अच्चणियं करेंति।"

—"अर्थात् वह गृहस्थ यों सोचकर कि मेरी इन पर भक्ति है, कई साधुओं के लिए पहले से उस मकान को अलग स्थापित कर (रख) देता है; भिक्षा के लिए घूमते हुए साधुओं को देखकर कहता है— "यह मकान चरकादि परिव्राजकों को मत देना, ऐसी शय्या उत्क्षिप्तपूर्वा है। परिभुत्तपुव्वा—जिसका पहले स्वयं उपभोग कर लेता है, फिर साधुओं को देता है। परिट्ठवियपुव्वा—साधुओं के लिए खाली कराकर उस मकान को अर्चनीय-सुन्दर बना देता है।

क्रियाओं के योग्य उपाश्रय मिलना कठिन है, क्योंकि] कई साधु बिहार चर्या-परायण हैं, कई कायोत्सर्ग करने वाले हैं, कई स्वाध्यायरत हैं, कई साधु (वृद्ध, रोगी, अशक्त आदि के लिए) शय्या-संस्तारक एवं पिण्डपात (आहार-पानी) की गवेषणा में रत रहते हैं। इस प्रकार संयम या मोक्ष का पथ स्वीकार किये हुए कितने ही सरल एवं निष्कपट साधु माया न करते हुए उपाश्रय के यथावस्थित गुण-दोष (गृहस्थों को) वतला देते हैं।

कई गृहस्थ (इस प्रकार की छलना करते हैं), वे पहले से साधु को दान देने के लिए उपाश्रय बनवा कर रख लेते हैं, फिर छलपूर्वक कहते हैं—"यह मकान हमने चरक आदि परिव्राजकों के लिए रख छोड़ा है, या यह मकान हमने पहले से अपने लिए बना कर रख छोड़ा है, अथवा पहले से यह मकान भाई-भतीजों को देने के लिए रखा है, दूसरों ने भी पहले इस मकान का उपयोग कर लिया है, नापसन्द होने के कारण वहुत पहले से हमने इस मकान को खाली छोड़ रखा है। पूर्णतया निर्दोष होने के कारण आप इस मकान (उपाश्रय) का उपयोग कर सकते हैं।" विचक्षण साधु इस प्रकार के छल को सम्यक्तया जान-कर दोषयुक्त मालूम होने पर उस उपाश्रय में न ठहरे।

(शिष्य पूछता है—) "गृहस्थों के पूछने पर जो साधु इस प्रकार उपाश्रय के गुण-दोषों को सम्यक् प्रकार से वतला देता है, क्या वह सम्यक् कहता है ?"

(शास्त्रकार उत्तर देते हैं—) 'हां, वह सम्यक् कथन करता है।'

विवेचन—उपाश्रय-गवेषणा में छला न जाए—इस सूत्र में सरलप्रकृति भद्र साधु को उपाश्रय गवेषणा के सम्बन्ध में होने वाली छलना से सावधान रहने का निर्देश किया है।

वृत्तिकार ने इस सूत्र की भूमिका के रूप में साधु और गृहस्थ का संवाद योजित किया है—कदाचित ग्राम में भिक्षा के लिए या उपाश्रय के अन्वेषणार्थ किसी साधु को गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होते देख कोई श्रद्धालु भद्र गृहस्थ यह कहे कि "भगवन् ! यहाँ आहार-पानी की सुलभता है, अत आप किसी उपाश्रय की याचना करके यहीं रहने की कृपा करें। इसके उत्तर में साधु यह कहता है—"यहां प्रासुक आहार पानी मिलना तो दुर्लभ नहीं है, किन्तु जहाँ आहार पानी का उपयोग किया जाए ऐसा प्रासुक (आधाकर्म आदि दोषों से रहित) उंछ (छादन-लेपनादि उत्तरगुण-दोष रहित) तथा एषणीय (मूलोत्तर-गुण-दोष रहित) उपाश्रय मिलना दुर्लभ है।"

मूलोत्तर-गुण-विशुय उपाश्रय (शय्या)—वृत्तिकार ने (१) मूलगुण-विशुद्ध, (२) उत्तरगुण-विशुद्ध एवं (३) मूलोत्तरगुण-विशुद्ध, यों तीनों प्रकार की वसति (उपाश्रय) की व्याख्या इस प्रकार की है—

पट्ठी वंसो दो धारणाओ चत्तारि मूलवेलीओ।
मूलगुणेहिं विसुद्धा एसा आहागडा वसही ॥१॥

वंस कडणोकंपण-छायण-लेवण-दुवारभूमीओ ।
परिकम्मविप्पमुक्का एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥२॥
दूमिअ-धूपिअ-वासिअ-उज्जोविअ बलिकडा अ वत्ता य ।
सित्ता सम्मट्ठा वि अ विसोहि-कोडीगया वसही ॥३॥
मूलुत्तरगुणसुद्धं थी-पसु-पंडग-विवज्जियं वसहिं ।
सेवेज्ज सव्वकालं, विवज्जए हुंति दोसा उ ॥४॥

—पुट्ठी, वांस, दो धारण और चार मूल बल्लियाँ, इस सामग्री मे स्वाभाविक रूप से गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनायी हुई यह वसति (वासस्थान) मूल गुणों से विशुद्ध है।

—तथा वांस चटाई, काष्ठ का हाता, छादन-लेपन, द्वार निर्माण, भूमि सम करना आदि परिकर्म्मों से विमुक्त जो वसति है, वह भी मूलोत्तरगुण-विशुद्ध है।

गृहस्थ द्वारा अपने लिए सफेद की हुई, धुएं से काली, धूप से सुवासित, प्रकाश की हुई वलि की हुई, उपयोग में ली हुई, सींची हुई, घिस कर चिकनी की हुई वसति भी विशुद्धि की कोटि के अन्तर्गत है।

साधु को सदा मूल और उत्तर गुणों से शुद्ध तथा स्त्री-पशु-नपुंसक रहित वसति का सेवन (उपयोग) करना चाहिए, इससे विपरीत होने पर वह दोष युक्त हो जाती है।[1]

शुद्ध-निर्दोष वसति के लिए सर्व प्रथम तीन बातें अपेक्षित हैं—१. प्रासुक २. उंछ और ३. एषणीय। अर्थात्—क्रमशः (१) आधाकर्मादिदोष से रहित, (२) छादनादि उत्तरगुण-दोष से रहित और (३) मूलोत्तरगुण-रहित होनी चाहिए। इन तीनों के अतिरिक्त वह साधु की आवश्यक क्रियाओं के लिए उपयुक्त भी होनी चाहिए। इसीलिए निर्दोष एवं उपयुक्त वसति का मिलना दुर्लभ बताया है।[2]

मुनि अन्धभक्ति के चक्कर में न आए—किसी सरल निष्कपट मुनि से उपाश्रय के दोषों को जानकर कोई अन्धभक्त (अति श्रद्धालु) गृहस्थ मुनि को उपाश्रय बनाकर भेंट देने के लिए चालाकी से अनेक प्रकार से उसकी निर्दोषता सिद्ध कर देता है यथा—(१) पहले हमने परिव्राजकों के लिए बनाया था, (उत्क्षिप्तपूर्वा) (२) या पहले हमने अपने लिए बनाया था, (निक्षिप्तपूर्वा) (३) पहले हमने अपने भाई-भतीजों को देने के लिए रखा था (परिभाइयपुव्वा) (४) हमने या दूसरों ने इसका उपयोग भी पहले कर लिया है, (परिभुत्तपुव्वा) (५) नापसंद होने के कारण बहुत पहले से हमने इसे छोड़ दिया है (परिट्ठवियपुव्वा)।"[3]

विचक्षण मुनि गृहस्थ के इस प्रकार के वाग्जाल में न फंसे, वह सम्यक् रूप से छान-वीन करे, यही शास्त्रकार का आशय है।

पिंडवातेसणाओ का तात्पर्य वृत्तिकार बताते हैं—किसी गृहस्थ से आज्ञा लेकर उसके उपाश्रय में निवास करने पर वह (शय्यातर) साधु के लिए भक्तिवश आहार बनवाकर मुनि

---

१. आचारांगवृत्ति, पत्रांक ३६८ २. वही, पत्रांक ३६८ ३. वही, पत्रांक ३६९

से लेने का आग्रह करता है, लेने पर मुनि को शय्यातरपिण्ड-ग्रहण नामक दोष लगता है, न लेने पर मुनि के प्रति उसके मन में रोष, द्वेष, अवज्ञा आदि होना संभव है।

'वियागरमाणे समिया वियागरेइ ?' इस पंक्ति का आशय चूर्णिकार यों बताते हैं—उपाश्रय के गुण-दोष बताने वाला निष्कट भद्र साधु सम्यक् कथन करता है ? अर्थात् कर्म बन्धन से लिप्त तो नहीं होता ? इसके उत्तर में कहते हैं, हां वह ठीक ही कहता है," अर्थात् कर्मबन्ध से लिप्त नहीं होता।' निष्कर्ष यह है कि भावुक गृहस्थ साधु के कथन पर से उपाश्रय निर्माण के लिए जो भी आरम्भ-समारम्भ करता है, उस पापकर्म का भागी उपाश्रय के दोष बताने वाला साधु नहीं होता।[1]

उपाश्रय में यतना के लिए प्रेरणा—

४४४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—खुड्डियाओ[2] खुड्डदुवारियाओ णितियाओ संणिरुद्धाओ भवंति, तहप्पगारे उवस्सए राओ वा वियाले वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा पुराहत्थेण पच्छापाएण ततो संजयामेव णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

केवली बूया आयाणमेतं। जे तत्थ समणाण[3] वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा डंडए

१. आचारांग चूर्णि में देखिये—स एवं साहू अक्खायमाणो सम्यक् अक्खाति, ण लिप्पति कम्मबंधेणं ? अस्स गाहा (१) वागरणं—हंता ! सम्यक् भणति, ण लिप्पति कम्मबंधेण इत्यर्थः।

२. खुड्डियाओ आदि पदों की व्याख्या चूर्णि में इस प्रकार है—खुड्डि=खुड्डि एव दुवारं संनिरुद्धं खुड्लगं वा। णिच्चिताओ, ण उच्चाओ। संनिरुद्धा साधुहिं अन्नेहि वा भरितिया, अहवा खुड्डलिया चेव भण्णंति संणिरुद्धया। एतासु दिवा वि ण कप्पति. कारणठियाणं, जयणा। राति—विगाला भणिता। पुराहत्थेण रयहरणेण, हत्योपचारं कृत्वा। पच्छा पादं करेज्जा।" अर्थात्—खुड्डि=छोटा दुवारं=द्वार है, संनिरुद्ध=बंद है, अथवा क्षुद्रक है। णिच्चिताओ=ऊँचा नहीं है। संनिरुद्धा=दूसरे साधुओं से भरा पड़ा है, अथवा छोटे-से मकान को ही सन्निरुद्धक=चारों ओर से बंद कहते है। ऐसे मकानों में दिन में भी रहना नहीं कल्पता। कारणवश रहने वाले साधुओं के लिए यह यतना रात्रि और विकाला (सन्ध्या) के लिए बताई है। पुराहत्थेण=रजोहरण से हाथ का उपचार करके पहले टटोले, पच्छापाएण=फिर पैर उठाए।

३. "जे तत्थ समणाण वा—, आदि पदों की व्याख्या चूर्णि में इस प्रकार की है—के च दोसा ? समणा पंच, माहणा धीयारा अहवा सावगा, छत्तं छत्तमेव, मत्तए उच्चारादि, भण्डए वा पादणिज्जोगो सव्वं वा उवगरणं, लट्ठी आयप्पमाणा, भिसिता कट्ठमयी, भिसिगाभिसिगा चेव, चेलग्गहणा वत्थं, च (छि) लिमणी दोरो, चम्मए मिगचम्मं उवाहणाओ वा, चम्मकोसओ खल्लओ अंगुट्ठकोसए वा, चम्मच्छेदणयं—वब्भो।"—

—अर्थात्—वे दोष कौन-से ? समणा=५ प्रकार के श्रमण, माहणा=ब्राह्मण या श्रावक, छत्त=छत्रक (छाता), मत्तए=उच्चारादि के लिए तीन भाजन, भंडए=पात्र-निर्योग (पात्र व इससे सम्बन्धित सामान) या समस्त उपकरण, लट्ठी=अपनी ऊँचाई के बराबर, भिसिता=काष्ठमय आसन अथवा ऋसि-आसन (वृषिका), चेल=वस्त्र, चिलमिरी=रस्सा या मच्छरदानी, यवनिका।

वा लट्ठिया वा भिसिया वा णालिया वा चेले वा चिलिमिली वा चम्मए वा चम्मकोसए वा चम्मच्छेदणए वा दुबद्धे दुणिक्खित्ते अणिकंपे चलाचले, भिक्खू य रातो वा वियाले वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा जाव इंदियजातं वा लूसेज्ज वा पाणाणि वा ४ अभिहणेज्ज वा जाव ववरोवेज्ज वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारे उवस्सए पुराहत्थेण पच्छापादेण ततो संजयामेव णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

४४४. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने, जो छोटा है, या छोटे द्वारों वाला है, तथा नीचा है, या नित्य जिसके द्वार बन्द रहते हैं, तथा चरक आदि परिव्राजकों से भरा हुआ है। इस प्रकार के उपाश्रय में (कदाचित् किसी कारणवश साधु को ठहरना पड़े तो) वह रात्रि में या विकाल में भीतर से बाहर निकलता हुआ या बाहर से भीतर प्रवेश करता हुआ पहले हाथ से टटोल ले, फिर पैर से संयम (यतना) पूर्वक निकले या प्रवेश करे। केवली भगवान् कहते हैं—(अन्यथा) यह कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि वहाँ पर शाक्य आदि श्रमणों के या ब्राह्मणों के जो छत्र, पात्र, दंड, लाठी, ऋषि-आसन (वृषिका), नालिका (एक प्रकार की लम्बी लाठी या घटिका), वस्त्र, चिलिमिली (यवनिका, पर्दा या मच्छरदानी) मृगचर्म, चर्मकोश, (चमड़े की थैली) या चर्म-छेदनक (चमड़े का पट्टा) हैं,[1] वे अच्छी तरह से बंधे हुए नहीं हैं, अस्त-व्यस्त रखे हुए हैं, अस्थिर (हिलने वाले) हैं, कुछ अधिक चंचल है, (उनकी हानि होने का डर है)। रात्रि में या विकाल में अन्दर से बाहर या बाहर से अन्दर (अयतना से) निकलता-घुसता हुआ साधु यदि फिसल पड़े या गिर पड़े (तो उनके उक्त उपकरण टूट जाएंगे) अथवा उस साधु को फिसलने या गिर पड़ने से उसके हाथ, पैर सिर या अन्य इन्द्रियों (अंगोंपांगों) के चोट लग सकती है या वे टूट सकते है, अथवा प्राणी, भूत, जीव और सत्वों को आघात लगेगा, वे दब जाएंगे यावत् वे प्राण रहित हो जाएंगे।

इसलिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने पहले से यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि इस प्रकार के (संकड़े छोटे और अन्धकारयुक्त) उपाश्रय में रात को या विकाल में पहले हाथ से टटोल कर फिर पैर रखना चाहिए, तथा यतनापूर्वक भीतर से बाहर या बाहर से भीतर गमनागमन करना चाहिए।

चम्मए—मृगचर्म अथवा चमड़े के जूते। चम्मकोसओ—चमड़े का थैला, खलीता या चमड़े का मौजा, चम्मच्छेदणए—चमड़े का वस्त्र/पट्टा।

१. चर्मच्छेदनक—एक प्रकार का चर्म डोरा, जो दो वस्त्र खण्ड को जोड़ने के काम में आता था। देखें—चम्मपरिच्छेयणग—वर्ध्रः तद् विच्छिन्नसंधानार्थं अथवा द्विखण्ड-संधानहर्तो ध्रियते—व्यवहार सूत्र उ० ८ वृत्ति (अभि० भाग ३। पृ० ११२३)

विवेचन—उपाश्रयनिवास के समय विवेक और सावधानी—इस सूत्र में निर्दोष उपाश्रय मिलने पर भी तीन बातों की ओर साधु का ध्यान खींच गया है—(१) छोटे संकीर्ण, नीचे दरवाजों वाले या नीची छत के या अंधेरे वाले उपाश्रय में बिना कारण न ठहरे, (२) जहाँ पहले से ही अनेक अन्यमतीय श्रमणों या माहनों की भीड़ हो, वहाँ भी बिना कारण न ठहरे, (३) कारण वश ऐसे मकान में ठहरना पड़े तो रात में या सन्ध्याकाल में जाते-आते समय किसी वस्तु या व्यक्ति के जरा-सी भी ठेस न लगाते हुए हाथ या रजोहरण से टटोल कर चले, अन्यथा वस्तु को या दूसरों को अथवा स्वयं को हानि पहुंचाने की सम्भावना है। इस प्रकार के विवेक और सावधानी बताने के पीछे शास्त्रकार का आशय अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा से है। अन्य श्रमणों या भिक्षाचरों को भी निर्ग्रन्थ साधुओं के व्यवहार से जरा-सा भी मनोदुःख न हो, न घृणा हो, साथ ही अपना भी अंग-भंग आदि होने से आर्तध्यान न हो, इसी दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र में विवेक और सावधानी का निर्देश है।[1]

उपाश्रय-याचना विधि

४४५. से आगंतारेसु[2] वा ४ अणुवीयी उवस्सयं जाएज्जा[3]। जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाधिट्ठाए[4] ते उवस्सयं अणुण्णवेज्जा—कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिण्णातं वसिस्सामो, जाव आउसंतो, जाव आउसंतस्स उवस्सए, जाव साहम्मिया,[5] एत्ताव ता उवस्सयं गिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो।

४४६. से भिक्खू वा २ जस्सुवस्सए संवसेज्जा तस्स पुव्वामेव णामगोत्तं[6] जाणेज्जा, तओ

---

१. आचरांग वृत्ति पत्रांक ३६९ के आधार पर,

२. 'आगंतारेसु वा' के बाद '४' का चिन्ह सूत्र ४३२ के 'आगंतारेसु वा' से 'परियावसहेसु' तक के पाठ का सूचक है।

३. जाएज्जा के स्थान पर जाणेज्जा पाठ किसी-किसी प्रति में मिलता है।

४. समाधिट्ठाए के स्थान पर समाहिट्ठाए पाठ मानकर चूर्णिकार अर्थ करते है—समाहिट्ठाए= पभुसंदिट्ठो=स्वामी के द्वारा आदिष्ट=नियुक्त।

५. जाव साहम्मिया आदि पंक्ति की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार कहते है—"जत्तिया तुमं इच्छसि जे वा तुमं भणसि णामेणं असुओ गोत्तेणं विसेसितो, कारणे एवं, णिक्कारणे ण ठायंति, तेण परं जति तुमं उविट्ठिज्जिहिसि ण वा तव रोइहिहि उवस्सओ वा भज्जिहिति परेण विहरिस्सामो।" —जब तक तुम चाहते हो, या जिन साधुओं का नाम लेकर अथवा जिस गौत्र से विशिष्ट बताया है. वे कारणवश उतने ही, उसी (उतने ही) स्थान में ठहरेंगे, बिना कारण नहीं रहेंगे। उस अवधि के पश्चात् यदि तुम इसे खाली कराओगे, या तुम्हें पसन्द न होगा या उपाश्रय का दूसरे कोई उपयोग करेंगे, तो हम विहार कर देंगे।"

६. णामगोत्तं जाणेज्जा—का आशय चूर्णिकार बताते है—णामगोत्तं जाणेत्ता—भत्तपाणं ण गिण्हिति।" साधु (शय्यातर का) नाम-गोत्र जान कर—उसके घर का आहार-पानी नही लेता है।

पच्छा तस्स गिहे णिमंतेमाणस्स वा अणिमंतेमाणस्स वा असणं वा ४ अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

४४५. वह साधु पथिकशालाओं, आरामगृहों, गृहपति के घरों, परिव्राजकों के मठों आदि को देख-जान कर और विचार करके कि यह उपाश्रय कैसा है ? इसका स्वामी कौन है ? आदि बातों का विचार करके फिर (इनमें से किसी) उपाश्रय की याचना करे। जैसे कि वहाँ पर या उस उपाश्रय का स्वामी है, (या स्वामी द्वारा नियुक्त) समधिष्ठाता है, उससे आज्ञा मांगे और कहे—'आयुष्मन् ! आपकी इच्छानुसार जितने काल तक और (इस उपाश्रय का) जितना भाग (स्थान) आप (ठहरने के लिए) देना चाहें, उतने काल तक, उतने भाग में हम रहेंगे।"

गृहस्थ यह पूछे कि "आप कितने समय तक यहाँ रहेंगे ?" इस पर मुनि उत्तर दे— "आयुष्मन् सद्गृहस्थ ! [वैसे तो कारण विशेष के विना हम ऋतुबद्ध (शेष) काल में एक मास तक और वर्षाकाल में चार मास तक एक जगह रह सकते हैं; किन्तु] आप जितने समय तक और उपाश्रय के जितने भाग में ठहरने की अनुज्ञा देंगे, उतने समय और स्थान तक में रहकर फिर हम विहार कर जाएंगे। इसके अतिरिक्त जितने भी साधर्मिक साधु (पठन-पाठनादि कार्य के लिए) आएंगे, वे भी आपकी अनुमति के अनुसार उतने समय और उतने भाग में रहकर फिर विहार कर जाएंगे।"

४४६. साधु या साध्वी जिस गृहस्थ के उपाश्रय में निवास करें, उसका नाम और गोत्र पहले से जान लें। उसके पश्चात् उसके घर में निमंत्रित करने (बुलाने) या न करने (न बुलाने) पर भी उसके घर का अशनादि चतुर्विध आहार अप्रासुक-अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।

विवेचन—उपाश्रय-याचना और निवास के पश्चात्—सूत्र ४४५ में उपाश्रय-याचना के पूर्व और पश्चात् की व्यावहारिक विधि बताई गई है। उपाश्रय-याचना से पूर्व साधु उसकी प्रासुकता, एषणीयता, निर्दोषता तथा उपयोगिता की भलीभाँति जांच-परख कर लें, साथ ही उसके स्वामी तथा स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी की जानकारी कर लें; सम्भव है, वह नास्तिक हो, साधु-द्वेषी हो, अन्य सम्प्रदायानुरागी हो, देना न चाहता हो। इतनी बातें अनुकूल हों, तब साधु उस मकान के स्वामी या अधिकारी से उपाश्रय की याचना करे। एक बात का विशेष ध्यान रखे कि वह मुनियों की निश्चित संख्या न बताए।[1] (क्योंकि दूसरे साधुओं का आवागमन होता रह सकता है—कभी कम, कभी अधिक भी हो सकते हैं।)

उपाश्रय याचना के बाद स्वीकृति मिलते ही उस उपाश्रय स्थान के दाता (शय्यातर) का नाम-गोत्र तथा घर भी जान ले ताकि उसके घर का आहार-पानी न लेने का ध्यान रखा जा सके।[2] यही सूत्र ४४६ का आशय है।

---

१. आचारांग सूत्र वृत्ति पत्रांक ३७० के आधार पर। २. वही, पत्रांक ३७०।

निषिद्ध उपाश्रय

४४७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा सागारियं सागणियं सउदयं, णो पण्णस्स[1] णिक्खमण-पवेसाए[2] णो पण्णस्स वायण जाव+ चिंताए, तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४४८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा गाहावतिकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए पडिबद्धं वा, णो पण्णस्स णिक्खमण जाव+ चिंताए, तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४४९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा जाव [3]उद्दवेंति वा, णो पण्णस्स जाव+ चिंताए। से एवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४५०. से भिक्खू वा से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गातं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए[4] वा अब्भंगे [गें] ति वा मक्खे [क्खें] ति वा, णो पण्णस्स जाव+ चिंताए, तहप्पगारे उवस्सए णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४५१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायं सिणाणेण वा कक्केण वा लोद्धेण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसंति वा पघंसंति वा उव्वलेंति वा उव्वट्टेंति वा, णो पण्णस्स णिक्खमण-पवेसे[5] जाव णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४५२. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा—इह खलु गाहावती वा जाव

---

१. 'णो पण्णस्स' आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार यों करते हैं—'पण्णो आयरिओ अहवा विदू जाणओ, तस्स पण्णस्स ण भवति निष्क्रमण-प्रवेश-संकट इत्यर्थः। वायण-पुच्छण-परियट्टण-धम्माणुओगचिंताए सागारिए ण ताणि सक्कंति करेउं, तम्हा अणादीणि ण कुज्जा।'

—अर्थात् पण्ण का अर्थ है, आचार्य (प्रज्ञ) अथवा विद्वान्, ज्ञायक, उस प्राज्ञ का निष्क्रमण और प्रवेश उचित नहीं है। वाचना, पृच्छना, पर्यटना, धर्मानुयोगचिन्ता आदि गृहस्थ परिवारयुक्त उपाश्रय में नहीं किए जा सकते, इसलिए स्थानादि कार्य वहाँ न करे।

२. पवेसाए के स्थान पर पविस्साए, पविसाए और पविसणाए पाठान्तर हैं।

+ इस चिन्ह से जाव शब्द से णिक्खमण से लेकर धम्माणुओगचिंताए तक का पाठ सूत्र ३४८ के अनुसार।

३. अक्कोसंति के बाद जाव शब्द अक्कोसंति से लेकर उद्दवेंति तक के सारे पाठ का सूचक है, सूत्र ४२२ के अनुसार।

४. किसी-किसी प्रति में 'वसाए वा' पाठ नहीं है।

५. यहाँ जाव शब्द से 'पवेसे' से लेकर णो ठाणं वा तक का पूर्ण पाठ समझें।

कम्मकरीओ वा अण्णमण्णस्स गायं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेंति वा पधोवेंति[1] वा सिंचंति वा सिणावेंति वा, णो पण्णस्स जाव+ णो ठाणं वा २ चेतेज्जा।

४५३. इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा णिगिणा ठिता णिगिणा उवल्लीणा मेहुणधम्मं विण्णवेंति रहस्सियं वा मंतं मंतेति, णो पण्णस्स जाव+ णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४५४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उवस्सयं जाणेज्जा आइण्णं[3] सलेक्खं[4], णो पण्णस्स जाव+ णो ठाणं वा ३ चेतेज्जा।

४४७. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने, जो गृहस्थों से संसक्त हो, अग्नि से युक्त हो, सचित्त जल से युक्त हो, तो उसमें प्राज्ञ साधु-साध्वी को निर्गमन-प्रवेश करना उचित नहीं है और न ही ऐसा उपाश्रय वाचना, (पृच्छा, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मानुयोग—) चिन्तन के लिए उपयुक्त है। ऐसे उपाश्रय में कायोत्सर्ग, (शयन-आसन तथा स्वाध्याय) आदि कार्य न करे।

४४८. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने, जिसमें निवास के लिए गृहस्थ के घर में से होकर जाना पड़ता हो, अथवा जो उपाश्रय गृहस्थ के घर से प्रतिबद्ध (सटा हुआ। निकट) है, वहाँ प्राज्ञ साधु का आना-जाना उचित नहीं है, और न ही ऐसा उपाश्रय वाचनादि स्वाध्याय के लिए उपयुक्त है। ऐसे उपाश्रय में साधु स्थानादि कार्य न करे।

४४९. यदि साधु या साध्वी ऐसे उपाश्रय को जाने कि इस उपाश्रय—बस्ती में गृह-स्वामी, उसकी पत्नी, पुत्र-पुत्रियाँ, पुत्रवधूएं, दास-दासियाँ आदि परस्पर एक दूसरे को कोसती हैं—झिड़कती हैं, मारती-पीटती, यावत् उपद्रव करती है, प्रज्ञावान् साधु को इस प्रकार के उपाश्रय में न तो निर्गमन-प्रवेश ही करना योग्य है, और न ही वाचनादि स्वाध्याय करना उचित है। यह जानकर साधु उस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि कार्य न करे।

४५०. साधु या साध्वी अगर ऐसे उपाश्रय को जाने, कि इस उपाश्रय-बस्ती में गृहस्थ, उसकी पत्नी, पुत्री यावत् नौकरानियाँ एक-दूसरे के शरीर पर तेल, घी, नवनीत या वसा से मर्दन करती हैं या चुपड़ती, (लगाती) हैं, तो प्राज्ञ साधु का वहाँ जाना-आना ठीक नहीं है और न ही वहाँ वाचनादि स्वाध्याय करना उचित है। साधु उस प्रकार के उपाश्रय में स्थानादि कार्य न करे।

---

१. पधोवंति के स्थान पर पाठान्तर है— पहोयंति, पहोअंति। अर्थ वही है।

+ इस चिन्ह से 'निक्खमण' से धम्माणुओगचिंताए, तक का समग्र पाठ सूत्र ३४८ वत्।

२. इसके स्थान पर पाठान्तर है—आइण्ण संलेक्खं, आइन्न संलेक्खं, आतेण्ण सलेक्खं, आइण्णसलेक्खं। अर्थ समान है।

३. तुलना कीजिए :— चित्तभित्ति न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे॥ —दशवै० ८/५४

४. यहाँ जाव शब्द से पण्णस्स से लेकर णो ठाणं वा तक का पाठ समझें।

४५१. साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने, कि इस उपाश्रय में गृहस्वामी यावत् नौकरानियाँ परस्पर एक दूसरे के शरीर को स्नान करने योग्य पानी से, कर्क से, लोध से, वर्णद्रव्य से, चूर्ण से, पद्म से मलती हैं, रगड़ती हैं, मैल उतारती हैं, उबटन करती हैं; वहाँ प्राज्ञ साधु का निकलना या प्रवेश करना उचित नहीं है और न ही वह स्थान वाचनादि स्वाध्याय के लिए उपयुक्त है। ऐसे उपाश्रय में साधु स्थानादि कार्य न करे।

४५२. वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने कि इस उपाश्रय—बस्ती में गृहस्वामी, गृहस्थ पत्नी, पुत्री, यावत् नौकरानियाँ परस्पर एक दूसरे के शरीर पर प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से छींटे मारती हैं, धोती हैं, सींचती हैं, या स्नान कराती है, ऐसा स्थान प्राज्ञ के जाने-आने या स्वाध्याय के लिए उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार के उपाश्रय में साधु स्थानादि क्रिया न करे।

४५३. साधु या साध्वी ऐसे उपाश्रय को जाने, जिसकी बस्ती में गृहपति, उसकी पत्नी, पुत्र-पुत्रियाँ यावत् नौकरानियाँ आदि नग्न खड़ी रहती हैं या नग्न बैठी रहती हैं, और नग्न होकर गुप्त रूप से मैथुन-धर्म विषयक परस्पर वार्तालाप करती हैं, अथवा किसी रहस्यमय अकार्य के सम्बन्ध में गुप्त-मंत्रणा करती हैं; तो वहाँ प्राज्ञ—साधु का निर्गमन-प्रवेश या वाचनादि स्वाध्याय करना उचित नहीं हैं। इस प्रकार के उपाश्रय में साधु कायोत्सर्गादि क्रिया न करे।

४५४. वह साधु या साध्वी यदि ऐसे उपाश्रय को जाने जो गृहस्थ स्त्री-पुरुषों आदि के चित्रों से सुसज्जित है, तो ऐसे उपाश्रय में प्राज्ञ साधु को निर्गमन-प्रवेश करना या वाचना आदि पंचविध स्वाध्याय करना उचित नहीं है। इस प्रकार के उपाश्रय में साधु स्थानादि कार्य न करे।

विवेचन—निषिद्ध उपाश्रय—सूत्र ४४७ से ४५४ तक आठ सूत्रों में आठ प्रकार के उपाश्रयों के उपयोग का निषेध किया गया है—

(१) वह उपाश्रय, जो गृहस्थ, अग्नि और जल से युक्त हो।

(२) जिसमें प्रवेश के लिए गृहस्थ के घर के बीचोबीच होकर जाना पड़ता हो, या जो गृहस्थ के घर से बिलकुल लगा हो।

(३) जिस उपाश्रय-बस्ती में गृहस्थ तथा उससे सम्बन्धित पुरुष स्त्रियाँ परस्पर एक दूसरे को कोसतीं, लड़तीं, उपद्रव आदि करती हों।

(४) जिस उपाश्रय-बस्ती में गृहस्थ-पुरुष-स्त्रियाँ एक दूसरे के तेल आदि की मालिश करती हों, चुपड़ती हों।

(५) जिस उपाश्रय-बस्ती में पुरुष-स्त्रियाँ एक दूसरे के शरीर पर लोध, चूर्ण, पद्म द्रव्य आदि मलतीं, रगड़तीं, उबटन आदि करती हों।

(६) जिस उपाश्रय के पड़ौस में पुरुष-स्त्री परस्पर एक दूसरे को नहलाते-धुलाते हों।

(७) जिस उपाश्रय के पड़ौस में पुरुष-स्त्रियाँ नंगी खड़ी-बैठी रहती हों, परस्पर मैथुन विषयक वार्तालाप करती हों, गप्त मंत्रणा करती हों।

(८) जिसकी दीवारों पर पुरुष-स्त्रियों के, विशेषतः स्त्रियों के चित्र हो।[1]

'·····मज्झंमज्झेण गंतु' वत्थए पडिबद्ध' इस पंक्ति में 'वत्थए' के वदले 'पंथए' पाठ मानकर वृत्तिकार इसकी व्याख्या करते हैं—जिस उपाश्रय का मार्ग गृहस्थ के घर के मध्य में से होकर है, वहाँ वहुत-से अनर्थों की सम्भावना के कारण नहीं रहना चाहिए। किन्तु वृहत्कल्पसूत्र में इससे सम्वद्ध दो पाठ हैं, उनमें 'वत्थए' पद हैं। 'नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धसेज्जाए वत्थए', नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेण गंतुं वत्थए।' प्रथम सूत्र में है जिस उपाश्रय में गृहस्थ का घर अत्यन्त निकट हो, दीवालें आदि लगी हुई हों उस उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता", दूसरे में है—"गृहस्थों के घर में से होकर जिस उपाश्रय में निर्गमन-प्रवेश किया जाता हो, उसमें रहना नहीं कल्पता। 'वृहत्कल्प सूत्र' के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में भी ये दोनों अर्थ प्रतिफलित होते हैं।[2]

'इह,खलु'''पदों का सूत्र ४४४ से ४५३ तक प्रयोग किया गया है। इनका तात्पर्य वृत्तिकार ने इस प्रकार वताया है—'यत्रप्रातिवेशिकाः' जहाँ पड़ौसी स्त्री पुरुष······· । आचारांग—अर्थागम में इसका अर्थ किया गया—'जिस उपाश्रय—वस्ती में····।' यही अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। जहाँ उपाश्रय के निकट ये कार्य होते हों, वहाँ से साधु का जाना-आना या वहाँ स्वाध्याय करना चित्त-विक्षेप या कामोत्तेजना होने से कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। और न ही ऐसे मकानों के पड़ौस में निवास किया जा सकता है।[3]

'णिगिणाठिता·····' इत्यादि वाक्य का भावार्थ चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के अनुसार यों है—'स्त्रियाँ और पुरुष नग्न खड़े रहते है, स्त्रियाँ नग्न ही प्रच्छन्न खड़ी रहती है, मैथुन-धर्म के सम्वन्ध में अविरति गृहस्थ या साधु को कहती है, रहस्यमयी मैथुन सम्बन्धी या मैथुन धर्म विपयक रात्रि-सम्भोग के विषय में परस्पर कुछ बातें करती है, अथवा अन्य गुप्त अकार्य सम्वद्ध रहस्य की मंत्रणा करती हैं। इस प्रकार के पड़ौस वाले उपाश्रय में कायोत्सर्ग आदि कार्य नहीं करने चाहिए।"[4]

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३७०-३७१ के आधार पर
२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७१
   (ख) वृहत्कल्पसूत्र मूल तथा वृत्ति १।३०, १।३२ पृष्ठ ७३७, ७३८
   (ग) कप्पसुत्त (विवेचन) मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' १/३२-३४ पृष्ठ १८-१९
३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७१ (ख) अर्थागम भाग १ पृ० ११२
४. (क) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० १५४—'णिगिणा णग्गाओ ट्ठियाओ अच्छंति, णिगिणा तो उवलिज्जंति, मेहुणधम्मं विन्नेवेंति=ओभासंति अविरतगं साहुं वा, रघस्सितं—मेहुणपत्तियं चेव अन्नं वा किंचि गुहं।' (ख) आचारांग सूत्र वृत्ति पत्रांक ३७१

'आइण्णं संलेक्खं' का तात्पर्य चूर्णिकार के अनुसार यों है—आइण्ण का अर्थ है—सागारिक गृहस्थ (स्त्री-पुरुष) आदि से व्याप्त, सलेक्ख का अर्थ है—चित्र कर्म से युक्त उपाश्रय।[1]

संस्तारक ग्रहणा-ग्रहण विवेक

४५५. [१] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा संथारगं एसित्तए। से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणगं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[२] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं गरुयं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[३] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं अप्पडिहारियं तहप्पगारं संथारगं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[४] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं पडिहारियं, णो अहाबद्धं, तहप्पगारं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

[५] से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुयं पडिहारियं अहाबद्धं, तहप्पगारं संथारगं जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा।

४५५. (१) कोई साधु या साध्वी संस्तारक की गवेषणा करना चाहे और वह जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों से यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो ऐसे संस्तारक को मिलने पर भी ग्रहण न करे।

(२) वह साधु या साध्वी, जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से तो रहित है, किन्तु भारी है, वैसे संस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे।

(३) वह साधु या साध्वी, जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, हलका भी है, किन्तु अप्रातिहारिक (दाता जिसे वापस लेना न चाहे) है, तो ऐसे संस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे।

(४) वह साधु या साध्वी, जिस संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, हलका भी है, प्रातिहारिक (दाता जिसे वापस लेना स्वीकार करे) भी है, किन्तु ठीक से बंधा हुआ नहीं है, तो ऐसे संस्तारक को भी मिलने पर ग्रहण न करे।

(५) वह साधु या साध्वी, संस्तारक को जाने कि वह अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, हलका है, प्रातिहारिक है और सुदृढ़ बंधा हुआ भी है, तो ऐसे संस्तारक को मिलने पर ग्रहण करे।

विवेचन—संस्तारक ग्रहण का निषेध-विधान—इस एक ही सूत्र के पाँच विभाग करके

---

१. (क) 'आदिण्णो णाम सागारियमादिणा, सलेक्खो सचित्तधम्म।' —आचा० चूर्णि० मूलपाठ पृ०-१६४
(ख) तुलना करें—(विहार में) स्त्री, पुरुष के चित्र नहीं बनवाना चाहिए। जो बनवाए उसे दुक्कटट का दोष हो। —विनयपिटक—चुल्लवग्ग, पृ० ४५५ (राहुल सां०)

शास्त्रकार ने स्पष्ट रूप में समझा दिया है कि जो संस्तारक जीव-जन्तु आदि से युक्त हो, भारी हो, अप्रातिहारिक हो और ठीक से बंधा हुआ न हो: उसे ग्रहण न करे, इसके विपरीत जो जीव-जन्तु आदि से रहित हो, हलका हो, प्रातिहारिक हो और ठीक से बंधा हुआ हो, उसे ग्रहण करे।

वृत्तिकार अण्डे आदि से युक्त संस्तारक के ग्रहण के निषेध करने का कारण बताते है कि जीव-जन्तु युक्त संस्तारक ग्रहण करने ने संयम-विराधना दोष होगा, भारी भरकम संस्तारक ग्रहण से आत्म-विराधनादि दोष होंगे, अप्रातिहारिक के ग्रहण से उसके परित्याग आदि दोष होंगे, ठीक से बंधा हुआ नहीं होगा तो उठाते-रखते ही वह टूट या बिखर जायगा, उसको संभालना या उसका ठीक मे प्रतिलेखन करना भी सम्भव न होगा। अत: बन्धनादि पलिमन्थ दोष होंगे।[1]

लहुयं के दो अर्थ फलित होते हैं—वजन में हलका और आकार में छोटा।

संथारग का संस्कृत रूप संस्तारक होता है। संस्तारक मे तात्पर्य उन सभी उपकरणों से हैं, जो साधु के सोने, बैठने, लेटने आदि के काम में आते हैं। प्राकृत शब्द कोष में संस्तारक के ये अर्थ मिलते हैं—शय्या, बिछौना (दर्भ, घास, कुश, पराल आदि का), पाट, चौकी, फलक, अपवरक, कमरा या पत्थर की शिला या ईंट चूने से बनी हुई शय्या; साधु का वासकक्ष।[2]

संस्तारक एषणा की चार प्रतिमा

४५६. इच्चेताइं आयतणाइं[3] उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए—

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७१

[ख] संस्तारक-विवेक की पंचसूत्री का निष्कर्ष चूर्णिकार ने इस प्रकार दिया है—"पढमं सअंडं संथारगं ण गेण्हेज्जा, बितियं अप्पंडं गरुयं तं पि ण गेण्हति, ततियं अप्पंडं लहुयं अपाडिहारियं न गिण्हति, चउत्थं अप्पंडं लहुयं पाडिहारियं णो अहाबद्धं ण गेण्हेज्जा, पंचमं अप्पंडं लहुगं पाडिहारियं अहाबद्धं पडिगाहिज्ज।"

—अर्थात् [१] पहला सअण्ड [जीवजन्तु-सहित] संस्तारक ग्रहण न करे। [२] द्वितीय संस्तारक अण्डे रहित है, किन्तु भारी है, उसे भी ग्रहण न करे, [३] तीसरा संस्तारक अंडे से रहित है, हलका है, किन्तु अप्रातिहारिक हैं, उसे भी ग्रहण न करे। [४] चौथा संस्तारक अंडे से रहित, हलका और प्रातिहारिक भी है लेकिन ठीक से बंधा नहीं है, तो भी ग्रहण न करे। [५] पाँचवा संस्तारक अण्डों आदि से रहित, वजन में हलका, प्रातिहारिक और सुदृढ़ रूप से बंधा हुआ है, अत: उसे ग्रहण करे।

२. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८४१

३. आयतणाइं के पाठान्तर हैं—आययणाइं, आतताइं। चूर्णिकार आययणाई पाठ स्वीकार करके व्याख्या करते हैं—आयतणाणि वा संसारस्स अप्पसत्थाइं पसत्थाइं, मोक्खस्स। अर्थात्—संसार के आयतन अप्रशस्त और मोक्ष के आयतन प्रशस्त होते हैं।

[१] तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय २ संथारगं जाएज्जा, तंजहा—इक्कडं वा कढिणं वा जंतुयं वा परगं वा मोरगं वा तणगं वा कुसं वा वव्वगं[1] वा पलालगं वा। से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भगिणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं संथारगं ? तहप्पगारं संथारगं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं एसणिज्जं[2] जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा। पढमा पडिमा।

[२] अहावरा दोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा २ पेहाए संथारगं जाएज्जा, तंजहा—गाहावतिं वा जाव कम्मकरिं वा। से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भगिणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं संथारगं ? तहप्पगारं संथारगं सयं वा णं जाएज्जा[3] जाव पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा।

[३] अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खु वा २ जस्सुवस्सए संवसेज्जा जे तत्थ अहासमण्णागते, तंजहा—इक्कडे वा जाव पलाले वा, तस्स[4] लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा। तच्चा पडिमा।

[४] अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा २ अहासंथडमेव संथारगं जाएज्जा। तंजहा-पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा। चउत्था पडिमा।

४५७. इच्चेताणं चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे जाव[5] अण्णोण्णसमाहीए एवं च णं विहरंति।

सू. ४५६. इन दोषों (वसतिगत एवं संस्तारकगत) के आयतनों (स्थानों) को छोड़कर साधु इन चार प्रतिमाओं (प्रतिज्ञाओं) में संस्तारक की एषणा करना जान ले—

(१) इन चारों में से पहली प्रतिमा यह है—साधु या साध्वी अपने संस्तरण के लिए आवश्यक और योग्य वस्तुओं का नामोल्लेख कर-कर के संस्तारक की याचना करे, जैसे इक्कड नामक तृण विशेष, कढिणक नामक तृण विशेष, जंतुक नामक तृण, परक (मुडंक) नामक घास, मोरंग नामक घास (या मोर की पांखों से बना हुआ), सभी प्रकार का तृण, कुश, कूर्चक, वर्वक नामक तृण विशेष, या पराल आदि। साधु पहले से ही इक्कड आदि किसी भी प्रकार

१. वव्वगं के स्थान पर पाठान्तर हैं—पप्पलगं, पिप्पलगं पप्पगं आदि। अर्थ समान हैं।
२. यहाँ जाव शब्द एसणिज्जं से लाभे संते के बीच में मण्णमाणे पाठ का सूचक है।
३. यहाँ जाव शब्द से जाएज्जा से लेकर पडिगाहेज्जा तक समग्र पाठ सू० ३३६ के अनुसार समझें।
४. तस्स अलाभे के पाठान्तर हैं—तस्सालाभे, तस्स अलाभे। अर्थ समान हैं।
५. यहाँ जाव शब्द से पडिवज्जमाणे से लेकर अण्णोण्णसमाहीए तक का समग्र पाठ सूत्र ४१० के अनुसार

की घास या बना हुआ संस्तारक देखकर गृहस्थ से नामोल्लेख पूर्वक कहे—आयुष्मान् सद्-गृहस्थ (भाई), या बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारक (योग्य पदार्थों) में से अमुक संस्तारक (योग्य पदार्थ) को दोगे / दोगी ? इस प्रकार के प्रासुक एवं निर्दोष संस्तारक की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ ही बिना याचना किए दे तो साधु उसे ग्रहण करले। यह प्रथम प्रतिमा है।

(२) इसके पश्चात् दूसरी प्रतिमा यह है—साधु या साध्वी गृहस्थ के मकान में रखे हुए संस्तारक को देखकर उसकी याचना करे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! क्या तुम मुझे इन संस्तारकों में से किसी एक संस्तारक को दोगे / दोगी ? इस प्रकार के निर्दोष एवं प्रासुक संस्तारक की स्वयं याचना करे, यदि दाता (गृहस्थ) बिना याचना किए ही दे तो प्रासुक एवं एषणीय जानकर उसे ग्रहण करे। यह द्वितीय प्रतिमा है।

(३) इसके अनन्तर तीसरी प्रतिमा यह है—वह साधु या साध्वी जिस उपाश्रय में रहना चाहता है, यदि उसी उपाश्रय में इक्कड यावत् पराल तक के संस्तारक विद्यमान हों तो गृह-स्वामी की आज्ञा लेकर उस संस्तारक को प्राप्त करके वह साधना में संलग्न रहे। यदि उस उपाश्रय में संस्तारक न मिले तो वह उत्कटुक आसन, पद्मासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह तीसरी प्रतिमा है।

(४) इसके बाद चौथी प्रतिमा यह है—वह साधु या साध्वी उपाश्रय में पहले से ही संस्तारक बिछा हुआ हो, जैसेकि वहाँ तृणशय्या, पत्थर की शिला, या लकड़ी का तख्त आदि बिछा हुआ रखा हो तो उस संस्तारक की गृहस्वामी से याचना करे, उसके प्राप्त होने पर वह उस पर शयन आदि क्रिया कर सकता है। यदि वहाँ कोई भी संस्तारक बिछा हुआ न मिले तो वह उत्कटुक आसन तथा पद्मासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह चौथी प्रतिमा है।

४५७. इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करके विचरण करने वाला साधु, अन्य प्रतिमाधारी साधुओं की निन्दा या अवहेलना करता हुआ यों न कहे—ये सब साधु मिथ्या रूप से प्रतिमा धारण किये हुए हैं, मैं ही अकेला सम्यक्‌रूप से प्रतिमा स्वीकार किये हुए हूँ।

ये जो साधु भगवान् इन चार प्रतिमाओं में से किसी एक को स्वीकार करके विचरण करते हैं, और मैं जिस (एक) प्रतिमा को स्वीकार करके विचरण करता हूँ; ये सब जिनाज्ञा में उपस्थित हैं। इस प्रकार पारस्परिक समाधिपूर्वक विचरण करे।

विवेचन—संस्तारक सम्बन्धी चार प्रतिज्ञाएं—इस सूत्र के चार विभाग करके शास्त्रकार ने संस्तारक की चार प्रतिज्ञाएं बताई हैं—(१) उद्दिष्टा, (२) प्रेक्ष्या, (३) विद्यमाना और (४) यथासंस्तृतरूपा। प्रतिज्ञा के चार रूप इस प्रकार बनते हैं—(१) उद्दिष्टा—फलक आदि में से जिस किसी एक संस्तारक का नामोल्लेख किया है, उसी को मिलने पर ग्रहण करूंगा, दूसरे को

नहीं, (२) प्रेक्ष्या—जिसका पहले नामोल्लेख किया था, उसी को देखूँगा, तब ग्रहण करूँगा, दूसरे को नहीं, (३) विद्यमाना—यदि उद्दिष्ट और दृष्ट संस्तारक शय्यातर के घर में मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्य स्थान से लाकर उस पर शयन नहीं करूँगा, और (४) यथासंस्तृतरूपा—यदि उपाश्रय में सहज रूप से रखा या बिछा हुआ पाट आदि संस्तारक मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।" साधु चारों में से कोई भी एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर सकता है।[1]

इक्कड आदि पदों के अर्थ—इक्कडं=इक्कड़ नामक तृण विशेष, या इस घास से निर्मित चटाई आदि, कढिणं=बांस, छाल आदि से बना हुआ कठोर तृण, या कढिणक नामक घास, कंधिम आदि का बिछाने का तृण, जंतुयं=जंतुक नामक घास, परगं=मुण्डक—पुष्पादि के गूँथने में काम आने वाला तृण, मोरगं=मोर पिच्छ से निष्पन्न या मोरंगा नाम की तृण की जाति, तणगं=सभी प्रकार के घास (तृण), कुसं=कुश या दर्भ, कुच्चगं=कूर्चक, जिससे कूँची आदि बनाई जाती है, उसका बना हुआ। वव्वगं=पिप्पलक या वर्वक नामक तृण विशेष, पलालगं=धान का पराल।

अहासंथडा की व्याख्या चूर्णिकार ने यों की है—अहासंथडा=यथासंस्तृत संस्तारक

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७२

(ख) इन चारों प्रतिमाओं की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—

प्रथम और द्वितीय प्रतिमा की व्याख्या—**"उद्दिट्ठे कताइ छिंदित्तु आणेज्ज तेण पेहा विसुद्धतरा, पेहा णाम पिक्खित्तु 'एरिसगं देहिं' बितिया पडिमा।"**—उद्दिष्टा में कदाचित् उस वस्तु को काट कर ले आए, इसलिए प्रेक्षा उससे विशुद्धतर है। प्रेक्षा कहते हैं—किसी संस्तारक योग्य वस्तु को देखकर **'मुझे ऐसी ही वस्तु दो'**—यह दूसरी प्रतिमा है।

तीसरी प्रतिमा की व्याख्या—**"ततिया अधासमण्णागता णाम जति बाहिं वसति बाहिं चेव इक्कडादि, णो अंतो साहीओ णो वेसणीओ आणेयव्वं, अह अंतो वसति अंतो चेव, इक्कडादि वा णत्थि तो उक्कुडगणेसज्जिओ विहरेज्जा।"**

तीसरी **'अहासमण्णागता'**(यथासमन्वागता) प्रतिमा इस प्रकार है—यदि वसति (शय्या) गाँव से बाहर है तो इक्कड़ आदि घास बाहर ही मिलेगा तो लेगा, अंदर से बनाया हुआ या एषणीय घास नहीं लाएगा, या नहीं मंगाएगा। यदि उपाश्रय गाँव के अन्दर है तो वह इक्कड़ आदि अंदर से ही लेगा, बाहर से लाया हुआ, एषणीय भी नहीं लेगा। यदि इक्कडादि घास अन्दर नहीं मिलता है तो वह उत्कटुक आसन या पद्मासन आदि से बैठकर सारी रात बिताएगा।

चौथी अहासंथडा प्रतिमा की व्याख्या—**"तत्यत्था अहासंथडा पुढविसिला ओयट्टओ, पासाणसिला, कट्ठसिला वा। सिलाए—गहणा गरूयं, अहासंथडगहणा भूमीए लग्गगं चेव।"**—चौथी संस्तारक प्रतिमा यों है—जो जैसा संस्तारक है, वैसा ही स्वाभाविक रूप से रहे, यही यथासंस्तृत संस्तारकप्रतिमा का आशय है। जैसे **पृथ्वीशिला**=मिट्टी की कठोर बनी हुयी शिला, पाषाणशिला या काष्ठ की बनी हुयी शिला। यहाँ शिलापट के ग्रहण करने के कारण 'भारी' भी ग्राह्य है, तथा **'अहासंथड'** पद के ग्रहण करने से जो संस्तारक भूमि से लगा हो, वह भी ग्राह्य है।

प्रतिमा वह है, जिसमें पृथ्वीशिला, पाषाणशिला, काष्ठशिला, ये शिलाएं भारी होने से भूमि से लगी हुई होनी चाहिए।[1]

णेसज्जिए—का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—निषद्यापूर्वक यानी पद्मासन आदि आसन से बैठकर।

इन सब संस्तारकों को ग्रहण करने की आज्ञा अधिक सजल प्रदेशों के लिए है।[2]

संस्तारक प्रत्यर्पण-विवेक

४५८. [1] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए[3]। से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणगं, तहप्पगारं संथारगं णो पच्चप्पिणेज्जा।

[2] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए। से ज्जं पुण संथारगं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं, तहप्पगारं संथारगं पडिलेहिय २ पमज्जिय २ आताविय २ विणिद्धुणिय[4] २ ततो संजतामेव पच्चप्पिणेज्जा।

४५८. [१] वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि (लाया हुआ) संस्तारक (दाता को) वापस लौटाना चाहे, उस समय यदि उस संस्तारक को अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त जाने तो उस प्रकार का संस्तारक (उस समय) वापस न लौटाए।

[२] वह भिक्षु या भिक्षुणी यदि (लाया हुआ) संस्तारक (दाता को) वापस सौंपना चाहे, उस समय उस संस्तारक को अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित जाने तो, उस प्रकार के संस्तारक को बार-बार प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके, सूर्य की धूप देकर एवं यतनापूर्वक झाड़कर, तब गृहस्थ (दाता) को संयत्नपूर्वक वापस सौंपे।

विवेचन—संस्तारक को वापस लौटाने में विवेक—इस सूत्र में संस्तारक-प्रत्यर्पण के समय साधु का ध्यान तीन बातों की ओर खींचा है—

[१] यदि प्रातिहारिक संस्तारक जीव-जन्तु, अण्डों आदि से युक्त है तो उस समय उसे न लौटाए।

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७२
   [ख] आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पणी पृ० १६५
   [ग] आचारांग, अत्थागमे प्रथम खण्ड, पृ० ११३
   [घ] पाइअसद्दमहण्णवो
२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७३ के अनुसार
३. पच्चप्पिणित्तए के स्थान पर पाठान्तर है—पच्चप्पिणियत्तए, पच्चपिणिपत्तए, पच्चणियत्तए। अर्थ समान हैं।
४. विणिद्धुणिय के स्थान पर पाठान्तर है—विद्धुणिय। चूर्णिकार ने 'विणिद्धुणिय' पद का भावार्थ दिया है—विणिद्धुणिय....चलिय—पच्चप्पिणेज्जा।' अर्थात्—उसे हिलाकर या झाड़कर वापस सौंपे या लौटाए।

[२] यदि वह जीवजन्तु आदि से रहित है, तो भी बिना देखे-भाले न लौटाए।

[३] लौटाने से पहले अच्छी तरह देख-भाल करके, झाड़-पोंछकर, सूर्य की धूप देकर साफ करके ठीक हालत में लौटाए।[1]

इन तीनों प्रकार के विवेक के पीछे अहिंसा, संयम और साधु के प्रति श्रद्धा-स्थायित्व का दृष्टिकोण है।

पच्चप्पिणित्तए आदि पदों का अर्थ—पच्चप्पिणित्तए=प्रत्यर्पण करना, वापस सौंपना, लौटाना। आतावियः=सूर्य के आतप में आतापित [गर्म] करके, विणिद्धुणिय=झाड़कर, यतनापूर्वक हिलाकर।

उच्चार-प्रस्रवण-प्रतिलेखना

४५६. से भिक्खू वा २ समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे [वा] पुव्वामेव पण्णस्स उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेज्जा।

केवली बूया–आयाणमेयं।

अपडिलेहियाए उच्चार-पासवणभूमीए, भिक्खू वा २ रातो वा वियाले वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेमाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा पायं वा जाव लूसेज्जा पाणाणि वा ४ जाव ववरोएज्जा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं पुव्वामेव पण्णस्स उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेज्जा।

४५६. जो साधु या साध्वी जंघादिबल क्षीण होने के कारण स्थिरवास कर रहा हो, या उपाश्रय में मासकल्पादि से रहा हुआ हो, अथवा ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ उपाश्रय में आकर ठहरा हो, उस प्रज्ञावान् साधु को चाहिए कि वह पहले ही उसके परिपार्श्व में उच्चार-प्रस्रवण-विसर्जन (मल-मूत्र त्याग) की भूमि को अच्छी तरह देखभाल ले।

केवली भगवान् ने कहा है—यह अप्रतिलेखित [बिना देखी भाली] उच्चार-प्रस्रवणभूमि कर्मबन्ध का कारण है।

कारण यह है कि वैसी (अप्रतिलेखित) भूमि में कोई भी साधु या साध्वी रात्रि में या विकाल में मल-मूत्रादि का परिष्ठापन करता (परठता) हुआ फिसल सकता है या गिर सकता है। उसके पैर फिसलने या गिरने पर हाथ, पैर, सिर या शरीर के किसी अवयव को गहरी चोट लग सकती है, अथवा उसके गिर पड़ने से वहाँ स्थित प्राणी, भूत, जीव या सत्त्व को चोट लग सकती है, ये दब सकते हैं, यहाँ तक कि मर सकते हैं।

इसी [महाहानि की सम्भावना के] कारण तीर्थंकरादि आप्त पुरुषों ने पहले से ही भिक्षुओं के लिए यह प्रतिज्ञा बताई है, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है, कि साधु को उपाश्रय में ठहरने से पहले मल-मूत्र-परिष्ठापन करने हेतु भूमि की आवश्यक प्रति लेखना कर लेनी चाहिए।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७३

विवेचन—मल-मूत्र-विसर्जनार्थ भूमि प्रतिलेखन-प्रस्तुत सूत्र में उपाश्रय में ठहरने से पूर्व साधु को विसर्जन भूमि को देख-भाल लेने पर जोर दिया है। जो साधु ऐसा नहीं करता, उसे स्व-पर-विराधना की महाहानि का दुष्परिणाम देखना पड़ता है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसी चेतन स्थण्डिल भूमि में १० विशेषताएँ होनी अनिवार्य बताई हैं—(१) जहाँ जनता का आवागमन न हो, न किसी की दृष्टि पड़ती हो, (२)—जिस स्थान का उपयोग करने से दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट या नुकसान न हो, (३) जो स्थान सम हो, (४) जहाँ घास या पत्ते न हों, (५) चींटी कुंथु आदि जीवजन्तु से रहित हो, (६) वह स्थान बहुत ही संकीर्ण न हो, (७) जिसके नीचे की भूमि अचित्त हो, (८) अपने निवास स्थान-गाँव से दूर हो, (९) जहाँ चूहे आदि के बिल न हो, (१०) जहाँ प्राणी या बीज फैले हुए न हो।[2]

विकाल में उच्चार-प्रस्रवण भूमि की प्रतिलेखना करना, साधु की समाचारी का महत्त्वपूर्ण अंग है, इसकी उपेक्षा करने से जीव हिंसा का दोष लगने की संभावना है।[3]

शय्या-शयनादि विवेक

४६०. [१] से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा सेज्जासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए, अण्णत्थ आयरिएण वा उवज्झाएण वा जाव[4] गणावच्छेइएण[5] वा बालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा णिवातेण वा पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरेज्जा।

[२] से भिक्खू वा २ बहुफासुयं सेज्जासंथारगं संथरित्ता अभिकंखेज्जा बहुफासुए सेज्जा-संथारए दुरुहित्तए। से भिक्खू वा २ बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरुहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय २ ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरुहेज्जा, दुरुहित्ता ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जासंथारए सएज्जा।

[३] से भिक्खू वा २ बहुफासुए सेज्जासंथारए सयमाणे णो अण्णमण्णस्स हत्थेण हत्थं पादेण पादं काएण कायं आसाएज्जा[6]। से अणासायमाणे ततो संजयामेव बहुफासुए सेज्जा-संथारए सएज्जा।

४६१. से भिक्खू वा २ ऊससमाणे वा[7] णीससमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३७३	२. उत्तराध्यन सूत्र अ० २४, गा. १६,१७,१८

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७३

४. यहाँ जाव शब्द से उवज्झाएण वा से लेकर गणावच्छेइएण वा तक का पाठ सूत्र ३९९ के अनुसार समझें।

५. गणावच्छेइएण के स्थान पर गणावच्छेएण पाठान्तर प्राप्त है

६. आसाएज्जा का अर्थ चूर्णिकार ने यों किया है—आसादेति-संघट्टेति।' अर्थात्—आसादेति (आसाएति) का अर्थ है—संघट्टा (स्पर्श) करता है।

७. ऊससमाणे वा णीससमाणे वा के स्थान पर पाठान्तर है—'ऊसासमाणे वा नीसासमाणें वा।'

जंभायमाणे वा उड्डोए वा वातणिसग्गे वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं[1] वा पोसयं वा पाणिणा परिपिहेत्ता ततो संजयामेव ऊससेज्ज वा जाव[2] वायणिसग्गं वा करेज्जा।

४६०. [१] साधु या साध्वी शय्या-संस्तारकभूमिकी प्रतिलेखना करना चाहे, वह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक, बालक, वृद्ध, शैक्ष (नव-दीक्षित), ग्लान एवं अतिथि साधु के द्वारा स्वीकृत भूमि को छोड़कर उपाश्रय के अन्दर, मध्य स्थान में या सम और विषम स्थान में, अथवा वात युक्त और निर्वातस्थान में भूमि का बार-बार प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन करके तब (अपने लिए) अत्यन्त प्रासुक शय्या-सँस्तारक को यतना पूर्वक बिछाए।

[२] साधु या साध्वी अत्यन्त प्रासुक शय्या-संस्तारक (पूर्वोक्त विधि से) बिछा कर उस अतिप्रासुक शय्या-संस्तारक पर चढ़ना चाहें तो उस अति प्रासुक शय्या-संस्तारक पर चढ़ने से पूर्व मस्तक सहित शरीर के ऊपरी भाग से लेकर पैरों तक भली भांति प्रमार्जन करके फिर यतनापूर्वक उस अतिप्रासुक शय्यासंस्तारक पर आरूढ हों। उस अतिप्रासुक शय्या-संस्तारक पर आरूढ़ हो कर तब यतनापूर्वक उस पर शयन करे।

[३] साधु या साध्वी उस अतिप्रासुक शय्यासँस्तारक पर शयन करते हुए परस्पर एक दूसरे को, अपने हाथ से दूसरे के हाथ की, अपने पैर से दूसरे के पैर की, और अपने शरीर से दूसरे के शरीर की आशातना नहीं करनी चाहिए। अपितु एक-दूसरे की आशातना न करते हुए यत्नापूर्वक अतिप्रासुक शय्या-संस्तारक पर सोना चाहिए।

४६१. वह साधु या साध्वी (शय्या-संस्तारक पर सोते-बैठते हुए) उच्छ्वास या निश्वास लेते हुए, खांसते हुए, छींकते हुए, या उबासी लेते हुए, डकार लेते हुए अथवा अपानवायु छोड़ते हुए पहले ही मुंह या गुदा को हाथ से अच्छी तरह ढांक कर यतना से उच्छ्वास आदि ले यावत् अपानवायु को छोड़े।

विवेचन—शय्या-संस्थारक-उपयोग के सम्बन्ध में विवेक—इन दो सूत्रों में शय्या-संस्तारक के उपयोग के सम्बन्ध में ५ विवेक सूत्र शास्त्रकार ने बताए हैं—

(१) आचार्यादि ग्यारह विशिष्ट साधुओं के लिए शय्यासंस्तारक भूमि छोड़कर शेषभूमि में यतना पूर्वक बहु प्रासुक शय्या संस्तारक बिछाए।

(२) शय्या-संस्तारक पर स्थित होते समय भी सिर से लेकर पैर तक प्रमार्जन करे।

(३) यातनापूर्वक शय्या संस्तारक पर सोए।

(४) शयन करते हुए अपने हाथ, पैर और शरीर, दूसरे के हाथ, पैर और शरीर से आपस में टकराएं नहीं, इसका ध्यान रखे, और।

---

१. 'आसयं पोसयं' पदों का अर्थ चूर्णि में इस प्रकार है—आसतं मुहं पोसयं अहिट्ठाणं—आसयं=मुख, पोसयं=गुदा।

२. जाव शब्द यहाँ इसी सूत्र में पठित ऊससमाणे आदि पाठक्रम का सूचक है।

(५) शयनकाल या शय्या पर उठते-बैठते श्वासोच्छ्वास, खांसी, छींक, उबासी, डकार, अपानवायुनिसर्ग आदि करने से पूर्व हाथ से उस स्थान को ढक कर रखे।[1]

वृत्तिकार कहते हैं—एक साधु को दूसरे साधु से एक हाथ दूर सोना चाहिए।[2]

'आएसेण' आदि पदों का अर्थ—आएसेण=पाहुना, अभ्यागत अतिथि, साधु। आसाएज्जा=संघट्टा करे, स्पर्श करे या टकराए। जंभायमाणे=उबासी—जम्हाई लेते हुए, उड्डोए=डकार लेते समय, वातणिसग्गे=अधोवायु छोड़ते समय, आसयं=आस्य-मुख, पोसयं=अधिष्ठान—मल-द्वार—गुदा।[3]

शय्या-समभाव

४६२. से भिक्खू वा २ समा वेगया[4] सेज्जा भवेज्जा, विसमा वेगया सेज्जा भवेज्जा, पवाता वेगया सेज्जा भवेज्जा, णिवाता वेगया सेज्जा भवेज्जा, ससरक्खा वेगया सेज्जा भवेज्जा, अप्पसरक्खा वेगया सेज्जा भवेज्जा, सदंस-मसगा वेगया सेज्जा भवेज्जा, अप्पदंस-मसगा वेगदा सेज्जा भवेज्जा, सपरिसाडा वेगया सेज्जा भवेज्जा, अपरिसाडा वेगया सेज्जा भवेज्जा, सउवसग्गा वेगया सेज्जा भवेज्जा, णिरुवसग्गा वेगया सेज्जा भवेज्जा, तहप्पगाराइं सेज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गहिततरागं[5] विहारं विहरेज्जा। णो किंचि वि गिलाएज्जा[6]।

---

१. इस सूत्र का भावार्थ चूर्णि में इस प्रकार है—"सेज्जासंथारग-भूमिए गिज्झंतीए इमे आयरियगादि एक्कारस मुतित्तु सेसाणं जहाराइणिया गणी अण्णगणाओ आयरिओ, गणधरो अज्जाणं वावारवाहत, एतेसिं विसेसो कप्पे, वालादीण य ट्ठाणा तत्थेव सम-विसम-पवाय-निवायाण य तत्रैव अंतो मज्झे वा।

—अर्थात् शय्यासंस्तारक भूमि ग्रहण करते समय, बिछाते समय, आचार्य आदि इन ११ विशिष्ट साधुओं को छोड़कर, शेष मुनियों के लिए यथारत्नाधिकक्रम से बिछाना चाहिए। गणी=अन्यगण से आया हुआ आचार्य, गणधर=आर्यो-साध्वियों का प्रवृत्तिवाहक। इनका विशेष कल्प होता है। बाल आदि साधुओं के लिए सँस्तारक स्थान वहीं सम, विषम प्रवात, निवात स्थान के अन्दर या बीच में होना चाहिए।

२. आचारांग मूल एवं वृत्ति पत्रांक ३७३।

३. (क) टीका सूत्र ३७३। (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पणी पृ० १६८। (ग) पाइअ-सद्द-महण्णवो।

४. 'वेगदा' पाठान्तर है।

५. चूर्णिकार ने पग्गहियतरं पाठान्तर मानकर उसका भावार्थ इस प्रकार किया है—प्रवात—णिवायादिसु पसत्थासु सइंगाला अप्पसत्थासु सधूमा।"—प्रवात-निर्वात आदि का प्रशस्त शय्याओं पर राग होने से अंगारदोष से युक्त, अथा अप्रशस्तशय्याओं पर द्वेष या घृणा होने से वे धूमदोष से युक्त बन जाती हैं।

६. इसके स्थान पर वृत्तिकार एवं चूर्णिकार ने "णो किंचि वलाएज्जा" पाठान्तर मान्य करके व्याख्या की है—"वलादि णाम मातं करेति, कहँ ? विसमदंस-मसगादिसु बाहिं अच्छति, अण्णत्थ वा।" वलादि का अर्थ है—माया करता है, कैसे ? विषम-दंश, मच्छर आदि होने पर वह बाहर चला जाता है। वृत्तिकार अर्थ करते हैं—"न तत्र व्यलीकादिकं कुर्यात्।"—इस विषय में मन में बुरा चिन्तन न करे।

४६२. संयमशील साधु या साध्वी को किसी समय सम शय्या मिले, किसी समय विषम मिले, कभी हवादार निवास-स्थान प्राप्त हो, कभी निर्वात (बंद हवा वाला) प्राप्त हो, किसी दिन धूल से भरा उपाश्रय मिले, किसी दिन धूल से रहित स्वच्छ मिले, किसी समय डांस-मच्छरों से युक्त मिले, किसी समय डांस-मच्छरों से रहित मिले, इसी तरह कभी जीर्ण-शीर्ण, टूटा-फूटा, गिरा हुआ मकान मिले, या कभी नया सुदृढ़ मकान मिले, कदाचित् उपसर्गयुक्त शय्या मिले, कदाचित् उपसर्ग-रहित मिले। इन सब प्रकार की शय्याओं के प्राप्त होने पर जैसी भी सम-विषम आदि शय्या मिली, उसमें समचित्त होकर रहे, मन में जरा भी खेद या ग्लानि का अनुभव न करे।

विवेचन—शय्या के सम्बन्ध में यथालाभ-सन्तोष करे—साधुजीवन में कई उतार-चढ़ाव आते हैं। कभी सुन्दर, सुहावना, हवादार, स्वच्छ, नया, रंग-रोगन किया हुआ, मच्छर आदि उपद्रवों से रहित, शान्त, एकान्त स्थान रहने को मिलता है तो कभी किसी गाँव में बिल्कुल रद्दी, टूटा-फूटा, या शर्दी मौसम में चारों ओर से खुला अथवा गर्मी में चारों ओर से बंद, गंदा डांस-मच्छरों से परिपूर्ण, जीर्ण-शीर्ण मकान भी कठिनता से ठहरने को मिल पाता है। ऐसे समय में साधु के धैर्य और समभाव की, कष्ट-सहिष्णुता और तितिक्षा की परीक्षा होती है। वह अच्छे या खराब स्थान के मिलने पर हर्ष या शोक न करे, बल्कि शान्ति और समतापूर्वक निवास करे। यही समभाव की शिक्षा, शय्यैषणा अध्ययन के उपसंहार में है।

'वेगया' आदि पदों के अर्थ—वेगया= किसी दिन या कभी, ससरक्खा=धूल से युक्त। सपरिसाडा=जीर्णता से युक्त, गली-सड़ी शय्या। संविज्जमाणहिं=इन तथा प्रकार की शय्या के विद्यमान होने पर भी। पग्गहिततरागं विहारं विहरेज्जा=जैसा भी जो भी कोई निवास स्थान मिल गया है—अच्छा-बुरा, उसी में समचित्त होकर रहे।[1]

गिलाएज्जा या वलाएज्जा? मूल प्रति में गिलाएज्जा पाठ है, जिसका अर्थ होता है—खिन्न या उदास हो। 'वलाएज्जा' पाठ वृत्ति और चूर्णि में है, उसका अर्थ है कुछ भी भला-बुरा न कहे। प्रशस्त शय्या पर राग होने से अंगारदोष और अप्रशस्त पर द्वेष होने से धूमदोष लगता है।[2]

४६३. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिते सदा जतेज्जासि त्ति बेमि।

४६३. यही (शय्यैषणा-विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी का सम्पूर्ण भिक्षुभाव है, कि वह सब प्रकार से ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप के आचार से युक्त होकर सदा समाहित होकर विचरण करने का प्रयत्न करता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ शय्यैषणा-अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय शैय्या-अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७३ के आधार पर,

२. आचारांग चूर्णि मू० पा० १६६,

ईर्या : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के तृतीय अध्ययन का नाम 'ईर्या' है।

☆ ईर्या का अर्थ यहाँ केवल गमन करना नहीं है। अपनेलिए भोजनादि की तलाश में तो प्रायः सभी प्राणी गमन करते हैं, उसे यहाँ 'ईर्या' नहीं कहा गया है। यहाँ तो साधु के द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से कल्प-नियमानुसार संयम भावपूर्वक यतना, एवं विवेक से चर्या (गमनादि) करना ईर्या है।[1]

☆ इस दृष्टि से यहाँ 'नाम-ईर्या', 'स्थापना-ईर्या' तथा 'अचित्त-मिश्र-द्रव्य-ईर्या' को छोड़ साधु के द्वारा 'सचित्त-द्रव्य-ईर्या', क्षेत्र-ईर्या, तथा काल-ईर्या से सम्बद्ध भाव-ईर्या विवक्षित है। चरण-ईर्या और संयम-ईर्या के भेद से भाव-ईर्या, दो प्रकार की होती है। अतः—स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चारों का समावेश 'ईर्या' में हो जाता है।[2]

☆ साधु का गमन किस प्रकार से शुद्ध हो? इस प्रकार के भाव रूप गमन (चर्या) का जिस अध्ययन में वर्णन हो, वह ईर्या-अध्ययन है।

☆ इसी के अन्तर्गत किस द्रव्य के सहारे से, किस क्षेत्र में (कहाँ) और किस समय में (कब), कैसे एवं किस भाव से गमन हो? यह सब प्रतिपादन भी ईर्या-अध्ययन के अन्तर्गत है।[3]

☆ धर्म और संयम के लिए आधारभूत शरीर की सुरक्षा के लिए पिण्ड और शय्या की तरह ईर्या की भी नितान्त आवश्यकता होती है। इसी कारण जैसे पिछले दो अध्ययनों में क्रमशः पिण्ड-विशुद्धि एवं शय्या-विशुद्धि का तथा पिण्ड और शय्या के गुण-दोषों का वर्णन किया गया है, वैसे ही इस अध्ययन में 'ईर्या-विशुद्धि' का वर्णन किया गया

---

१. (क) आचा० टीका पत्र ३७४ के आधार पर।
(ख) आचारांग निर्युक्ति गा० ६०५, ३०६।

२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३०७।
(ख) आचा० टीका पत्र ३७४।

३. आचा० टीका पत्र ३७४।

है, जो (१) आलम्बन, (२) काल, (३) मार्ग, (४) यतना—इन चारों के विचारपूर्वक गमन से होती है। यही ईर्या-अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

✫ ईर्या-अध्ययन के तीन उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में वर्षा काल में एक स्थान में निवास, तथा ऋतुबद्धकाल में विहार के गुण-दोषों का निरूपण है।

✫ द्वितीय उद्देशक में नौकारोहण-यतना, थोड़े पानी में चलने की यतना तथा अन्य ईर्या से सम्बन्धित वर्णन है।

✫ तृतीय उद्देशक में मार्ग में गमन के समय घटित होने वाली—समस्याओं के सम्बन्ध में उचित मार्ग-दर्शन प्रतिपादित है।[2]

✫ सूत्र ४६४ से प्रारम्भ होकर सूत्र ५१९ पर तृतीय ईर्याध्ययन समाप्त होता है।

---

१. (क) आचा० टीका पत्र ३७४।
   (ख) उत्तराध्ययन अ० २४, गा० ४, ५, ६, ७, ८।
२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३११, ३१२।
   (ख) टीका पत्र ३७५।

तईयं अज्झयणं 'इरिया'

पढमो उद्देसओ

ईर्या : तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

वर्षावास-विहारचर्या

४६४. अब्भुवगते[1] खलु वासावासे अभिपवुट्ठे, बहवे पाणा अभिसंभूया, बहवे बीया[2] अहुणुब्भिण्णा, अंतरा[3] से मग्गा बहुपाणा बहुबीया जाव[4] संताणगा, अणण्णोकंता[5] पंथा, णो विण्णाया मग्गा, सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, ततो संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा।

४६५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा णो महती विहारभूमी[6], णो महती वियारभूमी, णो सुलभे

---

१. निशीथ चूर्णि के दशवें उद्देशक पृ० १२२ में इसी विधि का वर्णन चूर्णिकार ने किया है—"आचारांगस्य वितियसुयक्खंधे—जो विधी भणितो,—सो य इमो—अब्भुवगते खलु वासवासे—...वासावासं उवल्लिइज्जा।" इसका अर्थ मूल पाठ के अनुसार है।

२. चूर्णिकार ने 'बीया अहुणुब्भिण्णा' का अर्थ किया है—'अंकुरिता—इत्यर्थः—अर्थात् बीज अंकुरित हो जाते हैं।

३. अंतरा से मग्गा—आदि का भावार्थ चूर्णि में यों है—अन्तर त्ति वरिसारत्तो जहा 'अंतरघणसामलो भगवं,' अन्तरालं वा अंतो। अन्तरा का अर्थ—वर्षाऋतु में जैसे अन्तर घन-श्यामल भगवान् मेघ छाये रहते हैं, अथवा अन्तराल में—बीच में, अन्दर, में।

४. यहाँ जाव शब्द से 'बहुबीया' से लेकर 'संताणगा' तक का पाठ है।

५. अणण्णोकंता की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—अणण्णोकंता लोएणं चरगादीहिं वा अक्कंता वि अणक्कंतसरिसा। अर्थात्—'अनन्याक्रान्त' का भावार्थ है—जनता से, वा चरक आदि परिव्राजक द्वारा आक्रान्त मार्ग भी अनन्याक्रान्त सदृश प्रतीत होते हैं।

६. णो महती विहारभूमि—आदि पाठ की व्याख्या चूर्णिकार के अनुसार—"वियारभूमी काइयाभूमी णत्थि, विहारभूमि-सज्झायभूमी णत्थि। पीढा कट्ठमया, इहरहा वरिसारित्ते णिसिज्जा कुच्छति, फलगं संथारओ सेज्जा-उवस्सओ, संथारओ-कढिणादी, जहन्नेण चउग्गुणं खेत्तं वियार-विहार-वसही-आहारे।" विचारभूमि=कायिकाभूमि=मलमूत्रोत्सर्ग भूमि नहीं है। विहार भूमि=स्वाध्याय-भूमि नहीं है। पीढा=काष्ठनिर्मित चौकी या बाजोट, वर्षा ऋतु में बैठने की जगह में वनस्पति, लीलण-फूलण उग आती है अतः इन पर बैठें। फलगं—पट्टा, पाटिया, तख्त, (संस्तारक), सेज्जा=उपाश्रय, संथारओ=कढ़िणक आदि तृण, घास आदि। साधु को नीहार, स्वाध्याय, आवास-स्थान एवं आहार के लिए कम से कम चार गुना क्षेत्र अपेक्षित है।

पीढ-फलग-सेज्जा-संथारए, णो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे, बहवे जत्थ समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा उवागता उवागमिस्संति च, अच्चाइण्णा वित्ती, णो पण्णस्स णिक्खमण जाव[1] चिंताए। सेवं णच्चा तहप्पगारं गामं वा णगरं[2] वा जाव रायहाणिं वा णो वासावासं उवल्लिएज्जा।[3]

४६६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा महती विहारभूमी, महती वियारभूमी, सुलभे जत्थ पीढ-फलग-सेज्जा-संथारए, सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे, णो जत्थ बहवे समण जाव[4] उवागमिस्संति य, अप्पाइण्णा वित्ती[5] जाव रायहाणिं वा ततो संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा।

४६७. अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासाणं वीतिक्कंता, हेमंताण य पंच-दस-रायकप्पे[6] परिवुसिते, अंतरा से मग्गा बहुपाणा जाव[7] संताणगा, णो जत्थ बहवे समण जाव उवागमिस्संति य, सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४६८. अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासाणं वीतिक्कंता[8], हेमंताण य पंच-दस-रायकप्पे परिवुसते अंतरा से मग्गा अप्पंडा जाव संताणगा, बहवे जत्थ समण जाव[9] उवागमिस्संति य। सेवं णच्चा ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४६४. वर्षाकाल आ जाने पर वर्षा हो जाने से बहुत-से प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, बहुत-से बीज अंकुरित हो जाते हैं, (पृथ्वी, घास आदि से हरी हो जाती है) मार्गों में बहुत-से प्राणी, बहुत-से बीज उत्पन्न हो जाते हैं, बहुत हरियाली हो जाती है, ओस और पानी बहुत स्थानों में भर जाते हैं, पाँच वर्ण की काई लीलण-फूलण आदि स्थान-स्थान पर हा जाती है, बहुत-से स्थानों में कीचड़ या पानी से मिट्टी गीली हो जाती है, कई जगह मकड़ी के जाले हो

---

१. जाव शब्द से निक्खमण से लेकर चिंताए तक का पाठ है।
२. 'णगरं वा' से लेकर 'रायहाणिं वा' तक का पाठ सूत्र ३१८ के अनुसार है।
३. 'उवल्लिएज्जा' के स्थान पर पाठान्तर है—'उवल्लीएज्जा, उवलितेज्जा।' चूर्णिकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'उवल्लिएज्जा=आगच्छेज्जा'=आकर रहे।
४. जाव शब्द से यहाँ 'समण' से लेकर 'उवागमिस्संति' तक का पूर्ण पाठ सूत्र ४६५ के अनुसार समझें।
५. 'वित्ती' से लेकर 'रायहाणिं' तक का सम्पूर्ण पाठ सूत्र ४६५ के अनुसार समझने के लिए यहाँ जाव शब्द है।
६. 'पंच-दसरायकप्पे'—के स्थान पर चूर्णिमान्य पाठान्तर है—'दसरायकप्पे'।
७. जाव शब्द से यहाँ 'बहुपाणा' पद से लेकर 'संताणगा' पद तक का समग्र पाठ सू० ४६४ के अनुसार समझें।
८. 'वीतिक्कंता' के स्थान पर पाठान्तर है—वीतिकंता, वियिकंता। अर्थ समान है।
९. यहाँ जाव शब्द से समण से लेकर 'उवागमिस्संति' तक का समग्र पाठ सूत्र ४६५ के अनुसार समझें।

जाते हैं। वर्षा के कारण मार्ग रुक जाते हैं, मार्ग पर चला नहीं जा सकता, क्योंकि (हरी घास छा जाने से) मार्ग का पता नहीं चलता। इस स्थिति को जानकर साधु को (वर्षाकाल में) एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार नहीं करना चाहिए। अपितु वर्षाकाल में यथावसर प्राप्त वसति में ही संयत रहकर वर्षावास व्यतीत करना चाहिए।

४६५. वर्षावास करने वाले साधु या साध्वी को उस ग्राम, नगर, खेड़, कर्बट, मडंब, पट्टण, द्रोणमुख, आकर (खान), निगम, आश्रम, सन्निवेश या राजधानी की स्थिति भलीभांति जान लेनी चाहिए। जिस ग्राम नगर यावत् राजधानी में एकान्त में स्वाध्याय करने के लिए विशाल भूमि न हो, (ग्राम आदि के बाहर) मल-मूत्रत्याग के लिए योग्य विशाल भूमि न हो, पीठ (चौकी), फलक (पट्टे), शय्या, एवं संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ न हो, और न प्रासुक, निर्दोष एवं एषणीय आहार-पानी ही सुलभ हो, जहाँ बहुत-से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी लोग (पहले-से) आए हुए हों, और भी दूसरे आने वाले हों, जिससे सभी मार्गों पर जनता की अत्यन्त भीड़ हो, साधु-साध्वी को भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों से अपने स्थान से सुखपूर्वक निकलना और प्रवेश करना भी कठिन हो, स्वाध्याय आदि क्रिया भी निरुपद्रव न हो सकती हो, ऐसे ग्राम, नगर आदि में वर्षाकाल प्रारंभ हो जाने पर भी साधु-साध्वी वर्षावास व्यतीत न करे।

४६६. वर्षावास करने वाला साधु या साध्वी यदि ग्राम यावत् राजधानी के सम्बन्ध में यह जाने कि इस ग्राम यावत् राजधानी में स्वाध्याय-योग्य विशाल भूमि है, [illegible] के लिए विशाल स्थण्डिल भूमि है, यहाँ पीठ, फलक, शय्या एवं संस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ है, साथ ही प्रासुक, निर्दोष एवं एषणीय आहार पानी भी सुलभ है, यहाँ [illegible] आदि आए हुए नहीं है और न आएंगे, यहाँ के मार्गों पर जनता की [illegible] है, जिससे कि साधु-साध्वी को भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों के लिए [illegible] स्थान से निकलना और प्रवेश करना कठिन हो, स्वाध्यायादि क्रिया [illegible] तो ऐसे ग्राम यावत् राजधानी में साधु या साध्वी संयमपूर्वक [illegible]।

४६७. यदि साधु या साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल [illegible] अतः वृष्टि न हो तो (उत्सर्ग-मार्गानुसार) चातुर्मासिक [illegible] विहार कर देना चाहिए। यदि कार्तिक मास में वृष्टि हो [illegible] रहे तो हेमन्त ऋतु के पाँच या दस दिन व्यतीत हो [illegible] जाए (इतने पर भी) यदि मार्ग बीच-बीच में अंडे, बीज, [illegible] हों, अथवा वहाँ बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि आए हुए [illegible] अभि-जानकर (सारे मार्गशीर्ष मास तक) साधु ग्रामानुग्राम [illegible]।

४६८. यदि साधु या साध्वी यह जाने कि [illegible] पाठ के और वृष्टि हो जाने से मुनि को हेमंत ऋतु के [illegible]

पश्चात् अब मार्ग ठीक हो गए हैं, बीच-बीच में अब अंडे यावत् मकड़ी के जाले आदि नहीं हैं, बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि भी उन मार्गों पर आने-जाने लगे हैं, या आने वाले भी हैं, तो यह जानकर साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार कर सकता है।

विवेचन—वर्षावास में कहाँ, कैसे क्षेत्र में, कब तक रहे ?—प्रस्तुत पाँच सूत्रों में साधु-साध्वी के लिए वर्षावास से सम्बन्धित ईर्या के नियम बताए हैं। इन नियमों का निर्देश करने के पीछे बहुत दीर्घ-दर्शिता, संयम-पालन, अहिंसा, एवं अपरिग्रह की साधना तथा साधु वर्ग के प्रति लोक श्रद्धा का दृष्टिकोण रहा है। एक ओर यह भी स्पष्ट बताया है कि वर्षाकाल के चार मास तक एक ही क्षेत्र में स्थिर क्यों रहे ? जब कि दूसरी ओर वर्षावास समाप्ति के बाद कोई कारण न हो तो नियमानुसार वह बिहार कर दे, ताकि वहाँ की जनता, क्षेत्र आदि से मोह-बन्धन न हो, जनता की भी साधु वर्ग के प्रति अश्रद्धा व अवज्ञा न बढे। वृद्धावस्था, अशक्ति, रुग्णता आदि कारण हों तो वह उस क्षेत्र में रह भी सकता है। ये कारण तो न हो, किन्तु वर्षा के कारण मार्ग अवरुद्ध हो गए हों, कीचड़, हरियाली एवं जीव-जन्तुओं से मार्ग भरे हों, तो ऐसी स्थिति में पांच, दस, पन्द्रह दिन या अधिक से अधिक मार्गशीर्ष मास तक वहाँ रुक कर फिर बिहार करने का विधान किया है। यदि वे मार्ग खुले हों, साधु लोग उन पर जाने-आने लगे हों, जीव-जन्तुओं से भरे न हों, तो वह एक दिन का भी विलम्ब किये बिना वहाँ से विहार कर दे।

पंच-दसरायकप्पे—इस पद के सम्बन्ध में आचार्यों में तीन मतभेद हैं।

(१) चूर्णिकार ने 'दसरायकप्पे' पाठ ही माना है, और इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—निर्गम (चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् विहार) तीन प्रकार का है—आर से, पुण्य से और पार से। दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रवों के कारण, या आचार्य श्री विहार करने में असमर्थ हों तो बिहार का स्थगित हो जाना, आर से निर्गम है कोई भी विघ्न-बाधा न हो, मार्ग सुख-पूर्वक चलने योग्य हो गए हों, तो कार्तिक पूर्णिमा के दूसरे दिन विहार हो जाना—पुण्य से निर्गम हैं, और दस रात्रि व्यतीत होने पर यत्नापूर्वक विहार कर देना—यह पार से निर्गम है। इस आलापक का भावार्थ यह है कि दस रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी मार्ग अब भी बहुत-से जीव-जन्तुओं से अवरुद्ध है, श्रमणादि उस मार्ग पर अभी तक नहीं गए हैं, तो साधु विहार न करें अन्यथा बिहार करदें।[1]

(२) वृत्तिकार ने 'पंचदसरायकप्पे' पाठ मान कर व्याख्या की है कि हेमंत के पांच या दस दिन व्यतीत होने पर विहार कर देना चाहिए। इसमें भी बीच में मार्ग अण्डों यावत मकड़ी के जालों से युक्त हों तो सारे मार्गशीर्ष तक वहीं रुक जाना चाहिए।[2]

---

१. णिग्गमो तिविहो—आरेण, पुण्णे, परेण····।—चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० १७१

२. आचारांग वृति ३७६ पत्रांक के आधार पर "····हेमन्तस्य पंचसु दशसु वा दिनेसु····"

(३) कई आचार्य पांच और दस दोनों मिला कर १५ दिन व्यतीत होने पर 'ऐसा अर्थ करते हैं।[1]

विहारचर्या में दस्यु-अटवी आदि उपद्रव

४६९. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायं पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पादं रीएज्जा, साहट्टु पादं रीएज्जा[2], वितिरिच्छं वा कट्टु पादं रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४७०. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से पाणाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा उदए वा मट्टिया वा अविद्धत्था, सति परक्कमे जाव णो उज्जुयं गच्छेज्जा, ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४७१. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से विरूवरूवाणि पच्चंतिकाणि दसुगायतणाणि मिलक्खूणि अणारियाणि दुस्सण्णप्पाणि दुप्पण्णवणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि, सति लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जणवएहिं णो विहारवत्तियाए पवज्जेज्जा गमणाए।

केवली बूया-आयाणमेयं।

ते णं बाला 'अयं तेणे, अयं उवचरए, अयं ततो आगते' त्ति कट्टु तं भिक्खुं अक्कोसेज्ज वा[3] जाव उवद्दवेज्ज वा, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछणं अच्छिदेज्ज वा भिंदेज्ज वा[4] अवहरेज्ज वा परिट्ठवेज्ज[5] वा। जह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगाराणि विरूवरूवाणि पच्चंतियाणि दसुगायतणाणि[6] जाव विहारवत्तियाए णो पवज्जेज्जा गमणाए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पणी पृ० १७१
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७६.
(ग) आचारांग अर्थागम (हिन्दी) पृ० ११६
२. इसके स्थान पर पाठान्तर है—साहट्टु पायं रीएज्जा, उक्खिप्पपायं रीएज्जा।
३. 'अक्कोसेज्ज वा' से लेकर उवद्दवेज्ज वा तक का पाठ सूत्र ४२२ के अनुसार सूचित करने के लिए जाव शब्द है।
४. 'अच्छिदेज्ज वा भिंदेज्ज वा' के स्थान पर पाठान्तर है—'अच्छिदेज्जा अभिंदेज्जा आच्छिदेज्जा आभिंदेज्जा।' अर्थ समान है।
५. परिट्ठवेज्ज वा के स्थान पर परिभवेज्ज वा पाठ है, अर्थ होता है—नीचा दिखाए, दबाए।
६. 'जाव' शब्द से यहाँ दसुगायतणाणि से लेकर विहारवत्तियाए तक का पाठ इसी सूत्र के पूर्व पाठ के अनुसार समझें।

४७२. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से अरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा, सति लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जणवएहिं णो विहारवत्तियाए पवज्जेज्जा गमणाए। केवली बूया-आयाणमेतं।

ते णं बाला अयं तेणे तं चेव जाव[1] गमणाए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४७३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा–एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा पाउणज्जा वा णो[2] वा पाउणेज्जा। तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सति लाढे जाव[3] गमणाए। केवली बूया—आयाणमेतं। अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा बीएसु वा हरिएसु वा उदएसु वा मट्टियाए वा अविद्धत्थाए। अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं जाव णो गमणाए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४६९. साधु या साध्वी एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार करते हुए अपने सामने की युगमात्र (गाड़ी के जुए के बराबर चार हाथ प्रमाण) भूमि को देखते हुए चले, और मार्ग में त्रसजीवों को देखें तो पैर के अग्रभाग को उठा कर चले। यदि दोनों ओर जीव हों तो पैरों को सिकोड़ कर चले अथवा पैरों को तिरछे-टेढे रखकर चले। (यह विधि अन्य मार्ग के अभाव में बताई गई है) यदि दूसरा कोई साफ मार्ग हो, तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए, किन्तु जीव-जन्तुओं से युक्त सरल (सीधे) मार्ग से न जाए। (निष्कर्ष यह है कि) उसी (जीव-जन्तु रहित) मार्ग से यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए।

४७०. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यह जानें कि मार्ग में बहुत से त्रस प्राणी हैं, बीज बिखरे हैं, हरियाली है, सचित्त पानी है या सचित्त मिट्टी है, जिसकी योनि विध्वस्त नही हुई हैं, ऐसी स्थिति में दूसरा निर्दोष मार्ग हो तो साधु साध्वी उसी मार्ग ने यतनापूर्वक जाएँ, किन्तु उस (जीवजन्तु आदि से युक्त) सरल (सीधे) मार्ग से न जाए। (निष्कर्ष यह है कि) उसी (जीवजन्तु आदि से रहित) मार्ग से साधु-साध्वी को ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए।

४७१. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में विभिन्न देशों की सीमा पर रहने वाले दस्युओं के, म्लेच्छों के या अनार्यो के स्थान मिलें, तथा जिन्हें बड़ी कठि-

---

१. यहाँ जाव शब्द से अयं तेणे से लेकर गमणाए तक का पाठ सूत्र ४७१ के अनुसार समझें।
२. णो वा पाउणेज्जा के स्थान पर पाठान्तर है— नो पाउणेज्ज वा, नो वा पाउणेज्ज वा।
३. यहाँ जाव शब्द से लाढे से लेकर गमणाए तक का पाठ सू० ४७२ के अनुसार समझें।

नता से आर्यों का आचार समझाया जा सकता है, जिन्हें दुःख से धर्म-बोध देकर अनार्यकर्मो से हटाया जा सकता है, ऐसे अकाल (कुसमय) में जागनेवाले, कुसमय में खाने-पीनेवाले मनुष्यों के स्थान मिलें तो अन्य ग्राम आदि में बिहार हो सकता हो या अन्य आर्यजनपद विद्यमान हों तो प्रासुक-भोजी साधु उन म्लेच्छादि के स्थानों में विहार करने की दृष्टि से जाने का मन में संकल्प न करे।

केवली भगवान् कहते हैं—वहाँ जाना कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि वे म्लेच्छ अज्ञानी लोग साधु को देखकर—'यह चोर है, यह गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु के गाँव से आया है', यों कह कर वे उस भिक्षु को गाली-गलौज करेंगे, कोसेंगे रस्सों से बाँधेंगे, कोठरी में बंद कर देंगे, डंडों से पीटेंगे, अंगभंग करेंगे, हैरान करेंगे यहां तक कि प्राणों से रहित भी कर सकते हैं, इसके अतिरिक्त वे दुष्ट उसके वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-पोंछन आदि उपकरणों को तोड़-फोड़ डालेंगे, अपहरण कर लेंगे या उन्हें कहीं दूर फेंक देंगे, (क्योंकि ऐसे स्थानों में यह सब सम्भव है।) इसीलिए तीर्थंकर आदि आप्त पुरुषों द्वारा भिक्षुओं के लिए पहले से ही निर्दिष्ट यह प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश है कि भिक्षु उन सीमा-प्रदेशवर्ती दस्यु स्थानों तथा म्लेच्छ, अनार्य, दुर्बोध्य आदि लोगों के स्थानों में; अन्य आर्यजनपदों तथा आर्य ग्रामों के होते विहार की दृष्टि से जाने का संकल्प भी न करे। अतः इन स्थानों को छोड़ कर संयमी साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

४७२. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में यह जानें कि ये अराजक (राजा से रहित) प्रदेश है, या यहाँ केवल युवराज का शासन है, जो कि अभी राजा नहीं बना है, अथवा दो राजाओं का शासन है, या परस्पर शत्रु दो राजाओं का राज्याधिकार है, या धर्मादि-विरोधी राजा का शासन है, ऐसी स्थिति में विहार के योग्य अन्य आर्य जनपदों के होते, इस प्रकार के अराजक आदि प्रदेशों में विहार करने की दृष्टि से गमन करने का विचार न करे।

केवली भगवान् ने कहा है—ऐसे अराजक आदि प्रदेशों में जाना कर्मबन्ध का कारण है। क्योंकि वे अज्ञानीजन साधू के प्रति शंका कर सकते हैं कि "यह चोर है, यह गुप्तचर है, यह हमारे शत्रु राजा के देश से आया है," तथा इस प्रकार की कुशंका से ग्रस्त होकर वे साधु को अपशब्द कह सकते हैं, मार-पीट सकते हैं, उसे हैरान कर सकते हैं, यहाँ तक कि उसे जान से भी मार सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके वस्त्र, पात्र, कंबल पाद-प्रोंछन आदि उपकरणों को तोड़फोड़ सकते हैं, लूट सकते है, और दूर फेंक सकते हैं। इन सब आपत्तियों की सम्भावना से तीर्थंकर आदि आप्त पुरुषों द्वारा साधुओं के लिए पहले से ही यह प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश निर्दिष्ट हैं कि साधु इस प्रकार के अराजक आदि प्रदेशों में विहार की दृष्टि से जाने का संकल्प न करे।" अतः साधु को इन अराजक आदि प्रदेशों को छोड़कर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

४७३. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी यह जाने कि आगे लम्बा अटवी-मार्ग है। यदि उस अटवी मार्ग के विषय में वह यह जाने कि यह एक दिन में, दो दिन में, तीन दिनों में, चार दिनों में या पांच दिनों में पार किया जा सकता है, अथवा पार नहीं किया जा सकता, तो विहार के योग्य अन्य मार्ग होते, उस अनेक दिनों में पार किये जा सकने वाले भयंकर अटवी मार्ग से विहार करके जाने का विचार न करे। केवली भगवान् कहते हैं—ऐसा करना कर्मबन्ध का कारण है, क्योंकि मार्ग में वर्षा हो जाने से द्वीन्द्रिय आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाने पर, मार्ग में काई. लीलन-फूलन, बीज, हरियाली, सचित्त पानी और अविध्वस्त मिट्टी आदि के होने से संयम की विराधना होनी सम्भव है। इसीलिए भिक्षुओं के लिए तीर्थंकरादि ने पहले से इस प्रतिज्ञा हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि वह साधु अन्य साफ और एकाध दिन में ही पार किया जा सके ऐसे मार्ग के रहते इस प्रकार के अनेक दिनों में पार किये जासकनेवाले भयंकर अटवी-मार्ग से विहार करके जाने का संकल्प न करे। अत: साधु को परिचित और साफ मार्ग से ही यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

विवेचन—ग्रामानुग्राम-विहार : विधि ; खतरे और सावधानी—वर्षावास के सिवाय शेषकाल में साधु साध्वियों के लिए ग्रामानुग्रामविहार करने की भगवदाज्ञा है। सूत्र ४६९ से ग्रामानुग्राम विहार करने की यह भगवदाज्ञा प्रत्येक सूत्र में दोहराई गई है, साथ ही खतरे बता कर उनसे सावधान रहने का भी निर्देश किया है, परन्तु ग्रामानुग्रामविहार में आने वाले खतरों से डर कर या परीषहों एवं उपसर्गों से घबरा कर साधु वर्ग निराश—खिन्न और उदास होकर एक ही स्थान में न जम जाए, स्थिरवास न करले, इस दृष्टि से बार-बार ग्रामानुग्राम-विचरण करने के लिए प्रेरित किया है। हाँ, अविधिपूर्वक विहार करने से या जानबूझ कर सूत्रोक्त खतरों में पड़ने से साधु की संयम-विराधना एवं आत्म-विराधना होने की सम्भावना है।

विहार की सामान्य विधि यह है कि साधु-साध्वी अपने शरीर के सामने की लगभग चार हाथ (गाड़ी के जुए के बराबर) भूमि के देखते हुए (दिन में ही) चलें। जहाँ तक हो सके वह ऐसे मार्ग से गमन करे, जो साफ, सम, और जीव-जन्तुओं, कीचड़, हरियाली, पानी आदि से रहित हो। इतना होने पर भी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए पाँच प्रकार के विघ्नों—खतरों से बचने के उपाय शास्त्रकार ने व्यक्त किये हैं—

(१) त्रस जीवों से मार्ग भरा हो, (२) त्रस प्राणी, बीज, हरित, उदक और सचित्त मिट्टी आदि मार्ग में हो, (३) अनेक देशों के सीमावर्ती दस्युओं, म्लेच्छों, अनार्यों, दुर्बोध्य एवं अधार्मिक लोगों के स्थान उस मार्ग में पड़ते हों, (४) अराजक, दु:शासक, या विरोधी शासक वाले देश आदि मार्ग में पड़ते हों, (५) अनेक दिनों में पार किया जा सके, ऐसा लम्बा भयंकर अटवी मार्ग रास्ते में पड़ता हो।

प्रथम दो प्रकार के मार्ग-विघ्नों के अनायास आ पड़ने पर उन पर यतना पूर्वक चलने

की विधि भी बताई है। अन्त के तीन खतरों वाले मार्गों को छोड़कर दूसरे सरल, साफ, खतरों से रहित मार्ग से विहार करने का निर्देश किया है।

यतना चार प्रकार की होती है—(१) जीव-जन्तुओं को देखकर चलना, द्रव्य यतना है, (२) युग मात्र भूमि को देखकर चलना, क्षेत्र-यतना है। (३) अमुक काल में (वर्षा काल को छोड़कर) चलना, काल-यतना है और (४) संयम और साधना के भाव से उपयोगपूर्वक चलना भाव-यतना है।[1]

युग का अर्थ गाड़ी का जुआ होता है, जो आगे से संकड़ा व पीछे से चौड़ा लगभग साढ़े तीन हाथ का होता है। ईर्या-समितिपूर्वक चलने पर दृष्टि का आकार भी लगभग इसी प्रकार का बनता है; शरीर भी अपने हाथ से लगभग इतना ही होता है, इसलिए चूर्णिकार जिनदासमहत्तर ने युग का अर्थ शरीर भी किया है।[2]

'उद्धट्टु' आदि पदों के अर्थ—'उद्धट्टु'=पैर को उठाकर, पैर के अगले तल से पैर के रखने के प्रदेश को लांघकर।[3] साहट्टु=सिकोड़कर, पैरों को शरीर की ओर खींचकर या आगे के भाग को उठाकर एड़ी से चले। वितिरिच्छं कट्टु=पैर को तिरछा करके चले। जीव-जन्तु को देखकर, उसे लांघकर चले, या दूसरा मार्ग हो तो उसी मार्ग से जाए, सीधे मार्ग से नहीं। दसुगायतणाणि=दस्युओं—लुटेरों या डाकुओं के स्थान, पच्चंतिकाणि=प्रत्यन्त=सीमान्तवर्ती। मिलक्खूणि=वर्बर, शबर, पुलिन्द आदि मलेच्छप्रधान स्थान, दुस्सण्णप्पाणि=जिन्हें कठिनता से आर्य-आचार समझाया जा सकें, ऐसे लोगों के स्थान, दुप्पण्णवणिज्जाणिं=दुःख से धर्मबोध दिया जा सके और अनार्य-आचार छुड़ाया जा सकें, ऐसे लोगों के स्थान, अकालपडिबोहीणि=कुसमय में जागने वाले लोगों के स्थान।

'लाढे' शब्द की व्याख्या—शीलांकाचार्य ने इस प्रकार की है—"येन, केनचित् प्रासुकाहारोपकरणादि—गतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति लालयतीति लाढः।" अर्थात्—जिस किसी प्रकार से प्रासुक आहार, उपकरण आदि की विधि से जो अपना जीवन-यापन करता है, आत्मरक्षा करता है, वह लाढ है। यहाँ पर 'लाढ' विहार योग्य आर्यदेश का विशेषण प्रतीत होता है।[4]

अरायाणि आदि पदों की व्याख्या चूर्णिकार के अनुसार इस प्रकार है—अरायाणि=जहाँ का राजा मर गया है, कोई राजा नहीं है। जुवरायाणि=जब तक राज्याभिषेक न किया जाए,

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३७७ के आधार पर।

२. (क) उत्तराध्ययन सूत्र अ० २४ गा० ६, ७ बृहद्वृत्ति।
   (ख) "तावमेत्तं पुरओ अंतो संकुडाए बाहिं वित्थडाए सगडुद्धि संठिताए दिट्ठीए।—
   —दशवैकालिक जिन० चूर्णि पृ० १६८-अ० ५।१।३

३. (क) 'उद्धट्टु त्ति उक्खिवित्तु अतिक्कमित्तु वा, साहट्टु परिसाहरति निवर्त्तयतीत्यर्थः। वितिरिच्छं=पस्सेणं अतिक्कमति सति विद्यमाने अन्यत्र गच्छेत् ण उज्जुगं।'
   —आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृष्ठ १७२।

४. (क) सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति १०।१।३ (ख) निशीथ सूत्र उद्दे० १६

तब तक वह युवराज कहलाता है। दोरज्जाणि=जहाँ एक राज्य के अभिलाषी दो दावेदार हैं, दोनों कटिबद्ध होकर लड़ते हैं, वह द्विराज्य कहलाता है, वेरज्जाणि=शत्रु राजा ने आकर जिस राज्य को हड़प लिया है, वह वैर-राज्य है। विरुद्धरज्जाणि=जहाँ का राजा धर्म और साधुओं आदि के प्रति विरोधी है, उसका राज्य विरुद्ध-राज्य कहलाता है, अथवा जिस राज्य में साधु भ्रान्ति से विरुद्ध (विपरीत) गमन कर रहा है, वह भी विरुद्ध राज्य है।[1] विहं=कई दिनों में पार हो सके, ऐसा अटवीमार्ग।[2]

नौकारोहण-विधि

४७४. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से णावासंतारिमे उदए सिया, से ज्जं पुण णावं जाणेज्जा-असंजते भिक्खुपडियाए किणेज्ज[3] वा, पामिच्चेज्ज वा, णावाए वा णावपरिणामं कट्टु, थलातो वा णावं जलंसि ओगाहेज्जा, जलातो वा णावं थलंसि उक्कसेज्जा पुण्णं वा णावं उस्सिचेज्जा, सण्णं वा णावं उप्पीलावेज्जा, तहप्पगारं णावं उड्ढगामिणिं वा अहेगामिणिं वा तिरियगामिणिं वा परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए वा अप्पतरे वा भुज्जतरे वा णो दुरुहेज्जा गमणाए।

---

१. (क) "अणरायं—राया मतो, जुगरायं—जुगराया अत्थि कता वा दादं अभिसिंचति। दोरज्जं—दो दाइता भंडंति, वेरज्जं—जत्थ वेरं अण्णेण रज्जेण राएण वा सद्धिं। विरुद्ध गमणं यस्मिन् राज्ये साधुस्स तं विरुद्धरज्जं।" —आचारांग चूर्णि

(ख) 'मए रायाणे जाव मूलराया जुवराया य दो वि एए अणभिसित्ता ताव अणरायं भवति।" —निशीथ चूर्णि उ० १२ में अन्य भी इसी प्रकार के अर्थ मिलते हैं।

(ग) बृहत्कल्प भाष्य १-२७६४-६५ में वैराज्य-प्रकरण विस्तारपूर्वक बताया गया है।

(घ) उत्तराध्ययन २, टीका पत्र ४७ में बताया है—एकल विहारी श्रावस्ती के राजकुमार भद्र को वैराज्य में गुप्तचर समझकर पकड़ लिया था। उसे अनार्यों से बंधवाकर शरीर में तीक्ष्ण दर्भों का प्रवेश कर असह्य वेदना पहुँचाई।

२. 'पाइअ सद्दमहण्णवो' पृ० ८०८—'विह' शब्द देखें।

३. "किणेज्ज वा" आदि पदों का अर्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार किया है—किणेज्ज- केति (खरीदता है), सड्ढो=श्रद्धी (श्रद्धालु या श्राद्ध=श्रावक) 'दुक्खं दिणे दिणे मग्गिज्जति णावा'=कठिनता से दिन-दिन के लिए नाव माँगता है। "पामिच्चं"=उच्छिदति, उधार लेता है। 'परिणामो णावं परियट्टेति, इमा साहूण जोग्ग त्ति वड्डिया खुड्डिया वा सुंदरीति कट्टु'=नौका की अदला-बदली करता है, यह साधु के लिए योग्य है, बढ़िया है, छोटी-सी सुन्दर नौका है, यह सोचकर बदल लेता है। पुण्णा=जल से परिपूर्ण-(भरित्तिया), सण्णा=खुत्तिया चिक्खल्ले -कीचड़ में फंसी हुयी :—उड्ढगामिणी व त्ति अणुसोय=ऊर्ध्वगामिनी अनुस्रोतगामिनी, तिरिच्छं=तिरियगामिणी—तिरछी चलने वाली। अद्ध-जोयणा दूरतरं वा ण गच्छिज्जा अप्पतरो अद्धजोयण आरेण, भुज्जयरो जोयणा परेणं=अर्ध योजन से दूर नहीं जाने वाली नौका अप्पतरा (अल्पतरा) है, जो केवल इस पार से उस पार तक जाती है, भुज्जतर=वह है, जो योजन से पार जाती है। अहवा एक्कसि अप्पतरो, बहुसो भुज्जयरो=अथवा एक बार जो उपयोग में ली जाती है, वह अल्पतरा है, जो बारम्बार उपयोग में ली जाती है, वह भूयस्तरा है।

४७५. से भिक्खू वा २ पुव्वामेव तिरिच्छसंपातिमं णावं जाणेज्जा, जाणित्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] भंडगं पडिलेहेज्जा, २ [त्ता] एगाभोयं भंडगं करेज्जा, २ [त्ता] ससीसोवरियं कायं पाए [य] पमज्जेज्जा, २ [त्ता] सागारं भत्तं पच्चक्खाएज्जा, २ [त्ता] एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा ततो संजयामेव णावं दुरुहेज्जा।

४७६. से भिक्खू वा २ णावं दुरुहमाणे णो णावातो पुरतो दुरुहेज्जा, णो णावाओ[1] मग्गतो दुरुहेज्जा, णो णावातो मज्झतो दुरुहेज्जा, णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएज्जा।

४७७. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं णावं उक्कसाहि वा वोक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जूए वा गहाय आकसाहि। णो से तं परिण्णं[2] परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा।

४७८. से णं परो णावागतो णावागतं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! णो संचाएसि तुमं णावं उक्कसित्तए वा वोक्कसित्तए वा खिवित्तए वा रज्जुए वा गहाय आकसित्तए. आहर एयं णावाए रज्जुयं, सयं चेवं णं वयं णावं उक्कसिस्सामो वा[3] जाव रज्जूए वा गहाय आकसिस्सामो। णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा।

४७९. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं णावं अलित्तेण वा पिट्टेण वा वंसेण वा वलएण वा अवल्लएण वा वाहेहि।[4] णो से तं परिण्णं जाव उवेहेज्जा।

४८०. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं णावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहएण वा णावाउस्सिचणएण वा उस्सिचाहि। णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा [०][5]।

४८१. से णं परो णावागतो णावागयं वएज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं

---

१. 'णावातो' के स्थान पर 'णावाए' पाठान्तर है। अर्थ है—नाव पर।
२. चूर्णिकार—'णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा'—का तात्पर्य समझाते हैं—'ण तस्स तत्प्रतिज्ञं 'परियाणेज्जा' आढाएज्जा करिज्ज वा। तुसिणीओ 'उवेहेज्जा अच्छिज्जा।'—उसकी उस प्रतिज्ञा-प्रार्थना को आदर न दे, न माने न करे। मौन रहे, उपेक्षाभाव रखे।
३. यहां जाव शब्द सूत्र ४७७ के अनुसार उक्कसिस्सामो से लेकर रज्जूए तक के पाठ का सूचक है।
४. तुलना कीजिए—'जे भिक्खू णावं अलित्तेण वा पिट्ठेण (पप्फिडएण) वा वंसेण वा वलएण वा वाहेइ, वाहेंतं वा सातिज्जति……।' —निशीथ चूर्णि १८/१७.
५. [०] ऐसा चिन्ह जहां-जहां है, वहां-वहां उसका अवशिष्ट सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

णावाए उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा णावाउस्सिचणएण वा चेलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुविंदेण वा पिहेहि। णो से तं परिण्णं [परिजाणेज्जा ?]।

४८२. से भिक्खू वा २ णावाए उत्तिंगेण उदयं आसवमाणं पेहाए, उवरूवरिं णावं कज्जलावेमाणं पेहाए, णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया—आउसंतो गाहावति ! एतं ते णावाए उदयं उत्तिंगेण आसवति, उवरूवरिं वा णावा कज्जलावेति। एतप्पगारं मणं वा वायं वा णो पुरतो कट्टु विहरेज्जा। अप्पुस्सुए[1] अबहिलेस्से एगत्तिगएणं अप्पाणं वियोसेज्ज समाधीए। ततो संजतामेव णावासंतारिमे उदए आहारियं रीएज्जा।

४७४. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी यह जाने कि मार्ग में नौका द्वारा पार कर सकने योग्य जल (जलमार्ग) है; (तो वह नौका द्वारा उस जलमार्ग को पार कर सकता है।) परन्तु यदि वह यह जाने कि वह नौका असंयत-गृहस्थ साधु के निमित्त मूल्य देकर (किराये से) खरीद रहा है, या उधार ले रहा है, या अपनी नौका से उसकी नौका की अदला-बदली कर रहा है, या नाविक नौका को स्थल से जल में लाता है, अथवा जल से उसे स्थल में खींच ले जाता है, पानी से भरी हुई नौका से पानी उलीचकर खाली करता है, अथवा कीचड़ में फंसी हुई नौका को बाहर निकालकर साधु के लिए तैयार करके साधु को उस पर चढ़ने की प्रार्थना करता है; तो इस प्रकार की नौका (पर साधु न चढे।) चाहे वह ऊर्ध्वगामिनी हो, अधोगामिनी हो या तिर्यग्गामिनी, जो उत्कृष्ट एक योजनप्रमाण क्षेत्र में चलती है, या अर्द्ध योजनप्रमाण क्षेत्र में चलती है, एक बार या बहुत बार गमन करने के लिए उस नौका पर साधु सवार न हो। अर्थात्—ऐसी नौका में बैठकर नदी (जलमार्ग) को पार न करे।

४७५. [कारणवश नौका में बेठना पड़े तो] साधु या साध्वी सर्वप्रथम तिर्यग्गामिनी नौका को जान-देख ले। यह जान कर वह गृहस्थ की आज्ञा को लेकर एकान्त में चला जाए। वहाँ जाकर भण्डोपकरण का प्रतिलेखन करे. तत्पश्चात सभी उपकरणों को इकट्ठे करके बाँध ले। फिर सिर से लेकर पैर तक शरीर का प्रमार्जन करे। तदनन्तर आगारसहित आहार का

---

१. अप्पुस्सुए आदि पदों का अर्थ चूर्णिकार के अनुसार—"अप्पुस्सुओ=जीविय-मरणे हरिसं ण गच्छति। अवहिलेस्से=कण्हादि तिण्णि बाहिरा, अहवा उवगरणे अज्झोववण्णो बहिलेसो, ण बहिलेसो अबहिलेस्सो। एगत्तिगतो='एगो मे सासओ अप्पा' अहवा उवगरणं मुतित्ता एगभूतो। वोसज्ज= उवगरणं सरीरादि। समाहाणं=समाधी। संजतगं, ण चडफडेंतो उदगसंघट्टं करेति। एवं अधारिया जहा रिया इत्यर्थः।" अप्पुस्सुओ=जिसे जीने-मरने का हर्ष-शोक नहीं है। अवहिलेस्से=कृष्णादि तीन लेश्याएँ बाह्य हैं। अथवा उपकरण में आसक्त बाह्यलेश्या वाला है। एगत्तिगतो=मेरा शाश्वत आत्मा अकेला है, इस भावना से ओत-प्रोत अथवा उपकरणों का त्याग करके एकीभूत। वोसज्ज=उपकरण, शरीर आदि का व्युत्सर्ग करके, समाधी=समाधान, चित्त की स्वस्थता। यानी यथार्थ=आर्योपदिष्ट रीति के अनुसार।

प्रत्याख्यान (त्याग) करे। यह सब करके एक पैर जल में और एक स्थल में रख कर यतना-पूर्वक उस नौका पर चढ़े।

४७६. साधु या साध्वी नौका पर चढ़ते हुए न नौका के अगले भाग में बैठे, न पिछले भाग में बैठे और न मध्यभाग में। तथा नौका के बाजुओं को पकड़ पकड़ कर, या अंगुली से बता-बताकर (संकेत करके) या उसे ऊंची या नीची करके एकटक जल को न देखे।

४७७. यदि नाविक नौका में चढ़े हुए साधु से कहे कि "आयुष्मन् श्रमण! तुम इस नौका को ऊपर की ओर खींचो, अथवा अमुक वस्तु को नौका में रखकर नौका को नीचे की ओर खींचो, या रस्सी को पकड़कर नौका को अच्छी तरह से बांध दो, अथवा रस्सी से इसे जोर से कस दो।" नाविक के इस प्रकार के (सावद्यप्रवृत्यात्मक) वचनों को स्वीकार न करे, किन्तु मौन धारण कर बैठा रहे।

४७८. यदि नौकारूढ़ साधु को नाविक यह कहे कि—आयुष्मन् श्रमण! यदि तुम नौका को ऊपर या नीचे की ओर खींच नहीं सकते, या रस्सी पकड़ कर नौका को भलीभांति बांध नहीं सकते या जोर से कस नहीं सकते, तो नाव पर रखी हुई रस्सी को लाकर दो। हम स्वयं नौका को ऊपर या नीचे की ओर खींच लेंगे, रस्सी से इसे अच्छी तरह बांध देंगे और फिर रस्सी से इसे जोर से कस देंगे।" इस पर भी साधु नाविक के इस वचन को स्वीकार न करे, चुपचाप उपेक्षाभाव से बैठा रहे।

४७९. यदि नौका में बैठे हुए साधु से नाविक यह कहे कि—आयुष्मन् श्रमण! जरा इस नौका को तुम डांड (चप्पू) से, पीठ से, बड़े बांस से, बल्ली से और अवलुक (बांसविशेष) से तो चलाओ।" नाविक के इस प्रकार के वचन को मुनि स्वीकार न करे, बल्कि उदासीनभाव से मौन होकर बैठा रहे।

४८०. नौका में बैठे हुए साधु से अगर नाविक यह कहे कि—आयुष्मन् श्रमण! इस नौका में भरे हुए पानी को तुम हाथ से, पैर से, भाजन से या पात्र से, नौका से उलीच कर पानी को बाहर निकाल दो।" परन्तु साधु नाविक के इस वचन को स्वीकार न करे, वह मौन होकर बैठा रहे।

४८१. यदि नाविक नौकारूढ़ साधु से यह कहे कि—आयुष्मन् श्रमण! नाव में हुए इस छिद्र को तो तुम अपने हाथ से, पैर से, भुजा से, जंघा से, पेट से, सिर से या शरीर से, अथवा नौका के जल निकालने वाले उपकरणों से, वस्त्र से, मिट्टी से, कुशपत्र से, कुरुविंद नामक तृण विशेष से बन्द कर दो, रोक दो।" साधु नाविक के इस कथन का स्वीकार न करके मौन धारण करके बैठा रहे।

४८२. वह साधु या साध्वी नौका में छिद्र से पानी आता हुआ देखकर, नौका को उत्तरोत्तर जल से परिपूर्ण होती देखकर, नाविक के पास जाकर यों न कहे कि "आयुष्मन् गृहपते! तुम्हारी इस नौका में छिद्र के द्वारा पानी आ रहा है, उत्तरोत्तर नौका जल से परि-

पूर्ण हो रही है।" इस प्रकार से मन एवं वचन को आगे-पीछे न करके साधु-विचरण करे। वह शरीर और उपकरणादि पर मूर्च्छा न करके तथा अपनी लेश्या को संयमबाह्य प्रवृत्ति में न लगाता हुआ अपनी आत्मा को एकत्व भाव में लीन करके समाधि में स्थित अपने शरीर-उपकरण आदि का व्युत्सर्ग करे।

इस प्रकार नौका के द्वारा पार करने योग्य जल को पार करने के बाद जिस प्रकार तीर्थंकरों ने विधि बताई है उस विधि का विशिष्ट अध्यवसायपूर्वक पालन करता हुआ विचरण करे।

विवेचन—नौकारोहण : विघ्न-बाधाएं और समाधान—जहाँ इतना जल हो कि पैरों से चल कर मार्ग पार नहीं किया जा सकता, वहाँ साधु को जलयान में बैठकर उस मार्ग को पार करने का शास्त्रकार ने विधान किया है। साथ ही यह भी बताया है कि साधु किस प्रकार की नौका में, किस विधि से चढ़े ? नौका में बैठने के बाद नाविक द्वारा नौका को रस्सी से बांधने, डांड आदि से चलाने, नौका में भरे हुए पानी को बाहर निकालने, छिद्र बंद करने आदि सावद्य कार्यों के करने का कहे जाने पर साधु न उन्हें स्वीकार करे, और न ही तेजी से प्रविष्ट होते हुए जल से डूबती-उतराती नौका को देखकर नाविक को सावधान करे।

निष्कर्ष यह है कि शास्त्रकार ने नौकारोहण के सम्बन्ध में साधु को इन ९ सूत्रों द्वारा विशेषतया ४ बातों का विवेक बताया है—(१) नौका में चढ़ने से पूर्व, (२) नौका में चढ़ते समय, (३) नौका में बैठने के बाद और (४) नदी पार करके नौका से उतरने के बाद।[1]

सूत्र ४८२ द्वारा एक बात स्पष्ट ध्वनित होती है, जिसका संकेत 'एतप्पगारं मणं वा... विओसेज्ज समाधीए' इन दो पंक्तियों द्वारा शास्त्रकार ने कर दिया है। जिस समय नौका में अत्यधिक पानी बढ़ जाए और वह डूबने लगे, उस समय साधु क्या करे ? वह मन में आर्तध्यान का भाव न लाए, न ही शरीर और उपकरणादि के प्रति आसक्ति रखे। एक मात्र आत्मैकत्वभाव में लीन होकर शुद्ध आत्मा का स्मरण करता हुआ समाधिभाव में अचल रहे। जल-समाधि लेने का अवसर आए तो शरीरादि का विसर्जन करने में तनिक भी न घबराए। और यदि सुयोग से नौका डूबती बच जाए, और सुरक्षितरूप से साधु नौका से जलमार्ग पार कर ले तो वह तीर्थंकरोक्त विधि का पालन करके फिर आगे बढ़े।[2]

'उस्सिंचेज्जा' आदि पदों के अर्थ—उस्सिंचेज्जा—नाव में भरे हुए पानी को उलीच कर बाहर निकाले, सण्णं—कीचड़ में फंसी हुई, उप्पीलावेज्जा—बाहर निकाले। उड्ढगामिणिं=ऊर्ध्वगामिनी=अनुस्रोतगामिनी, अहेगामिणिं=अधोगामिनी—प्रतिस्रोतगामिनी, तिरियगामिणिं=तिरछी (आड़ी) गमन करने वाली, नदी के इस पार से उस पार तक जाने वाली।[3]

---

१. टीका पत्र ३३८ के आधार पर। २. आचारांग चूर्णि, मूल पाठ टिप्पणी पृ० १७८
३. आचारांग चूर्णि, मूल पाठ टिप्पणी पृ० १७४।

एगाभोयं भंडगं करेज्जा का भावार्थ है—पात्रों को इकट्ठे बाँध कर उन पर उपधि को अच्छी तरह जमा देता है। इस प्रकार सब उपकरणों को इकट्ठा करले।

निशीथचूर्णि में इस प्रकार उपकरणों को एकत्रित करके बाँधने का कारण बताया है कि "कदाचित कोई द्वेषी या विरोधी नौकारूढ़ साधु को जल में फेंक दे तो वह मगरमच्छ के भय से एकत्रित किए हुए पात्रों पर चढ़ सकता है, पात्र एकत्रित होंगे तो उनको छाती से बाँधकर वह तर भी सकता है। नौका विनष्ट हो जाने पर भी साधु एकत्रित किए हुए पात्रादि से पानी पर तैर सकता है।"[1]

'णो णावातो पुरतो दुरुहेज्जा' आदि पदों की व्याख्या—नौका के अग्रभाग में नहीं चढना (बैठना) चाहिए, अग्रभाग में नौका का सिर है, वहाँ नहीं बैठना चाहिए—क्योंकि वह देवता का स्थान माना जाता है, तथा निर्यामकों के द्वारा उपद्रव की भी सम्भावना है, वहाँ बैठने से, एवं नौकारोहियों के आगे बैठने से प्रवृत्ति का झगड़ा बढ़ने की सम्भावना है। नौका के पृष्ठ भाग में भी नहीं बैठना चाहिए, वहाँ तेजी से बहते हुए जल को देखकर गिर पड़ने का भय रहता है। पृष्ठ भाग में निर्यामक—तोरण का स्थान माना जाता है। और मध्य में भी बैठने का निषेध है, क्योंकि वहाँ कूपकस्थान माना जाता है। वहाँ आने-जाने का मार्ग रहता है।[2]

वृहत्कल्पसूत्र वृत्ति में बताया गया है कि मध्य में—कूपकस्थान को छोड़कर बैठना

---

१. (क) वृहकल्प सूत्र वृत्ति पृ० १४६८

(ख) एगाभोगो उवही कज्जो, किं कारणं ? कयाइ पडिणीएहिं उदगे छुब्भेज्ज, तत्थ मगरभया एगाभोगकएसु पादेसु आरुभइ, एगाभोगकएसु वा वुज्झइ, तरतीत्यर्थः। नावाए वा विणहाए एगाभोगकते दगं तरतीत्यर्थः....भायणे य एगाभोगे बंधित्ता तेसिं उवरिं उवहिं सुनियमितं करेइ, भायणमुवहि च एगट्ठा करोतीत्यर्थः।'—निशीथ चूर्णि उद्दे० १२ पृ० ३७४

(ग) आचारांग चूर्णि में इसकी व्याख्या यों की गई है—"एगायतं भंडगं, तिन्नि हेट्ठामुहे भातरो करेति, उवरि भडंगए पडिग्गहं एगं जुयगं करेति—" एकत्रित भंडोपकरण को एकायत कहते है। तीन भाजन अधोमुख रखे, ऊपर भंडक, उस पर एक पात्र, उसके साथ एकजुट करे।

२. णो णावातो पुरतो···आदि पदों की व्याख्या निशीथचूर्णि में इस प्रकार की गई है—"ठाणतियं मोत्तुण ठाति तत्थऽणावाहे······॥१६६॥ देवताट्ठाणं कूयट्ठाणं निज्जामगट्ठाणं। अहवा पुरतो मज्झे पिट्ठओ, पुरओ देवयट्ठाणं, मज्झे सिवट्ठाणं, पच्छा तोरणट्ठाणं, एते वज्जिय तत्थ णावाए अणाबाहे ठाणे ट्ठायति। उवउत्तो त्ति णमोक्कारपरायणो सागारपच्चक्खाणं य ट्ठाति।"—अर्थात् नौकारोहण की विधि बताते हुए कहते हैं कि तीन स्थान छोड़ कर अनावाध स्थान में बैठना चाहिए। तीन स्थान ये हैं–१. देवता स्थान, २. कूप स्थान और ३. निर्यामकस्थान। अर्थात् सबसे आगे—सिर पर देवता स्थान हैं, वहाँ नहीं बैठना चाहिए। मध्य में कूपकस्थान है, वहाँ आने-जाने का मार्ग रहता है, वहाँ भी न ठहरना चाहिए। और सबसे अन्त में (पीछे) तोरणस्थान है, वहाँ निर्यामक बैठता है। इन तीनों स्थानों को छोड़कर मध्य में किसी स्थान पर—निराबाध रूप से बैठे। उपयुक्त का अर्थ है—नमस्कार मंत्र-परायण होकर सागारी अनशन का प्रत्याख्यान करके बैठना।

—निशीथ चूर्णि पृ० ७३-७४ तथा उ० १२ पृ० ३७३

चाहिए। तथा नमस्कार मंत्र का—पारायण करके सागारी अनशन का प्रत्याख्यान ग्रहण करके बैठे।[1]

'उक्कसाहि' आदि पदों के अर्थ—चूर्णिकार इस प्रकार अर्थ करते हैं—उक्कसाहि=समुद्री हवा के कारण ऊपर की ओर खींचो, वोक्कसाहि=नीचे की ओर खींचो, वस्तु या भंड के साथ खिवाही=नौका को रस्सी से बांधो, लंगर डालो। णो परिण्णं परिजाणेज्जा=उस (नाविक) की उस प्रतिज्ञा (बात) को न माने, आदर न दे, न ही क्रियान्वित करे। मौन रहे। अलित्तेण=डांड अथवा चप्पू से, पिट्टेण=पृष्ठ भाग से, वलुएण=वल्ली से, वाहेहि=नौका को चलाओ। उत्तिगं=छिद्र, सूराख।[2] कुविंदेण=मिट्टी के साथ मोदती (गुलवंजणी) पीपल, वड़ आदि की छाल कूट कर बनाए हुए मसाले से।[3] कज्जलावेमाणं=पानी से भरती हुयी, (प्लाव्यमानां) डूबती हुयी। अप्पुस्सुए=जिसको जीवित और मरण में हर्ष शोक न हो। अबहिल्लेसे=कृष्णादि तीन लेश्याएं बाह्य हैं, अथवा उपकरण में आसक्ति बहिर्लेश्या है, जिसके बहिर्लेश्या न हो, वह अबहिर्लेश्य है। एगत्तिगए णं=एगो मे सासओ अप्पा=यों आत्मैकत्वभाव में लीन, वियोसेज्ज=उपकरण, शरीर आदि का व्युत्सर्ग करे।

४८३. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं [समिए] सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

४८३. यही (ईर्याविषयक विशुद्धि ही) उस भिक्षु और भिक्षुणी की समग्रता है। जिसके लिए समस्त अर्थों में समित, ज्ञानादि सहित होकर वह सदैव प्रयत्न करता रहे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. नावः शिरसि न स्थातव्यं⋯मार्गतोपि न स्थातव्यं⋯⋯मध्येऽपि यत्र कूपस्थानं तत्र न स्थातव्यं⋯⋯साकारं भक्तं प्रत्याख्याय नमस्कारपरिस्तिष्ठति। —वृहत्कल्प सूत्र वृत्ति पृ० १४६८।

२. 'उत्तिगेण आसवति'—आदि पदों का भावार्थ चूर्णिकार ने यों दिया है—"उत्तिगेणं आसवति, उवरिं गंडूसे गेण्हति, कज्जलति त्ति पाणितेणं भरिज्जति"—अर्थात् छिद्र से पानी आ रहा है, ऊपर मुंह में उसे ग्रहण करता है, लेता है। कज्जलति=पानी से नौका भर रही है, या डूब रही है।

—आचाराग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १७७

३. निशीथचूर्णि में कुविंद आदि पदों के अर्थ—मोदती, वड़, पीपल। "आसत्थमादियाण वक्को मट्टियाए सह कुट्टिज्जति सो कुविंदो भणति।" गुलवंजणी, वड़, पीपल, अश्वत्थ आदि की छाल को मिट्टी के साथ कूटा जाता है, उसको ही कुविन्द कहते है। "फिह-अवल्लाणं तणुयतरं दीहं, अलित्त-गित्ती अलितं। आसोत्थो पिप्पलो तस्स पत्तस्स रुंदो फिहो भवत्ति।"—फिह और—अवल के पतले, लम्बे अलिप्ताकार सा लगता है, वह अलित्तक है। अश्वत्थ, पीपल और उनके पत्तों को कूटकर पिण्ड बनाया जाता है, उसे फिह कहते हैं। अथवा कपड़े के साथ मिट्टी कूटी जाती है, उसे चेल-मट्टिया कहते हैं। इत्यादि मसालों से नौका के सूराख को बंद किया जाता है।

—निशीथ चूर्णि उ० १८

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

नौकारोहण में उपसर्ग आने पर : जल-तरण

४८४. से णं परो णावागतो णावागयं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! एतं ता तुमं छत्तगं वा जाव चम्मछेदणगं वा गेण्हाहि, एताणि ता तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा दारिगं वा पज्जेहि,[1] णो से तं परिण्णं परिजाणेज्जा, तुसिणीओ उवेहेज्जा

४८५. से णं परो णावागते णावागतं वदेज्जा[2]—आउसंतो ! एस णं समणे णावाए भंडभारिए[3] भवति, से णं बाहाए गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा। एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढेज्ज[4] वा णिव्वेढेज्ज वा, उप्फेसं वा करेज्जा।

४८६. अह पुणेवं जाणेज्जा-अभिकंतकूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय णावाओ उदगंसि पक्खिवेज्जा। से पुव्वामेव वदेज्जा—आउसंतो गाहावती ! मा मेत्तो बाहाए गहाय णावातो उदगंसि पक्खिवह, सयं चेव णं अहं णावातो उदगंसि ओगाहिस्सामि।

से णेवं वदंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं गहाय णावातो उदगंसि पक्खिवेज्जा, तं णो सुमणे सिया[5], णो दुम्मणे सिया, णो उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा, णो तेसिं बालाणं घाताए

---

१. 'पज्जेहि' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में "दारगं वा दारिगं वा पज्जेहि त्ति, भुंजावेहि धरेहि वा णेज्जा, अम्हे णावाए कम्मंकरे।' अर्थात् बालक या बालिका को पानी पिलाओ, खिलाओ, पकड़े रखो, ले जाओ, हम नौका पर काम करेंगे।

२. "परो णावागते णावागतं वदेज्जा' का अर्थ वृत्तिकार के शब्दों में—"नौगतस्तत्स्थं साधुमुद्दिश्यापरमेवं ब्रूयात।" अर्थात्—"नौका में बैठा हुआ व्यक्ति नौका में स्थित साधु को उद्देश्य करके दूसरे नौकारोही से ऐसा कहे..........।"

३. 'भंडभारिए' के स्थान पर 'भंडभारिते' पाठान्तर मानकर चूर्णिकार ने व्याख्या की है—"भंडभारिते जहा भंडभारियं ण वा किंचि करेति।" अर्थात्—भाण्ड—वस्तुएँ निर्जीव-निश्चेष्ट होने के कारण केवल भारभूत होती हैं, वे कुछ करती नहीं, वैसे ही यह (साधु) है।

४. उव्वेढेज्जा वा णिव्वेढेज्ज वा के स्थान पर पाठान्तर है—"उवेहेज्जवा णिवेहेज्ज वा', उवट्टे वा निविट्टिज्ज वा।" अर्थ क्रमशः यों है—(१) उपेक्षा करे, निःस्पृह हो जाए, (२) उलट दे, निकाल दे। इन पदों का आशय चूर्णिकार के शब्दों में देखिए—"थेरा उव्वेढेंति, जिणकप्पितो उप्फेंसि करेति। उप्फेसो नाम कुडियंडी सीसकरणं।" अर्थात् स्थविरकल्पिक मुनि कपड़े लपेट लेते है, जिनकल्पिक मुनि उप्फेसीकरण करते है। उप्फेस कहते है—बोने की तरह सिर को सिकोड़ लेना।

५. 'णो सुमणे सिया' का भावार्थ चूर्णिकार ने दिया है—'मुक्कोमि पंतोवहिस्स'—उस समय मन में अप्रसन्न न हो, इसका आशय यह है कि "साधु मन में यह न सोचे कि चलो, खराब उपधि से छुटकारा मिला, (अब नयी उपधि भक्तों से मिलेगी।")

वहाए समुट्ठेज्जा। अप्पुस्सुए जाव समाहीए। ततो संजयामेव उदगंसि पवज्जे (पवे) ज्जा।

४८७. से भिक्खू वा २ उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण हत्थं पादेण पादं काएण कायं आसादेज्जा। से अणासादए अणासायमाणे ततो संजयामेव उदगंसि पवेज्जा।

४८८ से भिक्खू वा २ उदगंसि पवमाणे णो उम्मुग्ग-णिमुग्गियं करेज्जा, मा मेयं उदयं कण्णेसु वा अच्छीसु वा णक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जेज्जा, ततो संजयामेव उदगंसि पवेज्जा।

४८९. से भिक्खू वा २ उदगंसि पवमाणे[1] दोब्बलियं पाउणेज्जा, खिप्पामेव उवधिं विगिंचेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो चेव णं सातिज्जेज्जा।

४९०. अह पुणेवं जाणेज्जा—पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए। ततो संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण दगतीरए चिट्ठेज्जा।

४९१. से भिक्खू वा २ उदउल्लं वा ससणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा संलिहेज्ज वा णिल्लिहेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

अह पुणेवं जाणेज्जा-विगतोदए मे काए छिण्णसिणेहे। तहप्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४८४. नौका में बैठे हुए गृहस्थ आदि यदि नौकारूढ़ मुनि से यह कहें कि आयुष्मन् श्रमण ! तुम जरा हमारे छत्र, भाजन वर्तन, दण्ड, लाठी, योगासन, नलिका, वस्त्र, यवनिका मृगचर्म, चमड़े की थैली, अथवा चर्म-छेदनक शस्त्र को तो पकड़े रखो; इन विविध शस्त्रों को तो धारण करो, अथवा इस बालक या बालिका को पानी पिला दो; तो वह साधु उसके उक्त वचन को सुनकर स्वीकार न करे, किन्तु मौन धारण करके बैठा रहे।

४८५. यदि कोई नौकारूढ़ व्यक्ति नौका पर बैठे हुए किसी अन्य गृहस्थ से इस प्रकार कहे—आयुष्मन् गृहस्थ ! यह श्रमण जड़ वस्तुओं की तरह नौका पर केवल भारभूत है, (न यह कुछ सुनता है, न कोई काम ही करता है।) अतः इसकी बाँहें पकड़ कर नौका से बाहर जल में फेंक दो।' इस प्रकार की बात सुनकर और हृदय में धारण करके यदि वह मुनि वस्त्र-धारी है तो शीघ्र ही फटे-पुराने वस्त्रों को खोल कर अलग कर दे और अच्छे वस्त्रों को अपने शरीर पर अच्छी तरह बाँध कर लपेट ले, तथा कुछ वस्त्र अपने सिर के चारों ओर लपेट ले।

४८६. यदि वह साधु यह जाने कि ये अत्यन्त क्रूरकर्मा अज्ञानी जन अवश्य ही मुझे बांहें पकड़ नाव से बाहर पानी में फेंकेंगे। तब वह फेंके जाने से पूर्व ही उन गृहस्थों को सम्बो-

---

१. पवमाणे के स्थान पर पाठान्तर है—पवदमाणे। अर्थ है=गिरता हुआ।

धित करके कहे—"आयुष्मन् गृहस्थो ! आप लोग मुझे बाँहें पकड़ कर नौका से बाहर जल में मत फेंको; मैं स्वयं ही इस नौका से बाहर होकर जल में प्रवेश कर जाऊँगा।" साधु के द्वारा यों कहते-कहते कोई अज्ञानी नाविक सहसा बलपूर्वक साधु को बाँहें पकड़ कर नौका से बाहर जल में फेंक दे तो (जल में गिरा हुआ) साधु मन को न तो हर्ष से युक्त करे और न शोक से ग्रस्त। वह मन में किसी प्रकार का ऊँचा-नीचा संकल्प-विकल्प न करे, और न ही उन अज्ञानी जनों को मारने-पीटने के लिए उद्यत हो। वह उनसे किसी प्रकार का प्रतिशोध लेने का विचार भी न करे। इस प्रकार वह जलप्लावित होता हुआ मुनि जीवन-मरण में हर्षशोक से रहित होकर, अपनी चित्तवृत्ति को शरीरादि बाह्य वस्तुओं के मोह से समेटकर, अपने आपको आत्मैकत्वभाव में लीन कर ले, और शरीर-उपकरण आदि का व्युत्सर्ग करके आत्म-समाधि में स्थिर हो जाए। फिर वह यतनापूर्वक जल में प्रवेश कर जाए।

४८७. जल में डूबते समय साधु या साध्वी (अप्काय के जीवों की रक्षा की दृष्टि से) अपने एक हाथ से दूसरे हाथ का, एक पैर से दूसरे पैर का, तथा शरीर के अन्य अंगोपांगों का भी परस्पर स्पर्श न करे। वह (जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुंचाने की दृष्टि से) परस्पर स्पर्श न करता हुआ इसी तरह यतनापूर्वक जल में बहता हुआ चला जाए।

४८८. साधु या साध्वी जल में बहते समय उन्मज्जन-निमज्जन (डुबकी लगाना और बाहर निकलना) भी न करे; और न इस बात का विचार करे कि यह पानी मेरे कानों में आँखों में, नाक में या मुँह में न प्रवेश कर जाए। बल्कि वह यतनापूर्वक जल में (समभाव के साथ) बहता जाए।

४८९. यदि साधु या साध्वी जल में बहते हुए दुर्बलता का अनुभव करे तो शीघ्र ही थोड़ी या समस्त उपधि (उपकरण) का त्याग कर दे, वह शरीरादि पर से भी ममत्व छोड़ दे, उन पर किसी प्रकार की आसक्ति न रखे।

४९०. यदि वह यह जाने कि मैं उपधि सहित ही इस जल से पार होकर किनारे पहुँच जाऊँगा, तो जब तक शरीर से जल टपकता रहे तथा शरीर गीला रहे, तब तक वह नदी के किनारे पर ही खड़ा रहे।

४९१. साधु या साध्वी जल टपकते हुए या जल से भीगे हुए शरीर को एक बार या बार-बार हाथ से स्पर्श न करे न उसे एक या अधिक बार सहलाए, न उसे एक या अधिक बार घिसे, न उस पर मालिश करे और न ही उबटन की तरह शरीर से मैल उतारे। वह भीगे हुए शरीर और उपधि को सुखाने के लिए धूप से थोड़ा या अधिक गर्म भी न करे।

जब वह यह जान ले कि अब मेरा शरीर पूरी तरह सूख गया है, उस पर जल की बूंद या जल का लेप भी नहीं रहा है, तभी अपने हाथ से उस (प्रकार के सूखे हुए) शरीर का स्पर्श करे, उसे सहलाए, उसे रगड़े, मर्दन करे यावत् धूप में खड़ा रहकर उसे थोड़ा या अधिक गर्म भी करे। तदनन्तर संयमी साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

विवेचन—नौकारोहण : धर्मसंकट और सहिष्णुता—पिछले आठ सूत्रों में नौकारोहण करने पश्चात् आने वाले धर्मसंकट और उससे पार होने की विधि का वर्णन किया गया है। नौकारूढ़ मुनि पर आने वाले धर्मसंकट इस प्रकार के हो सकते हैं—(१) नौकारूढ़ मुनि को मुनि-धर्मोचित मर्यादा से विरुद्ध कार्य के लिए कहें, (२) मौन रहने पर वे उसे भला-बुरा कह कर पानी में फेंक देने का विचार करें, (३) मुनि उन्हें वैसा न करने को कुछ कहे—समझाए उससे पहले ही वे उसे जबरन पकड़ कर जल में फेंक दें।

इन संकटों के समय मुनि को क्या करना चाहिए इसका विवेक शास्त्रकार ने इस प्रकार दिया है—(१) मुनि धर्म-विरुद्ध कार्यों को स्वीकार न करे, चुपचाप बैठा रहे, (२) जल में फेंक देने की बात कानों में पड़ते ही मुनि अपने सारे शरीर पर वस्त्र लपेटने की क्रिया करे (३) मुनि के मना करने और समझाने पर भी जबर्दस्ती उसे जल में फेंक दें तो वह मन में जल-समाधि लेकर शीघ्र ही इस कष्ट से छुटकारा पाने का न तो हर्ष करे, न ही डूबने का दुःख करे, न ही फेंकने वालों के प्रति मन में दुर्भावना लाए, न मारने-पीटने के लिए उद्यत हो। समाधिपूर्वक जल में प्रवेश करे।

जल प्रवेश के बाद मुनि क्या करे, क्या न करे? इसकी विधि सूत्र ४८७ से ४६१ तक पाँच सूत्रों में भली भाँति बता दी है। अहिंसा, संयम, ईर्यापथप्रतिक्रमण और आत्मसाधना की दृष्टि से ये विधि-विधान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।[1]

'पज्जेहि' आदि पदों के अर्थ—**पज्जेहि**=पानी पिलाओ, **परिण्णं**=परिज्ञा (निवेदन) या प्रार्थना **'भण्डभारिए'**=निर्जीव वस्तुओं की तरह निश्चेष्ट होने से भारभूत है। **उव्वेढेज्ज**=निरुपयोगी वस्त्रों को खोलकर निकाल दे, **णिव्वेढेज्ज**=उपयोगी वस्त्रों को शरीर पर अच्छी तरह बाँध कर लपेट ले, **उप्फेसं वा करेज्जा**=सिर पर कपड़े लपेट ले। (यह विधि स्थविरकल्पी के लिए हैं, जिनकल्पी के लिए उप्फेसीकरण का विधान है, यानी वह सिर आदि को बोने की तरह सिकोड़ कर नाटा कर ले। **अभिक्कंतकूरकम्मा**=क्रूर कर्म के लिए उद्यत, **बलसा**=बलपूर्वक, **विसोहेज्ज**=त्याग दे, **संलिहेज्ज णिलिहेज्ज**=न थोड़ा-सा घिसे, न अधिक घिसे।[2]

ईर्या-समिति विवेक

४६२. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो परेहिं[3] सद्धिं परिजविय २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३७६ के आधार पर
(ख) आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० १७८-१७६-१८०

२. (क) वही, पत्रांक ३७६-३८०
(ग) पाइअसद्दमहण्णवो

३. 'परेहिं सद्धिं परिजविय' का आशय चूर्णिकार ने इस प्रकार व्यक्त किया—परे=गिहत्था अण्णउत्थिता वा, परिजविय वुं पुं करेंतो, जातिधम्मं कहेंतो, संजम-आयविराहणा तेणएहि वा घेप्पेज्जा।" अर्थात्—पर यानी गृहस्थ या अन्यतीर्थिक। उनके साथ बकवास करने से अथवा जाति-धर्म कहने से। ऐसा करने से संयम और आत्मा की विराधना होती है, चोरों के द्वारा भी पकड़ लिया जा सकता है।

४६२. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहस्थों के साथ बहुत अधिक वार्तालाप करते न चलें, किन्तु ईर्यासमिति का यथाविधि पालन करते हुए ग्रामानुग्राम विहार करें।

विवेचन—विहार के समय ईर्यासमिति का ध्यान रहे—इस सूत्र में मुनि को विहार करते हुए गृहस्थों के साथ लम्बी-चौड़ी गप्पें मारते हुए चलने का निषेध किया है, क्योंकि बातें करने से ध्यान ईर्या से हट जाता है, ईर्याशुद्धि ठीक तरह से नहीं हो सकती, जीवहिंसा की संभावना है। 'परिजविय' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—अत्यधिक वार्तालाप करता-करता।[1]

जंघाप्रमाण-जल-संतरण-विधि

४६३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जेज्जा, से पुव्वामेव [ससीसोवरियं कायं पाए य] पमज्जेत्ता एगं पादं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा ततो संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं[2] रीएज्जा।

४६४. से भिक्खू वा २ जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीयमाणे णो हत्थेण हत्थं जाव[3] अणासायमाणे ततो संजयामेव जंघासंतारिमे उदगे अहारियं रीएज्जा।

४६५. से भिक्खू वा २ जंघासंतारिमे उदए अहारियं[4] रीयमाणे णो सायपडियाए[5] णो परिदाहपडियाए महतिमहालयंति उदगंसि कायं विओसेज्जा[6]। ततो संजयामेव जंघासंतारिमेव उदए अहारियं रीएज्जा।

४६६. अह पुणेवं जाणेज्जा—पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए। ततो संजयामेव उदउल्लेण वा ससणिद्धेण वा काएण दगतीरए चिट्ठेज्जा।

४६७. से भिक्खू वा २ उदउल्लं वा कायं ससणिद्धं वा कायं णो आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा [०][7]।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८०
२. 'अहारियं रीएज्जा' का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में यों है—'अहारियं रीएज्जा' त्ति यथा ऋजु भवति तथा गच्छेत् नार्दवितर्द विकारं वा कुर्वन् गच्छेत्।—अर्थात्—अहारियं का भावार्थ है—जैसे ऋजु (सरल) हो, वैसे चले, आड़ा टेढ़ा विकृत करता हुआ न चले।
३. यहाँ जाव शब्द सू० ४८७ अनुसार हत्थं से लेकर आणासायमाणे तक के पाठ का सूचक है।
४. इसके स्थान पर पाठान्तर हैं—आहारीयं, अहारीयं अहारीयमाणे।
५. सायपडियाए के स्थान पर सायवडियाए पाठान्तर है।
६. वियोसेज्जा के स्थान पर वितोसेज्जा का पाठान्तर है।
७. [०] इस चिन्ह से 'पमज्जेज्ज वा' से लेकर 'दूईज्जेज्जा' तक का समग्र पाठ समझें।

अह पुणेवं जाणेज्जा–विगतोदए मे काए छिण्णसिणेहे। तहप्पगारं कायं आमज्जेज्ज वा[1] जाव पयावेज्ज वा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४९३. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में जंघा-प्रमाण (जंघा से पार करने योग्य) जल (जलाशय या नदी) पड़ता हो तो उसे पार करने के लिए वह पहले सिर-सहित शरीर के ऊपरी भाग से लेकर पैर तक प्रमार्जन करे। इस प्रकार सिर से पैर तक का प्रमार्जन करके वह एक पैर को जल में और एक पैर को स्थल में रखकर यतनापूर्वक जंघा से तरणीय जल को, भगवान् के द्वारा कथित ईर्या समिति की विधि के अनुसार पार करे।

४९४. साधु या साध्वी जंघा से तरणीय जल को शास्त्रोक्तविधि के अनुसार पार करते हुए हाथ से हाथ का, पैर से पैर का तथा शरीर के विविध अवयवों का परस्पर स्पर्श न करे। इस प्रकार वह शरीर के विविध अंगों का परस्पर स्पर्श न करते हुए भगवान् द्वारा प्रतिपादित ईर्यासमिति की विधि के अनुसार यतनापूर्वक उस जंघातरणीय जल को पार करे।

४९५. साधु या साध्वी जंघा-प्रमाण जल में शास्त्रोक्तविधि के अनुसार चलते हुए शारीरिक सुख-शान्ति की अपेक्षा से या दाह उपशान्त करने के लिए गहरे और विस्तृत जल में प्रवेश न करे और जब उसे यह अनुभव होने लगे कि मैं उपकरणादि-सहित जल से पार नहीं हो सकता, तो वह उनका त्याग कर दे, शरीर-उपकरण आदि के ऊपर से ममता का विसर्जन कर दे। उसके पश्चात् वह यतनापूर्वक शास्त्रोक्तविधि से उस जंघा-प्रमाण जल को पार करे।

४९६. यदि वह यह जाने कि मैं उपधि-सहित ही जल से पार हो सकता हूँ तो वह उपकरण सहित पार हो जाए। परन्तु किनारे पर आने के बाद जब तक उसके शरीर से पानी की बूंद टपकती हो, जब तक उसका शरीर जरा-सा भी भीगा है, तब तक वह जल (नदी) के किनारे ही खड़ा रहे।

४९७. वह साधु या साध्वी जल टपकते हुए या जल से भीगे हुए शरीर को एक बार या बार-बार हाथ से स्पर्श न करे, न उसे एक या अधिक बार घिसे, न उस पर मालिश करे, और न ही उबटन की तरह उस शरीर से मैल उतारे। वह भीगे हुए शरीर और उपधि को सुखाने के लिए धूप से थोड़ा या अधिक गर्म भी न करे।

जब वह यह जान ले कि अब मेरा शरीर पूरी तरह सूख गया है, उस पर जल की बूंद या जल का लेप भी नहीं रहा है, तभी अपने हाथ से उस शरीर का स्पर्श करे, उसे सहलाए, रगड़े, मर्दन करे यावत् धूप में खड़ा रह कर उसे थोड़ा या अधिक गर्म करे। तत्पश्चात् वह संयमी साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

---

१. जाव शब्द यहाँ आमज्जेज्ज वा से लेकर 'पयावेज्जा तक का पाठ ग्रहण सूचित किया है।

विवेचन—जंघाप्रमाण जल-संतरण विधि—विगत पांच सूत्रों में शास्त्रकार ने उस जल को पैरों से ही पार करने की आज्ञा दी है, जो जंघा-बल से चलकर पार किया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि जो पानी साधक के वक्षस्थल तक गहरा हो, वह जंघा-बल से पार किया जा सकता है, जिस पानी में मस्तक भी डूब जाए, वह पानी जंघाबल से संतरणीय नहीं होता, क्योंकि उतने गहरे पानी में जंघा-बल स्थिर नहीं रहता। इन पांच सूत्रों में ६ विधियाँ प्रतिपादित की है—(१) सिर से पैर तक प्रमार्जन करे, फिर एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखकर सावधानी मे चले, (२) उस समय शरीर के अंगोपांगों का परस्पर स्पर्श न करे, (३) शरीर की गर्मी शान्त करने या सुखसाता के उद्देश्य से गहरे जल में प्रविष्ट न हो, (४) उपकरण-सहित पार करने की क्षमता न रहे तो उपकरणों का त्याग कर दे, क्षमता हो तो उपकरण सहित पार कर ले। (५) शरीर पर जब तक पानी का जरा-सा भी अंश रहे, तब तक वह नदी के किनारे ही ठहरे। (६) शरीर पर से पानी जब तक बिलकुल सूख न जाए, तब तक उसके हाथ न लगाए, न घिसे, न मालिश करे, न धूप मे गर्म करे; जब पानी बिलकुल सूख जाए, तब ईर्यापथ-प्रतिक्रमण करके ये सभी उपचार करे।[1]

आहारियं की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—वह भिक्षु यथोक्तविधि से जल में चलते समय विशाल जलवाला जलस्रोत हो, जो कि वक्षःस्थलादि प्रमाण हो, जंघा से संतरणीय नदी, ह्रद आदि हो तो पूर्व विधि से ही उसमें शरीर को प्रवेश कराए।[2]

सायपडियाए णो परिदाहपडियाए का अर्थ है—शारीरिक सुखसाता की दृष्टि से या शरीर की जलन को शान्त करने के उद्देश्य से नहीं।[3]

विषम-मार्गादि से गमन-निषेध

४९८. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो मट्टियागतेहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय[4] २ विकुज्जिय २ विफालिय २ उम्मग्गेण हरियवधाए गच्छेज्जा 'जहेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु'। माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा। से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहेज्जा, २ [त्ता] ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४९९. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा गड्डाओ वा दरीओ वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा। केवली बूया—आयाणमेयं।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८० के आधार पर।
२. वही, पत्रांक ३८०।
३. वही, पत्रांक ३८०।
४. छिंदिय आदि पदों के आगे जहाँ-जहाँ '२' का चिन्ह है, वहाँ वह सर्वत्र उसी पद की पुनरावृत्ति का सूचक है।

से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय २ उत्तरेज्जा, जे तत्थ पाडिपहिया[1] उवागच्छंति ते पाणी जाएज्जा, २ [त्ता] ततो संजयामेव अवलंबिय २ उत्तरेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५००. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से जवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा सचक्काणि वा परचक्काणि वा सेणं वा विरूवरूवं संणिविट्ठं[2] पेहाए सति परक्कमे संजयामेव [परक्कमेज्जा], णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

५०१. से णं से परो सेणागओ वदेज्जा—आउसंतो ! एस णं समणे सेणाए अभिचारियं करेइ, से णं बाहाए गहाय आगसह। से णं परो बाहाहिं गहाय आगसेज्जा, तं णो सुमणे सिया जाव समाहीए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

४०२. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! केवतिए एस गामे वा जाव रायहाणी वा, केवतिया एत्थ आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति ? से बहुभत्ते बहुउदए बहुजणे बहुजवसे ? से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे ? एतप्पगाराणि पसिणाणि पुट्ठो णो आइक्खेज्जा, एयप्पगाराणि पसिणाणि णो पुच्छेज्जा।[3]

४९८. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी गीली मिट्टी एवं कीचड़ से भरे हुए अपने पैरों से हरितकाय (हरे घास आदि) का बार-बार छेदन करके तथा हरे पत्तों को बहुत मोड़-तोड़ कर या दबा कर एवं उन्हें चीर-चीर कर मसलता हुआ मिट्टी न उतारे और न हरितकाय की हिंसा करने के लिए उन्मार्ग में इस अभिप्राय से जाए कि 'पैरों पर लगी हुई इस कीचड़ और गीली मिट्टी को यह हरियाली अपने आप हटा देगी'; ऐसा करने वाला साधु मायास्थान का स्पर्श करता है। साधु को इस प्रकार नहीं करना चाहिए। वह पहले ही हरियाली से रहित मार्ग का प्रतिलेखन करे (देखे), और तब उसी मार्ग से यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

---

१. पाडिपहिया के स्थान पर पाठान्तर है 'पाडिवहिया'। चूर्णिकार इस पंक्ति का आशय यों व्यक्त करते हैं—'जिणकप्पितो पाडिपहियहत्थं जाइत्तु उत्तरति, थेरा रुक्खादीणि वि।' 'जिनकल्पिक मुनि प्रातिपथिक (राहगीर) से हाथ की याचना करके उसका हाथ पकड़ कर उतरते—चलते हैं। स्थविरकल्पी मुनि तो वृक्ष आदि का सहारा लेकर भी उतरते/चलते हैं।

२. 'संणिविट्ठं' के स्थान पर पाठान्तर है—'संणिसट्ठं, सण्णिट्ठं।'

३. '……णो पुच्छेज्जा' के आगे किसी-किसी प्रति में ऐसा पाठ मिलता है—'एतप्पगाराणि पसिणाणि पुट्ठो वा अपुट्ठो वा णो वागरेज्जा।'—अर्थात्—उन गुप्तचरों द्वारा इस प्रकार के प्रश्न पूछने पर या न पूछने पर साधु उत्तर न दे।

४९९. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी के मार्ग में यदि टेकरे (उन्नत भू भाग) हों, खाइयाँ, या नगर के चारों ओर नहरें हो, किले हों, या नगर के मुख्य द्वार हों, अर्गलाएँ (आगल) हों, आगल दिये जानेवाले स्थान (अर्गलापाशक) हों, गड्ढे हों, गुफाएं हों या भूगर्भ-मार्ग हों तो अन्य मार्ग के होने पर उसी अन्य मार्ग से यतनापूर्वक गमन करे, लेकिन ऐसे सीधे- किन्तु विषम मार्ग से गमन न करे। केवली भगवान् कहते हैं हैं—यह मार्ग (निरापद न होने से) कर्म-बन्ध का कारण है।

ऐसे विषममार्ग से जाने से साधु-साध्वी का पैर आदि फिसल सकता है, वह गिर सकता है। [पैर आदि के फिसलने या गिर पड़ने से] शरीर के किसी अंग-उपांग को चोट लग सकती है, वहां जो भी त्रसजीव हों तो, उनकी भी विराधना हो सकती है, कदाचित् सचित्त वृक्ष आदि का अवलम्बन ले तो भी अनुचित है।]

[यदि स्थविरकल्पी साधु को कारणवश उसी मार्ग से जाना पड़े और कदाचित् उसका पैर आदि फिसलने लगे या वह गिरने लगे तो] वहाँ जो भी वृक्ष, गुच्छ (पत्तों का समूह या फलों का गुच्छा), झाड़ियाँ, लताएं (यष्टि के आकार की बेलें), बेलें, तृण अथवा गहन (वृक्षों के कोटर या वृक्षलताओं का झुंड) आदि हो, उनका हरितकाय को सहारा ले लें कर चले या उतरे अथवा वहाँ (सामने से) जो पथिक आ रहे हों, उनका हाथ (हाथ का सहारा) मांगे (याचना करे) उनके हाथ का सहारा मिलने पर उसे पकड़ कर यतनापूर्वक चले या उतरे। इस प्रकार साधु या साध्वी को संयमपूर्वक ही ग्रामानुग्राम विहार करना चाहिए।

५००. साधु या साध्वी ग्रामानुग्राम विहार कर रहे हों, मार्ग में यदि जौ, गेहूं आदि धान्यों के ढेर हों, बैलगाड़ियाँ या रथ पड़े हों, स्वदेश-शासक या परदेश-शासक की सेना के नाना प्रकार के पड़ाव (छावनी के रूप में) पड़े हों, तो उन्हें देखकर यदि कोई दूसरा (निरापद) मार्ग हो तो उसी मार्ग से यतनापूर्वक जाए, किन्तु उस सीधे, (किन्तु दोषापत्तियुक्त) मार्ग से न जाए।

५०१. [यदि साधु सेना के पड़ाव वाले मार्ग से जाएगा, तो सम्भव है,] उसे देखकर कोई सैनिक किसी दूसरे सैनिक से कहे—"आयुष्मान्! यह श्रमण हमारी सेना का गुप्त भेद ले रहा है, अतः इस की बाहें पकड़ कर खींचो। अथवा उसे घसीटो।" इस पर वह सैनिक साधु को बांहें पकड़ कर खींचने या घसीटने लगे, उस समय साधु को अपने मन में न हर्षित होना चाहिए, न रुष्ट; बल्कि उसे समभाव एवं समाधिपूर्वक सह लेना चाहिए। इस प्रकार उसे यतनापूर्वक एक ग्राम से दूसरे ग्राम विचरण करते रहना चाहिए।

५०२. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु या साध्वी को मार्ग में सामने से आते हुए पथिक मिलें और वे साधु से यों पूछें—"आयुष्मान् श्रमण! यह गाँव कितना बड़ा या कैसा है? यावत् यह राजधानी कैसी है? यहाँ पर कितने घोड़े, हाथी तथा भिखारी है, कितने मनुष्य निवास करते हैं? क्या इस गाँव यावत् राजधानी में प्रचुर आहार, पानी, मनुष्य एवं धान्य हैं, अथवा थोड़े ही आहार, पानी मनुष्य एवं धान्य हैं? इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाने पर

साधु उनका उत्तर न दें। उन प्रातिपथिकों से भी इस प्रकार के प्रश्न न पूछें। उनके द्वारा न पूछे जाने पर भी वह ऐसी बातें न करे। अपितु संयमपूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करता रहे।

विवेचन—विविध विषम मार्ग और साधु का कर्त्तव्य—इन पाँच सूत्रों में साधु के विहार में आने वाले गमन और व्यवहार दोनों दृष्टियों से विषम मार्ग से सावधान करने के लिए सूचनाएं दी गई हैं, साथ ही साधु को ऐसे ही विषम एवं संकटापन्न मार्ग से जाना ही पड़ जाए और सम्भाव्य संकट आ ही पडे तो क्या करना चाहिए? तो उसका समाधान भी बता दिया है। अन्य निरापद मार्ग मिल जाए तो वैसे संकटास्पद मार्ग से जाने का निषेध किया है। ऐसे निषेध्य मार्ग मुख्यतया दो प्रकार के है—(१) ऊँचे नीचे, टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ मार्ग, (२) ऐसे मार्ग, जहाँ सेनाओं के पड़ाव हों, रथ और गाड़ियाँ पड़ी हों, धान्य के ढेर भी पड़े हों

प्रथम मार्ग से अनिवार्य कारणवश जाना पड़े तो वनस्पति का अथवा किसी पथिक के हाथ का सहारा लेने का विधान किया है। चूर्णिकार इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हैं कि जिनकल्पिक मुनि प्रातिपथिक के हाथ की याचना करके उतरते हैं, जब कि स्थविरकल्पी वृक्षादि का सहारा लेकर।

दूसरे मार्ग से जाने में सैनिकों द्वारा कुशंका-वश मारपीट की संभावना है, उसे समभावना-पूर्वक सहने के सिवाय कोई चारा नहीं। यद्यपि साधु उन्हें भी पहले समझाने और उनका समाधान करने का प्रयत्न करेगा ही।[1]

अन्त में सूत्र ५०२ में साधु से साधु धर्म से असम्बद्ध प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर न देने का विधान किया गया है। यद्यपि साधु से कोई जिज्ञासु व्यक्ति धार्मिक या आध्यात्मिक प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर देना उसका कर्त्तव्य है, किन्तु निरर्थक प्रश्नों के उत्तर देना आवश्यक नहीं। वे अनर्थकारी भी हो सकते हैं। अतः वह व्यर्थ की बातों का न तो उत्तर दे न ही वह स्वयं किसी से पूछे। ऐसी प्रश्नोत्तरी विकथा, वितण्डा, निन्दा और कलह का रूप भी ले सकती है। इसके अतिरिक्त कई पथिक साधुओं से अपना, देश का तथा वर्ष का भविष्य भी पूछा करते हैं, साधु को न तो ज्ञानी होने का प्रदर्शन करना चाहिए, न ही भविष्य बताना चाहिए।

'वप्पाणि' आदि पदों का प्रासंगिक अर्थ—वप्पाणि=उन्नत भू भाग, टेकरे। **फलिहाणि**=परिखाएँ—खाइयाँ या नगर के चारों ओर बनी हुई नहरें **पागाराणि**—दुर्ग या किले। **तोरणाणि**—नगर के मुख्य द्वार, **अग्गलाणि**—अर्गलाएँ—आगल, **अग्गलपासगाणि**—आगल फंसाने के स्थान। **गड्ढाओ**—गर्त—गड्ढे। **दरीओ**=गुफाएं या भू गर्भ मार्ग। **गुच्छाणि**=पत्तों का समूह, या फलों के गुच्छे, **गुम्माणि**=झाड़ियां, **गहणाणि**=वृक्ष-लताओं के झुन्ड या वृक्षों के कोटर। **पाडिपहिया**=सामने से आनेवाले पथिक, **अभिचारियं**[2]—गुप्तचर का कार्य, जासूसी, **आगसह**=खींचो या

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८१ के आधार पर, (ख) आचा० चूर्णि मूल पाठ टिप्पणी पृ० १८२।

२. व्यवहार सूत्र ४, में 'अभिनिचारियं' शब्द है। वृत्तिकार मलयगिरिसूरि ने 'अभिनिचारिका' का अर्थ किया है—सूत्रानुसार सामुदानिक भिक्षा चारिका करना। —व्यव० उ०४ वृत्ति पत्र ६०-६२

घसीटो, जवसाणि—जौ, गेहूं आदि धान्य। संणिविट्ठं=पड़ाव डालकर पड़ा हुआ। गामपिंडोलगा—ग्राम मे भीख मांग कर जीविका चलाने वाले ; पसिणाणि=प्रश्न, आसा=अश्व।[1]

५०३. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं [समिते सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि]।

५०३. यही (संयम पूर्वक विहारचर्या) उस भिक्षु या भिक्षुणी की साधुता की सर्वांगपूर्णता है; जिसके लिए सभी ज्ञानादि आचाररूप अर्थों से समित और ज्ञानादि सहित होकर साधु सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

मार्ग में वप्र आदि अवलोकन-निषेध

५०४. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि[2] वा फलिहाणि वा पागाराणि वा[3] जाव दरीओ वा कूडागाराणि वा पासादाणि वा णूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वतगिहाणि वा रुक्खं वा चेतियकडं थूभं वा चेतियकडं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा णो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उण्णमिय २ णिज्झाएजा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५०५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे, अंतरा से कच्छाणि[4] वा दवियाणि

---

१. (ग) पाइअ सद्दमहण्णवो (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८१

२. अंतरा से वप्पाणि वा·········' आदि कुछ पदों का विशेष अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—'वप्पाणि ते चेव, कूडागारं—रहसंठितं, पासाता=सोलसविहा, णूमगिहा=भूमिगिहा, भूमीघरा, रुक्खगिहं=जालीसंछन्न', पव्वयगिहा=दरीलेणं वा, रुक्खं वा चेइयकडं—वाणमंतरठवियगं पेढं वा चिते, एवं थूभं वि। ····' —अर्थात् वप्र=का अर्थ पूर्ववत् समझें। कूडागारं=एकान्त रहस्य संस्थान, पासाता=सोलह प्रकार के प्रासाद, णूमगिहा=भूमिगृह, रुक्खगिहं=जाली से ढका हुआ वृक्षगृह, पव्वयगिहं=गुफा या पर्वतालय, रुक्खं वा चेइयकडं=चैत्यकृत वृक्ष, जिसमें कि वाणव्यन्तर देव की स्थापना की होती है। इसी प्रकार चैत्यकृत स्तूप भी समझ लेना चाहिए।

३. यहाँ जाव शब्द में पागाराणि वा से लेकर दरीओ वा तक का पाठ है।

४. 'कच्छाणि वा' आदि पदों का चूर्णिकारकृत अर्थ—'कच्छाणि वा=जहा णदीकच्छा, दवियं=सुवण्णारावणो वीयं वा, वलयं=णदिकोप्परो, णूमं=भूमिघरं, गहणं=गंभीरं, जत्थ चक्कमंतस्स कंटगा

वा णूमाणि वा वलयाणि वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वताणि वा पव्वतविदुग्गाणि वा अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा णदीओ वा वावीओ वा पोक्खरणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा; सरसर-पंतियाणि वा णो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव णिज्झाएज्जा। केवली बूया—आयाणमेयं।

जे तत्थ मिगा वा पसुया[1] वा पक्खी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा खहचरा[2] वा सत्ता ते उत्तसेज्ज[3] वा, वित्तसेज्ज वा, वाडं वा सरणं वा कंखेज्जा, चारे ति मे अयं समणे।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं णो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव[4] णिज्झाएज्जा। ततो संजयामेव आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५०४. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भिक्षु या भिक्षुणी मार्ग में आने वाले उन्नत भू-

---

साहातो य लगंति, वणं=एगरुक्खजाइयं वा, वण्णदुग्गं=नाणाजातीहिं रुक्खेहिं, पव्वतो=एव पव्वतो पव्वयाणि वा (मागधभासाए णपुंसगवतणयं)पुव्वयदुग्गाइं=बहू पव्वता, अगड-तलाग-दहा अणेगसंठिता, णदी=पउरपाणिया, वावी=वट्टा मल्लगमूला व, पुक्खरिणी=चउरंसा, सरपंतिया=पंतियाए ठिता, सरसरपंतिया-पाणियस्स इमम्मि भरिते इमा वि भरिज्जति, परिवाडीए पाणियं गच्छति।'—अर्थात् कच्छाणि=जैसे नदी के नीचे भाग कच्छ होते हैं, दवियं=स्वर्ण के चक्रों से युक्त गृह, वलयं=नदी से वेष्टित नगर, णूमं=भूमिगृह, गहणं=गंभीर-गहरा जिसमें चक्रवर्ती की सेना ऊपर तक समा जाए। वणं=जिसमें एक जाति के वृक्ष हों, वणदुग्गं=वह, जिसमें नाना जाति के वृक्ष हों, पव्वयाणि वा= पर्वत शब्द का बहुवचन, (मागधी भाषा में नपुंसक लिंग हो जाता है)पव्वयदुग्गाइं=बहुत से पर्वतों के कारण दुर्गम, अगड-तलाग-दहा=कूंआ, तालाब झील—ये विभिन्न आकार वाले जलाशय हैं। नदी—जिसमें प्रचुर पानी हो, वावी=गोलाकार वापी अथवा सकोरे का आकार जिसके मूल में हो, पुक्ख-रिणी=चौकोन बावड़ी, सरपंतिया=पंक्तिबद्ध सरोवर, सरसरपंतिया=एक के बाद एक, अनेक सरोवरों की पंक्तियाँ, एक के भर जाने पर दूसरा भी भर जाता है, अनुक्रम से पानी एक के बाद दूसरे में जाता है।

१. 'पसुया वा' के स्थान पर पाठान्तर है—'पसू वा', 'पसूयाणि वा'। अर्थ एक-सा है।

२. 'खहचरा' के स्थान पर पाठान्तर है—'खचरा' अर्थ समान है।

३. उत्तसेज्ज वा वित्तसेज्ज वा आदि पदों का भावार्थ चूर्णिकार ने इस प्रकार दिया है—'उत्तसणं ईषत्, वित्तसणं अणेगप्रकारं, वाडं नस्सति. सरणं मातापितिमूलं गच्छति जं वा जस्स सरणं, जहा मियाणं गहणं दिसां व सरणं, पक्खीणं आगासं सिरिसवाणं विलं। अंतराइयं अधिगरणादयो दोसा।'—अर्थात्—उत्तसणं=थोड़ा त्रास, वित्तसणं=अनेक प्रकार का त्रास, वाडं=बाड नष्ट कर देते हैं। सरणं=माता-पिता का मूल शरण होता है, अथवा जिसमें जिसका जन्म होता है, वही उसका शरण होता है। उसी की शरण में वह जाता है। जैसे—हरिणों का शरण गहन वन या दिशाएँ हैं; पक्षियों का आकाश है, साँपों का शरण बिल है। अंतराइयं=जो अधिकरण आदि दोष के कारण होता है।

४. यहाँ जाव शब्द सू० ५०४ के अनसार 'पगिज्झिय' से लेकर 'णिज्झाएज्जा' तक के पाठ का सूचक है।

भांग या टेकरे, खाइयाँ, नगर को चारों ओर से वेष्टित करनेवाली नहरें, किले, नगर के मुख्य द्वार, अर्गला, अर्गलापाशक, गड्ढे, गुफाएँ या भूगर्भ मार्ग, तथा कूटागार (पर्वत पर बने घर), प्रासाद, भूमिगृह, वृक्षों को काटछांट कर बनाए हुए गृह, पर्वतीय गुफा, वृक्ष के नीचे बना हुआ व्यन्तरादि चैत्यस्थल, चैत्यमय स्तूप, लोहकार आदि की शाला, आयतन, देवालय, सभा, प्याऊ, दूकान, गोदाम, यानगृह, यानशाला, चूने का, दर्भकर्म का, घास की चटाइयों आदि का, चर्मकर्म का, कोयले बनाने का और काष्ठकर्म का कारखाना, तथा श्मशान, पर्वत, गुफा आदि में बने हुए गृह, शान्तिकर्म गृह, पाषाणमण्डप एवं भवनगृह आदि को बाँहें बार-बार ऊपर उठाकर, अंगुलियों से निर्देश करके, शरीर को ऊंचा-नीचा करके ताक-ताक कर न देखे, किन्तु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करने में प्रवृत्त रहे।

५०५. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु-साध्वियों के मार्ग में यदि कच्छ (नदी के निकटवर्ती नीचे प्रदेश), घास के संग्रहार्थ राजकीय त्यक्त भूमि, भूमिगृह, नदी आदि से वेष्टित भूभाग, गम्भीर, निर्जल प्रदेश का अरण्य, गहन दुर्गम वन, गहन दुर्गम पर्वत, पर्वत पर भी दुर्गम स्थान, कूप, तालाब, द्रह (झीलें) नदियाँ, बावडियाँ, पुष्करिणियां, दीर्घिकाएं (लम्बी बावडियाँ) गहरे और टेढ़े-मेढ़े जलाशय, बिना खोदे तालाब, सरोवर, सरोवर की पंक्तियाँ और बहुत से मिले हुए तालाब हों तो अपनी भुजाएं ऊंची उठाकर, अंगुलियों से संकेत करके तथा शरीर को ऊंचा-नीचा करके ताक-ताक कर न देखे। केवली भगवान कहते हैं—यह कर्मबन्ध का कारण है; (क्योंकि) ऐसा करने से जो इन स्थानों में मृग, पशु, पक्षी, साँप, सिंह, जलचर, स्थलचर, खेचर, जीव रहते हैं, वे साधु की इन असंयम मूलक चेष्टाओं को देखकर त्रास पायेंगे, वित्रस्त होंगे, किसी वाड़ की शरण चाहेंगे, वहाँ रहने वालों को साधु के विषय में शंका होगी। यह साधु हमें हटा रहा है, इस प्रकार का विचार करेंगे।

इसीलिए तीर्थंकरादि आप्तपुरुषों ने भिक्षुओं के लिए पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि बाँहें ऊंची उठा कर या अंगुलियों से निर्देश करके या शरीर को ऊंचा-नीचा करके साधु ताक-ताककर न देखे। अपितु यतनापूर्वक आचार्य और उपाध्याय के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ संयम का पालन करे।

विवेचन—विहारचर्या और संयम—इन दो सूत्रों में साधु की विहारचर्या में संयम के विषय में निर्देश किया गया है। साधु-जीवन में प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे प्रेक्षा-संयम, इन्द्रिय-संयम एवं अंगोपांग संयम की बात को बराबर दुहराया गया है। प्रस्तुत सूत्रद्वय में भी साधु को विहार करते समय अपनी आँखों पर, अपनी अंगुलियों पर, अपने हाथ-पैरों पर एवं अपने सारे शरीर पर नियंत्रण रखने की प्रेरणा दी है, साधु का ध्यान केवल अपने विहार या मार्ग की ओर हो। साधु के द्वारा उसके असंयम से होने वाली हानियों की सम्भावना प्रगट करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—इस प्रकार के असंयम से साधु के सम्बन्ध में वहाँ के निवासी लोगों को शंका-कुशंका पैदा हो सकती है, कि यह चोर है, गुप्तचर है। यह साधु वेश में अजितेन्द्रिय है।

इसके अतिरिक्त मूलपाठ में भी यह बताया गया है कि वहाँ रहने वाले पशु पक्षी डरेंगे, एक या अनेक प्रकार से त्रस्त होकर इधर-उधर भागेंगे, शरण ढूँढेंगे। भागते हुए पशु पक्षियों को कोई पकड़ कर मार भी सकता है।

चूर्णिकार कहते है 'चक्षु-लोलुपता के कारण साधु के ईर्यापथ-संयम में विघ्न पड़ेगा। वहाँ चरते हुए पशु-पक्षियों के चरने में भी अन्तराय पड़ेगा।

निशीथचूर्णि में भी बताया गया है दो प्रकार के सरीसृप और तीन प्रकार के जलचर, स्थलचर, खेचर जीव अपने-अपने योग्य शरण ढूँढेगे, जैसे जलचर जल में, स्थलचर बिल पर्वत आदि में, साधु उन्हें अपनी भुजा, अंगुली आदि से डरा देता है जिससे वे अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र भागते है, उनके चारा दाना आदि में अन्तराय पड़ती है।[1]

कूडागाराणि आदि पदों के अर्थ—**कूडागाराणि**=रहस्यमय गुप्तस्थान, अथवा पर्वत के कूट (शिखर) पर बने हुए गृह, **दवियाणि**=अटवी में घास के संग्रह के लिए बने हुए मकान, **णूमाणि**=भूमिगृह, **वणयाणि**=नदी आदि से वेष्टित भूभाग, **गहणाणि**=निर्जल प्रदेश, रन। **गहणविदुग्गाणि**=रन में सेना के छिपने के स्थान के कारण दुर्गम, **वणविदुग्गाणि**=नाना जाति के वृक्षों के कारण दुर्गम स्थल, **पव्वयदुग्गाणि**=अनेक पर्वतों के कारण दुर्गम प्रदेश, **सरसरपंतियाणि**=एक के बाद एक, यों अनेक सरोवरों की पंक्तियां। **गुंजालियाओ**=लम्बी गम्भीर टेढ़ीमेढ़ी जल की वापिकाएँ।

णिज्झाएज्जा=बार-बार या लगातार ताक-ताककर देखे। **उत्तसेज्ज वित्तसेज्ज**=थोड़ा त्रास दे, अनेक बार त्रास दे।[2]

आचार्यादि के साथ विहार में विनयविधि

५०६. से[3] भिक्खू वा २ आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो आय-

१. (क) आचा० टीका पत्र ३८२

(ख) निशीथ चूर्णि में एक गाथा इस सम्बन्ध में मिलती है—

दुविधा तिविधा य तसा भीता वाडसरणाणि कंखेज्जा।
णोलेज्ज व तं वऽण्णं, अन्तराए य जं चऽण्णं ॥४१२३॥

—निशीथ चूर्णि उ० १२ पृ० ३४५।

—त्रस दो या तीन प्रकार के होते है। वे भयभीत होकर वाड या शरण चाहेंगे। साधु उन्हें अन्य दिशा में प्रेरित न करे। ऐसा करके साधु चरते हुए पशु-पक्षियों के चारा-दाना खाने में अन्तराय डालता है। इसके अतिरिक्त वे भागते हुए जो कुछ करते हैं, इसका कोई ठिकाना नही है।

२. आचा० टीका पत्र ३८२

३. चूर्णि में इस सूत्र का भावार्थ यो दिया है—'से भिक्खू वा २ आयरिय-उवज्झाएहि समगं गच्छं नो हत्थादि संघट्टेति।' अर्थात्—साधु आचार्य-उपाध्यायो के साथ विहार करते हुए उनके हाथ आदि का स्पर्श न करे।

रिय-उवज्झायस्स हत्थेण हत्थं[1] जाव अणासायमाणे ततो संजयामेव आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं[2] जाव दूइज्जेज्जा।

५०७. से भिक्खू वा २ आयरिय-उवज्झाएहिं सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! के तुब्भे, कओ वा एह, कहिं वा गच्छिहिह ?

जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयरिय-उवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतरा भासं करेज्जा, ततो संजयामेव आहारातिणियाए[3] दूइज्जेज्जा।

५०८. से भिक्खू वा २ आहारातिणियं गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो राइणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे ततो संजयामेव आहाराइणियं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५०९. से भिक्खू वा २ आहाराइणियं [गामाणुगामं] दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा–आउसंतो समणा ! के तुब्भे ?

जे तत्थ सव्वरातिणिए से भासेज्ज वा वियागरेज्ज वा, रातिणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतरा भासं भासेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५०६. आचार्य और उपाध्याय के साथ ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु अपने हाथ से उनके हाथ का, पैर से उनके पैर का तथा अपने शरीर से उनके शरीर का (अविनय अविवेकपूर्ण रीति से) स्पर्श न करे। उनकी आशातना न करता हुआ साधु ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

५०७. आचार्य और उपाध्याय के साथ ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले साधु को मार्ग में यदि सामने से आते हुए कुछ यात्री मिलें, और वे पूछें कि—"आयुष्मन् श्रमण ! आप कौन हैं ? कहाँ से आए हैं ? कहाँ जाएंगे ?"

(इस प्रश्न पर) जो आचार्य या उपाध्याय साथ में हैं, वे उन्हें सामान्य या विशेष रूप से उत्तर देंगे। आचार्य या उपाध्याय सामान्य या विशेष रूप से उनके प्रश्नों का उत्तर दे रहे हों, तब वह साधु बीच में न बोले। किन्तु मौन रह कर ईर्यासमिति का ध्यान रखता हुआ रत्नाधिक क्रम से उनके साथ ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५०८. रत्नाधिक (अपने से दीक्षा में बड़े) साधु के साथ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ मुनि अपने हाथ से रत्नाधिक साधु के हाथ को, अपने पैर से उनके पैर को तथा अपने

---

१. यहाँ जाव शब्द 'हत्थं' से लेकर 'अणासायमाणे' तक के पाठ का सूचक है सूत्र ४८७ के अनुसार।

२. यहाँ जाव शब्द से 'सद्धिं' से लेकर दूइज्जेज्जा तक का पाठ सू० ५०५ के अनुसार समझें।

३. आहारातिणियाए के स्थान पर पाठान्तर है—आहाराइणिए, अहारायणिए; अहारायइणियाए, आधाराईणियाए आदि।

शरीर से उनके शरीर का (अविधिपूर्वक) स्पर्श न करे। उनकी आशातना न करता हुआ साधु ईर्यासमिति पूर्वक उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

५०९. रत्नाधिक साधुओं के साथ ग्रामानुग्राम विहार करने वाले साधु को मार्ग में यदि सामने से आते हुए कुछ प्रातिपथिक (यात्री) मिलें और वे यों पूछें कि "आयुष्मन श्रमण ! आप कौन है ? कहाँ से आए है ? और कहाँ जाएंगे ?"

(ऐसा पूछने पर) जो उन साधुओं में सबसे रत्नाधिक (दीक्षा में बड़ा) है, वे उनको सामान्य या विशेष रूप से उत्तर देंगे। जब रत्नाधिक सामान्य या विशेष रूप से उन्हें उत्तर दे रहे हों, तब वह साधु बीच में न बोले। किन्तु मौन रहकर ईर्यासमिति का ध्यान रखता हुआ उनके साथ ग्रामानुग्राम विहार करे।

विवेचन—दीक्षा-ज्येष्ठ साधुओं के साथ विहार करने में संयम—साधु-जीवन विनय-मूल धर्म से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिए आचार्य, उपाध्याय या रत्नाधिक साधु के साथ विहार करते समय उनकी किसी भी प्रकार से अविनय-आशातना, अभक्ति, आदि न हो, व्यवहार में उनका सम्मान व आदर रहें इसका ध्यान रखना आवश्यक है। यही बात इन चार सूत्रों में स्पष्ट व्यक्त की गई है।[1]

हिंसा-जनक प्रश्नों में मौन एवं भाषा-विवेक

५१०. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया आगच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा ! अवियाइं एत्तो पडिपहे[2] पासह मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खि वा सरीसवं वा जलचरं वा, से त्तं मे आइक्खह, दंसेह। तं णो आइक्खेज्जा, णो दंसेज्जा, णो तस्स तं परिजाणेज्जा,[3] तुसिणीए उवेहेज्जा, जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५११. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं [दूइज्जमाणे] अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा-आउसंतो समणा ! अवियाइं एत्तो पडिपहे पासह उदगपसूताणि[4]

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८३।

२. **'पडिपहे पासह···'** आदि पंक्ति का सारांश चूर्णिकार ने यों दिया है—पडिपहे गोणमादी आइक्खध= दूरगतं, दंसेह=अब्भासत्थं।'—प्रतिपथ में—मार्ग मे वृषभ आदि देखा है ? आइक्खह (ध)=दूरगत वस्तु के विषय में और दंसेह=निकटस्थ वस्तु के विषय में प्रयुक्त हुआ है। दोनों का अर्थ है—बत-लाओ, कहो-दिखाओ।

३. **'परिजाणेज्जा'** के स्थान पर **'परिजाणेज्ज'** पाठ मानकर चूर्णिकार अर्थ करते है—परिजाणेज्ज= 'कहिज्ज'। परिजाणेज्ज का अर्थ है—कहे।

४. **'उगदगपसूयाणि'** पाठान्तर मानकर चूर्णिकार प्रश्नकर्त्ता का आशय बताते है—'पुच्छति छुहाइतो तिसिओ उदगं पिविउकामो रंधेउकामो, सीयाइतो वा अग्गी।' अर्थात् भूखा कंद आदि के विषय में पूछता है, जो पानी पीना चाहता है, वह प्यासा पानी के विषय में पूछता है, जो भोजन पकाना चाहता है, वह आग के विषय में पूछता है।

कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि[1] वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरिताणि वा उदयं वा संणिहियं अगणिं वा संणिक्खित्तं, से आइक्खह[2] जाव दूइज्जेज्जा।

५१२. से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया उवागच्छेज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अवियाइं एत्तो पडिपहे पासह जवसाणि वा[3] जाव सेणं वा विरूवरूवं संणिविट्ठं, से आइक्खह जाव दूइज्जेज्जा।

५१३. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिपहिया जाव आउसंतो समणा! केवतिए एत्तो गामे वा जाव रायहाणिं (णी) वा?—से आइक्खह जाव दूइज्जेज्जा।

५१४. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया जाव आउसंतो समणा! केवइए एत्तो गामस्स वा नगरस्स वा जाव रायहाणीए वा मग्गे? से आइक्खह तहेव जाव दूइज्जेज्जा।

५१०. संयमशील साधु या साध्वी को ग्रामानुग्राम विहार करते हुए रास्ते में सामने से कुछ पथिक निकट आ जाएं और वे यों पूछें—आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने इस मार्ग में किसी मनुष्य को, मृग को, भैंसे को, पशु या पक्षी को, सर्प को या किसी जलचर जन्तु को जाते हुए देखा है? यदि देखा हो तो हमें बतलाओ कि वे किस ओर गए हैं, हमें दिखाओ।" ऐसा कहने पर साधु न तो उन्हें कुछ बतलाए, न मार्गदर्शन करे, न ही उनकी बात को स्वीकार करे, बल्कि कोई उत्तर न देकर उदासीनतापूर्वक मौन रहे। अथवा जानता हुआ भी (उपेक्षा भाव से) मैं नहीं जानता, ऐसा कहे।[4] फिर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

५११. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु को मार्ग में सामने से कुछ पथिक निकट आ जाएं और वे साधु से यों पूछें—आयुष्मन् श्रमण! क्या आपने इस मार्ग में जल में पैदा होने वाले कन्द, या मूल, अथवा छाल, पत्ते, फूल, फल, बीज, हरित अथवा संग्रह किया हुआ पेय जल या निकटवर्ती जल का स्थान, अथवा एक जगह रखी हुई अग्नि देखी है? अगर देखी हो तो हमें बताओ, दिखाओ, कहाँ है?" ऐसा कहने पर साधु न तो उन्हें कुछ बताए, (न दिखाए, और न ही वह उनकी बात स्वीकार करे, अपितु मौन रहे। अथवा जानता हुआ भी (उपेक्षा भाव से) नहीं जानता, ऐसा कहे।) तत्पश्चात् यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

५१२. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु-साध्वी को मार्ग में सामने से आते हुए

---

१. तया, पत्ता, पुप्फा, फला, बीया, हरिया—ये पाठान्तर भी है।

२. 'जाव' शब्द से यहाँ 'आइक्खह' से लेकर 'दूइज्जेज्जा' तक का सारा पाठ। सूत्र ५१० के अनुसार समझें।

३. जाव शब्द से यहाँ **जवसाणि वा** से लेकर **सेणं वा** तक का सारा पाठ सूत्र ५०० के अनुसार समझें।

४. वैकल्पिक अर्थ—जानता हुआ भी 'जानता हूँ' ऐसा न कहे।

पथिक निकट आकर पूछें कि) आयुष्मन् श्रमण ! क्या आपने इस मार्ग में जौ, गेहूं आदि धान्यों का ढेर,) रथ, बैलगाड़ियाँ, या स्वचक्र या परचक्र के शासक के (सैन्य के नाना प्रकार के पड़ाव देखे हैं ? इस पर साधु उन्हें कुछ भी न बताए, (न ही दिशा बताए, वह उनकी बात को स्वीकार न करे, मौन धारण करके रहे। अथवा जानता हुआ भी 'मैं नहीं जानता' यों (उपेक्षा भाव से जवाब दे दे।) तदनन्तर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

५१३. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु साध्वी को यदि मार्ग में कहीं प्रातिपथिक मिल जाएँ और वे उससे पूछें कि यह गाँव कैसा है, या कितना बड़ा है ? यावत् राजधानी कैसी है या कितनी बड़ी है ? यहाँ कितने मनुष्य यावत् ग्रामयाचक रहते हैं ? आदि प्रश्न पूछे तो उनकी बात को स्वीकार न करे, न ही कुछ बताए। मौन धारण करके रहे। (अथवा जानता हुआ भी मैं नहीं जानता, यों उपेक्षाभाव से उत्तर दे दे।) फिर संयमपूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

५१४. ग्रामानुग्राम विचरण करते समय साधु-साध्वी को मार्ग में सम्मुख आते हुए कुछ पथिक मिल जाय और वे उससे पूछें—"आयुष्मन् श्रमण ! यहाँ से ग्राम यावत् राजधानी कितनी दूर है ? तथा यहाँ से ग्राम यावत् राजधानी का मार्ग अब कितना शेष रहा है ?" साधु इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ भी न कहे, न ही कुछ बताए, वह उनकी बात को स्वीकार न करे, बल्कि मौन धारण करके रहे। (अथवा जानता हुआ भी, मैं नहीं जानता, ऐसा उत्तर दे।) और फिर यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार करे।

विवेचन—विहारचर्या और धर्मसंकट—सूत्र ५१०-५११ इन दो सूत्रों में प्रातिपथिकों द्वारा पशु-पक्षियों और वनस्पति, जल एवं अग्नि के विषय में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देने का निषेध है। उसके पीछे शास्त्रकार का आशय बहुत गम्भीर है, मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि के विषय में प्रश्न करने वाला या तो शिकारी हो सकता है, या वधिक, बहेलिया, कसाई या लुटेरा आदि में से कोई हो सकता है, साधु से पूछने पर, उसके द्वारा बता देने पर उसी दिशा में भाग कर उस जीव को पकड़ सकता है या उसकी हत्या कर सकता है; इस हत्या में परम अहिंसा-महाव्रती साधु निमित्त बन जाएगा। दूसरे सूत्र में ऐसे असंयमी, भूखे-प्यासे, शीत-पीड़ित, लोगों द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्न है, जो साधु के बता देने पर उन जीवों की विराधना व आरम्भ-समारम्भ कर सकते हैं। अतः दोनों प्रकार के प्रश्नों में सर्वप्रथम साधु को मौन-धारण का शास्त्रीय आदेश है, किन्तु कई बार मौन रहने पर भी समस्या विकट रूप धारण कर सकती है, साधु के प्राणों पर भी नौबत आ जाती है, पूछनेवाला साधु के द्वारा कुछ भी न बताने पर क्रूर होकर प्राण-हरण करने को उद्यत हो जाता है, ऐसी स्थिति में जिनकल्पिक मुनि तो मौन रहकर अपने प्राणों को न्यौछावर करने में तनिक भी नहीं हिचकते, लेकिन स्थविरकल्पी अभी इतनी उच्चभूमिका पर नहीं पहुँचा है, इसलिए शास्त्रकार ऐसी धर्मसंकटापन्न परिस्थिति में उसके लिए दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते है—

जाणं वा णो जाणं ति वएज्जा—"जानता हुआ भी मैं नही जानता।" इस प्रकार (उपेक्षा-भाव) से कहे। साधु को सत्यमहाव्रत भी रखना है और अहिंसा-महाव्रत भी; परन्तु अहिंसा से विरहित सत्य, सत्य नहीं होता, किन्तु अहिंसा से युक्त सत्य ही सद्भ्योहितं सत्यम्—प्राणि-मात्र के लिए हितकर सत्य वास्तविक सत्य कहलाता है। इसलिए साधु जानता हुआ भी उन विशिष्ट पशुओं का नाम लेकर न कहे, बल्कि सामान्य रूप से और उपेक्षाभाव से कहे कि "मैं नहीं जानता।" वास्तव में साधु सब प्राणियों के विषय में जानता भी नहीं, इसलिए सामान्य रूप से "मैं नहीं जानता।" कहने में उसका सत्य भी भंग नहीं होता और अहिंसाव्रत भी सुरक्षित रहेगा।[1]

जाणं वा णो०.....'—इसका एक वैकल्पिक अर्थ यह भी है कि जानता हुआ भी यह न कहे कि "मैं जानता हूं।" 'जानता हुआ भी ऐसा कहे कि मैं नहीं जानता' यह अपवाद मार्ग है, 'जानता हुआ भी मैं, जानता हूँ ऐसा न कहे' यह उत्सर्ग मार्ग है। अथवा अन्य प्रकार से कोई ऐसा उत्तर दे कि—प्रश्नकर्त्ता क्रुद्ध भी न हो एवं मुनि का सत्य एवं अहिंसा महाव्रत भी खण्डित न हो।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार ऐसा उत्तर दिया जाता है—"जो (मन) जानता है, वह देखता नहीं, जो (चक्षु) देखता है, वह बोलता नहीं, जो (जिह्वा) बोलता है, वह न जानता है, न देखता है। फिर क्या कहा जाय ?" ऐसे उत्तर से सम्भव है प्रश्नकर्त्ता उकताकर; मुनि को विक्षिप्त आदि समझकर आगे चला जाय, और वह समस्या हल हो जाय।

सू० ५१२, ५१३ एवं ५१४ की बातें पहले सूत्र ५०० एवं ५०२ में आ चुकी हैं, उन्हीं बातों को पुनः ईर्या और भाषा के सन्दर्भ में यहाँ दोहराया गया है। साधु को यहाँ मौन रहने से काम न चलता हो तो जानने पर भी नहीं जानने का कथन करने का निर्देश किया है। उसका कारण भी पहले बताया जा चुका है।[2]

५१५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से गोणं वियालं पडिपहे पेहाए जाव[3] चित्ताचेल्लडयं[4] वियालं पडिपहे पेहाए णो तेसिं भीतो उम्मग्गेणं गच्छेज्जा, णो मग्गातो मग्गं संकमेज्जा, णो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अणुपविसेज्जा, णो रुक्खंसि दुरुहेज्जा, णो

---

१. (अ) टीका पत्र ३८३ के आधार पर
(आ) आचारांग चूर्णि मूल पाठ टिप्पण पृ० १८५-१८६।
२. आचारांग चूर्णि मूलपाठ एवं वृत्ति पत्रांक ३८३ के आधार पर
३. यहाँ जाव शब्द से **'गोणं वियालं पडिपहे पेहाए'** से लेकर **'चित्ताचेल्लडयं'** तक का समग्र पाठ सूत्र ३५४ के अनुसार संकेतित है।
४. **'चित्ताचेल्लडयं'** के स्थान पर पाठान्तर हैं—"चिताचिल्लडयं चित्ताचिल्लडं, आदि। वृत्तिकार इसका अर्थ करते हैं—'चित्रकं तदपत्यं वा व्यालं क्रूरं—दृष्ट्वा"—चीता या उसका बच्चा जो क्रूर (व्याल) है, उसे देखकर।

महतिमहालयंसि उदयंसि कायं विओसेज्जा, णो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखेज्जा, अप्पुस्सुए[1] जाव समाहीए, ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५१६. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा, इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवकरणपडियाए संपडिया (ऽऽ) गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गं चेव गच्छेज्जा[2] जाव समाहीए। ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५१७. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से आमोसगा संपडिया-(ऽऽ) गच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा-आउसंतो समणा ! आहर एयं वत्थं वा[3] ४, देहि, णिक्खिवाहि, तं णो देज्जा, णिक्खिवेज्जा, णो वंदिय जाएज्जा, णो अंजलिं कट्टु जाएज्जा, णो कलुणपडियाए जाएज्जा, धम्मियाए जायणाए[4] जाएज्जा, तुसिणीयभावेण वा (उवेहेज्जा)।

५१८. ते णं आमोसगा सयं करणिज्जं[5] ति कट्टु अक्कोसंति वा जाव उद्दवेंति वा, वत्थं वा ४ अच्छिंदेज्ज वा[6] जाव परिट्ठवेज्ज वा, तं णो गामसंसारियं कुज्जा, णो रायसंसारियं कुज्जा, णो परं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो गाहावती ! एते खलु आमोसगा उवकरणपडियाए सयं करणिज्जं ति कट्टु अक्कोसंति वा जाव[7] परिट्ठवेंति वा। एतप्पगारं मणं वा वइं वा णो पुरतो कट्टु विहरेज्जा। अप्पुस्सुए जाव समाहीए ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५१९. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिते सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

---

१. यहाँ 'जाव' से 'अप्पुस्सुए' से 'समाहीए' तक का समग्र पाठ ४८२ सूत्रवत् समझें।

२. जाव शब्द से यहाँ 'गच्छेज्जा' से लेकर 'समाहीए' तक का समग्र पाठ सू० ५१५ के अनुसार समझें।

३. 'वत्थं वा' के आगे '४' का चिन्ह सूत्र ४७१ के अनुसार शेष तीन उपकरणों (पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पादपुंछणं वा) का सूचक है।

४. 'धम्मियाए जायणाए' की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—'धम्मियजायणा थेराणं तुब्भविहेहिं चेव दिण्णाइं; जिणकप्पिओ तुसिणीओ चेव।' अर्थात्—धार्मिक याचना स्थविरकल्पिक मुनियों की ऐसी हो—'तुम जैसों ने ही हमें (ये उपकरण) दिए है। जिनकल्पिक तो मौन ही रहें।'

५. 'सयं करणिज्जं' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—सयं करणिज्जं ति जण्हं रुच्चति, तं करेंति, अक्कोसादी।' स्वयं करणीयं का भावार्थ है—जो उन्हें अच्छा लगता है, वह वे करते हैं, आक्रोश, वध आदि।

६. जाव शब्द से यहाँ 'अच्छिंदेज्ज वा' से लेकर 'परिट्ठवेज्ज वा' तक का समग्र पाठ सूत्र ४७१ के अनुसार समझें।

७. जाव शब्द से यहाँ 'अक्कोसंति' से लेकर 'उद्दवेंति' तक का सारा पाठ सू० ४२२ के अनुसार समझें।

५१५. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी को यदि मार्ग में मदोन्मत्त साँड, विषैला सांप, यावत् चीते, आदि हिंसक पशुओं को सम्मुख-पथ से आते देखकर उनसे भयभीत होकर उन्मार्ग से नहीं जाना चाहिए, और न ही एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर संक्रमण करना चाहिए, न तो गहन, वन एवं दुर्गम स्थान में प्रवेश करना चाहिए, न ही वृक्ष पर चढ़ना चाहिए, और न ही उसे गहरे और विस्तृत जल में प्रवेश करना चाहिए। वह ऐसे अवसर पर सुरक्षा के लिए किसी बाड़ की, शरण की, सेना की या शस्त्र की आकांक्षा न करे; अपितु शरीर और उपकरणों के प्रति राग-द्वेषरहित होकर काया का व्युत्सर्ग करे, आत्मैकत्वभाव में लीन हो जाए और समाधिभाव में स्थिर रहे। तत्पश्चात् वह यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५१६. ग्रामानुग्राम विहार करते हुए साधु-साध्वी जाने कि मार्ग में अनेक दिनों में पार करने योग्य अटवी-मार्ग है। यदि उस अनेक दिनों में पार करने योग्य अटवी मार्ग के विषय में वह यह जाने कि इस अटवी-मार्ग में अनेक चोर (लुटेरे) इकट्ठे होकर साधु के उपकरण छीनने की दृष्टि से आ जाते हैं, यदि सचमुच उस अटवीमार्ग में वे चोर इकट्ठे होकर आ जाएं तो साधु उनसे भयभीत होकर उन्मार्ग में न जाए, न एक मार्ग से दूसरे मार्ग पर संक्रमण करे, न गहन वन, या किसी दुर्गम स्थान में प्रवेश करे, न वृक्ष पर चढ़े, न गहरे एवं विस्तृत जल में प्रवेश करे। ऐसे विकट अवसर पर सुरक्षा के लिए वह किसी बाड़ की, शरण की, सेना या शस्त्र की आकांक्षा न करे, बल्कि निर्भय, निर्द्वन्द्व और शरीर के प्रति अनासक्त होकर, शरीर और उपकरणों का व्युत्सर्ग करे और एकात्मभाव में लीन एवं राग-द्वेष से रहित होकर समाधि भाव में स्थिर रहे। तत्पश्चात् यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५१७. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु के पास यदि मार्ग में चोर (लुटेरे) संगठित होकर आ जाएँ और वे उससे कहें कि 'आयुष्मन् श्रमण! ये वस्त्र, पात्र, कंबल, और पाद-प्रोंछन आदि लाओ, हमें दे दो, या यहाँ पर रख दो।' इस प्रकार कहने पर साधु उन्हें वे (उपकरण) न दे, और न निकाल कर भूमि पर रखे। अगर वे बलपूर्वक लेने लगें तो उन्हें पुनः लेने के लिए उनकी स्तुति (प्रशंसा) करके हाथ जोड़कर या दीन-वचन कह (गिड़गिड़ा) कर याचना न करे। अर्थात् उन्हें इस प्रकार से वापस देने का न कहें। यदि माँगना हो तो उन्हें धर्म-वचन कहकर-समझा कर माँगे, अथवा मौनभाव धारण करके उपेक्षाभाव से रहे।

५१८. यदि वे चोर अपना कर्त्तव्य (जो करना है) जानकर साधु को गाली-गलौज करें, अपशब्द कहें, मारें-पीटें, हैरान करें, यहाँ तक कि उसका वध करने का प्रयत्न करें, और उसके वस्त्रादि को फाड़ डालें, तोड़फोड़ कर दूर फेंक दें, तो भी वह साधु ग्राम में जाकर लोगों से उस बात को न कहे, न ही राजा या सरकार के आगे फरियाद करे, न ही किसी गृहस्थ के पास जाकर कहे कि 'आयुष्मान् गृहस्थ' इन चोरों (लुटेरों) ने हमारे उपकरण छीनने के लिए अथवा करणीय कृत्य जानकर हमें कोसा है, मारा-पीटा है, हमें हैरान किया है, हमारे उप-करणादि नष्ट करके दूर फेंक दिये हैं।' ऐसे कुविचारों को साधु मन में भी न लाए और न

वचन से व्यक्त करे। किन्तु निर्भय, निर्द्वन्द्व और अनासक्त होकर आत्म-भाव में लीन होकर शरीर और उपकरणों का व्युत्सर्ग कर दे और राग-द्वेष रहित होकर समाधिभाव में विचरण करे।

५१९. यही उस साधु या साध्वी के भिक्षु जीवन की समग्रता-सर्वांगपूर्णता है, कि वह सभी अर्थों में सम्यक् प्रवृत्तियुक्त, ज्ञानादिसहित होकर संयम पालन में सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—विहारचर्या में साधु की निर्भयता और अनासक्ति की कसौटी—पिछले ६ सूत्रों में साधु की साधुता की अग्निपरीक्षा का निर्देश किया गया है। वास्तव में प्राचीनकाल में यातायात के साधन सुलभ न होने से अनुयायी लोगों को साधु के विहार की कुछ भी जानकारी नहीं मिल पाती थी। उस समय के विहार बड़े कष्टप्रद होते थे, रास्ते में हिंस्र पशुओं का और चोर-डाकुओं का बड़ा डर रहता था, बड़ी भयानक अटवियाँ होती थीं, लंबी-लंबी। रास्ते में कहीं भी पडाव करना खतरे से खाली नहीं था। ऐसी विकट परिस्थिति में शास्त्रकार ने साधु वर्ग को उनकी साधुता के अनुरूप निर्भयता, निर्द्वन्द्वता, अनासक्ति और शरीर तथा - उपकरणों के व्युत्सर्ग का आदेश दिया है। इन अवसरों पर साधु की निर्भयता और अनासक्ति की पूरी कसौटी हो जाती थी। न कोई सेना उसे रक्षा के लिए अपेक्षित थी, न वह शस्त्रास्त्र, साथी सुरक्षा के लिए कहीं आश्रय ढूंढ़ता था।

चोर उसके वस्त्रादि छीन लेते या उसे मारते-पीटते तो भी न तो चोरों के प्रति प्रतिशोध की भावना रखता था, न उनसे दीनतापूर्वक वापस देने की याचना करता था, और न कहीं उसकी फरियाद करता था। शान्ति से, समाधिपूर्वक उस उपसर्ग को सह लेता था।[1]

'गामसंसारियं' आदि पदों का अर्थ—गामसंसारियं—ग्राम में जाकर लोगों में उस बात का प्रचार करना, रायसंसारियं—राजा आदि से जाकर उसकी फरियाद करना।[2]

॥ तृतीय ईर्या-अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य तथा निशीथ चूर्णिकार आदि के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस युग में श्रमणों को इस प्रकार के उपद्रवों का काफी सामना करना पड़ता था। कभी बोटिक चोर (म्लेच्छ) किसी आचार्य या गच्छ का वध कर डालते, संयतियों का अपहरण कर ले जाते तथा उनकी सामग्री नष्ट कर डालते—(**निशीथ चूर्णि पीठिका २८९**) इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर अपने आचार्य की रक्षा के लिए कोइ वयोवृद्ध साधु गण का नेता बन जाता और गण का आचार्य सामान्य भिक्षु का वेष धारण कर लेता—(**बृहत्कल्प भाष्य १;३००५-६ तथा निशीथभाष्य पीठिका ३२१**) कभी ऐसा भी होता कि आक्रान्तिक चोर चुराये हुए वस्त्र को दिन में ही साधुओं को वापिस कर जाते किंतु अनाक्रान्तिक चोर रात्रि के समय उपाश्रय के बाहर प्रस्रवणभूमि में डालकर भाग जाते। —(**बृह० भाष्य १.३०११**) यदि कभी कोई चोर सेनापति उपधि के लोभ के कारण आचार्य की हत्या करने के लिए उद्यत होता तो धनुर्वेद का अभ्यासी कोई साधु अपने भुजाबल से, अथवा धर्मोपदेश देकर या मन्त्र, विद्या, चूर्ण और निमित्त आदि का प्रयोग कर उसे शान्त करता। —(**वहीं १.३०१४**)।

—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृष्ठ ३५७

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८४ के आधार पर (ख) आचारांग चूर्णि, मू० पा० टिप्पणी पृ० १८७

भाषाजात : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र (द्वि० श्रुतस्कन्ध) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'भाषाजात' है।
- भाषा का लक्षण है—जिसके द्वारा दूसरे को अपना अभिप्राय समझाया जाए, जिसके माध्यम से अपने मन में उद्भूत विचार दूसरों के समक्ष प्रकट किया जाए, तथा दूसरे के दृष्टिकोण, मनोभाव या अभिप्राय को समझा जाए।
- 'जात' शब्द के विभिन्न अर्थ मिलते हैं, जैसे—उत्पन्न, जन्म, उत्पत्ति, समूह, संघात, प्रकार, भेद, प्रवृत्त। यात=प्राप्त, गमन, गति, गीतार्थ—विद्वान् साधु आदि।[1]
- इस दृष्टि से भाषाजात के अर्थ हुए—भाषा की उत्पत्ति, भाषा का जन्म, भाषा जो उत्पन्न हुई है वह, भाषा का समूह, भाषा के प्रकार, भाषा की प्रवृत्तियाँ, प्रयोग, भाषा की प्राप्ति—(ग्रहण), भाषा-प्रयोग में गीतार्थ साधु आदि।
- इन सभी अर्थों के सन्दर्भ में वृत्तिकार ने 'भाषाजात' के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये ६ निक्षेप करके प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्य-भाषाजात का प्रतिपादन अभीष्ट माना है।
- 'जात' शब्द के पूर्वोक्त अर्थों को दृष्टिगत रखकर द्रव्य-भाषाजात के चार प्रकार बताए हैं—१. उत्पत्तिजात, २. पर्यवजात, ३. अन्तर्जात और ४. ग्रहणजात।
- (१) काययोग द्वारा गृहीत भाषावर्गणान्तर्गत द्रव्य जो वाग्योग से निकल कर भाषा रूप में उत्पन्न होते हैं, वे उत्पत्तिजात है।
- (२) उन्हीं वाग्योग-निःसृत भाषा द्रव्यों के साथ विश्रेणि में स्थित भाषावर्गणा के अन्तर्गत द्रव्य टकरा कर भाषापर्याय के रूप में उत्पन्न होते हैं, वे पर्यवजात हैं।
- (३) जो अन्तराल में, समश्रेणि में स्थित भाषा-वर्गणा के पुद्गल,वर्गणा द्वारा छोड़े गये भाषा द्रव्यों के संसर्ग से भाषा रूप में परिणमत हो जाते हैं, वे अन्तरजात हैं।
- (४) जो समश्रेणि-विश्रेणिस्थ द्रव्य भाषा रूप में परिणत तथा अनन्त-प्रदेशिक कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट होकर ग्रहण किये जाते हैं, वे ग्रहणजात कहलाते हैं।

---

१. पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ३५४।

☆ भावत: 'भाषाजात' तब होता है, जब पूर्वोक्त उत्पत्ति आदि चतुर्विध द्रव्य भाषाजात कान में पड़कर 'यह शब्द है' इस प्रकार की बुद्धि पैदा करते हैं।[1]

☆ साधु-साध्वियों के लिए पूर्वोक्त भाषाजात का निरूपण होने से इस अध्ययन का नाम 'भाषाजात अध्ययन' रखा गया है।

☆ इसके दो उद्देशक हैं। यद्यपि दोनों का उद्देश्य साधु वर्ग को वचन-शुद्धि का विवेक बताना है; तथापि दोनों में से प्रथम उद्देशक में १६ प्रकार की वचन-विभक्ति बताकर भाषा-प्रयोग के सम्बन्ध में विधि-निषेध बताया गया है।

☆ दूसरे उद्देशक में भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में क्रोधादि समुत्पन्न भाषा को छोड़कर निर्दोष-वचन बोलने का विधान किया गया है।[2]

☆ यह अध्ययन सूत्र ५२० से प्रारम्भ होकर ५५२ पर समाप्त होता है।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८५।
(ख) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ३५४।

२. (क) आचारांग नियुक्ति गाथा ३१४।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८५।

चउत्थं अज्झयणं 'भासज्जाया'

[पढमो उद्देसओ]

भाषाजात : चतुर्थ अध्ययन : प्रथम उद्देशक

भाषागत आचार-अनाचार विवेक

५२०. से भिक्खू वा २ इमाइं वइ-आयाराइं[1] सोच्चा णिसम्म इमाइं अणायाराइं अणायरियपुव्वाइं जाणेज्जा—जे कोहा वा वायं विउंजंति, जे[2] माणा वा वायं विउंजंति, जे मायाए[3] वा वायं विउंजंति, जे लोभा वा वायं विउंजंति, जाणतो वा फरुसं वदंति, अजाणतो वा फरुसं वयंति। सव्वं चेयं सावज्जं वज्जेज्जा विवेगमायाए—धुवं[4] चेयं जाणेज्जा, अधुवं चेयं जाणेज्जा, असणं वा ४ लभिय, णो लभिय, भुंजिय, णो भुंजिय, अदुवा आगतो अदुवा णो आगतो, अदुवा एति, अदुवा णो एति, अदुवा एहिति, अदुवा णो एहिति, एत्थ वि आगते,[5] एत्थ वि णो आगते एत्थ वि एति, एत्थ वि णो एति, एत्थ वि एहिति, एत्थ वि णो एहिति।

५२०. संयमशील साधु या साध्वी इन वचन (भाषा) के आचारों को सुनकर, हृदयंगम करके, पूर्व-मुनियों द्वारा अनाचरित भाषा-सम्बन्धी अनाचारों को जाने। (जैसे कि) जो क्रोध से वाणी का प्रयोग करते है, जो अभिमानपूर्वक वाणी का प्रयोग करते हैं, जो छल-कपट सहित भाषा बोलते हैं, अथवा जो लोभ से प्रेरित होकर वाणी का प्रयोग करते हैं, जानबूझ कर कठोर बोलते हैं, या अनजाने में कठोर वचन कह देते हैं—ये सब भाषाएँ सावद्य (स-पाप,) हैं,

---

१. 'वइ-आयाराइं' के बदले पाठान्तर है—वयिआयाराइं, वइयायाराइं, वययाराइं आदि। अर्थ समान है।

२. 'जे माणा वा वायं विउंजंति' आदि पाठ के बदले पाठान्तर है—'जे माणा वा वएज्जा, जे मायाए वा,''''''माया वा, जं माणा वा जे मायाए वा''''। अर्थ समान है।

३. माया आदि का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में—माया—'गिलाणो हं', लोभा—वाणिज्जं करेमाणे। अर्थात्—माया से बोलना—जैसे—'मैं बीमार हूँ।' लोभ से बोलना—वाणिज्य (सौदेबाजी, अदला-बदली) करता हुआ।

४. धुवं चेयं जाणेज्जा—का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दों में—'ध्रुवमेतद् निश्चितं' वृष्ट्यादिकं भविष्यतीत्येवं जानीयात्।' अर्थात्—यह निश्चित है कि वृष्टि आदि होगी ही; इस प्रकार जाने या शर्त लगाए।

५. 'एत्थ वि आगते' का तात्पर्य चूर्णिकार के शब्दों में—'अस्मिन् एत्थ ग्रामे संखडीए वा' इस गांव में या इस संखडी (प्रीतिभोज) में।

साधु के लिए वर्जनीय हैं। विवेक अपनाकर साधु इसप्रकार की सावद्य एवं अनाचरणीय भाषाओं का त्याग करे। वह साधु या साध्वी ध्रुव (भविष्यत्कालीन वृष्टि आदि के विषय में निश्चयात्मक) भाषा को जान कर उसका त्याग करे, अध्रुव (अनिश्चयात्मक) भाषा को भी जान कर उसका त्याग करे। 'वह अशनादि चतुर्विध आहार लेकर ही आएगा, या आहार लिए बिना ही आएगा, वह आहार करके ही आएगा, या आहार किये बिना ही आ जाएगा, अथवा वह अवश्य आया था या नहीं आया था, वह आता है, अथवा नहीं आता है, वह अवश्य आएगा, अथवा नहीं आएगा; वह यहां भी आया था, अथवा वह यहाँ नहीं आया था; वह यहाँ अवश्य आता है, अथवा कभी नहीं आता, अथवा वह यहाँ अवश्य आएगा या कभी नहीं आएगा, (इस प्रकार की एकान्त निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग साधु-साध्वी न करे)।

विवेचन—**भाषागत आचार-अनाचार का विवेक**—प्रस्तुत सूत्र में भाषा के विहित एवं निषिद्ध प्रयोगों का रूप बताया है। इसमें मुख्यतया ६ प्रकार की सावद्यभाषा का प्रयोग निषिद्ध बताया है—(१) क्रोध से, (२) अभिमान से, (३) माया-कपट से, (४) लोभ से, (५) जानते-अजानते कठोरतापूर्वक, और (६) सर्वकाल सम्बन्धी, तथा सर्वक्षेत्र सम्बन्धी निश्चयात्मक रूप से।

उदाहरणार्थ—**क्रोध के वश में होकर** किसी को कह देना—तू चोर है, बदमाश है, अथवा धमकी दे देना, झिड़क देना, मिथ्यारोप लगा देना आदि। **अभिमानवश**—किसी से कहना—मैं उच्च जाति का हूं, तू तो नीची जाति का है, मैं विद्वान् हूं, तू मूर्ख है, आदि। **मायावश**—मैं बीमार हूं, मैं इस समय संकट में हूं, इसप्रकार कपट करके कार्य से या मिलने आदि से किनाराकसी करना। **लोभवश**—किसी से अच्छा खान-पान, सम्मान या वस्त्रादि पाने के लोभ से उसकी मिथ्या-प्रशंसा करना या सौदेबाजी करना आदि। **कठोरतावश**—जानते-अजानते किसी को मर्मस्पर्शी वचन बोलना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना आदि। इसीप्रकार सर्वकाल क्षेत्र सम्बन्धी निश्चयात्मक भाषा-प्रयोग के कुछ उदाहरण सूत्र में दे दिये हैं।

विउंजंति की व्याख्या—विविध प्रकार से भाषा प्रयोग करते हैं।[1]

षोडश वचन एवं संयत भाषा-प्रयोग

५२१. अणुवीयि णिट्ठाभासी[2] समिताए संजते भासं भासेज्जा, तंजहा—

एगवयणं १, दुवयणं २, बहुवयणं ३, इत्थीवयणं ४, पुरिसवयणं ५, णपुंसगवयणं ६,

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६।

२. 'णिट्ठाभासी' के बदले चूर्णिकार—'निट्ठभासी' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"निश्चितभाषी निट्ठभासी, सम्यक् संजते भाषेत, संकितः भण्णे त्ति, ण वा जाणामि।" निट्ठभासी=निश्चितभाषी, यानी निश्चित हो जाने पर ही कहने वाला। संयमी साधु सम्यक् कहे। शंकित व्यक्ति निष्ठाभाषी नहीं होता। शंकित—अर्थात् जानता हूँ या नहीं जानता। इस प्रकार की शंका से ग्रस्त।

अज्झत्थवयणं ७, उवणीयवयणं ८, अवणीयवयणं ९, उवणीतअवणीतवयणं १०, अवणीत-उवणीतवयणं ११, तीयवयणं १२, पडुप्पण्णवयणं १३, अणागयवयणं १४, पच्चक्खवयणं १५, परोक्खवयणं १६।

से एगवयणं वदिस्सामीति एगवयणं वदेज्जा, जाव परोक्खवयणं वदिस्सामीति परोक्ख-वयणं वदेज्जा। इत्थी[1] वेस, पुमं वेस, णपुंसगं वेस, एवं वा चेयं, अण्णं वा चेयं, अणुवीयि णिट्ठाभासी समियाए संजते भासं भासेज्जा।

५२१. संयमी साधु या साध्वी विचारपूर्वक भाषा समिति से युक्त निश्चितभाषी एवं संयत होकर भाषा का प्रयोग करे।

जैसे कि (ये १६ प्रकार के वचन हैं—) (१) एकवचन, (२) द्विवचन, (३) बहुवचन, (४) स्त्रीलिंग-कथन, (५) पुल्लिंग-कथन, (६) नपुंसक-लिंग कथन, (७) अध्यात्म-कथन, (८) उपनीत—(प्रशंसात्मक) कथन, (९) अपनीत—(निन्दात्मक) कथन, (१०) उपनीताऽप-नीत—(प्रशंसा-पूर्वक निन्दा-वचन) कथन, (११) अपनीतोपनीत—(निन्दापूर्वक प्रशंसा) कथन, (१२) अतीतवचन, (१३) वर्तमानवचन, (१४) अनागत—(भविष्यत्) वचन, (१५) प्रत्यक्षवचन और (१६) परोक्षवचन।

यदि उसे 'एकवचन' बोलना हो तो वह एकवचन ही बोले, यावत् परोक्षवचन पर्यन्त जिस किसी वचन को बोलना हो, तो उसी वचन का प्रयोग करें। जैसे—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह नपुंसक है, यह वही है या यह कोई अन्य है, इस प्रकार जब विचारपूर्वक निश्चय हो जाए, तभी निश्चयभाषी हो तथा भाषा-समिति से युक्त हो कर संयत भाषा में बोले।

विवेचन—भाषाप्रयोग के समय सोलह वचनों का विवेक—प्रस्तुत सूत्र में १६ प्रकार के वचनों का उल्लेख करके उनके प्रयोग का विवेक बताया है, साधु को जिस किसी प्रकार का कथन करना हो, पहले उस विषय में तदनुरूप सम्यक् छानबीन करले कि मैं जिस वचन का वास्तव में प्रयोग करना चाहता हूं, वह उस प्रकार का है या नहीं? यह निश्चित हो जाने के बाद ही भाषा-समिति का ध्यान रखता हुआ, संयत होकर स्पष्ट वचन कहे। इन १६ वचनों के प्रयोग में ४ बातों का विवेक बताया गया है—(१) भलीभांति छानबीन करना, (२) स्पष्ट निश्चय करना, (३) भाषा-समिति का ध्यान रखना, और (४) यतनापूर्वक स्पष्ट कहना।

इस सूत्र से ये ८ प्रकार के वचन निषिद्ध फलित होते हैं—(१) अस्पष्ट, (२) संदिग्ध, (३) केवल अनुमित, (४) केवल सुनी-सुनाई बात, (५) प्रत्यक्ष देखी, परन्तु छानबीन न की हुई,

---

१. 'इत्थीवेस पुमं वेस णपुंसग वेस' के बदले पाठान्तर है—इत्थी वेस पुमं वेस णपुंसगं वेसं', 'इत्थीवेसा पुरिसे नपुंसगं वेसं' एवं इत्थीवेसं पुरिसवेसं णपुंसगवेसं।' चूर्णिकार सम्मत पाठ अन्तिम है। चूर्णि-कृत व्याख्या इस प्रकार है—इत्थि पुरिसणेवच्छितं ण वदिज्जा—एसो पुरिसो गच्छति एषोऽप्येवं।

(६) स्पष्ट, किन्तु प्राणघातक, मर्मस्पर्शी, आघात-जनक, (७) द्व्यर्थक, (दोहरे अर्थ वाली) (८) निरपेक्ष व एकान्त कथन।[1]

'निट्ठाभासी' आदि शब्दों की व्याख्या—निट्ठाभासी—निश्चित करने के बाद भाषण करने वाला, स्पष्ट-भाषी (संदिग्ध, अस्पष्ट, द्व्यर्थक, केवल श्रुत या अनुमित भाषा-प्रयोग नहीं करने वाला)। अणुवीयि=पहले बुद्धि से निरीक्षण-परीक्षण करके—छानबीन करके। अज्झत्थवयण= आध्यात्मिक कथन, जो शास्त्रीय प्रमाण, अनुभव, युक्ति या प्रत्यक्ष से निश्चित हो, अथवा आत्मा—हृदय में स्पष्ट समुद्भूत, स्फुरित या अन्तःकरण प्रेरित वचन।

उवणीयवयणं=प्रशंसात्मक वचन, जैसे—यह रूपवान है। अवणीयवयणं—अप्रशंसात्मक वचन, जैसे—यह रूपहीन है, उवणीतअवणीतवयणं=किसी का कोई गुण प्रशंसनीय है, कोई अवगुण निन्द्य है, उसके विषय में कथन करना, जैसे—यह व्यक्ति रूपवान् है किन्तु चरित्रहीन है। अवणीत-उपणीतवयणं—किसी के अप्रशस्तगुण के साथ प्रशस्तगुण का कथन करना जैसे-यह कुरूप है, किन्तु है सदाचारी।[2]

इत्थीवेस आदि पदों की व्याख्या—चूर्णिकार ने इत्थीवेसं, पुं-णपुंसगवेसं पाठ मानकर इस प्रकार व्याख्या की है—कोई स्त्री के वेष में जा रही हो तो उसे देखकर यों न कहे कि यह पुरुष जा रहा है। इसी प्रकार पुरुष और नपुंसक के विषय में समझ लेना चाहिए।[3]

दशवैकालिक ७।१५ में भी इसी प्रकार का उल्लेख है कि सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर कथन करना भी असत्य-दोष है।

इस पर दोनों चूर्णियों तथा हारिभद्रीय टीका में काफी चर्चा की गई है। चूर्णिकार का मत है कि पुरुषवेषधारी स्त्री को देखकर यह कहना कि पुरुष गा रहा है, नाच रहा है, जा रहा है—स-दोष है। जब कि टीकाकार आचार्य हरिभद्र का मत है—पुरुषवेषधारी स्त्री को स्त्री कहना स-दोष है।[4]

इसका आशय यह लगता है कि जब तक उस विषय में संदेह हो, उसके स्त्री या पुरुष होने का निश्चय न हो, तब तक उसे निश्चित रूप में स्त्री या पुरुष; नपुंसक नहीं कहना चाहिए यह शंकितभाषा की कोटि में आ जाती है। किंतु रूप-सत्य भी सत्यभाषा का एक प्रकार माना गया है, जिसके अनुसार वर्तमान रूप में जो है, उसे उसी नाम से पुकारना 'रूपसत्य' सत्य-भाषा है।[5]

इस समग्र चर्चा का सार यह लगता है कि पुरुषवेषधारी स्त्री को पुरुष न

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्र ३८६ (ख) दशवै० अ०७ गा० ५-११
२. (अ) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६ (आ) आचारांग चूर्णि मू० पा० पृ० १८९
३. आचारांग चूर्णि मू. पा. पृ. १९०
४. देखें (क) अगस्त्यसिंह चूर्णि पृष्ठ १६५ (ख) जिनदासचूर्णि, पृष्ठ २४६ (ग) हारिभद्रीय टीका पत्र २१४—दसवेआलियं पृष्ठ ३४९
५. पन्नवणा पद ११

कहकर 'पुरुष-वेषधारी' कहना चाहिए इसी प्रकार स्त्री वेषधारी को स्त्री न कहकर 'स्त्री-वेषधारी' कहना चाहिए ; ताकि शंकित व असत्य-दोष से भाषा दूषित न हो।

एवं वा चेयं, अण्णं वा चेयं का तात्पर्य वृत्तिकार के अनुसार है—यह ऐसा है, या यह दूसरे प्रकार का है....। किन्तु चूर्णिकार इसका तात्पर्य निषेधात्मक बताते हैं—यह ऐसा ही हैं, इस प्रकार संदिग्ध अथवा यह अन्यथा (दूसरी तरह का) है, इसप्रकार का असंदिग्धवचन नहीं बोलना चाहिए।[1]

चार प्रकार की भाषा : विहित-अविहित

५२२. इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा चत्तारि भासज्जायाइं, तंजहा—सच्चमेगं[2] पढमं भासजातं, बीयं मोसं, ततियं सच्चामोसं, जं णेव सच्चं णेव मोसं णेव सच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं।

से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य अणागया अरहंता भगवंतो सव्वे ते एताणि चेव चत्तारि भासज्जाताइं भासिसु वा भासिंति वा भासिस्संति वा, पण्णविंसु वा ३।[3]

सव्वाइं च णं एयाणि अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि[4] रसमंताणि फासमंताणि चयोवचइयाइं[5] विप्परिणामधम्माइं भवंति त्ति अक्खाताइं।

५२३. से भिक्खू वा २ [से ज्जं पुण जाणेज्जा—] पुव्वं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीइकंतं च णं भासिता भासा अभासा।

५२४. से भिक्खू वा २ जा य भासा सच्चा, जा य भासा मोसा, जा य भासा सच्चामोसा

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६, (ख) आचा. चूर्णि मू. पा. पृ० १६०
२. 'सच्चमेगं' के बदले पाठान्तर हैं—सच्चमेतं, सच्चमेयं, सच्चमेमं।
३. 'पण्णविंसु वा' के आगे ३ का अंक शेष (पण्णवेंति वा पण्णविस्संति वा) पाठ का सूचक है।
४. 'रसमंताणि फासमंताणि' के बदले पाठान्तर हैं—'रसवंताणि फासवंताणि'।
५. 'चयोवचइयाइं' के बदले चूर्णिकार 'चयोवचयाइं' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—चयोवचयाइं अनित्यो (शब्द)—वैशेषिकाः, वैदिकाः—नित्यः शब्दः—यथा वायुर्वीजनादिभिरभिव्यज्यते, एवं शब्दः, ण च एवमारहतानां, यथा पटः चीयते अवचीयते च, एवं विप्परिणामसभावाणि, 'ते चेव णं—ते भंते! सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति।' अर्थात्—वैशेषिक कहते हैं—शब्द अनित्य है, वैदिक कहते हैं—शब्द नित्य है, जैसे वायु पंखे आदि के द्वारा अभिव्यक्त होती है, वैसे ही शब्द है। आर्हतमतानुसार ऐसा नहीं है, यहाँ शब्द आदि पुद्गल है, जो परिणामी हैं। जैसे वस्त्र का चय-अपचय होता है, इसीप्रकार सभी पुद्गल परिणमनस्वभाव वाले होते हैं। जैसे कि शास्त्र में कहा है—"ते चेव भंते!" ये सुशब्द के पुद्गल दुःशब्द के रूप में परिणत होते हैं, दुःशब्द के पुद्गल भी सुशब्द के रूप में परिणत होते हैं।

जा य भासा असच्चामोसा तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं[1] कडुयं णिट्ठुरं[2] फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूतोवघातियं अभिकंख णो[3] भासेज्जा ।

५२५. से भिक्खू वा २ जा य भासा सच्चा सुहुमा जा य भासा असच्चामोसा तहप्पगारं भासं असावज्जं अकिरियं जाव[4] अभूतोवघातियं[5] अभिकंख भासेज्जा ।

५२६. से भिक्खू वा २ पुमं आमंतेमाणे आमंतिते वा अपडिसुणेमाणे णो एवं वदेज्जा–होले ति वा[6], गोले ति वा, वसुले ति वा कुपक्खे ति वा, घडदासे ति वा, साणे ति वा तेणे ति वा, चारिए ति वा मायी[7] ति वा, मुसावादी ति वा, इतियाइं तुमं, इतियाइं ते जणगा वा । एतप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव[8] अभिकंख णो भासेज्जा ।

५२७. से भिक्खू वा २ पुमं आमंतमाणे आमंतिते वा अपडिसुणेमाणे एवं वदेज्जा—अमुगे ति वा, आउसो ति वा, आउसंतारो ति वा, सावके ति वा, उवासगे ति वा । धम्मिए ति वा, धम्मप्पिए[9] ति वा । एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव[10] अभूतोवघातियं अभिकंख भासेज्जा ।

५२८. से भिक्खू वा २ इत्थी आमंतेमाणे आमंतिते य अपडिसुणेमाणी णो एवं वदेज्जा—होली ति वा, गोली ति वा, इत्थिगमेणं णेतव्वं ।

५२९. से भिक्खू वा २ इत्थी आमंतेमाणे आमंतिते य अपडिसुणेमाणी एवं वदेज्जा–आउसो ति वा, भगिणी ति वा, भोई ति वा, भगवती ति वा, साविगे ति वा, उवासिए ति वा, धम्मिए ति वा, धम्मप्पिए ति वा । एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा ।

---

१. कक्कसं का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—'कक्कसा किलेसं करेति'—कर्कशा भाषा क्लेश कराती है ।
२. 'णिट्ठुरं फरुसं' दोनों एकार्थक होने से किसी-किसी प्रति में 'णिट्ठुरं' पद नहीं है ।
३. 'णो भासेज्जा' के बदले पाठान्तर है—भासं न भासेज्जा', णो भासं भासेज्जा' ।
४. यहाँ 'जाव' शब्द से 'अकिरियं' से लेकर 'अभिकंख' तक का समग्र पाठ सूत्र ५२४ के अनुसार समझें ।
५. तुलना कीजिए— "तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥"—दशवै० अ० ६ गा० ११
६. तुलना कीजिए— तहेव होले गोले त्ति, साणे वा वसुलेत्ति य ।
दमए दुहए वा वि, नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥ —दशवै० अ० ७/गा० १४
७. तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ० ७/गा० १० '……तेणं चोरे त्ति नो वए ।'
८. यहाँ जाव शब्द से 'सकिरियं' से 'अभिकंख' तक का सारा पाठ सू० ५२४ के अनुसार समझें ।
९. 'धम्मप्पिए' के बदले पाठान्तर है—'धम्मपीए धम्मियपितिए, धम्मपिय त्ति धम्मपितिए ति' आदि।
१०. 'जाव' शब्द से यहाँ 'असावज्जं' से 'अभूतोवघातियं' तक का पाठ सू० ५२४ के अनुसार समझें ।

५२२. इन पूर्वोक्त भाषागत दोष-स्थानों का अतिक्रमण (त्याग) करके (भाषा का प्रयोग करना चाहिए)। साधु को भाषा के चार प्रकारों को जान लेना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—१. सत्या २. मृषा, ३. सत्यामृषा और जो न सत्या है, न असत्या है और न ही सत्यामृषा है यह ४. असत्यामृषा—(व्यवहारभाषा) नाम का चौथा भाषाजात है।

जो मैं यह कहता हूँ उसे—भूतकाल में जितने भी तीर्थंकर भगवान हो चुके है, वर्तमान में जो भी तीर्थंकर भगवान् हैं और भविष्य में जो भी तीर्थंकर भगवान् होंगे, उन सबने इन्हीं चार प्रकार की भाषाओं का प्रतिपादन किया है, प्रतिपादन करते हैं और प्रतिपादन करेंगे अथवा उन्होंने प्ररूपण किया है, प्ररूपण करते हैं और प्ररूपण करेंगे। तथा यह भी उन्होंने प्रतिपादन किया है कि ये सब भाषाद्रव्य (भाषा के पुद्गल) अचित्त है, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले हैं, तथा चय-उपचय (वृद्धि-ह्रास अथवा मिलने-बिछड़ने) वाले एवं विविध प्रकार के परिणमन धर्मवाले है।

५२३. संयमशील साधु-साध्वी को भाषा के सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि बोलने मे पूर्व भापा (भापावर्गणा के पुद्गल) अभापा होती है, बोलते (भाषण करते) समय भापा भाषा कहलाती है बोलने के पश्चात् (बोलने का समय बीत जाने पर) बोली हुई भापा अभापा हो जाती है।

५२४. जो भाषा सत्या है, जो भाषा मृषा है, जो भाषा सत्यामृषा है, अथवा जो भाषा असत्यामृषा है, इन चारों भाषाओं में से (जो मृषा-असत्या और मिश्रभाषा है, उसका व्यवहार साधु-साध्वी के लिए सर्वथा वर्जित है। केवल सत्या और असत्यामृषा—(व्यवहारभाषा का प्रयोग ही उसके लिए आचरणीय है।) उसमें भी यदि सत्यभाषा सावद्य, अनर्थदण्डक्रिया युक्त, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर, कर्मों की आस्रवकारिणी तथा छेदनकारी, भेदनकारी, परितापकारिणी, उपद्रवकारिणी एवं प्राणियों का विघात करनेवाली हो तो विचारशील साधु को मन से विचार करके ऐसी सत्यभाषा का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए।

५२५. जो भाषा सूक्ष्म (कुशाग्रबुद्धि से पर्यालोचित होने पर) सत्य सिद्ध हो, तथा जो असत्यामृपा भाषा हो, साथ ही ऐसी दोनों भाषाएँ असावद्य, अक्रिय यावत् जीवों के लिए अघातक हों तो संयमशील साधु मन से पहले पर्यालोचन करके इन्हीं दोनों भाषाओं का प्रयोग करे।

५२६. साधु या साध्वी किसी पुरुष को आमंत्रित (सम्वोधित) कर रहे हों, और आमंत्रित करने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार न कहे—"अरे होल (मूर्ख) रे गोले! या हे गोल अय वृषल (शूद्र)! हेकुपक्ष (दास, या निन्द्यकुलीन) अरे घटदास (दासीपुत्र)! या ओ कुत्ते! ओ चोर! अरे गुप्तचर! अरे झूठे! ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार के) ही तुम हो, ऐसे (पूर्वोक्त प्रकार के) ही तुम्हारे माता-पिता हैं।" विचारशील साधु इस प्रकार की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोले।

५२७. संयमशील साधु या साध्वी किसी पुरुष को आमंत्रित कर रहे हो, और आमंत्रित करने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार सम्बोधित करे—हे अमुक भाई ! हे आयुष्मन् ! हे आयुष्मानो ! ओ श्रावकजी ! हे उपासक ! धार्मिक ! या हे धर्मप्रिय ! इस प्रकार की निरवद्य यावत् भूतोपघातरहित भाषा विचारपूर्वक बोले !

५२८. साधु या साध्वी किसी महिला को बुला रहे हों, वहुत आवाज देने पर भी वह न सुने तो उसे ऐसे नीच सम्बोधनों से सम्बोधित न करे—अरी होली (मूर्खे) ! अरी गोली ! अरी वृषली (शूद्रे) ! हे कुपक्षे (नीन्घजातीये) ! अरी घटदासी ! ऐ कुत्ती ! अरी चोरटी ! हे गुप्तचरी ! अरी मायाविनी (धूर्ते) ! अरी झूठी ! ऐसी ही तू है और ऐसे ही तेरे माता-पिता हैं !" विचारशील साधु-साध्वी इस प्रकार की सावद्य, सक्रिय यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोलें।

५२९. साधु या साध्वी किसी महिला को आमंत्रित कर रहे हों, बहुत वुलाने पर भी वह न सुने तो उसे इस प्रकार सम्बोधित करे—आयुष्मती ! बहन (भगिनी) ! भवती (अजी, आप या मुखियाइन), भगवति ! श्राविके ! उपासिके ! धार्मिके ! धर्मप्रिये ! इस प्रकार की निरवद्य यावत् जीवोपघात-रहित भाषा विचारपूर्वक बोले।

विवेचन—भाषा चतुष्टय उसके विधि-निषेध और प्रयोग—पिछले आठ सूत्रों में भाषा के चार प्रकार, उनके प्ररूपक, उनका स्वरूप, उनकी उत्पत्ति, चारों में से भाषणीय भाषा-द्वय किन्तु इन दोनों के भी सावद्य, सक्रिय, कर्कश, निष्ठुर, कठोर, कटु, छेदन-भेदन-परिताप-उपद्रवकारी, आस्रवजनक, जीवोपघातक होने पर प्रयोग का निषेध और इनसे विपरीत असावद्य यावत् जीवों के लिए अविघातक भाषा के प्रयोग का विधान तथा नर-नारी को सम्बोधित करने में निषिद्ध और विहित भाषा का निरुपण किया गया है। संक्षेप में, शास्त्रकार ने इन ७ सूत्रों में अनाचारणीय आचरणीय भाषा का समग्र विवेक बता दिया है।[1]

भाषा अभाषा ? 'पुव्वं भासा अभासा'···इत्यादि पाठ की व्याख्या वृत्तिकार इसप्रकार करते हैं—भाषावर्गणा के पुद्गल (द्रव्य) वाग्योग से निकलने से पूर्व भाषा नहीं कहलाते, बल्कि अभाषा रूप ही होते हैं, वाग्योग से भाषावर्गणा के पुद्गल जब निकल रहे हों, तभी वह भाषा बनती है, और कहलाती है। किन्तु भाषणोत्तरकाल में यानी भाषा (बोलने) का समय व्यतीत हो जाने पर शब्दों का प्रध्वंश हो जाने से बोली गई भाषा अभाषा हो जाती है।—"भाषा-जो उत्पन्न हुई है,"—भाषाजात शब्द का ऐसा अर्थ मानने पर ही इस सूत्र की संगति बैठती है। इस सूत्र से शब्द के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव सूचित किए गये हैं, तथा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जब भाषा बोली जाएगी, यानी जब भी भाषा उत्पन्न होगी, तभी वह भाषा कहलाएगी। जो भाषा अभी उत्पन्न नहीं हुई है, या उत्पन्न होकर नष्ट हो चुकी है, वह भाषा नहीं

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८७, ३८८ के आधार पर
(ख) तुलना के लिए देखें—दशवैकालिक अ०७, गा०१, २, ३

कहलाती। अतः साधक द्वारा जो बोली नहीं गई है, या बोली जाने पर भी नष्ट हो चुकी, वह भाषा की संज्ञा प्राप्त नहीं करेगी, वर्तमान में प्रयुक्त भाषा ही 'भाषा संज्ञा' प्राप्त करती है।[1]

चार भाषाएँ—१. सत्या (जो भाव, करण, योग तीनों से यथार्थ हो, जैसा देखा, सुना, सोचा, समझा, अनुमान किया, वैसा ही दूसरों के प्रति प्रगट करना), २. मृषा (झूठी), ३. सत्यामृषा (जिसमें कुछ सच हो, कुछ झूठ हो) और ४. असत्यामृषा (जो न सत्य है, न असत्य, ऐसी व्यवहारभाषा)। इनमें से मृषा और सत्यामृषा त्याज्य हैं।[2]

'अभिकंख' का अर्थ पहले बुद्धि से पर्यालोचन करके फिर बोले।[3]

सत्याभाषा भी १२ दोषों से युक्त हो तो अभाषणीय—सूत्र ५२४ में यह स्पष्ट कर दिया है कि 'सत्य' कही जाने वाली भाषा भी १२ दोषों से युक्त हो तो असत्य और अवाच्य हो जाती है। १२ दोष ये हैं—(१) सावद्या (पापसहित), २. सक्रिया (अनर्थदण्डप्रवृत्तिरूप क्रिया से युक्त) (३) कर्कशा (क्लेशकारिणी, दर्पित अक्षरवाली), (४) निष्ठुरा (हक्काप्रधान, जकार-सकार-युक्त, निर्दयतापूर्वक डाँट-डपट) (५) परुषा (कठोर, स्नेहरहित, मर्मोद्‌घाटनपरकवचन), (६) कटुका (कड़वी, चित्त में उद्‌वेग पैदा करनेवाली) (७) आस्रवजनक, (८) छेदकारिणी (प्रीतिछेद करने वाली), (९) भेदकारिणी (फूट डालनेवाली, स्वजनों में भेद पैदा करनेवाली), (१०) परिताप-करी, (११) उपद्रवकरी (तूफान दंगे या उपद्रव करनेवाली, भयभीत करनेवाली), (१२) भूतोपघातिनी (जिससे प्राणियों का घात हो)। वस्तुतः अहिंसात्मक वाणी ही भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है।[4]

सम्बोधन में भाषा-विवेक—४ सूत्रों (५२६ से ५२९) द्वारा शास्त्रकार ने स्त्री-पुरुषों को सम्बोधन में निषिद्ध और विहित भाषा-प्रयोग का विवेक बताया है।[5]

होलेत्ति वा गोलेत्ति वा—होल-गोल आदि शब्द प्राचीन समय में निष्ठुरवचन के रूप में प्रयुक्त होते थे।[6] इसप्रकार के शब्द सुननेवाले का हृदय दुखी व क्षुब्ध हो जाता था अतः शास्त्रों में अनेक स्थानों पर इसप्रकार के सम्बोधनों का निषेध है।[7]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८७
२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८७ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पणी १७५ पृ०
   (ग) देखिये दशवै० अ० ७ गा० ३ की व्याख्या
३. (अ) आचारांग वृत्ति ३८७ पत्रांक
   (आ) पुव्वं बुद्धीइ पेहित्ता पच्छावयमुदाहरे
   अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नउ ते गिरा'॥ —दशवै० नियुक्ति गा० २९२
४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८७
५. (क) आचारांग वृत्ति ३८७ (ख) दशवै० अ०७ गा०११ से २० तक तुलना के लिए देखें
६. होलादिशब्दास्तत्तद्देश-प्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादि वाचकाः। —दशवै० हारि० टीका पत्र २१५
७. दशवै० ७/१४ में, तथा सूत्रकृतांग (१/९/२७) में— 'होलावायं सहीवायं गोयावायं च नो वदे' आदि सूत्रों द्वारा सूचित किया गया है।

प्राचीन चूर्णियों के अनुसार ऐसा लगता है कि ये सम्बोधन पुरुष के लिए जहाँ निष्ठुर वचन थे, वहाँ स्त्री के लिए 'होले' 'गोले' 'वसुले'—मधुर व प्रिय आमंत्रण भी माने जाते थे। गोल देश में ये आमंत्रण प्रसिद्ध थे।[1] संभवतः ये निम्न वर्ग में 'प्रणय-आमंत्रण' हों, इसलिए भी इनका प्रयोग निषिद्ध किया गया।

प्राकृतिक दृश्यों में कथन-अकथन

५३०. से भिक्खू वा २ णो एवं वदेज्जा—"णभंदेवे ति वा, गज्जदेवे ति वा, विज्जुदेवे ति वा, पवुट्ठदेवे ति वा, णिवुट्ठदेवे ति वा, पडतु वा वासं मा वा पडतु, णिप्पज्जतु वा सासं मा वा णिप्पज्जतु, विभातु[2] वा रयणी मा वा विभातु, उदेउ वा सूरिए मा वा उदेउ, सो वा राया जयतु।" णो एयप्पयारं भासं भासेज्जा पण्णवं।

५३१. से भिक्खू वा २ अंतलिक्खे ति वा, गुज्झाणुचरिते ति वा, समुच्छिते वा, णिवइए वा पओए वदेज्ज वा वुट्ठबलाहगे त्ति।

५३०. संयमशील साधु या साध्वी इस प्रकार न कहें कि "नभोदेव (आकाशदेव) है, गर्ज (मेघ) देव है, वा विद्युतदेव हैं, प्रवृष्ट (बरसता रहनेवाला) देव है, या निवृष्ट (निरंतर बरसने वाला) देव है, वर्षा बरसे तो अच्छा या न बरसे, तो अच्छा, धान्य उत्पन्न हों या न हों, रात्रि सुशोभित (व्यतिक्रान्त) हो या न हो, सूर्य उदय हो या न हो, वह राजा जीते या न जीते।" प्रज्ञावान साधु इस प्रकार की भाषा न बोले।

५३१. साधु या साध्वी को कहने का प्रसंग उपस्थित हो तो आकाश को गुह्यानुचरित—अन्तरिक्ष (आकाश) कहे या देवों के गमनागमन करने का मार्ग कहे। यह पयोधर (मेघ) जल देने वाला हे, संमूर्च्छिम जल बरसता है, या यह मेघ बरसता है, या बादल बरस चुका है, इस प्रकार की भाषा बोले।

विवेचन—प्राकृतिक तत्त्वों को देव कहने की धारणा और साधु की भाषा—वैदिक युग में सूर्य, चन्द्र रात्रि, अग्नि, जल, समुद्र, मेघ, विद्युत्, आकाश, पृथ्वी, वायु, आदि प्रकृति की देनों को आम जनता देव कहती थी, आज भी कुछ लोग इन्हें देव मानते और कहते हैं,[3] किन्तु

---

१. (क) होले, गोले वसुलेत्ति देसीए लालणगत्थाणीयाणि प्रियवयणामंतणाणि'—अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ० १६८
(ख) आचार्य जिनदास के अनुसार हले आमंत्रण का प्रयोग वरदा-तट में, और 'हला' का प्रयोग लाटदेश (मध्य और दक्षिण गुजरात) में होता था। 'भट्टे' शब्द का प्रयोग लाटदेश में नणद के लिए किया जाता था।
—दशवै० जिन० चूर्णि पृ० २५०

२. 'विभातु' के वदले 'विभावतु' पाठान्तर है।

३. देखिए प्रश्नोपनिषद् में आचार्य पिप्पलाद का कथन—"तस्मै सहोवाचाकाशो हवा एप देवो वायुरग्निराप: पृथिवी वाङ्‌मनश्चक्षुश्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयाम:।"
—प्रश्न उपनिषद् प्रश्न २/२

जैन शास्त्रानुसार ये देव नहीं, पुद्गलादि द्रव्य हैं या प्राकृतिक उपहार हैं। सचित्त अग्नि, जल, वनस्पति, पृथ्वी, वायु आदि में जीव है।[1]

निरवद्य और यथातथ्य भाषा का प्रयोग करनेवाले जैन साधु को इस मिथ्यावाद से बचने-बचाने के लिए यह विवेक बताया है, वह आकाश, मेघ, विद्युत् आदि प्राकृतिक पदार्थो को देव न कहकर उनके वास्तविक नाम से ही उनका कथन करें; अन्यथा लोगों में मिथ्या धारणा फैलेगी।[2]

इसी सूत्र के उत्तरार्द्ध में वर्षा-वर्णन, धान्योत्पादन, रात्रि का आगमन, सूर्य का उदय, राजा की जय हो या न हो, इस विषय में साधु को तटस्थ रहना चाहिए; क्योंकि वर्षा-वर्षण आदि के कहने से सचित्त जीव विराधना का दोष लगेगा, अथवा वर्षा आदि के सम्बन्ध में भविष्य कथन करने से असत्य का दोष लगने की संभावना है, अमुक राजा की जय हो, अमुक की नहीं या अमुक की जय होगी, अमुक की पराजय, ऐसा कहने से युद्ध का अनुमोदन-दोष तथा साधु के प्रति एक को मोह, दूसरे को द्वेष पैदा होगा।[3] इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में वायु, वृष्टि, शर्दी-गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष, शिव आदि कब होंगे, या न हों, इस प्रकार की भाषा बोलने का तथा मेघ, आकाश और मानव के लिए देव शब्द का प्रयोग करने का निषेध किया है, इनके सम्बन्ध में क्या कहा जाए यह भी स्पष्ट निर्देश किया गया है।[4]

'संमुच्छिते' आदि पदों के अर्थ—संमुच्छिते= संमूच्छित हो रहा है—उमड़ रहा है, अथवा उन्नत हो रहा है, **णिवइए=** झुक रहा है, या बरस रहा है। **वुट्ठ बलाहगे=** मेघ बरस पड़ा है।[5]

५३२. एयं खलु भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिएहिं [सया जए] ज्जासि त्ति बेमि।

५३२. यही (भाषाजात को सम्यक् जान कर भाषाद्वय का सम्यक् आचार ही) उस साधु और साध्वी की साधुता की समग्रता है कि वह ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अर्थो से तथा पांच समितियों से युक्त होकर सदा इसमें प्रयत्न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) 'पृथिव्यम्बुवनस्पतय. स्थावरा:', धर्माधर्माकाशकालपुद्गल, द्रव्याणि'। —तत्त्वार्थ अ० ५ (ख) उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६, गा० ८, ७

२. (क) दशवै० अ० ७ गा० ५२, हारि० टीका०—'मिथ्यावादलाघवादिप्रसंगात्'।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८८।

३. धर्मरत्न प्रकरण टीका (६/गुण ४) में वारत्त मुनि का उदाहरण दिया गया है कि चंडप्रद्योत के आक्रमण के समय उन्होंने निमित्त कथन किया, जिससे बहुत अनर्थ हो गया।

४. (अ) तुलना के लिए देखिए—दशवै० अ० ७ गा० ५०, ५१, ५२, ५३ तथा टिप्पण पृ० ३६४-६५
(आ) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८८।

५. (क) आचारांग वृत्ति पृ० ३८८। (ख) दशवै० (मुनियमलजी) अ० ७/५२ विवेचन पृ० ३६४।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

सावद्य-निरवद्य भाषा-विवेक

५३३. से भिक्खू वा २ जहा वेगतियाइं रूवाइं पासेज्जा तहा वि ताइं णो एवं वदेज्जा, तंजहा-गंडी गंडी ति वा, कुट्ठी कुट्ठी ति वा, जाव महुमेहुणी ति वा, हत्थच्छिण्णं[1] हत्थच्छिण्णे ति वा, एवं पादच्छिण्णे ति वा, कण्णच्छिण्णे ति वा, नक्कच्छिण्णे ति वा, उट्ठच्छिण्णे ति वा।

जे यावऽण्णे तहप्पगारा[2] एतप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २[3] कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख णो भासेज्जा।

५३४. से भिक्खू वा २ जहा वेगतियाइं रूवाइं पासेज्जा तहा वि ताइं एवं वदेज्जा, तंजहा-ओयंसी ओयंसी ति वा, तेयंसी तेयंसी ति वा, वच्चंसी वच्चंसी ति वा, जसंसी जसंसी ति वा, अभिरूवं अभिरूवे ति वा, पडिरूवं पडिरूवे ति वा, पासादियं पासादिए ति वा, दरिसणिज्जं दरिसणीए ति वा।

जे यावऽण्णे तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २ णो कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगारा एतप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख भासेज्जा।

५३५. से भिक्खू वा २ जहा वेगतियाइं रूवाइं पासेज्जा, तंजहा-वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहा वि ताइं णो-एवं वदेज्जा, तं [जहा]-सुकडे ति वा, सुट्ठुकडे ति वा, साहुकडे इ वा, कल्लाणं ति वा, करणिज्जे इ वा। एयप्पगारं भासं सावज्जं[3] जाव णो भासेज्जा।

५३६. से भिक्खू वा २ जहा वेगइयाइं रूवाइं पासेज्जा, तं [जहा-] वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहा वि ताइं एवं वदेज्जा, तंजहा-आरंभकडे ति वा, सावज्जकडे ति वा, पयत्तकडे ति वा, पासादियं पासादिए ति वा, दरिसणीयं दरिसणीए ति वा, अभिरूवं अभिरूवे ति वा, पडिरूवं पडिरूवे ति वा। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव[4] भासेज्जा।

---

१. किसी प्रति में 'हत्थच्छिण्णं हत्थच्छिणेति' इत्यादि पाठ के बदले 'हत्थच्छिणं हत्थच्छिणेति' के बाद 'एवं पाद-नक्क-कण्ण-उट्ठा' पाठ मिलता है। निशीथसूत्र के चतुर्दश अध्ययन में भी 'हत्थच्छिण्णस्स पायच्छिण्णस्स, नासच्छिण्णस्स कण्णछिन्नस्स ओट्ठच्छिण्णस्स असक्कस्स न देइ।' पाठ मिलता है, तदनुसार यही क्रम संगत प्रतीत होता है, तथा सम्पूर्ण पाठ ही ठीक लगता है।

२. 'यावि तहप्पगारा' का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में—'तथाऽन्ये च तथाप्रकाराः काण-कुण्टादयस्तद्विशेषणविशिष्टाभिर्वाग्भिरुक्ताः कुप्यन्ति मानवाः।' अर्थात्—तथा दूसरे भी इस प्रकार के काने, कुवड़े, लूले, लंगड़े आदि मानवों उन-उन विशेषणों से युक्त वचनों से कहने पर वे रुष्ट होते हैं।

३. यहाँ जाव शब्द से 'सावज्जं' से 'णो भासेज्जा' तक का सारा पाठ सू० ५२४ के अनुसार समझें।

४. यहाँ जाव शब्द से 'असावज्जं' से लेकर 'भासेज्जा' तक का सारा पाठ सू० ५२५ के अनुसार समझें।

५३७. से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाए तहा वि तं णो एवं वदेज्जा, तंजहा-सुकडे ति वा, सुट्ठुकडे ति वा, साहुकडे ति वा, कल्लाणे[1] ति वा, करणिज्जे ति वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव[2] णो भासेज्जा।

५३८. से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा-आरंभकडे ति वा, सावज्जकडे ति वा, पयत्तकडे ति वा, भद्दयं[3] भद्दए ति वा, ऊसडं ऊसडे ति वा, रसियं रसिए ति वा, मणुण्णं मणुण्णे ति वा, एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव[4] भासेज्जा।

५३९. से भिक्खू वा २ मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पक्खि वा सरीसिवं[5] वा जलयरं वा सत्तं परिवूढकायं पेहाए णो एवं वदेज्जा थुल्ले ति वा, पमेतिले[6] ति वा, वट्टे ति वा, वज्झे ति वा, पादिमे ति वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

५४०. से भिक्खू वा २ मणुस्सं वा जाव जलयरं वा सत्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वदेज्जा—परिवूढकाए ति वा, उवचितकाए ति वा, थिरसंघयणे ति वा, चितमंस-सोणिते ति वा, बहुपडिपुण्णइंदिए ति वा। एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासेज्जा।

५४१. से भिक्खू वा २ विरूवरूवाओ गाओ पेहाए णो एवं वदेज्जा, तंजहा-गाओ दोज्झा ति वा, दम्मा ति वा गोरहगा, वाहिमा ति वा, रहजोग्गाति वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

५४२. से भिक्खू वा २ विरूवरूवाओ गाओ[7] पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा-जुवंगवे ति

---

१. 'कल्लाणे' के बदले पाठान्तर है—'कल्लाणकडे' अर्थ होता है—कल्याण के लिए किया है।

२. जाव शब्द से यहाँ 'सावज्जं' से लेकर 'णो भासेज्जा' तक का पाठ ५२४ के अनुसार समझें।

३. भद्दयं आदि का अर्थ चूर्णि में—भद्दगं=पहाणं, ऊसडं=उत्कृष्टं, रसालं—रसियं

४. 'जाव' शब्द से यहाँ असावज्जं से लेकर भासेज्जा तक का पाठ सूत्र ५२५ के अनुसार समझें।

५. 'सिरीसिवा सप्पादयो'—दशवै० ७/२१ चूर्णि में। सरीसृप=सांप।

६. पमेतिले आदि पदों के चूर्णिकृत अर्थ—पमेदिलो—पगाढमेतो, अत्थूलोवि सुक्कमेदभरितो त्तिभण्णति। वज्झो— वधारिहो पायिमो=पाकारिहो।

७. गाओ दोज्झाओ' आदि पाठों की दशवैकालिक चूर्णि (पृ० १७०-१७१) में इस प्रकार व्याख्या मिलती है—गाओ दोज्झाओ त्ति, 'आदि' सद्दलोवो एत्थ, तेण महिसीमातीओ दोज्झाओ दुहणपत्तकालाओ। दम्मा दमणपत्तकाला। ते य अस्सादयो वि। गोजोग्गा रहा, गोरहजोग्गत्तणेण गच्छंति गोरहगा, पंडु-मधुरादीसु किसोरसरिसा गोपोतलगा, अण्णत्थ वा तरुणतरुणारोहा जे रहम्मि वाहिज्जंति, अमदप्पत्ता खुल्लगवसभा वा ते वि। वाहिमा णंगलादिसव्व समत्था। सिग्घगतयो जुगादिवधा रहजोग्गा।'—
—'गाओ दोज्झाओ' में आदि शब्द का लोप है। अतः भैंस आदि दुहने योग्य, दूहने का समय हो गया है। दम्मा=दमन (वधिया) करने का समय आ गया है। वृषभ के अतिरिक्त यहाँ अश्व आदि को समझ लेना चाहिए। वल के योग्य रथ—गोरह, गोरथ में जुआ उठा कर चलता है, वह गोरथग है। पाण्डु मथुरा में किशोरसदृश गाय के बछड़े होते हैं या अन्यत्र तरुण जवान कंधों वाले

वा, धेणू ति वा, रसवती ति वा, महव्वए[1] ति वा, संवहणे ति वा। एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा।

५४३. से भिक्खू वा २ तहेव गंतुमुज्जाणाइं[2] पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ला पेहाए णो एवं वदेज्जा, तंजहा–पासायजोग्गा[3] ति वा, तोरणजोग्गा ति वा, गिहजोग्गा ति वा, फलिहजोग्गा ति वा, अग्गलजोग्गा ति वा, णावाजोग्गा ति वा, उदगदोणिजोग्गा ति वा, पीढ-चंगबेर-णंगल-कुलिय-जंतलट्ठी-णाभि-गंडी-आसणजोग्गा ति वा, सयण-जाण-उवस्सयजोग्गा ति वा। एतप्पगारं भासं [सावज्जं] जाव णो भासेज्जा।[4]

५४४. से भिक्खू वा २ तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वताणि वणाणि य रुक्खा महल्ल पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा–जातिमंता ति वा, दीहवट्टा ति वा, महालया ति वा, पयातसाला ति वा, विडिमसाला ति वा, पासादिया[5] ति वा ४। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासेज्जा।

५४५. से भिक्खू वा २ बहुसंभूता वणफला पेहाए तहा वि ते णो एवं वदेज्जा, तंजहा–पक्काइं वा, पायखज्जाइं वा, वेलोतियाइं वा, टालाइं वा, वेहियाइं[6] वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

शीघ्रगामी जुआ आदि वहन करने वाले भी रथ-योग्य होते है, वे मदको प्राप्त नहीं हुए छोटे-छोटे वृषभ भी हो सकते हैं। वाहिमा=हल चलाने आदि सब कार्यो में समर्थ।

—अग० चूर्णि पृ० १७०-७१

१. 'महव्वए' के बदले पाठान्तर है—'महल्लए', कहीं कहीं—'हस्सेति वा महल्लए ति वा' हस्सेवा महल्लए वा महव्वए ति वा। 'हस्से' का अर्थ है—छोटा; महल्लए=बड़ा।

२. 'गंतुमुज्जाणाइं' आदि पदों की व्याख्या दशवैकालिक चूर्णि में—'क्रीड़ानिमित्तं वावियो रुक्खसमुदायो उज्जाणं। उस्सितो सिलासमुदायो पव्वतो। अडवीसु सयं जातं रुक्खगहणं वणं। एताणि उज्जाणादीणि जातिच्छया पयोयणतो वा गंतूणं तत्थ य रुक्खे अज्जुणादयो महल्ले पेहाए—पक्खिऊण……।—"क्रीड़ा या मनोरंजन के लिए लगाये हुए वृक्षों का समूह उद्यान है। ऊँचा शिला—समूह पर्वत है, जंगलों में स्वयं पैदा हुए वृक्षो से जो गहन हो, वह वन है। इन उद्यान आदि में सहजभाव से या किसी प्रयोजनवश जा कर, वहाँ अर्जुन आदि विशाल वृक्षों को देखकर……।

३. 'पासायजोग्गा' आदि क्रम में किसी-किसी प्रति में 'गिहजोग्गा' पाठ नहीं है। और किसी प्रति में 'अग्गला-नावा-उदगदोणि-पीढ' आदि समस्त पद है, तथा आगे 'आसण-सयण-जाण-उवस्सयजोग्गा ति' भी समस्त पद है।

४. दशवैकालिक सूत्र अ०७ गा० २६, २७, २८, ३०, ३१ से तुलना कीजिए।

५. पासादीया ति वा के आगे '४' का अंक 'दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा' पाठ का सूचक है,

६. वेहियाइं का संस्कृत रूपान्तर 'द्वैधिकानी' करके वृत्तिकार अर्थ करते है—पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि।— इसकी फांके बनाकर दो टुकड़े करने योग्य है। आम आदि का अचार डालने के लिए कच्चे आम आदि के टुकड़े चीरकर उसमें मसाला भरा जाता है।

५४६. से भिक्खू वा २ बहुसंभूया[1] वणफला पेहाए एवं वदेज्जा, तंजहा-असंथडा[2] ति वा, बहुणिव्वट्टिमफला ति वा, बहुसंभूया ति वा, भूतरूवा ति वा। एतप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासेज्जा।[3]

५४७. से भिक्खू वा २ बहुसंभूताओ ओसधीओ पेहाए तहा वि ताओ णो एवं वदेज्जा, तंजहा—पक्का ति वा, णीलिया ति वा, छवीया ति वा, लाइमा ति वा, भज्जिमाति वा, बहुखज्जा ति वा। एतप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

५४८. से भिक्खू वा २ बहुसंभूताओ ओसहीओ पेहाए तहा वि एवं वदेज्जा, तंजहा-रूढा ति वा बहुसंभूयाति वा, थिरा ति वा, ऊसढा ति वा, गब्भिया ति वा, पसूया ति वा, ससारा ति वा। एतप्पगारं [भासं] असावज्जं जाव भासेज्जा।

५३३. संयमशील साधु या साध्वी यद्यपि अनेक रूपों को देखते हैं तथापि उन्हें देखकर इस प्रकार (ज्यों के त्यों) न कहे। जैसे कि गण्डी (गण्ड (कण्ठ) माला रोग से ग्रस्त या जिसका पैर सूज गया हो,) को गण्डी, कुष्ठ-रोग से पीड़ित को कोढ़िया, यावत् मधुमेह से पीड़ित रोगी को मधुमेही कहकर पुकारना, अथवा जिसका हाथ कटा हुआ है, उसे हाथकटा, पैरकटे को पैरकटा, नाक कटा हुआ हो, उसे नकटा, कान कट गया हो, उसे कनकटा और ओठ कटा हुआ हो, उसे ओठकटा कहना। ये और अन्य जितने भी इसप्रकार के हों, उन्हें इस प्रकार की (आघातजनक) भाषाओं से सम्बोधित करने पर वे व्यक्ति दुखी या कुपित हो जाते हैं। अतः ऐसा विचार करके उसप्रकार के उन लोगों को उन्हीं (जैसे हों वैसी) भाषा से सम्बोधित न करे।

५३४. साधु या साध्वी यद्यपि कितने ही रूपों को देखते हैं तथापि वे उनके विषय में (संयमी भाषा में) इस प्रकार कहें। जैसेकि—ओजस्वी को ओजस्वी, तेजस् युक्त को तेजस्वी, वर्चस्वी—दीप्तिमान, उपादेयवचनी या लब्धियुक्त हो, उसे वर्चस्वी कहें। जिसकी यशःकीर्ति फैली हुई हो, उसे यशस्वी, जो रूपवान् हो, उसे अभिरूप, जो प्रतिरूप हो, उसे प्रतिरूप, प्रासाद—(प्रसन्नता) गुण से युक्त हो, उसे प्रासादीय, जो दर्शनीय हो, उसे दर्शनीय कहकर

---

१. 'बहुसंभूया वणफला पेहाए' के बदले पाठान्तर है—बहुसंभूयफला अंबा (अंब) पेहाए—अर्थात् जिसमें बहुत-से फल आए है, ऐसे आम के पेड़ों को देखकर।

२. 'असंथडा' का वृत्तिकार 'असमर्थाः' संस्कृत रूपान्तर मानकर अर्थ करते है 'अतिभरेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।'—अत्यन्त भार के कारण अब फल-धारण करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् फल टूट पड़ने वाले हैं।

३. वृत्तिकार दशवकालिक की तरह आचारांग में भी इस सूत्र के अन्तर्गत सामान्य फलवान् वृक्ष न मानकर आम्रवृक्षपरक मानते है। 'आम्रग्रहणं प्रधानोपलक्षणं'—प्रधानरूप से यहाँ आम्रग्रहण किया है, वह उपलक्षण से सभी वृक्षों का सूचक है।

सम्बोधित करे। ये और जितने भी इसप्रकार के अन्य व्यक्ति हों, उन्हें इसप्रकार की (सौम्य) भाषाओं से सम्बोधित करने पर वे कुपित नहीं होते। अतः इसप्रकार की निरवद्य-सौम्य भाषाओं का विचार करके साधु-साध्वी निर्दोष भाषा बोले।

५३५. साधु या साध्वी यद्यपि कई रूपों को देखते हैं, जैसे कि उन्नतस्थान या खेतों की क्यारियाँ, खाइयाँ या नगर के चारों ओर बनी नहरें, प्राकार (कोट), नगर के मुख्य द्वार, (तोरण), अर्गलाएं, आगल फंसाने के स्थान, गड्ढे, गुफाएं, कूटागार, प्रासाद, भूमिगृह (तहखाने), वृक्षागार, पर्वतगृह, चैत्ययुक्त वृक्ष, चैत्ययुक्त स्तूप, लोहा आदि के कारखाने, आयतन, देवालय, सभाएं, प्याऊ, दूकानें, मालगोदाम, यानगृह, धर्मशालाएँ, चूने, दर्भ, वल्क के कारखाने, वन कर्मालय, कोयले, काष्ठ आदि के कारखाने, श्मशान-गृह, शान्ति-कर्मगृह, गिरिगृह, गुहागृह, पर्वत शिखर पर बने भवन आदि; इनके विषय में ऐसा न कहें; जैसे कि यह अच्छा बना है, भलीभाँति तैयार किया गया है, सुन्दर बना है, यह कल्याणकारी है, यह करने योग्य है; इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातक भाषा न बोलें।

५३६. साधु या साध्वी यद्यपि कई रूपों को देखते हैं, जैसे कि खेतों की क्यारियाँ यावत् भवनगृह; तथापि (कहने का प्रयोजन हो तो) इस प्रकार कहें—जैसे कि यह आरम्भ से बना है सावद्यकृत है, या यह प्रयत्न-साध्य है, इसीप्रकार जो प्रसादगुण से युक्त हो, उसे प्रासादीय, जो देखने योग्य हो, उसे दर्शनीय, जो रूपवान हो उसे अभिरूप, जो प्रतिरूप हो, उसे प्रतिरूप कहे। इस प्रकार विचारपूर्वक असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा का प्रयोग करे।

५३७. साधु या साध्वी अशनादि चतुर्विध आहार को देखकर भी इस प्रकार न कहे जैसे कि यह आहारादि पदार्थ अच्छा बना है, या सुन्दर बना है, अच्छी तरह तैयार किया गया है, या कल्याणकारी है और अवश्य करने योग्य है। इसप्रकार की भाषा साधु या साध्वी सावद्य यावत् जीवोपघातक जानकर न बोले।

५३८. साधु या साध्वी मसालों आदि से तैयार किये हुए सुसंस्कृत आहार को देखकर इसप्रकार कह सकते हैं, जैसे कि यह आहारादि पदार्थ आरम्भ से बना है, सावद्यकृत है, प्रयत्नसाध्य है या भद्र अर्थात् आहार में प्रधान है, उत्कृष्ट है, रसिक (सरस) है, या मनोज्ञ है; इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा का प्रयोग करे।

५३९. वह साधु या साध्वी परिपुष्ट शरीर वाले किसी मनुष्य, सांड, भैंसे, मृग, या पशु पक्षी, सर्प या जलचर अथवा किसी प्राणी को देखकर ऐसा न कहे कि यह स्थूल (मोटा) है, इसके शरीर में बहुत चर्बी—मेद है, यह गोलमटोल है, यह वध या वहन करने (बोझा ढोने) योग्य है, यह पकाने योग्य है। इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवघातक भाषा का प्रयोग न करे।

५४०. संयमशील साधु या साध्वी परिपुष्ट शरीर वाले किसी मनुष्य, बैल, यावत् किसी भी विशालकाय प्राणी को देखकर ऐसे कह सकता है कि यह पुष्ट शरीरवाला है, उपचितकाय

है, दृढ़ संहननवाला है, या इसके शरीर में रक्त-मांस संचित हो गया है, इसकी सभी इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं। इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा बोले।

५४१. साधु या साध्वी नाना प्रकार की गायों तथा गोजाति के पशुओं को देखकर ऐसा न कहे, कि ये गायें दूहने योग्य हैं अथवा इनको दूहने का समय हो रहा है, तथा यह बैल दमन करने योग्य है, यह वृषभ छोटा है, या यह वहन करने योग्य है, यह रथ में जोतने योग्य है, इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातक भाषा का प्रयोग न करे।

५४२. वह साधु या साध्वी नाना प्रकार की गायों तथा गोजाति के पशुओं को देखकर इस प्रकार कह सकता है, जैसे कि—यह वृषभ जवान है, यह गाय प्रौढ़ है, दुधारू है, यह बैल बड़ा है, यह संवहन योग्य है। इसप्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा का विचारपूर्वक प्रयोग करे।

५४३. संयमी साधु या साध्वी किसी प्रयोजनवश किन्हीं बगीचों में, पर्वतों पर या वनों में जाकर वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों को देखकर ऐसे न कहे, कि—यह वृक्ष (काटकर) मकान आदि में लगाने योग्य है, यह तोरण नगर का मुख्य द्वार बनाने योग्य है, यह घर बनाने योग्य है, यह फलक (तख्त) बनाने योग्य है, इसकी अर्गला बन सकती है, या नाव बन सकती है, पानी की बड़ी कुंडी अथवा छोटी नौका बन सकती है, अथवा यह वृक्ष चौकी (पीठ) काष्टमयी पात्री, हल, कुलिक, यंत्रयष्टी (कोल्हू) नाभि काष्ठमय अहरन, काष्ठ का आसन आदि बनाने के योग्य है अथवा काष्ठशय्या (पलंग) रथ आदि यान उपाश्रय आदि के निर्माण के योग्य है। इसप्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा साधु न बोले।

५४४. संयमी साधु-साध्वी किसी प्रयोजनवश उद्यानों, पर्वतों या वनों में जाएं, वहाँ विशाल वृक्षों को देखकर इस प्रकार कह सकते हैं—कि ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, दीर्घ (लम्बे) हैं, वृत्त [गोल] हैं, ये महालय हैं, इनके शाखाएँ फट गई हैं, इनकी प्रशाखाएं दूर तक फैली हुई हैं, ये वृक्ष मन को प्रसन्न करने वाले हैं, दर्शनीय हैं, अभिरूप हैं, प्रतिरूप हैं। इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात—रहित भाषा का विचारपूर्वक प्रयोग करे।

५४५. साधु या साध्वी प्रचुर मात्रा में लगे हुए वन फलों को देखकर इस प्रकार न कहे जैसे कि—ये फल पक गए हैं, या पराल आदि में पकाकर खाने योग्य हैं, ये पक जाने से ग्रहण कालोचित फल हैं, अभी ये फल बहुत कोमल हैं, क्योंकि इनमें अभी गुठली नहीं पड़ी है, ये फल तोड़ने योग्य या दो टुकड़े करने योग्य हैं। इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा न बोले।

५४६. साधु या साध्वी अतिमात्रा में लगे हुए वनफलों को देखकर इसप्रकार कह सकता है, जैसेकि ये फलवाले वृक्ष असंतृत—फलों के भार से नम्र या धारण करने में असमर्थ हैं, इनके फल प्रायः निष्पन्न हो चुके हैं, ये वृक्ष एक साथ बहुत-सी फलोत्पत्ति वाले हैं, या ये

भूतरूप—कोमल फल हैं। इस प्रकार की असावद्य यावत् जीवोपघात-रहित भाषा विचार-पूर्वक बोले।

५४७. साधु या साध्वी बहुत मात्रा में पैदा हुई औषधियों (गेहूं, चावल आदि के लह-लहाते पौधों) को देखकर यों न कहे, कि ये पक गई हैं, या ये अभी कच्ची या हरी हैं, ये छवि (फली) वाली हैं, ये अब काटने योग्य हैं, ये भूनने या सेंकने योग्य हैं, इनमें बहुत-सी खाने योग्य हैं, या चिबड़ा बना कर खाने योग्य हैं। इसप्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातिनी भाषा साधु न बोले।

५४८. साधु या साध्वी बहुत मात्रा में पैदा हुई औषधियों को देखकर (प्रयोजनवश) इस प्रकार कह सकता है, कि इनमें बीज अंकुरित हो गए हैं, ये अब जम गई हैं, सुविकसित या निष्पन्न प्राय: हो गई हैं, या अब ये स्थिर (उपघातादि से मुक्त) हो गई हैं, ये ऊपर उंठ गई हैं, ये भुट्टों; सिरों या बालियों से रहित हैं, अब ये भुट्टों आदि से युक्त हैं, या धान्य कणयुक्त हैं। साधु या साध्वी इसप्रकार की निरवद्य यावत् जीवोपघात से रहित भाषा विचारपूर्वक बोले।

विवेचन—दृश्यमान वस्तुओं को देखकर निरवद्य भाषा बोले, सावद्य नहीं—सू० ५३३ से ५४८ तक में आँखों से दृश्यमान वस्तुओं के विविध रूपों को देखकर बोलने का विवेक बताया है। साधु-साध्वी संयमी हैं, पूर्ण अहिंसाव्रती हैं और भाषा-समिति-पालक हैं, उन्हें सांसारिक लोगों की तरह ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए, जिससे दूसरे व्यक्ति हिंसादि पाप में प्रवृत्त हों, जीवों को पीड़ा, भीति एवं मृत्यु का दु:ख प्राप्त हो, छेदन-भेदन करने की प्रेरणा मिले तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु को देखकर बोलने से पहले उसके भावी परिणाम को तौलना चाहिए।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव की विराधना उसके बोलने से होती हो तो वैसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन सोलह सूत्रों में निम्नोक्त दृश्यमान वस्तुओं को देखकर सावद्य आदि भाषा बोलने का निषेध और निरवद्य भाषा-प्रयोग का विधान है।

(१) गण्डी, कुष्ठी आदि को देखकर गण्डी, कुष्ठी आदि चित्तोपघातक शब्दों का प्रयोग न करे, किन्तु सभ्य, मधुर गुणसूचक भाषा का प्रयोग करे।

(२) क्यारियाँ, खाइयाँ आदि देखकर 'अच्छी बनी हैं', आदि सावद्य भाषा का प्रयोग न करे, किन्तु निरवद्य, गुणसूचक भाषा-प्रयोग करे।

(३) मसालों आदि से सुसंस्कृत भोजन को देखकर बहुत बढ़िया बना है, आदि सावद्य व स्वाद-लोलुपता सूचक भाषा का प्रयोग न करे, किन्तु आरम्भजनित है, आदि निरवद्य—यथार्थ भाषका प्रयोग करे।

(४) परिपुष्ट शरीर वाले पशु-पक्षियों या मनुष्यों को देखकर यह स्थूल है, वध्य है,

चर्बी वाला है या पकाने योग्य है आदि असभ्य सावद्यभाषा का प्रयोग न करे, किन्तु सौम्य, निरवद्य, गुणसूचक-शब्द प्रयोग करे।

(५) गायों, बैलों आदि को देखकर यह गाय दूहने योग्य है, यह बैल वधिया करने योग्य है आदि सावद्य भाषा न बोलके निरवद्य गुणसूचक भाषा-प्रयोग करे।

(६) विशाल वृक्षों को देखकर ये काटने योग्य है या इनकी अमुक वस्तु बनाई जा सकती है आदि हिंसा-प्रेरक सावद्य भाषा का प्रयोग न करे।

(७) वनफलों को देखकर ये खाने योग्य, तोड़ने योग्य या टुकड़े करने योग्य आदि हैं, ऐसी सावद्य भाषा न बोले।

(८) खेतों में लहलहाते धान्य के पौधे को देखकर ये पकगए ह, हरे हैं काटने, भुनने योग्य है आदि सावद्यभाषा का प्रयोग न करे, किन्तु अंकुरित, विकसित, स्थिर हैं आदि निरवद्य गुणसूचक भाषा-प्रयोग करना चाहिए।[1]

इन आठ प्रकार की दृश्यमान वस्तुओं पर से शास्त्रकार ने ध्वनित कर दिया है कि सारे संसार की जो भी वस्तुएँ साधु के दृष्टिपथ में आए उनके विषय में कुछ कहते या अपना अभिप्राय सूचित करते समय बहुत ही सावधानी तथा विवेक के साथ परिणाम का विचार करके निरवद्य निर्दोष, गुणसूचक, जीवोपघात से रहित, हृदय को आघात न पहुंचाने वाली भाषा का प्रयोग करे, किन्तु कभी किसी भी स्थिति में सावद्य, सदोष, चित्तविघातक, जीवोपघातक आदि भाषा का प्रयोग न करे।[2]

'गंडी' आदि पदों के अर्थ—'गंडी' के दो अर्थ बताए गए हैं—गण्ड (कण्ठ) माला के रोग से ग्रस्त अथवा जिसके पैर और पिण्डलियों में शून्यता आ गई हो, तेयंसी =शौर्यवान। वच्चंसी= दीप्तिमान। पडिरूवं=गुण में प्रतिरूप—तुल्य। पासादियं=प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला। उवक्खडियं=मसाले आदि देकर संस्कारयुक्त पकाया हुआ भोजन। भद्दगं=प्रधान-मुख्य। ऊसढं =उत्कृष्ट या उच्छ्रित-वर्ण-गन्धादि से युक्त। परिवूढकायं=पुष्ट शरीरवाले। पमेतिले—गाढ़ी चर्बी (मेद) वाला। वज्झ=वध्य या वहने योग्य। पादिम=पकाने योग्य या देवता आदि को चढ़ाने योग्य। दोज्झा=दूहने योग्य। दम्मा=दमन (वधिया) करने योग्य। गोरहगा=हल में जोतने योग्य, वाहिमा हल, धुरा आदि वहन करने में समर्थ। जुवं गवेति=युवा बैल। 'महव्वए' या 'महल्लए'=वड़ा। उदगदोणिजोग्गा=जल का कुण्ड बनाने योग्य, चंगवेर=काष्ठमयी पात्री। णंगल=हल। कुलिय=खेत में घास काटने का छोटा काष्ठ का उपकरण। जंतलट्ठी=कोल्हू या कोल्हू का लट्ठ। णाभि=गाड़ी के पहिए का मध्य भाग। गंडी=गंडिक अहरन या काष्ठफलक, महालया=अत्यन्त विस्तृत वृक्ष। पयातसाला (हा)=जिनके शाखाएं फूट गई है, विडिमसाला (हा) =जिनमें प्रशाखाएं फूट गई है। पायखज्जाइं=पराल आदि में कृत्रिम ढंग से पका 'कर खाने

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८६, ३९० के आधार पर

२. वही, पत्रांक ३८९ के आधार पर, [ख] दशवै० ३।१७, ५८, ५५

योग्य। वेलोतियाइं=अत्यन्त पकने से तोड़ लेने योग्य। टालाइं=कोमल फल, जिनमें गुठली न आई हो,। वेहियाइं=दो टुकड़े करने योग्य, वेध्य। नीलियाओ=हरी, कच्ची या अपक्व। असंथडा=फलों का अतिभार धारण करने में असमर्थ। भूतरूवा=पूर्वरूप-कोमल। छवीया=फलियाँ, छीमियाँ। लाइमा=लाई या मुडी आदि बनाने योग्य अथवा काटने योग्य। भज्जिमा=भूँजने-सेकने योग्य, बहुखज्जा (पहुखज्जा)=चिउड़ा बनाकर खाने योग्य।[1]

वनस्पति की रूढ आदि सात अवस्थाएं भाषणीय—औषधियों के विषय में साधु को प्रयोजन वश कुछ कहना हो तो वनस्पति की इन सात अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था के रूप में कह सकता है।

(१) रूढ़ा—बीज बोने के बाद अंकुर फूटना,

(२) बहुसंभूता—बीजपत्र का हरा और विकसित पत्ती के रूप में हो जाना,

(३) स्थिरा—उपघात से मुक्त होकर बीजांकुर का स्थिर हो जाना,

(४) उत्सृता—संवर्धित स्तम्भ के रूप में आगे बढ़ना,

(५) गर्भिता—आरोह पूर्ण होकर भुट्टा, सिरा या बाली न निकलने तक की अवस्था,

(६) प्रसूता—भुट्टा निकलने पर,

(७) ससारा—दाने पड़ जाने पर।[2]

शब्दादि-विषयक-भाषा-विवेक

५४९. से भिक्खू[3] वा २ जहा वेगतियाइं सद्दाइं सुणेज्जा तहा वि ताइं णो एवं वदेज्जा, तंजहा—सुसद्दे ति वा, दुसद्दे ति वा। एतप्पगारं [भासं] सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

५५०. [से भिक्खू वा २ जहा वेगतियाइं सद्दाइं सुणेज्जा] तहा वि ताइं एवं वदेज्जा, तंजहा—सुसद्दं[4] सुसद्दे ति वा, दुसद्दं दुसद्दे ति वा। एतप्पगारं [भासं]असावज्जं जाव भासेज्जा।

एवं रूवाइं किण्हे ति वा ५, गंधाइं सुब्भिगंधे ति वा २, रसाइं तित्ताणि वा ५, फासाइं कक्खडाणि वा ८।[5]

---

१. [क] आचारांग चूर्णि मूलपाठ टिप्पणी पृष्ठ १९५ [ख] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३८९, ३९०, ३९१
[ग] पाइअ-सद्दमहण्णवो
[घ] देखिए—दशवैकालिक सूत्र अ० ७, गा० ११, ४१, ४२, तथा २२ से ३५ तक
[अ] अगस्त्य० चूर्णि पृ० १७० से १७२, [ब] जिन० चूर्णि पृ० २५३ से २५६
[स] हारि० टीका पत्र २१७ से २१९ तक।

२. (क) दशवै० अ० ७, गा० ३५ जिन० चूर्णि पृ० २५७, (ब) अग० चूर्णि० पृ० १७३।

३. से भिक्खू……आदि पंक्ति का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दों में—'सभिक्षुः यद्यप्येतान् शब्दान् शृणुयात् तथापि नैवं वदेत्।' अर्थात् वह भिक्षु यद्यपि इन शब्दों को सुने तथापि इस प्रकार न बोले।

४. 'सुसद्दं सुसद्देति' आदि का तात्पर्य वृत्तिकार के शब्दों में—'सुसद्दं ति शोभनं शब्दं शोभनमेव ब्रूयात् अशोभनं त्वशोभनमिति। एवं रूपादिसूत्रमपि नेयम्।'—शोभनीय शब्द को शोभन और अशोभनीय को अशोभन कहे। इसी प्रकार रूपादि विषयक सूत्रों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए।

५. इस सूत्र में ५, २, ५, ८ के अंक सम्बन्धित भेद-प्रभेद के सूचक हैं। विवेचन देखें पृष्ठ २३१ पर।

५४९. साधु या साध्वी यद्यपि कई शब्दों को सुनते हैं, तथापि उनके विषय में राग-द्वेष युक्त भाव से) यों न कहे, जैसेकि—यह मांगलिक शब्द है, या यह अमांगलिक शब्द है। इस प्रकार की सावद्य यावत् जीवोपघातक भाषा साधु या साध्वी न बोले।

५५०. यद्यपि साधु या साध्वी कई शब्दों को सुनते हैं, तथापि उनके सम्बन्ध में कभी बोलना हो तो (राग-द्वेष से रहित होकर) सुशब्द को 'यह सुशब्द है' और दुःशब्द को 'यह दुःशब्द है' इस प्रकार की निरवद्य यावत् जीवोपघातरहित भाषा बोले।

इसी प्रकार रूपों के विषय में—कृष्ण को कृष्ण, यावत् श्वेत को श्वेत कहे, गन्धों के विषय में (कहने का प्रसंग आए तो) सुगन्ध को सुगन्ध, और दुर्गन्ध को दुर्गन्ध कहे, रसों के विषय में भी (तटस्थ होकर) तिक्त को तिक्त, यावत् मधुर को मधुर कहें, इसी प्रकार स्पर्शों के विषय में कहना हो तो कर्कश को कर्कश यावत् उष्ण को उष्ण कहे।

विवेचन—पंचेन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में भाषा-विवेक—इन दो सूत्रों में शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन पञ्चेन्द्रिय विषयों को अपनी-अपनी इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होने पर साधु को उनके सम्बन्ध में क्या और कैसे शब्द बोलना चाहिए ? यह विवेक बताया है।

स्थानांगसूत्र में पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार बताए गए हैं, वे इस प्रकार हैं[1]—

१. श्रोत्रेन्द्रिय के ३ विषय—जीव शब्द, अजीव शब्द, मिश्र शब्द।
२. चक्षुरिन्द्रिय के ५ विषय—काला, नीला, लाल, पीला, सफेद वर्ण।
३. घ्राणेन्द्रिय के दो विषय—सुगन्ध और दुर्गन्ध।
४. रसनेन्द्रिय के ५ विषय—तिक्त, कटु, कषैला, खट्टा और मधुर रस।
५. स्पर्शेन्द्रिय के आठ विषय—कर्कश (खुर्दरा), मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण स्पर्श।

श्रोत्रेन्द्रिय के १२ विकार—तीन प्रकार के शब्द, शुभ और अशुभ, (३×२=६) इन पर राग और द्वेष [६×२=१२]।

चक्षुरिन्द्रिय के ६० विकार—काला आदि ५ विषयों के सचित्त, अचित्त, मिश्र ये तीन-तीन प्रकार, इन १५ के शुभ और अशुभ दो-दो प्रकार, और इन ३० पर राग और द्वेष, यों कुल मिलाकर साठ।

घ्राणेन्द्रिय के १२ विकार—दो विषयों के सचित्त-अचित्त-मिश्र ये तीन-तीन प्रकार, फिर ६ पर राग-द्वेष होने से १२ हुए।

रसनेन्द्रिय के ६० विकार—चक्षुरिन्द्रिय की तरह उसके पाँचों विषयों के समझें।

स्पर्शेन्द्रिय के ९६ विकार—८ विषय, सचित्त-अचित्त-मिश्र तीन-तीन प्रकार के होने से २४ इनके शुभ-अशुभ दो-दो भेद होने से ४८ पर राग और द्वेष होने से ९६ हुए।[2]

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९१ [ख] स्थानांग १ सू० ४७,
[ग] स्था० ५ सू० ३९०, [घ] स्था० ८ सू० ५९६ [च] प्रज्ञापनासूत्र पद २३ उद्दे० २
२. कुल सब मिलाकर—१२+६०+१२+६०+९६=२४०—इस प्रकार समझना चाहिए।

साधु को पंचेन्द्रिय के विषयों में जो जैसा है, वैसा तटस्थ भावपूर्वक कहना चाहिए, भाषा का प्रयोग करते समय राग या द्वेष को मन एवं वाणी में नहीं मिलने देना चाहिए। यही मत चूर्णिकार का है।[1]

भाषण-विवेक

५५१. से भिक्खू वा २ वंता[2] कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीयि णिट्ठाभासी निसम्मभासी अतुरियभासी विवेगभासी[3] समियाए संजते भासं भासेज्जा।

५५१. साधु या साध्वी क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन (परित्याग) करके विचारपूर्वक निष्ठाभाषी हो, सुन-समझ कर बोले, अत्वरितभाषी, एवं विवेकपूर्वक बोलने वाला हो, और भाषा समिति से युक्त संयत भाषा का प्रयोग करे।

विवेचन—सारांश—इस सूत्र में समग्र अध्ययन का निष्कर्ष दे दिया गया है। इसमें शास्त्रकार ने साधु को भाषा प्रयोग करने से पूर्व आठ विवेक सूत्र बताए हैं :—

(१) क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके बोले।

(२) प्रासंगिक विषय और व्यक्ति के अनुरूप विचार (अवलोकन) चिन्तन करके बोले।

(३) पहले उस विषय का पूरा निश्चयात्मक ज्ञान कर ले, तब बोले।

(४) विचारपूर्वक या पूर्णतया सुन-समझ कर बोले।

(५) जल्दी-जल्दी या अस्पष्ट शब्दों में न बोले।

(६) विवेकपूर्वक बोले।

(७) भाषा-समिति का ध्यान रखकर बोले।

(८) संयत-परिमित शब्दों में बोले।[4]

५५२. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहितेहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

५५२. यही (भाषा के प्रयोग का विवेक ही) वास्तव में साधु-साध्वी के आचार का सामर्थ्य है; जिसमें वह सभी ज्ञानादि अर्थों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ "भासज्जाया" चतुर्थमध्ययन समाप्त ॥

---

१. आचारांग चूर्णि मू०पाठ टि०पृ० २०० 'सुब्भिसद्दे रागो, इतरे दोसो'

२. वंता का भावार्थ वृत्तिकार करते हैं—'स भिक्षुः क्रोधादिकं वान्त्वा एवं भूतो भवेत्।'—वह भिक्षु क्रोधादि का वमन (त्याग) करके इस प्रकार का हो।

३. 'विवेगभासी' का अर्थ चूर्णिकार करते हैं—विविच्यते येन कर्म तं भावेत—जिस भाषा-प्रयोग से कर्म आत्मा से पृथक हो, वैसी भाषा बोले।

४. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३९१।

वस्त्रैषणा : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) के पंचम अध्ययन का नाम 'वस्त्रैषणा' है।

☆ जब तक वस्त्र-रहित (अचेलक) साधना की भूमिका पर साधक नहीं पहुंच जाता, तब तक वह अपने संयम के निर्वाह एवं लज्जा-निवारण[1] के लिये वस्त्र-ग्रहण या धारण करता है, किन्तु वह जो भी वस्त्र-धारण करता है, उस पर उसकी ममता-मूर्च्छा नहीं होनी चाहिए।

☆ चूर्णिकार के मतानुसार भाव-वस्त्र (अष्टादशसहस्रशीलांग = संयम) के रक्षणार्थ तथा शीत-दंश-मशक आदि से परित्राण के लिए द्रव्यवस्त्र रखने का प्रतिपादन किया गया है।[2] अतः वस्त्र ग्रहण-धारण जिस साधु को अभीष्ट हो, उसे विविध-एषणा (गवेषणा; ग्रहणैषणा; परिभोगैषणा) का ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा वस्त्र का ग्रहण एवं धारण भी अनेक दोषों से लिप्त हो जाएगा।

☆ इन्हीं उद्देश्यों के विशद स्पष्टीकरण के लिए 'वस्त्रैषणा अध्ययन' प्रतिपादित किया गया है।[3]

☆ वस्त्र दो प्रकार के होते हैं—भाव-वस्त्र और द्रव्य-वस्त्र। भाव-वस्त्र अठारह हजार शीलांक हैं अथवा दिशाएं या आकाश भाव-वस्त्र हैं।

☆ द्रव्य-वस्त्र तीन प्रकार का होता है—१. एकेन्द्रियनिष्पन्न (कपास, अर्कतूल, तिरीड़ वृक्ष की छाल, अलसी, सन (पटसन) आदि से निर्मित), २. विकलेन्द्रिय निष्पन्न (चीनांशुक, रेशमीवस्त्र आदि), और ३. पंचेन्द्रियनिष्पन्न (ऊनीवस्त्र, कंबल आदि)।[4]

☆ इस अध्ययन में वस्त्र किस प्रकार के, कैसे, कितने-कितने प्रमाण में, कितने मूल्य तक

---

१. 'तं पि संजम-लज्जट्ठा धारंति परिहरंति य।' —दशवै० अ० ६ गा० २०

२. भाववत्थ संरक्षणार्थ दव्ववत्थेसणाहिगारो। सीद-दंस-मसगादीणं च परित्राणार्थं।
—आ० चू० मू० पा० टि० २०१

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९२।

४. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९२। (ख) आचारांग निर्युक्ति गा० ३१५।

के, किसविधि से निष्पन्न वस्त्र ग्रहण एवं धारण किये जाएं, इसकी त्रिविध एषणा विधि बताई गई है; अतः इसे 'वस्त्रैषणा-अध्ययन' कहा गया है।

✫ इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में वस्त्र-ग्रहण विधि का प्रतिपादन किया गया है, जबकि द्वितीय उद्देशक में वस्त्र-धारण विधि का प्रतिपादन है।[1]

✫ सूत्र संख्या ५५३ से प्रारम्भ होकर ५८७ पर समाप्त होती है।



---

१. (अ) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९२।
   (आ) 'पढमे गहणं बीए धरणं, पगयं तु दव्ववत्थेणं' —आचा० निर्युक्ति गा० ३१५

पंचमं अज्झयणं 'वत्थेसणा'

[पढमो उद्देसओ]

वस्त्रैषणा : पंचम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

ग्राह्य-वस्त्रों का प्रकार व परिमाण

५५३. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं एसित्तए। से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तं-जहा-जंगियं[1] वा भंगियं वा साणयं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बितियं।

जा णिग्गंथी सा चत्तारि संघाडीओ धारेज्जा-एगं दुहत्थवित्थारं, दो तिहत्थवित्थारा-ओ, एगं चउहत्थवित्थारं।

तहप्पगारेहिं[2] वत्थेहिं असंविज्जमाणेहिं अह पच्छा एगमेगं संसीवेज्जा।

५५३. साधु या साध्वी वस्त्र की गवेषणा करना चाहते हैं, तो उन्हें जिन वस्त्रों के सम्बन्ध में जानना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) जांगमिक, (२) भांगिक, (३) सानिक, (४) पोत्रक (५) लोमिक और (६) तूलकृत। इन छह प्रकार के तथा इसी प्रकार के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है। जो निर्ग्रन्थ मुनि तरुण है, समय के उपद्रव से रहित है, बलवान, रोग-रहित और स्थिर संहनन (दृढशरीर) वाला है, वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा नहीं। (परन्तु) जो साध्वी है, वह चार संघाटिका—चादर धारण करे—उसमें एक दो हाथ प्रमाण विस्तृत, दो तीन हाथ प्रमाण और एक चार हाथ प्रमाण लम्बी होनी चाहिए। इस प्रकार के वस्त्रों के न मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे के साथ सी ले।

विवेचन—साधु के लिए ग्राह्य वस्त्रों के प्रकार और धारण की सीमा—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र के उन प्रकारों का तथा अलग-अलग कोटि के साधु साध्वियों के लिए उन वस्त्रों को धारण करने

---

१. 'जंगियं' आदि की व्याख्या चूर्णिकार के शब्दों में—जंगमाज्जातं जंगियं, अमिलं = उट्टीणं, भंगियं—''अयसीमादी, सणवं—सणवागादि, पोत्तगं (पत्तगं ?) तालसरिसं संघातिज्जति तालसूति वा, खोमियं थूलकडं कप्पति, सण्हं ण कप्पति। तूलकडं वा उण्णिय ओट्टियादि।'' इसका भावार्थ विवेचन में दे दिया गया। चूर्णिकार के मतानुसार क्षौमिक (सूती) वस्त्र मोटा बुना हो तो कल्पता है, बारीक बुना हो तो नहीं। तूलकडं वा का अर्थ—अर्कतूलनिप्पन्न न करके ऊन, ऊँट के बाल आदि से बना कपड़ा किया गया है।

२. 'तहप्पगारेहिं वत्थेहिं असंविज्जमाणेहिं' के बदले पाठान्तर है—एएहिं अविज्जमाणेहिं।

के प्रमाण का भी उल्लेख कर दिया गया है।[1] स्थानांग, बृहत्कल्प आदि सूत्र में भी साधु द्वारा ग्रहणीय वस्त्र के प्रकारों का नामोल्लेख किया गया है। स्थानांग सूत्र में जिन ५ प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है, उनमें क्षौमिक और तूलकृत का नामोल्लेख नहीं है, इनके बदले 'तिरीदुपट्ट' का उल्लेख है, इन छह प्रकार के वस्त्रों की व्याख्या इस प्रकार है—

जांगमिक=(जांगिक) जंगम (त्रस) जीवों से निष्पन्न। वह दो प्रकार का है—विकलेन्द्रियज और पंचेन्द्रियज।

विकलेन्द्रियज पांच प्रकार का है १. पट्टज २. सुवर्णज (मटका) ३. मलयज ४. अंशक और ५. चीनांशुक। ये सब कीटों (शहतूत के कीड़े वगैरह) के मुंह से निकले तार (लार) से बनते हैं।[2]

पंचेन्द्रिय-निष्पन्न वस्त्र अनेक प्रकार के होते हैं—जैसे १. और्णिक—(भेड़ बकरी आदि की ऊन से बना हुआ) २. औष्ट्रिक—(ऊंट के बालों से बना) ३. मृगरोमज—शशक या मूषक के रोम या बालमृग के रोएं से बना, ४. किट्ट—(अश्व आदि के रोंए से बना वस्त्र) और कुतप—(चर्म-निष्पन्न या बाल मृग, चूहे आदि के रोंए से बना वस्त्र)[3]

---

१. बौद्ध श्रमणों में लिये तीन वस्त्रों का विधान है—१. अन्तरवासक (लुंगी) २. उत्तरासंग (चादर) ३. संघाटी (दोहरी चादर) तीन से अधिक वस्त्र रखने वाले भिक्षुको **निस्सग्गिय पाचित्तिय** (नैसर्गिक-प्रायश्चित्त) आता है। देखें **विनयपिटक भिक्खु पातिमोक्ख** (२०) भिक्षुणी के लिए पांच चीवर रखने का विधान है—**भिक्खुणी पातिमोक्ख** (२५)

तीन वस्त्र की मर्यादा के पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण का घटना के रूप में उल्लेख किया गया है, जो मननीय है। एक बार तथागत राजगृह से वैशाली की ओर विहार कर रहे थे। मार्ग में भिक्षुओं को चीवर से लदे देखा। सिर पर भी चीवर की पोटली, कंधे पर भी चीवर की पोटली, कमर में भी चीवर की पोटली बांधकर जा रहे थे। यह देखकर भगवान को लगा, यह मोघ-पुरुष (मूर्ख) बहुत जल्दी चीवर बटोरु बनने लगे, अच्छा हो मैं चीवर की सीमा बांध दूं, मर्यादा स्थापित कर दूं।··· उस समय भगवान हेमन्त में अन्तराष्टक (माघकी अंतिम चार व फागुन की आरम्भिक चार रातें) की रातों में हिम-पात के समय रात को खुली जगह में एक चीवर ले बैठे। भगवान को सर्दी न मालूम हुई। प्रथम याम (पहर) के समाप्त होने पर भगवान को सर्दी मालूम हुई, भगवान ने दूसरा चीवर और लिया और भगवान को सर्दी न मालूम हुई। बिचले याम के बीत जाने पर भगवान को सर्दी मालूम हुई तब भगवान ने तीसरे चीवर को पहन लिया और सर्दी न मालूम हुई। अंतिम याम के बीत जाने पर (पौ फटने के वक्त) सर्दी मालूम हुई। तब भगवान ने चोथा चीवर ओढलिया। तब भगवान को सर्दी न मालूम हुई। तब भगवान को यह हुआ 'जो कोई शीतालु (जिसको सर्दी ज्यादा लगती हो) सर्दी से डरने वाला कुलपुत्र इस धर्म में प्रव्रजित हुए हैं, वह भी तीन चीवर से गुजारा कर सकते हैं। अच्छा हो मैं भिक्षुओं के लिए चीवर की सीमा बांधू, मर्यादा स्थापित करूँ, तीन चीवरों की अनुमति दूँ।···

—विनयपिटक, महावग्ग ८,४,३, पृ० २७९-८०. (राहुल०)

२. विस्तार के लिए देखें—
(क) बृहत्कल्पभाष्य गाथा ३६६१-६२ (ख) ठाणं (मुनि नथमल जी) पृ० ६४२

३. विस्तार के लिए देखें—(क) निशीथभाष्य चूर्णि गाथा ७६०
(ख) स्थानांग वृत्ति, पत्र ३२१ (ग) बृहत्कल्प भाष्य गा. ३६६१ की वृत्ति व चूर्णि
(घ) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८७८ वृत्ति (मूषिकलोमनिष्पन्नं=कौतवम्)

भांगिक = इसके दो अर्थ हैं—(१) अलसीसे निष्पन्नवस्त्र, (२) वंशकरील के मध्य भाग को कूट कर बनाया जानेवाला वस्त्र।[1]

सानज = पटसन (पाट), लोध की छाल, तिरीड़वृक्ष की छाल के तन्तु से बना हुआ वस्त्र।

पोत्रक = ताड़ आदि के पत्रों के समूह से निष्पन्न वस्त्र।

खोमियं = कपास (रूई) से बना हुआ वस्त्र।

तूलकडं = आक आदि की रूई से बना हुआ वस्त्र।

वर्तमान में साधु-साध्वीगण प्रायः सूती और ऊनीवस्त्र ही धारण करते हैं। किन्तु तरुण साधु के लिए एक ही वस्त्र धारण करने की परम्परा आज तो समाप्तप्रायः है। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार स्पष्टीकरण करते हैं कि 'दृढ़वली तरुण साधु आचार्यादि के लिए जो अन्य वस्त्र रखता है, उसका स्वयं उपयोग नहीं करता। जो साधु बालक है, वृद्ध, या दुर्बल है, या हीन-संहनन है वह यथासमाधि दो, तीन आदि वस्त्र भी धारण कर सकता है। जिनकल्पिक अपनी प्रतिज्ञानुसार वस्त्र धारण करता है,वहां अपवाद नहीं है।

साध्वी के लिए चार चादर धारण करने का विधान किया है, उनमें से दो हाथवाली चादर उपाश्रय में ओढे, तीन हाथवाली भिक्षा काल में तथा स्थंडिलभूमि के लिए जाते समय ओढे, तथा चार हाथवाली चादर धर्म-सभा आदि में बैठते समय ओढे।[2]

'जुगवं' का अर्थ प्राकृत-कोष के अनुसार है—समय के उपद्रव से रहित।[3]

बौद्ध श्रमणों के लिए ६ प्रकार के वस्त्र विहित है—कौशेय, कंबल, कार्पासिक, क्षौम (अलसी की छाल से बना) शाणज (सन से बना) भंगज (भंग की छाल से बना हुआ) वस्त्र।[4]

ब्राह्मणों (द्विजों) के लिए निम्नोक्त ६ प्रकार के वस्त्र मनुस्मृति में अनुमत है—कृष्ण, मृगचर्म, रुरु (मृग विशेष) चर्म, एवं छाग-चर्म, सन का वस्त्र, क्षुपा (अलसी) एवं मेष (भेड़) के लोम से बना वस्त्र।[5]

वस्त्र-ग्रहण की क्षेत्र-सीमा

५५४. से भिक्खू वा २ परं अद्धजोयणमेराए वत्थपडियाए नो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

---

१. मूल सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु पृ० ६२ में भी 'भांगेय' वस्त्र का उल्लेख है। यह वस्त्र भांग वृक्ष के तंतुओं से बनाया जाता था। अभी भी कुमायूं (उ० प्र०) में इसका प्रचार है, वहाँ 'भागेला' नाम से जानते हैं। —डा० मोतीचंद; भारती विद्या० १।१।४१

२. (क) आचारांग चूर्णि मू. पाठ-टिप्पणी पृ० २१० (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९२
(ग) 'ठाणं'—विवेचन (मुनि नथमलजी) स्था० ५ पृ० १९० पृ० ६४२, ६४३
(घ) वृहत्कल्पभाष्य गा० ३६६१, ३६६२, ३६६३ वृत्ति (ङ) निशीथ ६/१०,१२ की चूर्णि में
(च) तिरीडपट्ट की व्याख्या [लोध वृक्ष की छाल से बना] आचारांग टीका पत्र ३४२

३. पाइय-सद्दमहण्णवो पृ० ३५९ ४. विनयपिटक महावग्ग ८/२/५ पृ० २७५ राहुलसांकृत्यायन)

५. मनुस्मृति अ० २ श्लो० ४०-४१

५५४. साधु-साध्वी को वस्त्र-ग्रहण करने के लिए आधे योजन से आगे जाने का विचार नहीं करना चाहिए।

विवेचन—इस सूत्र में साधु-साध्वी के लिए वस्त्र याचना में क्षेत्र-सीमा बताई गई है। योजन चार कोस का माना जाता है। आधे योजन का मतलब है—दो कोस। आशय यह है कि साधु जहाँ अभी अपने साधर्मिकों के साथ ठहरा हुआ है, उस गाँव से दो कोस जाकर वस्त्र आदि याचना करके वापस आने में संभवतः उसे रात्रि हो जाए, या रुग्णता आदि के कारण चक्कर आदि आने लगें, इन सब दोषों की संभावना के कारण तथा कुछ दिनों के लिए वस्त्र-प्राप्ति का लोभ संवरण करने हेतु ऐसी मर्यादा बताई है। [शेष काल के बाद विहार करके उस ग्राम में जाकर वह वस्त्र की गवेषणा कर सकता है।]

औद्देशिक आदि दोष युक्त वस्त्रैषणा का निषेध

५५५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा अस्सिपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं, एवं बहवे साहम्मिया, एगं साहम्मिणिं, बहवे साहम्मिणीओ, बहवे समण-माहण तहेव पुरिसंतरकडं जधा पिंडेसणाए।

५५६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा अस्संजते भिक्खुपडियाए कीतं वा धोयं वा रत्तं वा घट्ठं वा मट्ठं वा संमट्ठं वा संपधूवितं वा, तहप्पगारं वत्थं अपुरिसंतरकडं जाव णो पडिगाहेज्जा। अह पुणेवं जाणेज्जा पुरिसंतरकडं जाव पडिगाहेज्जा।[1]

५५५. साधु या साध्वी को यदि वस्त्र के सम्बन्ध में ज्ञात हो जाए कि कोई भावुक गृहस्थ धन के ममत्व से रहित निर्ग्रन्थ साधु को देने की प्रतिज्ञा करके किसी एक साधर्मिक साधु का उद्देश्य रखकर प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ करके (तैयार कराया हुआ) औद्देशिक, या खरीद कर, उधार लेकर, जबरन छीन कर, दूसरे के स्वामित्व का, सामने उपाश्रय में लाकर दे रहा है; तो उसप्रकार का वस्त्र पुरुषान्तरकृत हो या न हो, बाहर निकाल कर अलग से साधु के लिए रखा हो या न हो, दाता के अपने अधिकार में हो या न हो, दाता द्वारा परिभुक्त (उपयोग में लाया हुआ) हो या अपरिभुक्त हो, आसेवित (पहना-ओढ़ा) हो या अनासेवित, उस वस्त्र को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी न ले।

जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में एक साधर्मिकगत आहार-विषयक वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार यहाँ वस्त्र-विषयक वर्णन कहना चाहिए। तथा पिण्डैषणा अध्ययन में जैसे

---

१. चूर्णिकार ने 'पुरिसंतरकडं जाव पडिग्गाहेज्जा' का तात्पर्य बताया है—'विसोधिकोडी सव्वा संजयट्ठा ण कप्पति अपुरिसंतरकडादी, पुरिसंतरकडा कप्पति।' अर्थात्—सर्वविशुद्ध नवकोटि से सभी साधुओं को अपुरुषान्तरकृत आदि विशेषणयुक्त वस्त्र नहीं कल्पता, पुरुषान्तरकृत आदि कल्पता है।

बहुत-से सार्धमिक साधु एक सार्धमिणी साध्वी, बहुत-सी सार्धमिणी साध्वियाँ, एवं बहुत-से शाक्यादि श्रमण-ब्राह्मण आदि को गिन-गिन कर तथा बहुत-से शाक्यादि श्रमण-ब्राह्मणादि का उद्देश्य रखकर जैसे औद्देशिक, क्रीत आदि तथा पुरुषान्तरकृत आदि विशेषणों से युक्त आहार-ग्रहण का निषेध किया गया है, उसीप्रकार यहाँ शेष पाँचों आलापकों में बताए हुए बहुत-से सार्धमिक आदि का उद्देश्य रखकर समारम्भ से निर्मित, क्रीत आदि तथा अपुरुषान्तर कृत आदि विशेषणों से युक्त ऐसे वस्त्र ग्रहण के निषेध का तथा पुरुषान्तरकृत आदि होने पर ग्रहण करने को सारा वर्णन उसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

५३६. साधु या साध्वी यदि किसी वस्त्र के विषय में यह जान जाए कि असंयमी गृहस्थ ने साधु के निमित्त से उसे खरीदा है, धोया है, रंगा है, घिस कर साफ किया है, चिकना या मुलायम बनाया है, संस्कारित किया है, धूप, इत्र आदि से सुवासित किया है, और ऐसा वह वस्त्र अभी पुरुषान्तरकृत यावत् दाता द्वारा आसेवित नहीं हुआ है, तो ऐसे अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित वस्त्र को अप्रासुक व अनेषणीय मान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे। यदि साधु या साध्वी यह जान जाए कि वह वस्त्र पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित है तो मिलने पर प्रासुक व एषणीय समझ कर उसे ग्रहण कर सकता है।

विवेचन—एषणादोष से युक्त और मुक्त वस्त्रग्रहण : निषेध-विधान—प्रस्तुत दो सूत्रों में आधाकर्म आदि १६ उद्गम दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण का निषेध किया है। साथ ही यदि वह वस्त्र पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो वह साधु के निमित्त या साधु के लिए ही अलग से खासतौर से तैयार करा कर न रखाया हुआ हो, तथा आधाकर्म, औद्देशिक आदि दोषों की शंका नहीं रह जाती हो तो ऐसी स्थिति में साधु उस वस्त्र को प्रासुक एवं एषणीय समझ कर ग्रहण कर सकता है।[1]

'रत्त' के विषय में समाधान—रंगीन वस्त्र भगवान् महावीर के शासन के साधु-साध्वी ग्रहण नहीं करते, इसलिए यह पाठ सभी तीर्थंकरों के साधु वर्ग को दृष्टि में रखकर अंकित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि भ० अजितनाथ (द्वितीय तीर्थंकर) से भ० पार्श्वनाथ (२३ वें तीर्थंकर) तक के शासन के साधु-साध्वी पांचों रंगों के वस्त्र धारण कर सकते थे। अथवा 'रत्त' का अर्थ यह भी सम्भव है कि तुरंत उड़ने वाले रंगीन इत्र या चन्दन के चूर्ण, या केसर आदि किसी पदार्थ से सुगन्धित करते समय जल्दी छूट जाने वाले रंग से स्वाभाविक रूप से रंगा हुआ वस्त्र।[2]

वस्त्रैषणा में दोष—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम में प्रतिपादित वस्त्रग्रहण में आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात, स्थापन, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, एवं अभिहृत आदि दोष लगने की सम्भावना बताई है। जबकि दूसरे सूत्र में उल्लिखित वस्त्र

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९३ के आधार पर

२. अर्थागम प्रथम खण्ड, आचा० द्वि-श्रु० पृ० १३०

को ग्रहण करने में क्रीत, आधाकर्म, औद्देशिक, स्थापना, अनिसृष्ट आदि दोषों के विषय में कहा है।[1] इन दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण का निपेध है।

बहुमूल्य-बहुआरंभ-निष्पन्न वस्त्र-निषेध

५५७. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुण वत्थाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमोल्लाइं, तंजहा–आईणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि[2] वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पत्तुण्णाणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसरागाणि वा अमिलाणि वा गज्जलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावाराणि वा, अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं वत्थाइं महद्धणमोल्लाइं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

५५८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण आईणपाउरणाणि वत्थाणि जाणेज्जा, तंजहा–उद्दाणि वा पेसाणि वा पेसलेसाणि वा किण्हमिगाईणगाणि वा णीलमिगाईणगाणि वा गोरमिगाईणगाणि वा कणगाणि वा कणगकंताणि[3] वा कणगपट्टाणि[4] वा कणगखइयाणि[5] वा कणगफुसियाणि वा वग्घाणि वा[6] विवग्घाणि वा आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं आईणपाउरणाणि वत्थाणि लाभे संते णो पडिगाहेज्जा।

५५७. संयमशील साधु-साध्वी यदि ऐसे नानाप्रकार के वस्त्रों को जाने, जो कि महाधन से प्राप्त होने वाले (बहुमूल्य) वस्त्र हैं, जैसे कि—आजिनक (चूहे आदि के चर्म से बने हुए) श्लक्ष्ण–(सहिण) वर्ण और छवि आदि के कारण बहुत सूक्ष्म या मुलायम, श्लक्ष्णकल्याण–सूक्ष्म और मंगलयम चिन्हों से अंकित, आजक–किसी देश की सूक्ष्म रोएँ वाली बकरी के रोम से निष्पन्न

---

१. जैनसिद्धान्त बोल संग्रह भाग ५ बोल ८६५ पृ० १६१-१६२

२. 'क्षौमिक' का अर्थ वृत्तिकार ने सामान्य कपास से बना हुआ वस्त्र किया है, लेकिन यहाँ महँगे वस्त्रों की सूची में उसे दिया है, इसका रहस्य यह है कि जो सूती वस्त्र हो. लेकिन बहुत ही बारीक हो, उस पर सोने-चाँदी आदि के किनारी गोटे लगे हुए हों तो वह बहुमूल्य हो जाएगा। निशीथचूर्णि उ० ७ में तो उसका अर्थ ही दूसरा किया है—'पोंडमया खोम्मा, अण्णे भण्णंति रुक्खेहितों निग्गोच्छंति, जहा वडेहिंतो पादगा सहा।'—पुष्पों के रेशे से बना या वृक्षों से निकलने वाले रस से बना हुआ वस्त्र।

३. 'कणगकंताणि' के बदले पाठान्तर है—कणगंताणि। अर्थ है—जिसकी किनारी सुनहरी है, सोने की है।

४. 'कणगपट्टाणि' के बदले पाठान्तर है—कणगपट्ठाणि। अर्थ है—जिसके पृष्ठभाग सोने के है।

५. 'कणगखचितं' का अर्थ निशीथ चूर्णि में किया गया है—कणगसुत्तेण जस्स फुल्लिया पाडिता तं 'कणगखचितं' सोने के सूत्र (धागे) से जिस पर फूल अंकित किये है, वह है—कनक-खचित।

६. 'आभरणा आभरणविचित्ता' इन दोनों का अर्थ निशीथचूर्णि में यों दिया है—"एकाभरणेन मंडिता आभरणा। छपत्रिक-चंदलेहिक-स्वस्तिक-घंटिक-मोत्तिकमादीहिं मंडिता आभरणविचित्ता'।—अर्थात् —एक आभूषण से मंडितवस्त्र आभरणवस्त्र, और छपत्रिक (पत्र, चन्द्रलेखा, स्वास्तिक घँटिका आदि नमूनों से निष्पन्न) वस्त्र को आभरणविचित्र कहते हैं।

कायक—इन्द्रनीलवर्ण कपास से निर्मित, क्षौमिक दुकूल—गौड़देश में उत्पन्न विशिष्ट कपास से बने हुए वस्त्र, पट्टरेशम के वस्त्र, मलयज (चन्दन) के सूते से बने या मलयदेश में बने वस्त्र, वल्कल-तन्तुओं से निर्मित वस्त्र अंशक-वारीक वस्त्र, चीनांशुक-चीन देश के बने अत्यन्त सूक्ष्म एवं कोमल वस्त्र, देशराग—एक प्रदेश से रंगे हुए, अमिल-रोमदेश में निर्मित, गर्जल—पहनते समय बिजली के समान कड़कड़ शब्द करने वाले वस्त्र, स्फटिक—स्फटिक के समान स्वच्छ पारसी कंबल, या मोटा कंवल तथा अन्य इसीप्रकार के बहुमूल्य वस्त्र प्राप्त होने पर भी विचारशील साधु उन्हें ग्रहण न करे।

५५८. साधु या साध्वी यदि चर्म से निष्पन्न ओढने के वस्त्र जाने जैसे कि औद्र—सिन्धु देश के मत्स्य के चर्म और सूक्ष्म रोम से निष्पन्न, वस्त्र पेष-सिन्धुदेश के सूक्ष्म चर्मवाले जानवरों से निष्पन्न, पेषलेश-उसी के चर्म पर स्थित सूक्ष्म रोमों से बने हुए, कृष्ण, नील और गौरवर्ण के मृगों के चमड़ों से निर्मित वस्त्र, स्वर्णरस में लिपटे वस्त्र, सोने की कान्ति वाले वस्त्र, सोने के रस पट्टियाँ दिये हुए वस्त्र, सोने के पुष्प गुच्छों से अंकित सोने के तारों से जटित, और स्वर्ण चन्द्रिकाओं से स्पर्शित, व्याघ्रचर्म, चीते का चर्म, आभरणों से मण्डित, आभरणों से चित्रित ये तथा अन्य इसीप्रकार के चर्म-निष्पन्न प्रावरण=वस्त्र प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—बहुमूल्य एवं चर्म-निष्पन्न वस्त्र ग्रहण-निषेध—प्रस्तुत सूत्रद्वय में उस युग में प्रचलित कतिपय बहुमूल्य एवं चर्मनिर्मित वस्त्रों के ग्रहण का निषेध किया गया है। इस निषेध के पीछे निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) ये अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ (प्राणि-हिंसा) से तैयार होते हैं।

(२) इनके चुराये जाने या लूट-छीने जाने का डर रहता है।

(३) साधुओं के द्वारा ऐसे वस्त्रों की अधिक मांग होने पर ऐसे वस्त्रों के लिए उन-उन पशुओं को मारा जाएगा, भयंकर पंचेन्द्रियवध होगा।

(४) साधुओं को इन बहुमूल्य वस्त्रों पर मोह, मूर्च्छा पैदा होगी, संचित करके रखने की वृत्ति पैदा होगी।

(५) साधुओं का जीवन सुकुमार बन जाएगा।

(६) इतने बहुमूल्य वस्त्र साधारण गृहस्थ के यहाँ मिल नहीं सकेंगे।

(७) विशिष्ट धनाढ्य गृहस्थ भक्तिभाववाला नहीं होगा, तो वह साधुओं को ऐसे कीमती वस्त्र नहीं देगा, साधु उन्हें परेशान भी करेंगे।

(८) भक्तिमान धनाढ्य गृहस्थ मोल लाकर या विशेष रूप से बुनकरों से बनवाकर देगा।

(९) एषणादोष लगने की संभावना अधिक है।[1]

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३९४ के आधार पर

(१०) चमड़े के वस्त्र घृणाजनक, अपवित्र और अमंगल होने से इनका उपयोग साधुओं के लिए उचित एवं शोभास्पद नहीं।

'महामूल्य' किसे कहते हैं इस विषय में अभयदेवसूरि ने बताया है—'पाटली पुत्र के सिक्के से जिसका मूल्य अठारह मुद्रा (सिक्का-रुपया) से लेकर एक लाख मुद्रा (रुपया) तक हो वह महामूल्य वस्त्र होता है।[1]

अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं—बहुमूल्य एवं चर्म-निर्मित वस्त्रों के ये कतिपय नाम शास्त्रकार ने गिनाए हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक युग में जो भी बहुमूल्य, सूक्ष्म, चर्म एवं रोमों से निर्मित, दुर्लभ तथा महाआरम्भ से निष्पन्न होने वाले वस्त्र प्रतीत हों, उन्हें साधु ग्रहण न करे सूत्रकार का यह आशय है।

'आइणगाणि' आदि पदों के विशेष अर्थ—आचारांगचूर्णि, निशीथचूर्णि आदि में इन पदों के विशिष्ट अर्थ दिये गए हैं। **आइणगाणि**=अजिन—चर्म से निर्मित। **आयाणि**=तोसलिदेश में अत्यन्त शर्दी पड़ने पर बकरियों के खुरों में सेवाल जैसी मस्तु लग जाती है, उसे उखाड़कर उससे बनाये जाने वाले वस्त्र। **कायाणि**=काक देश में कौए की जांघ की मणि जिस तालाव में पड़ जाती है, उस मणि की जैसी प्रभा होती है, वैसी ही वस्त्र की हो जाती है, उन काकमणि रंजित वस्त्रों को काकवस्त्र कहते हैं। **खोमियाणि**=क्षोम कहते हैं पौंड-पुष्पमय वस्त्र को, अथवा जैसे वट वृक्ष से शाखाएँ निकलती हैं, वैसे ही वृक्षों से लंबे-लंबे रेशे निकलते हैं, उनसे बने हुए वस्त्र **दुगुल्लाणि**=दुकूल एक वृक्ष का नाम है, उसकी छाल लेकर ऊखल में कूटी जाती है, जब वह भुस्से जैसी हो जाती है तब उसे पानी में भिगोकर रेसे बनाकर वस्त्र निर्माण किया जाता है। **पट्टाणि**=तिरीड़ वृक्ष की छाल के तन्तु पट्टसदृश होते हैं उनसे निर्मितवस्त्र तिरीड़पट्ट वस्त्र अथवा रेशम के कीड़ों के मुह से निकलने वाले तारों से बने वस्त्र।[2] **मलयाणि**=मलयदेश (मैसूर आदि) में चन्दन के पत्तों को सडाया जाता है, फिर उनके रेशों से बने वस्त्र, **पत्तुण्णाणि**—वल्कल से बने हुए बारीक वस्त्र[3] **देसरागा**=जिस देश में रंगने की जो विधि है, उस देश में रंगे हुए वस्त्र, **गज्जलाणि**=जिनके पहनने पर विद्युत्गर्जन-सा कड़कड़ शब्द होता है, वे गर्जल वस्त्र। **कणगो**=सोने को पिघला कर उससे सूत रंगा जाता है, और वस्त्र बनाये जाते हैं।[4] **कणगकंताणि**=जिनके सोने की किनारी हो, ऐसे वस्त्र। **विवग्घाणि**=चीते का चमड़ा।

कौतप आदि के ग्रहण का निषेध क्यों? कौतप, कंबल (फारस देश के बने गलीचे) तथा

---

१. (क) स्थानांग वृत्ति, पत्र ३२२
(ख) विनयपिटक (महावग्ग) ८।८।१२ पृ० २९८ में शिविदेश में बने **'सिवेय्यकवस्त्र'** का उल्लेख है, जो एक लाख मुद्रा में मिलता था।

२. अनुयोगद्वार सूत्र (३७) की टीका के अनुसार—किसी जंगल में संचित किये हुए मांस के चारों ओर एकत्रित कीड़ों से 'पट्ट' वस्त्र बनाये जाते थे।

३. 'पत्रोर्ण' का उल्लेख महाभारत २।७८।५४ में भी है। —जैन० सा० भा० पृ० २०७।

४. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २०३,२०३ (ख) निशीथ चूर्णि उ० ७ पृ० ३९९,४००
(ग) पाइअ-सद्दमहण्णवो (घ) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९४

प्रावारक महंगे होने के अतिरिक्त ये बीच-बीच में छूंछे, छिद्रवाले या पोले होते हैं, जिनमें जीव घुस जाते हैं, जिनके मरने की आशंका रहती है तथा प्रतिलेखन भी ठीक से नहीं हो सकता, इन सब दोषों के कारण ये वस्त्र अग्राह्य कोटि में गिनाये हैं।[1]

वस्त्रैषणा की चार प्रतिमाएं

५५९. इच्चेयाइं आययणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा चउहिं पडिमाहिं[2] वत्थं एसित्तए।

[१] तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा २ उद्दिसिय २ वत्थं जाएज्जा, तंजहा-जंगियं वा भंगियं वा साणयं वा पोत्तगं वा खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं एसणिज्जं लाभे संते जाव पडिगाहेज्जा।

[२] अहावरा दोच्चा पडिमा-से भिक्खू वा २ पेहाए २ वत्थं जाएज्जा, तंजहा-गाहावती वा जाव कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ति वा भइणी ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं वत्थं ? तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं एसणिज्जं लाभे संते जाव[3] पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा।

[३] अहावरा तच्चा पडिमा-से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तंजहा-अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा, तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा जाव[4] पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।

[४] अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा २ उज्झियधम्मियं वत्थं जाएज्जा जं चऽण्णे बहवे समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा णावकंखंति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं[5] जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पडिमा।

५६०. इच्चेताणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए।

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २०२ कोयव-कंबलपावारादीणि सुसि दोसाय ण गृण्हीयात्।

२. चूर्णि (आचा०) में इस पाठ की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—'चउरो पडिमा—उद्दिसिय जंगियमादी। वितियं पेहाए पुच्छिते भणति-एरिसं। अहवा पेहाए उक्खेव निक्खेव निद्देसं बीयाण उवरिं। ततियाए अंतरिज्जगं साडतो, उत्तरिज्जगं पंगुरणं। अहवा अंतरिज्जगं हेट्ठियपत्थरणं, उत्तरिज्जगं पच्छाओ। उज्झियधम्मियं चउव्विधं दव्वादि आलावगसिद्धं।'—अर्थात्—चार प्रतिमाएं हैं—(१) जंगीय आदि चारों में से किसी भी एक प्रकार के वस्त्र को उद्देश्य करके ग्रहण करने का संकल्प। (२) दूसरी प्रतिमा-प्रेक्षापूर्वक निश्चित करना, पूछने पर कहना-ऐसा वस्त्र। बीजों पर उत्क्षेप या निक्षेप का निर्देश भी इसके साथ है।
(३) तृतीय प्रतिमा में अन्तरीयक वस्त्र, चादर और उत्तरीयक ऊपर लपेटने का, अथवा अन्तरीयक नीचे बिछाने का, उत्तरीयक प्रच्छादन पट। (४) उज्झितधार्मिक के द्रव्यादि चतुर्विध आलापक हैं। (बृहत्कल्प सूत्र वृत्ति पृ० १८० और निशीथ चूर्णि उ० ५ (पृ० ५६८) में भी इसका उल्लेख है।)

३. 'जाव' शब्द से यहाँ 'लाभे संते से लेकर 'पडिगाहेज्जा' तक का पाठ सू० ४०९ के अनुसार है।

४. जाव शब्द से यहाँ इसी सूत्र के [२] विभाग में उल्लिखित समझना चाहिए।

५. यहाँ 'जाव' शब्द से 'फासुयं' से लेकर 'पडिगाहेज्जा' तक का पाठ सू० ४०९ के अनुसार समझें।

५५९. इन (पूर्वोक्त) दोषों के आयतनों (स्थानों) को छोड़कर चार प्रतिमाओं (अभिग्रहविशेषों) से वस्त्रैषणा करनी चाहिए।

[१] पहली प्रतिमा-वह साधु या साध्वी मन में पहले संकल्प किये हुए वस्त्र की याचना करे, जैसे कि—जांगमिक, भांगिक, सानज, पोत्रक, क्षौमिक या तूलनिर्मित वस्त्र (इन वस्त्र प्रकारों में से एक प्रकार के वस्त्र ग्रहण का मन में निश्चय करे) उस प्रकार के वस्त्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ स्वयं दे तो प्रासुक और एषणीय होने पर ग्रहण करे।

[२] दूसरी प्रतिमा—वह साधु या साध्वी (गृहस्थ के यहाँ) वस्त्र को पहले देखकर गृहस्वामी यावत् नौकरानी आदि से उसकी याचना करे देखकर इस प्रकार कहे-आयुष्मन् गृहस्थ भाई! अथवा बहन! क्या तुम इन वस्त्रों में से किसी एक वस्त्र को मुझे दोगे? दोगी? इस प्रकार साधु या साध्वी पहले स्वयं वस्त्र की याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो प्रासुक एवं एषणीय होने पर ग्रहण करे। यह दूसरी प्रतिमा हुई।

[३] तीसरी प्रतिमा—साधु या साध्वी (गृहस्थ द्वारा परिभुक्त प्रायः) वस्त्र के सम्बन्ध में जाने, जैसे कि—अन्दर पहनने के योग्य या ऊपर पहनने के योग्य चादर आदि अन्तरीय। तदनन्तर उस प्रकार के वस्त्र की स्वयं याचना करे या गृहस्थ उसे स्वयं दे तो उस वस्त्र को प्रासक एवं एषणीय होने पर मिलने पर ग्रहण करे। यह तीसरी प्रतिमा हुई।

[४] चौथी प्रतिमा—वह साधु या साध्वी उज्झितधार्मिक (गृहस्थ के द्वारा पहनने के बाद फेंके हुए) वस्त्र की याचना करे। जिस वस्त्र को बहुत से अन्य शाक्यादि भिक्षु यावत् भिखारी लोग भी लेना न चाहें ऐसे उज्झित-धार्मिक (फेंकने योग्य) वस्त्र की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ स्वयं ही साधु को दे तो उस वस्तु को प्रासुक और एषणीय जानकर ग्रहण कर ले। यह चौथी प्रतिमा हुई।

५६०. इन चारों प्रतिमाओं के विषय में जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में वर्णन किया गया है, वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए।

विवेचन—वस्त्रैषणा से सम्बन्धित चार प्रतिज्ञाएँ—पिण्डैषणा-अध्ययन में जैसे पिण्डैषणा की ४ प्रतिज्ञाएँ बताई गई हैं, वैसे ही यहाँ वस्त्रैषणा से सम्बन्धित ४ प्रतिज्ञाएँ बताई गई हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. उद्दिष्टा, २. प्रेक्षिता, ३. परिभुक्त पूर्वा और ४. उज्झित धार्मिका।

चारों प्रतिज्ञाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) मैं पहले से संकल्प या नामोल्लेख करके वस्त्र की याचना करूंगा।

(२) मैं वस्त्र को स्वयं देखकर ही याचना करूंगा।

(३) अन्दर पहनने के या बाहर ओढ़ने के जिस वस्त्र को दाता ने पहले उपयोग कर लिया है, उसी को ग्रहण करूंगा।

(४) जो वस्त्र अब काम का नहीं रहा, फेंकने योग्य है, उसी वस्त्र को ग्रहण करूंगा।

जो साधु जिस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है, वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वस्त्र मिलें, तो ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं।

परन्तु पिण्डैषणा अध्ययन में उक्त प्रतिज्ञापालन से प्रादुर्भूत अहंकार के विसर्जन की बात यहाँ भी शास्त्रकार ने सूत्र ५६० के द्वारा अभिव्यक्त की है। वस्त्रैषणा-प्रतिमापालक साधु स्वयं को उत्कृष्ट और दूसरे साधुओं का निकृष्ट न माने। वह सभी प्रकार के प्रतिमापालक साधुओं को जिनाज्ञानुवर्ती तथा समान माने। समाधिभाव में रहे।[1]

अनेषणीय वस्त्र-ग्रहण-निषेध

५६१. सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा! एज्जाहि तुमं मासेण वा दसरातेण वा पंचरातेण वा सुते[2] वा सुततरे वा, तो ते वयं आउसो! अण्णतरं वत्थं दासामो। एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो! ति वा, भगिणी! ति वा, णो खलु मे कप्पति एतप्पगारे संगारे[3] पडिसुणेत्तए, अभिकंखसि मे दाउं इदाणिमेव दलयाहि।

५६२. से णेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो समणा! अणुगच्छाहि[4], तो ते वयं अण्णतरं वत्थं दासामो। से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो! ति वा, भइणी! ति वा, णो खलु मे कप्पति एयप्पगारे संगारवयणे पडिसुणेत्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि।

५६३. से सेवं वदंतं परो णेत्ता वदेज्जा-आउसो! ति वा, भगिणी! ति वा, आहरेतं वत्थं समणस्स दासामो[5], अवियाइं वयं पच्छा वि अप्पणो सयट्ठाए पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स जाव चेतेस्सामो। एतप्पगारं निग्घोसं सोच्चा निसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

५६४. सिया णं परो णेत्ता वदेज्जा—आउसो! ति वा, भइणी! ति वा, आहर एयं वत्थं सिणाणेण वा जाव आघंसित्ता वा पघंसित्ता वा समणस्स णं दासामो। एतप्पगारं

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९५ के आधार पर
[ख] आचा० चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० २०४
२. 'सुते वा सुततरे वा' के वदले 'सुत्तेण वा सुत्ततरे वा', सुए वा सुततराए वा, सुतेण वा सुतततेण वा' आदि पाठान्तर है।
३. 'संगारे' के वदले 'संगारवयणे' पाठ है।
४. 'अणुगच्छाहि' के वदले पाठान्तर है—'अहुणा गच्छाहि'। अर्थात्—'इस समय तो जाओ' वृत्तिकार ने भावार्थ दिया है—"अनुगच्छ तावत् पुनः स्तोकवेलायां समागताय दास्यामि।' अभी तो जाओ। फिर थोड़ी देर में लौटने पर दूंगी/दूंगा।
५. 'दासामो' के वदले 'नेयामो' एवं दाहामो पाठान्तर हैं। अर्थ समान है।

निग्घोसं सोच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो ! ति वा, भइणी ! ति वा, मा एतं तुमं वत्थं सिणाणेण वा जाव पघंसाहि वा, अभिकंखसि मे दातुं एमेव दलयाहि। से सेवं वदंतस्स परो सिणाणेण वा जाव पघंसित्ता [वा ?] दलएज्जा। तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव[1] णो पडिगाहेज्जा।

५६५. से णं परो णेत्ता वदेज्जा-आउसो ! ति वा, भइणी ! ति वा, आहर एयं वत्थं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता[2] वा पधोवेत्ता वा समणस्स णं दासामो। एयप्पगारं निग्घोसं, तहेव, नवरं मा एयं तुमं वत्थं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा पधोवेहि वा। अभिकंखसि मे दातुं सेसं तहेव जाव[3] णो पडिगाहेज्जा।

५६६. से णं परो णेत्ता वदेज्जा-आउसो ! ति, वा भइणी ! ति वा, आहरेतं वत्थं कंदाणि वा जाव हरियाणि वा विसोधेत्ता[4] समणस्स णं दासामो। एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा निसम्म जाव[5] भइणी ! ति वा, मा एताणि तुमं कंदाणि वा जाव विसोहेहि, णो खलु मे कप्पति एयप्पगारे वत्थे पडिगाहित्तए।

५६७. से सेवं वदंतस्स परो कंदाणि वा जाव[6] विसोहेत्ता दलएज्जा। तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

५६१. कदाचित् इन (पूर्वोक्त) वस्त्र-एषणाओं से वस्त्र की गवेषणा करने वाले साधु को कोई गृहस्थ कहे कि—आयुष्मन् श्रमण ! तुम इस समय जाओ, एक मास, या दस या पाँच रात के बाद अथवा कल या परसों आना, तब हम तुम्हें एक वस्त्र देंगे।' इस प्रकार का कथन सुनकर हृदय में धारण करके वह साधु विचार कर पहले ही कह दे—"आयुष्मन् गृहस्थ ! अथवा बहन ! मेरे लिए इस प्रकार का संकेतपूर्वक वचन स्वीकार करना कल्पनीय नहीं है। अगर मुझे वस्त्र देना चाहते हो (दे सकते हो) तो अभी दे दो।"

५६२. उस साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ यों कहे कि—आयुष्मन् श्रमण ! अभी तुम जाओ। थोड़ी देर बाद आना, हम तुम्हें एक वस्त्र दे देंगे।' इस पर वह

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'अफासुयं' से लेकर 'पडिग्गाहेज्जा' तक का सारा पाठ सूत्र ३२४ के अनुसार समझना चाहिए।

२. 'उच्छोलेत्ता पधोवेत्ता' के बदले पाठान्तर हैं—उच्छालेत्ता पच्छालेत्ता, उच्छुलेज्ज वा पहोएज्ज वा।

३. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ५६४ के अनुसार शेष पाठ समझें।

४. विसोधेत्ता का तात्पर्य वृत्तिकार लिखते हैं—'कंदादीनि वस्त्रादपनीय'—अर्थात्—कंद आदि जो वस्त्र में रखे हैं, उन्हें निकालकर साफ करके।

५. यहाँ जाव शब्द से 'निसम्म' से 'भइणी' तक का पाठ सू० ५६४ के अनुसार समझें।

६. जाव शब्द से यहाँ 'कंदाणि' से 'हरियाणि' तक का सारा पाठ सू० ४१७ के अनुसार समझें।

पहले मन में विचार करके उस गृहस्थ से कहे—'आयुष्मन् गृहस्थ अथवा बहन ! मेरे लिए इस प्रकार से संकेतपूर्वक वचन स्वीकार करना कल्पनीय नहीं है। अगर मुझे देना चाहते/चाहती हो तो इसी समय दे दो।'

५६३ साधु के इस प्रकार कहने पर यदि वह गृहस्थ घर के किसी सदस्य (बहन आदि) को (बुलाकर) यों कहे कि "आयुष्मन् या बहन ! वह वस्त्र लाओ, हम उसे श्रमण को देंगे। हम तो अपने निजी प्रयोजन के लिए बाद में भी प्राणी, भूत, जीव और सत्वों का समारम्भ करके और उद्देश्य करके यावत् और वस्त्र बनवा लेंगे।" इस प्रकार का वार्तालाप सुन कर उस पर विचार करके उसप्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर ग्रहण न करे।

५६४. कदाचित् गृहस्वामी घर के किसी व्यक्ति से यों कहे कि "आयुष्मन् अथवा बहन ! वह वस्त्र लाओ, तो हम उसे स्नानीय पदार्थ से, चन्दन आदि उद्वर्तन द्रव्य से लोध्र से, वर्ण से, चूर्ण से या पद्म आदि सुगन्धित पदार्थों से, एक बार या बार-बार घिसकर श्रमण को देंगे।" इस प्रकार का कथन सुनकर एवं उस पर विचार करके वह साधु पहले से ही कह दे—आयुष्मन् गृहस्थ ! या आयुष्मती बहन! तुम इस वस्त्र को स्नानीय पदार्थ से यावत् पद्म आदि सुगन्धित द्रव्यों से आघर्षण या प्रघर्षण मत करो। यदि मुझे वह वस्त्र देना चाहते/चाहती हो तो ऐसे ही दे दो। साधु के द्वारा इस प्रकार कहने पर भी वह गृहस्थ स्नानीय सुगन्धित द्रव्यों से एकबार या बार-बार घिसकर उस वस्त्र को देने लगे तो उस प्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

५६५. कदाचित् गृहपति घर के किसी सदस्य से कहे कि "आयुष्मन् ! या बहन ! उस वस्त्र को लाओ, हम उसे प्रासुक शीतल जल से या प्रासुक उष्ण जल से एक बार या कई बार धोकर श्रमण को देंगे।" इस प्रकार की बात सुनकर एवं उस पर विचार करके वह पहले ही दाता से कह दे—"आयुष्मन् गृहस्थ (भाई) ! या बहन ! इस वस्त्र को तुम प्रासुक शीतल जल से या प्रासुक उष्ण जल से एक बार या कई बार मत धोओ। यदि मुझे इसे देना चाहते हो तो ऐसे ही दे दो।" इस प्रकार कहने पर भी यदि वह गृहस्थ उस वस्त्र को ठंडे या गर्म जल से एक बार या कई बार धोकर साधु को देने लगे तो वह उस प्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

५६६. यदि वह गृहस्थ अपने घर के किसी व्यक्ति से यों कहें कि आयुष्मन् ! या बहन! उस वस्त्र को लाओ, हम उससे में कन्द यावत् हरी (वनस्पति) निकालकर (विशुद्ध करके) साधु को देंगे। इस प्रकार की बात सुनकर, उस पर विचार करके वह पहले ही दाता से कह दें—"आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! इस वस्त्र में से कन्द यावत् हरी मत निकालो (विशुद्ध मत करो)। "मेरेलिए इस प्रकार का वस्त्र ग्रहण करना कल्पनीय नहीं है।

५६७. साधु के द्वारा इस प्रकार कहने पर भी वह गृहस्थ कंद यावत् हरी वस्तु को

निकालकर (विशुद्ध करके) देने लगे तो उस प्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय समझ कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—विविध अनेषणीय वस्त्रों के ग्रहण का निषेध—सू० ५६१ से ५६७ तक सात सूत्रों में निम्नलिखित परिस्थितियों में वस्त्र ग्रहण करने का निषेध किया गया है—

(१) एक दो दिन से लेकर एक मास तक के बाद ले जाने के लिए साधु को वचनबद्ध करके देना चाहे।

(२) थोड़ी देर बाद आकर ले जाने के लिए वचनबद्ध करके देना चाहे।

(३) या वह वस्त्र साधु को देकर अपने लिए दूसरा वस्त्र बना लेने का विचार प्रकट करे।

(४) सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित करके (पुरुषान्तरकृत, परिभुक्त या आसेवित बताने की अपेक्षा से) देने का विचार प्रकट करे तो।

(५) ठंडे या गर्म प्रासुक जल से धोकर देने के विचार प्रगट करे।

(६) उसमें पड़े हुए कंद या हरी आदि सचित्त पदार्थों को निकाल कर साफ करके देने का विचार प्रकट करे।

(७) तथा वैसा करके देने लगे तो।

ऐसे अनेषणीय वस्त्र के लेने से हिंसा, पश्चात्कर्म आदि दोषों की सम्भावना है।[1]

'संगारे पडिसुणेत्तए' आदि पदों का अर्थ संगारे—वादा करना, या संकेत करना, वचन-बद्ध होना। **संगारवयणे**=संकेतवचन, वादे की बात, किसी खास वचन में बंध जाना। **पडिसुणेत्तए**=स्वीकार करना।[2]

वस्त्र-ग्रहण-पूर्व प्रतिलेखना विधान

५६८. सिया से परो णेत्ता वत्थं निसिरेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो! ति वा, भइणी! ति वा, तुमं चेव णं संतियं वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिस्सामि। केवली बूया—आयाणमेयं। वत्थंते ओबद्ध[3] सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा जाव रतणावली वा पाणे वा बीए वा हरिते वा।

अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं पुव्वामेव वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहेज्जा।

---

१. आचारांग मूल एवं वृत्ति पत्रांक ३९५ के आधार पर

२. (क) आचा० (अर्थागम खण्ड १) पृ० १३१

(ख) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ८३४

३. **'वत्थंते ओबद्ध'** के बदले पाठान्तर हैं—**'वत्थेण ओबद्ध'**, **'वत्थंतेण उबद्ध'**, **'वत्थंतेण बद्धे'**, **'वत्थंते बद्धे'**। अर्थ है—वहाँ वस्त्र के अन्त—किनारे या पल्ले में कोई वस्तु बँधी हो।

५६८. कदाचित् वह गृहस्वामी (साधु के द्वारा याचना करने पर) वस्त्र (घर से लाकर) साधु को दे, तो वह पहले ही विचार करके उससे कहे—आयुष्मन् गृहस्थ ! या बहन ! तुम्हारे ही इस वस्त्र को मैं अन्दर-बाहर चारों ओर से (खोलकर) भलीभाँति देखूंगा, क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं— वस्त्र को प्रतिलेखना किये विना लेना कर्मबन्धन का कारण है। कदाचित् उस वस्त्र के सिरे पर कुछ बंधा हो, कोई कुण्डल बंधा हो, या धागा, चांदी, सोना, मणिरत्न, यावत् रत्नों की माला बंधी हो, या कोई प्राणी, बीज या हरी वनस्पति बंधी हो। इसीलिए भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने पहले से ही इस प्रतिज्ञा, हेतु, कारण और उपदेश का निर्देश किया है कि साधु वस्त्र ग्रहण से पहले ही उस वस्त्र की अन्दर-बाहर चारों ओर से प्रतिलेखना करे।

विवेचन—वस्त्र लेने से पूर्व भलीभाँति देखभाल लें—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र ग्रहण करने से पूर्व एक विशेष सावधानी की ओर संकेत किया है, वह है वस्त्र को पहले अन्दर-बाहर सभी कोनों से अच्छी तरह देख-भाल कर लें।[1] विना प्रतिलेखन किये वस्त्र ले लेने मे निम्नलिखित खतरों की सम्भावना है—(१) वस्त्र के पल्ले में कोई कीमती चीज बंधी हो, साधु को उसे रखने से परिग्रह दोष लगेगा; (२) गृहस्थ की वह चीज गुम हो जाने से उसे साधु पर शंका होगी, (३) वस्त्र बीच में से फटा हो तो फिर साधु का उस वस्त्र के ग्रहण करने का प्रयोजन सिद्ध न होगा, (४) वस्त्र को गृहस्थ ने साधु के लिए विविध द्रव्यों से सुवासित कर रखा हो, या उसमें बीच में फूलपत्ती आदि या चांदी सोने के बेलबूंटे आदि किये हों। (५) उस वस्त्र में दीमक, खटमल, जूं, चींटी आदि कोई जीव लगा हो, बीज बंधे हों या हरी वनस्पति बंधी हो तो जीव-हिंसा की संभावना है। (६) किसी ने द्वेषवश उस वस्त्र पर विष लगा दिया हो, जिसे पहनते ही प्राण वियोग की संभावना हो। (७) उस वस्त्र की अपेक्षित लम्बाई-चौड़ाई न हो। इसीलिए साधु को उक्त वस्त्र अपनी निश्राय में लेने से पूर्व गृहस्थ से कहना चाहिए—"तुमं चेव णं संतियं वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिस्सामि।'—अर्थात् मैं प्रतिलेखन करता हूं तब तक यह वस्त्र तुम्हारे स्वामित्व का या तुम्हारा है.......।[2]

ग्राह्य-अग्राह्य-वस्त्र-विवेक

५६९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणं तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

५७०. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अणलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं रोइज्जंतं ण रुच्चति[3], तहप्पगारं वत्थं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

---

१. आचारांग मूल पाठ एवं वृत्ति पत्रांक ३९५।
२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९५।
३. 'ण रुच्चति' के बदले पाठान्तर है—'नो रोइज्ज, नो रोचइ।' अर्थ समान है।

५७१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणयं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं रोइज्जंतं रुच्चति, तहप्पगारं वत्थं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

५६९. साधु या साध्वी यदि ऐसे वस्त्र को जाने जो कि अण्डों से यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है, तो उसप्रकार के वस्त्र को अप्रासुक एवं अनेषणीय मान कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

५७०. साधु या साध्वी यदि जाने कि यह वस्त्र अण्डों से यावत् मकड़ी के जालों से तो रहित है, किन्तु अभीष्ट कार्य करने में असमर्थ है, अस्थिर (टिकाऊ नहीं) है, या जीर्ण है, अध्रुव (थोडे समय के लिए दिया जाने वाला) है, धारण करने के योग्य नहीं है, रुचि होने पर भी दाता और साधु की उसमें रुचि न हो, तो उसप्रकार के वस्त्र को अप्रासुक और अनेषणीय समझ कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

५७१. साधु या साध्वी यदि ऐसा वस्त्र जाने, जो कि अण्डों से यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, साथ ही वह वस्त्र अभीष्ट कार्य करने में समर्थ, स्थिर, ध्रुव, धारण करने योग्य है, दाता की रुचि को देखकर साधु के लिए भी कल्पनीय हो तो उसप्रकार के वस्त्र को प्रासुक और एषणीय समझ कर प्राप्त होने पर साधु ग्रहण कर सकता है।

विवेचन—वस्त्र ग्रहण-अग्रहण-विवेक—प्रस्तुत तीन सूत्रों में यह विवेक बताया गया है कि कौन-सा वस्त्र साधु को ग्रहण न करना चाहिए, और कौन-सा करना चाहिए?

अग्राह्य वस्त्र—१. जो अंडे आदि जीव-जन्तुओं से युक्त हो, २. अभीष्ट कार्य करने में असमर्थ हो, ३. अस्थिर हो, ४. अल्पकाल के लिए देय होने से अध्रुव हो, ५. धारण करने योग्य नहीं हो, ६. दाता की रुचि न हो, तो साधु के लिए वह कल्पनीय नहीं है।

इसके विपरीत जीवादि से रहित, अभीष्ट-कार्य करने में समर्थ आदि कल्पनीय, प्रासुक और एषणीय वस्त्र को साधु ग्रहण कर सकता है।[1]

वस्त्र ग्रहण-अग्रहण के १६ विकल्प—वृत्तिकार ने बताया है कि अणलं, अथिरं, अधुवं आधारणिज्जं इन चारों पदों के सोलह भंग (विकल्प) होते हैं, इनमें प्रारम्भ के १५ भंग अशुद्ध हैं, सोलहवाँ भंग 'अलं, स्थिरं, ध्रुवं, धारणीयं' शुद्ध है। तात्पर्य यह है कि जो वस्त्र इन चारों विशेषणों से युक्त होगा, वही ग्राह्य होगा, अन्यथा, इन चारों में से यदि एक विशेषण से भी युक्त न होगा तो वह अशुद्ध और अग्राह्य माना जायेगा।[2]

'अणलं' आदि पदों के अर्थ—'अणलं'=जो वस्त्र अभीष्ट (पहनने ओढ़ने वगैरह) कार्य के लिए अपर्याप्त—असमर्थ हो, यानी जिसकी लम्बाई-चौड़ाई कम हो। अथिरं=जो मजबूत और टिकाऊ न हो, जीर्ण हो, जल्दी ही फट जानेवाला हो। अधुवं=जो प्रातिहारिक

---

१. आचारांग मूलपाठ एवं वृत्ति पत्रांक ३९६ के आधार पर।
२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९६।

(पाडिहारिय)—थोड़े समय के उपयोग के लिए दिया गया हो। अधारणिज्जं=जो अप्रशस्त हो, खंजन आदि के चिन्ह (धब्बे) जिस पर अंकित हो, अतः जो वस्त्र लक्षणहीन हो। रोइज्जं तं ण रुच्चति=इस प्रकार चारों विशेषताओं से युक्त प्रशस्त वस्त्र रुचिकर एवं देय होने पर भी दाता की रुचि न हो, अथवा साधु को लेना पसंद या कल्पनीय न हो तो वैसा वस्त्र भी अग्राह्य है।[1]

वस्त्र-प्रक्षालन निषेध

५७२. से भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा[2] जाव पघंसेज्ज वा।

५७३. से भिक्खू वा २ 'णो णवए मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सीओदगवियडेण वा उसीणोदगवियडेण वा[3] जाव पधोएज्ज वा।

५७४. से भिक्खू वा २ 'दुब्भिगंधे मे वत्थे' त्ति कट्टु णो बहुदेसिएण सिणाणेण वा तहेव सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा आलावओ।

५७२. 'मेरा वस्त्र नया नहीं है', ऐसा सोच कर साधु या साध्वी उसे [पुराने वस्त्र को] थोड़े या बहुत सुगन्धित द्रव्य से यावत् पद्मराग से आघर्षित-प्रघर्षित न करे।

५७३. 'मेरा वस्त्र नूतन नहीं है' इस अभिप्राय से साधु या साध्वी उस मलिन वस्त्र को बहुत बार थोड़े-बहुत शीतल या उष्ण प्रासुक जल से एक बार या बार-बार प्रक्षालन न करे।

५७४. 'मेरा वस्त्र दुर्गन्धित है', यों सोचकर उसे [विभूषा की दृष्टि से] बहुत बार थोड़े-बहुत सुगन्धित द्रव्य आदि से आघर्षित-प्रघर्षित न करे, न ही शीतल या उष्ण प्रासुक जल से उसे एक बार या बार बार धोए। यह आलापक भी पूर्ववत् है।

विवेचन—वस्त्र को सुन्दर बनाने का प्रयत्न : निषिद्ध—प्रस्तुत तीन सूत्रों में सुन्दर एवं

---

१. [क] आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९६।
   [ख] आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २०७ में—
   अणलं=अपज्जत्तगं, अथिरं=दुब्बलगं, अधुवं=पाडिहारियं, अधारणिज्जं=अलक्खणं, एतं चेव न रुच्चति।"
   [ग] निशीथ भाष्य गा० ४६२६ में देखें—
   'अणलं अपज्जत्तं खलु, अथिरं अदढं तु होति णायव्वं।
   अधुवं तु पाडिहारियमलक्खणमधारणिज्जं तु॥
२. यहाँ 'जाव' शब्द से 'सिणाणेण वा' से 'पघंसेज्ज वा' तक का पाठ सू० ४२१ के अनुसार समझें।
३. यहाँ 'जाव' शब्द से 'उसिणोदगवियडेण वा' से 'पधोएज्ज वा' तक का पाठ सू० ४२१ के अनुसार समझें।

शोभनीय दिखाने की दृष्टि से वस्त्र को सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित करने तथा शीतल या उष्ण जल से धोकर उज्ज्वल बनाने का निषेध है। ऐसा करने से फैशन, साजसज्जा, विलास और सौकुमार्य आदि का साधु-जीवन में प्रवेश हो जाने की संभावना है, विभूषावृत्ति से साधु के चिकने कर्म बंधते हैं।[1]

'बहुदेसिएण' या 'बहुदेवसितेण' की व्याख्या—वृत्तिकार ने इसका संस्कृत में 'बहुदेश्येन' रूपान्तर करके अर्थ किया है—बहुद्देश्येन = ईषद्बहुना—अर्थात्—थोड़े-बहुत रूप में या बहुत बार थोड़ा-थोड़ा।

चूर्णिकार इसका 'बहुदिवसितं' रूपान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—"बहुदिवसपिंडितं बहुदिवसितं, बहुदिवसितं, बहुगं वा बहुदिवसितं, लोद्धादिणा सीतोदएण वा"–अर्थात् लगातार बहुत दिनों तक का नाम बहुदिवसित है। अथवा 'बहुदिवसितं' का अर्थ है—बहुत बार दिनों तक।

निशीथचूर्णि में दोनों ही पाठों को मानकर व्याख्या की है—"देसोनामं पसती। एक्का पसती दो वा तिण्णि वा पसतीतो देसो भण्णति, तिण्हं परेण बहुदेसो भण्णति। अणाहारादि-कक्केण वा संवासितेण, एत्थ एगारातिसंवासितं पि बहुदेवसियं भन्नति।"

अर्थात्—देश का अर्थ है—'प्रसृति'—अंश, किनारी। एक दो या तीन किनारी तक देश कहलाता है। तीन से उपरान्त बहुदेश कहलाता है। कल्क आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित करके एक रात्रि तक रखना भी यहाँ बहुदेवसिक कहलाता है।[2]

वस्त्र-सुखाने का विधि-निषेध

५७५. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, तहप्पगारं वत्थं णो अणंतरहिताए पुढवीए णो ससणिद्धाए जाव[3] संताणए[4] आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

५७६. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, तहप्पगारं वत्थं थूणंसि[5] वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अण्णयरे वा तहप्पगारे अंत-लिक्खजाते दुब्बद्धे दुण्णिक्खित्ते अणिकंपे चलाचले णो आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९६ के आधार पर
(ख) "विभूसावत्तियं भिक्खु कम्मं बंधई चिक्कणं।" संसारसायरे घोरे जेण पडइ दुरुत्तरे॥
—दशवैकालिक सूत्र अ. ५ गा. ६६

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९६ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २०८
(ग) निशीथचूर्णि उद्देशक १४, पृ० ४६५

३. यहाँ 'जाव' शब्द से 'ससणिद्धाए' से 'संताणए' तक का पाठ सू० ३५३ के अनुसार समझें।

४. 'संताणए' के बदले पाठान्तर हैं—ससंताणाय ससंताणाए।

५. निशीथभाष्य गाथा ४२६८ में देखिए 'थूणा' आदि पदों के अर्थ—
"थूणा उ होति वियली, गिहेलुओ उंबरो उ णायव्वो।
उद्दुखलं उसुयालं, सिणाणपीढं तु कामजलं॥"

५७७. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, तहप्पगारं वत्थं कुलियंसि[1] वा भित्तिसि वा सिलंसि वा लेलुंसी वा अण्णतरे वा तहप्पगारे अंतलिक्खजाते जाव णो आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

५७८. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा वत्थं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा, तहप्पगारं वत्थं खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णतरे वा तहप्पगारे अंतलिक्खजाते[2] जाव णो आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

५७९. से त्तमादाए एगंतमवक्कमेज्जा, २ [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा[3] जाव अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव वत्थं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

५७५. संयमशील साधु या साध्वी वस्त्र को धूप में कम या अधिक सुखाना चाहे तो वह वैसे वस्त्र को सचित्त पृथ्वी पर, स्निग्ध पृथ्वी पर, तथा ऊपर से सचित्त मिट्टी गिरती हो, ऐसी पृथ्वी पर सचित्त शिला पर सचित्त मिट्टी के ढेले पर, जिस में घुन या दीमक का निवास हो ऐसी जीवाधिष्ठित लकड़ी पर, प्राणी, अंडे, बीज, मकड़ी के जाले आदि जीव-जन्तु हों, ऐसे स्थान में थोड़ा अथवा अधिक न सुखाए।

५७६. संयमशील साधु या साध्वी वस्त्र को धूप में कम या अधिक सुखाना चाहे तो वह उसप्रकार के वस्त्र को ठूंठ पर, दरवाजे की देहली पर, ऊखल पर स्नान करने की चौकी पर, इस प्रकार के और भी अन्तरिक्ष—भूमि से ऊंचे स्थान पर जो भलीभाँति बंधा हुआ नहीं है, ठीक तरह से भूमि पर गाड़ा हुआ या रखा हुआ नहीं है, निश्चल नहीं है, हवा से इधर-उधर चलविचल हो रहा है, (वहां, वस्त्र को) आताप या प्रताप न दे (न सुखाए)।

५७७. साधु या साध्वी यदि वस्त्र को धूप में थोड़ा या बहुत सुखाना चाहते हों तो घर की दीवार पर, नदी के तट पर, शिला पर, रोड़े-पत्थर पर, या अन्य किसी उसप्रकार के

---

१. (क) 'कुलियं' आदि पदों का अर्थ चूर्णिकार के अनुसार—'कुलियं-कुडो दिग्घो लिसो घरे जि दिग्घातो कुड्डा। जे अंतिमपच्छिमा ताओ भित्तीओ। सिला-सिला एव। लेलू-लेट्ठुओ।' अर्थात्—कुलियं का अर्थ लम्बी पतली-सी दीवार, घर में जो लम्बी दीवार होती है, वह कुलिक या कुड्या कहलाती है। जो अन्तिम या पीछे की दीवारें होती है, वे भित्तियां या भीतें कहलाती है। सिला=शिला, चट्टान। लेलू=पत्थर के टुकड़े, रोड़े।
(ख) निशीथ चूर्णि (उ०१३ पृ० ३७९ मे एवं भाष्य गा० ४२७३) में बताया है—कुलियं कुड्डं तं जतो णेव्वमवतरति। इयरा सह करभएण भित्ती, नईणं वा तडी भित्ती।'—कुलियं कहते हैं, ऐसी कुड्या (दीवार) को, जिससे उतरा न जा सके। दूसरी भित्ति होती है, जो कर के भय (कर-भीति) से बनाई जाती है, इसलिए उसे भित्ती कहते है, अथवा नदी का तट भी भित्ती कहलाता है।

२. 'जाव' शब्द से यहाँ 'अंतलिक्खजाते' से 'णो आतावेज्ज' तक का पाठ सू० ५७६ के अनुसार है।

३. यहाँ 'जाव' शब्द से 'झामथंडिल्लंसि वा' से 'अण्णतरंसि' तक का पाठ सू० ३२४ के अनुसार समझें।

अन्तरिक्ष (उच्च) स्थान पर जो कि भलीभाँति बंधा हुआ, या जमीन पर गड़ा हुआ नहीं है, चंचल आदि है, यावत् थोड़ा या अधिक न सुखाए।

५७८. यदि साधु या साध्वी वस्त्र को धूप में थोड़ा या अधिक सुखाना चाहते हों तो उस वस्त्र को स्तम्भ पर, मंच पर, ऊपर की मंजिल पर, महल पर भवन के भूमिगृह में, अथवा इसीप्रकार के अन्य अन्तरिक्षजात—ऊँचे स्थानों पर जो कि दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, कंपित, एवं चलाचल हो, (वहाँ, वस्त्र) थोड़ा या बहुत न सुखाएं।[1]

५७९. साधु उस वस्त्र को लेकर एकान्त में जाए; वहां जाकर (देखे कि) जो भूमि अग्नि से दग्ध हो, यावत् वहाँ अन्य कोई उस प्रकार की निरवद्य अचित्त भूमि हो, उस निर्दोष स्थंडिलभूमि का भलीभाँति प्रतिलेखन एवं रजोहरणादि से प्रमार्जन करके तत्पश्चात यतनापूर्वक उस वस्त्र को थोड़ा या अधिक धूप में सुखाए।

विवेचन—पिछले चार सूत्रों में ऐसे स्थानों या आधारों पर वस्त्र को सुखाने का निषेध किया है—(१) जो सचित्त हो, (२) सचित्त जीव से अधिष्ठित हो, (३) सचित्त पर रखी हुई हो, (४) ठूंठ, ऊखल, स्नानपीठ या देहली आदि जो चल-विचल हो, उस पर, (५) दीवार, नदी तट, शिला, पत्थर आदि पर, (६) खंभे, मचान, छत, महल आदि किसी ऊँचे स्थान पर जोकि चंचल हो, उस पर या तहखाने में। इन पर वस्त्र न सुखाने का जो निर्देश है, वह हिंसा एवं आत्म-विराधना की दृष्टि से तथा कपड़े उड़कर कहीं अन्यत्र चले जाने या अयतनापूर्वक गिर जाने, हवा में फरफट करने से अयतना होने की दृष्टि से है, यही कारण है कि अन्त में, सूत्र ५७९ में अचित, निर्दोष, स्थण्डिलभूमि पर प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके यतनापूर्वक सुखाने का विधान भी किया गया है।[2]

गिहेलुगंसि आदि पदों के अर्थ—गिहेलुगं = घर के द्वार की देहली, उंबरा। उसुयालं = ऊखल। कामजलं = स्नानपीठ।[3]

५८०. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहितेहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

५८०. यही (वस्त्रों के ग्रहण-धारण-परिरक्षण-सम्बन्धी एषणाविवेक ही, उस साधु या साध्वी का सम्पूर्ण आचार है, जिसमें) सभी अर्थों एवं ज्ञानादि आचार से सहित होकर वह सदा प्रयत्नशील रहे।—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ "वत्थेसणाए" पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

---

१. बौद्ध श्रमण पहले जमीन पर चीवर सुखा देते थे, उनमें धूल लग जाती, अतः बाद में तथागत ने तृण संथरी की, तृणसंथरी को कीड़े खा जाते थे इसलिए पश्चात् बाँस पर रस्सी बाँधकर सुखाने की अनुमति दी। —विनयपिटक पृ० २७८

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९६

३. (क) निशीथभाष्य गा० ४२६८, (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २०८।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

वस्त्र-धारण की सहज विधि

५८१. से भिक्खू वा २ अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे गामंतरेसु, ओमचेलिए। एतं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

५८१. साधु या साध्वी वस्त्रैषणा समिति के अनुसार एषणीय वस्त्रों की याचना करे, और जैसे भी वस्त्र मिले और लिए हों, वैसे ही वस्त्रों को धारण करे, परन्तु (विभूषा के लिए) न उन्हें धोए, न रंगे, और न ही धोए हुए तथा रंगे हुए वस्त्रों को पहने। उन (बिना उजले धोए या रंगे) साधारण-से वस्त्रों को न छिपाते हुए ग्राम-ग्रामान्तर में समतापूर्वक विचरण करे। यही वस्त्रधारी साधु का समग्र आचार सर्वस्व है।

विवेचन—वस्त्र-धारण का सहज-विधान—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्र-धारण के सम्बन्ध में शास्त्रकार ने ५ बातों की ओर साधु-साध्वी का ध्यान खींचा है—

(१) सादे एवं साधारण अल्पमूल्यवाले एषणीय वस्त्र की याचना करे,

(२) जैसे भी सादे एवं साधारण-से वस्त्र मिले या ग्रहण करे, वैसे ही स्वाभाविक वस्त्रों को सहजभाव से वह पहने-ओढ़े।

(३) उन्हें रंग-धोकर या उज्ज्वल एवं चमकीले-भड़कीले बनाकर न पहने।[1]

(४) ग्राम-नगर आदि में विचरण करते समय भी उन्हीं साधारण-से वस्त्रों में रहे।

(५) उन्हें छिपाए नहीं।

'अपलिउंचमाणे' आदि पदों के अर्थ—अपलिउंचमाणे = नहीं छिपाते हुए। ओमचेलिए = स्वल्प तथा तुच्छ (साधारण) वस्त्रधारी।

णो धोएज्जा णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा—यह निषेधसूत्र साज-सज्जा, विभूषा, शृंगार तथा छैल-छबीला बनने की दृष्टि से है। प्रदर्शन या अच्छा दिखने की दृष्टि से वस्त्रों को विशेष उज्ज्वल करना निषिद्ध है, श्वेत वस्त्रधारी के लिए वस्त्र रंगना भी निषिद्ध है, किन्तु कई वस्त्र का रंग स्वाभाविक मटमैला या हलका-पीला-सा होता है, उन्हे धारण करने में कोई दोष नहीं है। वृत्तिकार शीलाचार्य का मत है[2]—यह सूत्र जिनकल्पिक के उद्देश्य से उल्लिखित समझना चाहिए, वस्त्रधारी विशेषण होने से स्थविरकल्पी के भी अनुरूप है।

---

१. बौद्ध श्रमण पहले गोबर व पीली मिट्टी से वस्त्र रंगते थे। वे दुर्वर्ण हो जाते, तब बुद्ध ने छाल का रंग, पत्ते का रंग व पुष्प-रंग से वस्त्र रँगने की अनुमति दी। —विनयपिटक पृ० २७७-७८

२. 'एतच्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशेन, द्रष्टव्यं, वस्त्रधारित्वविशेषणाद् गच्छान्तर्गतेऽपि चाविरुद्धम्। —आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९७

समस्त वस्त्रों सहित विहारादि-विधि-निषेध

५८२. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसिउकामे सव्वं चीवरमायाए गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए निक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा, एवं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा गामाणुगामं वा दूइज्जेज्जा।

अह पुणेवं जाणेज्जा तिव्वदेसियं[1] वा वासं वासमाणं पेहाए, जहा पिंडेसणाए[2], णवरं सव्वं चीवरमायाए।

५८२. वह साधु या साध्वी, यदि गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिए जाना चाहे तो समस्त कपड़े (चीवर) साथ में लेकर उपाश्रय से निकले[3] और गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए प्रवेश करे। इसीप्रकार बस्ती से बाहर स्वाध्यायभूमि या शौचार्थ स्थंडिलभूमि में जाते समय एवं ग्रामानुग्राम विहार करते समय सभी वस्त्रों को साथ लेकर विचरण करे।

यदि वह यह जाने कि दूर-दूर तक तीव्र वर्षा होती दिखाई दे रही है यावत् तिरछे उड़ने वाले त्रसप्राणी एकत्रित होकर गिर रहे हैं, तो यह सब देखकर साधु वैसा ही आचरण करे, जैसा कि पिण्डैषणा-अध्ययन में बताया गया है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ समस्त उपधि साथ में लेकर जाने का विधि-निषेध है, जबकि यहाँ केवल सभी वस्त्रों को लेकर जाने का विधि-निषेध है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र द्वय में से प्रथम सूत्र में भिक्षा, स्वाध्याय, शौच एवं ग्रामानुग्राम विहार के लिए जाते-आते समय सभी वस्त्र साथ में लेकर जाने का विधान है, जबकि द्वितीय सूत्र में अत्यन्त वर्षा हो रही हो, कोहरा तेजी से पड़ रहा हो, आंधी या तूफान के कारण तेज

---

१. 'तिव्वदेसियं' से सम्बन्धित अपवाद के सम्बन्ध में चूर्णिकार का मत—'तिव्वदेसितगादिसु ण कप्पति' तीव्र वर्षा, आँधी, कोहरा, तूफान आदि में साधु को सब कपड़े लेकर विहारादि करना तो दूर रहा, स्थान से बाहर निकलना भी नहीं कल्पता।

२. संपूर्ण वस्त्र साथ में लेकर जाने के संदर्भ में तत्कालीन बौद्ध साहित्य का एक उल्लेख पठनीय है। एक भिक्षु अँधवन में चीवर छोड़कर गाँव में भिक्षा के लिये गया। चोर पीछे से चीवर को चुराकर ले गया। भिक्षु मैले चीवर वाला हो गया। तब तथागत के समक्ष यह प्रसंग आया तो तथागत ने कहा—एक ही बचे चीवर से गाँव में नहीं जाना चाहिए।

आगे इसी प्रसंग में ५ कारणों से चीवर-छोड़कर गाँव में जाने का विधान है—,१. रोगी होता है, २. वर्षा का लक्षण मालूम होता है, ३. या नदी पार गया होता है, ४. किवाड़ से रक्षित विहार होता है, ५. या कठिन आस्थित हो गया होता है।

—विनयपिटक (महावग्ग ८।६।१-पृ०२८७-८८)

३. 'जहा पिंडेसणाए' का तात्पर्य है—जैसे पिंडैषणाऽध्ययन सूत्र ३४५ में वर्णन है, वह सब पाठ यहाँ से आगे समझ लेना चाहिए।

हवा चल रही हो, तिरछे उड़नेवाले त्रस प्राणी गिर रहे हों तो उस समय वस्त्र साथ में लेकर जाने का ही नहीं, उपाश्रय से बाहर निकलने या भिक्षा आदि स्थलों में प्रवेश करने का भी निषेध है। यह विधान और निषेध परस्पर विरुद्ध नहीं, अपितु प्राणि-विराधना एवं आत्म-विराधना होने की सम्भावना से निषेध है और अपहरण किये जाने, द्वेषवश फेंक दिये जाने या शस्त्रादि रखकर दोषारोप लगाने या भक्तिवश गृहस्थ द्वारा धोकर, रंगकर या सुवासित करके देने की आशंका से विधान है। अधिक उपधि का निषेध करना भी इस विधान का आशय हो सकता है।

प्रातिहारिक वस्त्र-ग्रहण-प्रत्यर्पण-विधि

५८३. से एगतिओ मुहुत्तगं २ पाडिहारियं[1] वत्थं जाएज्जा जाव एगाहेण वा दुयाहेण[2] वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छेज्जा, तहप्पगारं वत्थं णो अप्पणा गेण्हेज्जा,[3] नो अन्नमन्नस्स देज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, णो वत्थेण वत्थं परिणामं करेज्जा, णो परं उवसंकमित्ता एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा णं संतं णो पलिछिंदिय २ परिट्ठवेज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं तस्स चेव निसिरेज्जा, नो णं सातिज्जेज्जा।

से एगतिओ[4] एयप्पगारं निग्घोसं सोच्चा निसम्म 'जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि[5] मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तहप्पगाराणि वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति, नो अन्नमन्नस्स दलयंति, तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण[6] भाणियव्वं। से हंता अहमवि मुहुत्तं पाडिहारियं वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा दुयाहेण वा तियाहेण वा चउयाहेण वा पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एतं ममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा।

५८३. कोई साधु मुहूर्त आदि नियतकाल के लिए किसी दूसरे साधु से प्रातिहारिक

---

१. 'पाडिहारियं वत्थं' के बदले कहीं-कहीं पाठान्तर हैं—'पाडिहारियं बीयं वत्थं'……अर्थात्—प्रातिहारिक दूसरा वस्त्र माँगे।
२. 'दुयाहेण' के बदले पाठान्तर है—दुवाहेन। अर्थ समान है।
३. 'णो अप्पणा गेण्हेज्जा' के बाद अतिरिक्त पाठ है—'नो परं गिण्हाविज्जा।' अर्थात् दूसरे को लेने न दे।
४. 'से एगतिओ' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।
५. 'ससंधियाणि' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।
६. 'बहुवयणेण भाणियव्वं' के बदले पाठान्तर हैं—'बहुवयणेण भासियव्वं', 'बहुमाणेण भासियव्वं' इनका क्रमशः अर्थ है—बहुवचन से आलापक कहना चाहिए॥ बहुमानपूर्वक बोलना चाहिए।

वस्त्र की याचना करता है और फिर किसी दूसरे ग्राम आदि में एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन अथवा पाँच दिन तक निवास करके वापस आता है। इस बीच वह वस्त्र उपहत (खराब या विनष्ट) हो जाता है। (तो,) लौटाने पर वस्त्र का (असली) स्वामी उसे वापिस लेना स्वीकार नहीं करे लेकर दूसरे साधु को नहीं देवे; किसी को उधार भी नहीं देवे, उस वस्त्र के बदले दूसरा वस्त्र भी नहीं लेवे, दूसरे के पास जाकर ऐसा भी नहीं कहें कि—आयुष्मन् श्रमण ! आप इस वस्त्र को धारण करना चाहते हैं, इसका उपभोग करना चाहते हैं? उस दृढ़ वस्त्र के टुकड़े-टुकड़े करके परिष्ठापन भी नहीं करें—फेंके भी नहीं। किंतु उस उपहत वस्त्र को वस्त्र का स्वामी उसी उपहत करने वाले साधु को दे; परन्तु स्वयं उसका उपभोग नहीं करें।[1]

वह एकाकी (ग्रामान्तर जाने वाला) साधु इस प्रकार की (उपर्युक्त) बात सुनकर उस पर मन में यह विचार करे कि ये सबका कल्याण चाहने वाले एवं भय का अन्त करने वाले ये पूज्य श्रमण उस प्रकार के उपहत (दूषित) वस्त्रों को उन साधुओं से, जो कि इनसे मुहूर्त भर आदि काल का उद्देश्य करके प्रातिहारिक ले जाते हैं और एक दिन से लेकर पाँच दिन तक किसी ग्राम आदि में निवास करके आते हैं, (तब वे उस वस्त्र को) न स्वयं (वापस) ग्रहण करते है, न परस्पर एक दूसरे को देते हैं, यावत् न वे स्वयं उन वस्त्रों का उपयोग करते हैं। अर्थात् वे वस्त्र उसी/उन्हीं को दे देते हैं। इसप्रकार बहुवचन का आलापक कहना चाहिए।[2] अतः मैं भी मुहूर्त आदि का उद्देश (नाम ले)करके इनसे प्रातिहारिक वस्त्र माँगकर एक दिन से लेकर पाँच दिन तक ग्रामान्तर में ठहरकर वापस लौट आऊं, (इन्हें वह उपहत वस्त्र वापस देने लगूंगा तो ये लेंगे नहीं, ये मुझे ही दे देंगे) जिससे यह वस्त्र (फिर) मेरा ही हो जाएगा। ऐसा विचार करने वाला साधु मायास्थान का स्पर्श करता है, अतः ऐसा विचार न करे।

विवेचन—प्रातिहारिक वस्त्र का ग्रहण, और प्रत्यर्पण—एक साधु दूसरे साधु से निर्धारित समय के बाद वापस लौटा देने की दृष्टि से वस्त्र (प्रातिहारिक) लेता है, किन्तु अकस्मात् आचार्य आदि के द्वारा उसे कहीं दूसरे गाँव भेजे जाने पर वह एकाकी जाता है। वहाँ चार-पाँच दिन अकेला रह जाता है, ऐसी स्थिति में उस वस्त्र पर सोने या ओढ़ने आदि से वह वस्त्र खराब हो जाता है। वह वापस आकर उस वस्त्र को जब वस्त्रस्वामी साधु को देने लगे तो वह (वस्त्रस्वामी) उसे न तो स्वयं ग्रहण करे, न दूसरे को दे, न उधार दे, न ही अदल-बदल करे न ही उस मजबूत वस्त्र के टुकड़े कर डाले, किंतु उस उपहत वस्त्र को उसी साधु को दे

---

१. वृत्तिकार का स्पष्टीकरण—"तथाप्रकारं वस्त्रं 'ससंधियं' ति उपहतं स्वनो वस्त्रस्वामी न परिभुञ्जीत अपितु तस्यैवोपहन्तुः समर्पयेत्। अन्यस्मै वैकाकिनो गंतुः समर्पयेद्। —पत्र ३९७

२. सूत्र के प्रथमार्ध में जो बात एक साधु के लिए कही है, वही बात यहाँ बहुवचन में बहुत साधुओं के लिए कह लेनी चाहिए।

दे। यह सब देख कर अन्य कोई साधु यदि जान-बूझकर (वस्त्र को हड़पने की नीयत से) वस्त्र की याचना करके दूसरे गाँव जाकर उस वस्त्र को ख़राब करता है और सोचता है कि इस तरकीब से वस्त्र मुझे मिल जाएगा तो ऐसा करनेवाला साधु मायाचार का सेवन करता है। साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए। यही प्रस्तुत सूत्रद्वय का आशय है।[1]

वस्त्र के लोभ तथा अपहरण-भय से मुक्ति

५८४. से भिक्खू वा २ णो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करेज्जा, विवण्णाइं वण्णमंताइं ण करेज्जा, अण्णं वा वत्थं लभिस्सामि त्ति कट्टु नो अण्णमण्णस्स देज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं करेज्जा, नो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि[2] वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा? थिरं वा णं संतं णो पलिछिंदिय २ परिट्ठवेज्जा, जहा[3] मेयं वत्थं पावगं परो मण्णइ, परं च णं अदत्तहारी[4] पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स णिदाणाय णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा जाव अप्पुस्सुए[5] जाव ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५८५. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से ज्जं पुण विहं जाणेज्जा—इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपडिया[6] [ऽऽ] गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छेज्जा जाव[7] गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

५८६. से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा संपडिया [ऽऽ] गच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा आउसंतो समणा! आहरेतं वत्थं, देहि, णिक्खिवाहि, जहा रियाए,[8] णाणत्तं वत्थपडियाए।

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २१०
   (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९७
२. यहाँ 'अभिकंखसि वत्थं ....' के बदले 'अभिकंखसि मे वत्थं' तथा 'समभिकंखसि वत्थं.......' पाठान्तर है। अर्थ प्रायः समान है।
३. 'जहा मेयं वत्थं' के बदले 'जहा वेयं वत्थं' पाठान्तर है।
४. चूर्णिकार के मतानुसार अदत्तहारी के आलापक ईर्याऽध्ययन की तरह हैं—(अदत्तहारी आलावगा जहा रियाए) यहीं वस्त्रैषणाऽध्ययन समाप्त हो जाता है—(इति वस्त्रैषणा परिसमाप्ता)।
५. अप्पुस्सुए के आगे 'जाव' शब्द 'अप्पुस्सुए' से 'ततो संजयामेव' तक के पाठ का सूचक है, सू० ४८२ के अनुसार।
६. 'संपडियाऽऽगच्छेज्जा' के बदले पाठान्तर हैं—संपिडि आगच्छेज्जा, संपिडियागच्छेज्जा। अर्थ एक-समान है।
७. यहाँ 'जाव' शब्द से 'गच्छेज्जा' से 'गामाणुगामं' तक का समग्र पाठ सू० ५१५ के अनुसार समझें।
८. 'जहारियाए' शब्द 'णिक्खिवाहि' के आगे समग्र पाठ का सूचक है, ईर्याध्ययन के सू० ५१७ के अनुसार समझें।

५८४. साधु या साध्वी सुन्दर वर्ण वाले वस्त्रों को विवर्ण (असुन्दर) न करे, तथा विवर्ण (असुन्दर) वस्त्रों को सुन्दर वर्ण वाले न करे। 'मैं दूसरा नया (सुन्दर) वस्त्र प्राप्त कर लूंगा,' इस अभिप्राय से अपना पुराना वस्त्र किसी दूसरे साधु को न दे और न किसी से उधार वस्त्र ले, और न ही वस्त्र की परस्पर अदलाबदली करे। दूसरे साधु के पास जाकर ऐसा न कहे— "आयुष्मन् श्रमण ! क्या तुम मेरे वस्त्र को धारण करना या पहनना चाहते हो ? इसके अतिरिक्त उस सुदृढ़ वस्त्र को टुकड़े-टुकड़े करके फेंके भी नहीं, साधु उसीप्रकार का वस्त्र धारण करे, जिसे गृहस्थ या अन्य व्यक्ति अमनोज्ञ (असुन्दर) समझे।

(वह साधु) मार्ग में सामने से आते हुए चोरों को देखकर उस वस्त्र की रक्षा के लिए चोरों से भयभीत होकर साधु उन्मार्ग से न जाए अपितु जीवन-मरण के प्रति हर्ष-शोक-रहित, बाह्य लेश्या से मुक्त, एकत्वभाव में लीन होकर देह और वस्त्रादि का व्युत्सर्ग करके समाधिभाव में स्थिर रहे। इस प्रकार संयमपूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५८५. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी के मार्ग के बीच में अटवीवाला लम्बा मार्ग हो, और वह जाने कि इस अटवीबहुल मार्ग में बहुत-से चोर वस्त्र छीनने के लिए इकट्ठे होकर आते हैं, तो साधु उनसे भयभीत होकर उन्मार्ग से न जाए, किन्तु देह और वस्त्रादि के प्रति अनासक्त यावत् समाधिभाव में स्थिर होकर संयमपूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करे।

५८६. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए साधु या साध्वी के मार्ग में चोर इकट्ठे होकर वस्त्रहरण करने के लिए आ जाएं और कहें कि आयुष्मन् श्रमण ! यह वस्त्र लाओ, हमारे हाथ में दे दो, या हमारे सामने रख दो, तो जैसे ईर्याऽध्ययन में वर्णन किया है, उसी प्रकार करे। इतना विशेष है कि यहाँ वस्त्र का अधिकार है।

विवेचन—नये वस्त्र के लोभ और वस्त्रहरण के भय से मुक्त हो—प्रस्तुत तीन सूत्रों में से प्रथम सूत्र में साधु को नये वस्त्र पाने के लोभ में पुराने वस्त्र को मलिन, विकृत एवं फाड़कर फेंकने, उधार दे देने, विनिमय करने या दूसरे साधु को दे देने का निषेध किया है, इसके उत्तरार्द्ध में तथा आगे के दो सूत्रों में चोरों से डरकर विहारमार्ग बदलने, चोरों द्वारा वस्त्र लूटे जाने पर उनसे दीनतापूर्वक पुनः लेने की याचना करने का निषेध है, उस समय देहादि के प्रति अनासक्ति और समाधिभाव में स्थिरता रखने का भी निर्देश किया है। सभी स्थितियों में वस्त्र का उपयोग ममत्व, राग-द्वेष, लोभ और मोह से रहित होकर करने का शास्त्रकार का स्पष्ट आदेश है।[1]

वण्णमंताइं विवण्णाइं करेज्जा—का तात्पर्य है–जो वस्त्र अच्छा है, अधिक पुराना नहीं है, उसे भद्दा बना देता है।[2]

---

१. आचारांग वृत्ति पृ० ३९८ के आधार पर
२. आचारांग वृत्ति पृ० ३९८

'पावगं' का अर्थ चूर्णिकार के अनुसार है—पापक, जिसे लोग आँखों से देखना पसन्द नहीं करते, देखने में असुन्दर हों।[1]

बृहत्कल्प सूत्र (१/४५) तथा भाष्य में हृताहृतप्रकरण के अन्तर्गत साधुओं के वस्त्र चोरों आदि द्वारा छीने जाने के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवेचन है।

५८७. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहिएहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

२६४. यही (वस्त्रैषणा-विशेषतः वस्त्रपरिभोगैपणा-विवेक ही) वस्तुतः साधु-साध्वी का सम्पूर्ण ज्ञानादि आचार है। जिसमें सभी अर्थों में ज्ञानादि से सहित होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ 'वस्त्रैषणा' पंचममध्ययनं समाप्तं ॥

□

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २१२ में—'पावगं णाम अचोक्खं भण्णति।'

पात्रैषणा : षष्ठ अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांगसूत्र (द्वि० श्रु०) के छठे अध्ययन का नाम पात्रैषणा है।
- जब तक साधक अभिग्रहपूर्वक दृढ़मनोबल के साथ "कर-पात्र" की भूमिका पर नहीं पहुंच जाता, तब तक निर्ग्रन्थ साधु के लिए निर्दोष आहार-पानी ग्रहण एवं सेवन करने के लिए पात्र की आवश्यकता रहती है। किन्तु साधु किस प्रकार के, कैसे, कितने-कितने मूल्य के पात्र रखे ? जिससे उसकी उन पर ममता-मूर्च्छा न जागे। नही पात्र-ग्रहण में उद्गमादि एषणादोष लगे, और न ही पात्रों का उपयोग करने में रागादि से युक्त अंगार, धूम आदि दोष लगें; इन सब दृष्टियों से पात्रैषणा अध्ययन का प्रतिपादन किया गया है।[1]
- 'पात्र' शब्द के दो भेद हैं—द्रव्यपात्र और भावपात्र। भावपात्र तो साधु आदि हैं। उनकी आत्मरक्षा या उनकी संयम-परिपालना के लिए द्रव्यपात्र का विधान है।
- द्रव्यपात्र हैं—एकेन्द्रियादि शरीर से काष्ट आदि से निष्पन्न पात्र। इस अध्ययन में द्रव्य-पात्र का वर्णन ही अभीष्ट है।[2]
- इस अध्ययन में पात्र की गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन-तीनों पात्रैषणाओं की दृष्टि से वर्णन है इसलिए इसका सार्थक नाम—'पात्रैषणा' रखा गया है।
- इस अध्ययन के दो उद्देशक हैं-प्रथम उद्देशक में पात्रग्रहणविधि का निरूपण है, जबकि द्वितीय उद्देशक में मुख्यतया पात्र धारणविधि का प्रतिपादन हैं।
- इस अध्ययन में पात्रैषणा सम्बन्धी वर्णन प्रायः 'वस्त्रैषणा'—अध्ययन के क्रमानुसार किया गया है।
- यह अध्ययन सूत्र ५८८ से प्रारंभ होकर ६०६ पर समाप्त होता है।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९९ के आधार पर
२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३१५ (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९९।

छट्ठं अज्झयणं 'पाएसणा'

[पढमो उद्देसओ]

पात्रैषणा : षष्ठ अध्ययन : प्रथम उद्देशक

पात्र के प्रकार एवं मर्यादा

५८८. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा पायं एसित्तए, से ज्जं पुण पायं जाणेज्जा, तंजहा–लाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे णिग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धारेज्जा, णो बितियं।

५८८. संयमशील साधु या साध्वी यदि पात्र ग्रहण करना चाहे तो वह जिन पात्रों को जाने (स्वीकार करे) वे इस प्रकार हैं—तुम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र और मिट्टी का पात्र। इन तीनों प्रकार के पात्रों को साधु ग्रहण कर सकता है।[1] जो निर्ग्रन्थ

---

१. निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए जहाँ भगवान महावीर ने लकड़ी के, तुम्बे के और मिट्टी के पात्र रखने का विधान किया है, वहाँ शाक्य-श्रमणों के लिए तथागतबुद्ध ने लकड़ी के पात्र का निषेध कर, लोहे का और मिट्टी का पात्र रखने का विधान किया है।

विनयपिटक की घटना से ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु पहले मिट्टी का पात्र भी रखते थे, किन्तु एक घटना के पश्चात् बुद्ध ने लकड़ी के पात्र का निषेध कर दिया; वह घटना संक्षेप में इस प्रकार है—

एक बार राजगृह के किसी श्रेष्ठी ने चंदन का एक सुन्दर, मूल्यवान् पात्र बनवाकर बांस के सिरे पर ऊँचा टांग कर यह घोषणा करवा दी कि—"जो श्रमण, ब्राह्मण अर्हत् ऋद्धिमान हो, वह इस पात्र को उतार ले।"

उस समय मौद्गल्यायन और पिंडोल भारद्वाज पात्र-चीवर लेकर राजगृह में भिक्षार्थ आये। पिंडोल भारद्वाज ने आकाश में उड़कर वह पात्र उतार लिया, और राजगृह के तीन चक्कर किये। इस प्रकार चमत्कार से प्रभावित बहुत-से लोग हल्ला करते हुए तथागत के पास पहुँचे। तथागत बुद्ध ने पूरी घटना सुनी तो उन्हें बहुत खेद हुआ। भारद्वाज को बुलाकर भिक्षु-संघ के सामने फटकारते हुए कहा—'भारद्वाज! यह अनुचित है, श्रमण के अयोग्य है। एक तुच्छ लकड़ी के बर्तन के लिए कैसे तू गृहस्थों को अपना ऋद्धि, प्रातिहार्य दिखायेगा? फिर बुद्ध ने भिक्षुसंघ को आज्ञा दी, उस पात्र को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर भिक्षुओं को अंजन पीसने के लिये दे दो।

इसी संदर्भ में भिक्षुसंघ को सम्बोधित करते हुए कहा—भिक्षु को सुवर्णमय, रोप्य, मणि, कांस्य, स्फटिक, कांच, तांबा, सीसा आदि का पात्र नहीं रखना चाहिए। भिक्षुओ! लोहे के और मिट्टी के दो पात्रों की अनुज्ञा देता हूँ।

— विनयपिटक, चुल्लवग्ग खुद्दक वत्थुखंध (५/१/१० पृ० ४२२-२३)

इसीप्रकरण में एक जगह लकड़ी के पात्र का निषेध करके लकड़ी के भांडों की अनुमति दी है।

—पृष्ठ ४४६

तरुण वलिष्ठ स्वस्थ और स्थिरसंहननवाला है, वह इस प्रकार का एक ही पात्र रखे, दूसरा नहीं।

५८६. से भिक्खू वा २ परं अद्धजोयणमेराए पायपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

५८६. वह साधु, साध्वी अर्द्ध योजन के उपरान्त पात्र लेने के लिए जाने का मन में विचार न करे।

विवेचन—इन दोनों सूत्रों में साधु के लिए ग्राह्य पात्र के कितने प्रकार हैं, किस साधु को कितने पात्र रखने चाहिए? एवं पात्र के लिए कितनी दूर तक जा सकता है? ये सब विधि-निषेध वता दिये है वृत्तिकार एक पात्र रखने के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हैं कि "जो साधु तरुण बलिष्ठ तथा स्थिर संहनन वाला हो, वह एक ही पात्र रखे, दूसरा नहीं वह जिनकल्पिक या विशिष्ट अभिग्रह धारक आदि हो सकता है। इनके अतिरिक्त साधु तो मात्रक (भाजन) सहित दूसरा पात्र रख सकता है। संघाड़े के साथ रहने पर वह दो पात्र रखें—एक भोजन के लिए दूसरे पानी के लिए और मात्रक का आचार्यादि के लिये पंचम समिति के हेतु उपयोग करे।[1] निशीथ और वृहत्कल्पसूत्र में भी[2] एक पात्र रखने का विधान।

एषणा दोषयुक्त पात्र ग्रहण-निषेध

५९०. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण पायं जाणेज्जा अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ जहा पिंडेषणाए चत्तारि आलावगा। पंचमो बहवे[3] समण-माहण पगणिय २ तहेव।

५९१. से भिक्खू वा २ अस्संजए भिक्खुपडियाए बहवे समण-माहण वत्थेसणाऽऽलावओ।

५९०. साधु या साध्वी को यदि पात्र के सम्बन्ध में यह ज्ञात हो जाए कि किसी भावुक गृहस्थ ने धन के सम्बन्ध से रहित निर्ग्रन्थ साधु को देने की प्रतिज्ञा (विचार) करके किसी

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९९
२. (क) जे णिग्गंथे तरुणे वलवं जुवाणे से एगं पायं धारेज्जा, णो वितियं।'
—निशीथ सूत्र उ० १३ पृ० ४४१
(ख) "जे भिक्खू तरुणे जुगवं वलवं····से एगं पायं धारेज्जा।"
—वृहत्कल्प सूत्र पृ० ११०९
३. 'वहवे समण-माहण·······' इत्यादि शब्दो से पिण्डैषणाऽध्ययन के अन्तर्गत (सूत्र ३३२।२) छठा आलापक पहले दे दिया है, उसके वाद 'अस्संजए भिक्खूपडियाए·······इस पाठ से वस्त्रैषणाऽध्ययन के अन्तर्गत ५५६वाँ सूत्र यहाँ विविक्षित है। वस्त्रैषणा-अध्ययन में भी यही क्रम है, वैसा ही सूत्रपाठ है, किन्तु यहाँ भिन्न क्रम रखा है, यह विचारणीय हैं।

एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्वों का समारम्भ करके पात्र बनवाया है, और वह उसे औद्देशिक, क्रीत, पामित्य, अच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत आदि दोषों से युक्त पात्र ला कर देता है, वह अपुरुषान्तरकृत हो या पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो या अनासेवित उसे अप्रासुक और अनेषणीय समझकर मिलने पर भी न ले।

जैसे यह सूत्र एक साधर्मिक साधु के लिए है, वैसे ही अनेक साधर्मिक साधुओं, एक साधर्मिणी साध्वी एवं अनेक साधर्मिणी साध्वियों के सम्बन्ध में भी शेष तीन आलापक समझ लेने चाहिए। जैसे पिण्डैषणा अध्ययन में चारों आलापकों का वर्णन है, वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए। और पांचवां आलापक (पिण्डैषणा अध्ययन में) जैसे बहुत से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण आदि को गिन-गिन कर देने के सम्बन्ध में है, वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

५९१. यदि साधु-साध्वी यह जाने कि असंयमी गृहस्थ ने भिक्षुओं को देने की प्रतिज्ञा करके बहुत-से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण आदि के उद्देश्य से पात्र बनाया है, और वह औद्देशिक, क्रीत आदि दोषों से युक्त है तो.........उसका भी शेष वर्णन वस्त्रैषणा के आलापक के समान समझ लेना चाहिए।

विवेचन—एषणादोषों से युक्त तथा मुक्त पात्र ग्रहण का निषेध-विधान प्रस्तुत सूत्रद्वय में वस्त्रैषणा में बताये हुए विवेक की तरह पात्र-ग्रहणैषणा विवेक बताया गया है। सारा वर्णन वस्त्रैषणा की तरह ही है; सिर्फ वस्त्र के बदले यहाँ 'पात्र' शब्द समझना चाहिए।

बहुमूल्य पात्र-ग्रहण निषेध

५९२. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुण पायाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमोल्लाइं, तंजहा-अयपायाणि वा तउपायाणि वा तंबपायाणि वा सीसगपायाणि[1] वा हिरण्णपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा रीरियपायाणि वा हारपुडपायाणि[2] वा मणि-काय-कंसपायाणि वा संख-सिंगपायाणि वा दंतपायाणि वा चेलपायाणि वा सेलपायाणि वा चम्मपायाणि वा, अण्णयराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महद्धणमोल्लाइं पायाइं अफासुयाइं[3] जाव नो पडिगाहेज्जा।

५९३. से भिक्खू वा २ से ज्जाइं पुण पायाइं जाणेज्जा विरूवरूवाइं महद्धणबंधणाइं, तंजहा-अयबंधणाणि वा जाव चम्मबंधणाणि वा, अण्णयराइं वा तहप्पगाराइं महद्धणबंधणाइं अफासुयाइं[3] जाव णो पडिगाहेज्जा।

---

१. "सीसगपायाणि वा हिरण्णपायाणि वा" अलग-अलग पदों के बदले किसी-किसी प्रति में—'सीसग-हिरन्न-सुवन्न-रीरियाहारपुड-मणि-काय-कंस-संख-सिंग-दंत-चेल-सेलपायाणि वा चम्मपायाणि वा' ऐसा समस्त पद मिलता है।

२. निशीथचूर्णि ११/१ में "हारपुडपाव' का अर्थ किया गया है—हारपुडं णाम अयमाद्याः पात्रविशेषा मौक्तिकलताभिरुपशोभिताः।"—अर्थात् हारपुट लोहादिविशिष्ट पात्र है और जो मोतियों की बेला से सुशोभित हो।

३. यहाँ 'जाव' शब्द से 'अफासुयाइं' से लेकर णो पडिगाहेज्जा' तक का पाठ सू० ३२५ के अनुसार समझें।

५९२. साधु या साध्वी यदि यह जाने कि नानाप्रकार के महामूल्यवान पात्र हैं, जैसे कि लोहे के पात्र, रांगे के पात्र, तांबे के पात्र, सीसे के पात्र, चाँदी के पात्र, सोने पात्र, पीतल के पात्र, हारपुट (त्रिलोहा) धातु के पात्र, मणि, काँच और कांसे के पात्र, शंख और सींग के पात्र, दांत के पात्र, वस्त्र के पात्र, पत्थर के पात्र, या चमड़े के पात्र, दूसरे भी इसी तरह के नानाप्रकार के महा-मूल्यवान् पात्रों को अप्रासुक और अनेषणीय जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

५९३. साधु या साध्वी फिर उन पात्रों को जाने, जो नानाप्रकार के महामूल्यवान् बन्धन वाले हैं, जैसे कि वे लोह के बन्धन हैं, यावत् चर्म-बन्धनवाले हैं, अथवा अन्य इसी प्रकार के महामूल्यवान् बन्धनवाले हैं, तो उन्हें अप्रासुक और अनेषणीय जान कर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—महामूल्यवान् एवं बहुमूल्य बन्धनवाले पात्रों का ग्रहण-निषेध—प्रस्तुत दो सूत्रों में उन पात्रों के ग्रहण करने का निषेध किया है, जो या तो धातु के हैं, या शंख, मणि, काँच, चर्म दांत और सींग आदि बहुमूल्य वस्तुओं से बने हुए हैं, या उनके बन्धन भी इन बहुमूल्य वस्तुओं के बने हुए हैं। इन बहुमूल्य पात्रों को ग्रहण करने के निषेध के पीछे निम्नोक्त कारण हो सकते हैं—

(१) चुराये जाने या छीने जाने का भय, (२) संग्रह करके रखने की संभावना, (३) क्रय-विक्रय या अदला-बदली करने की संभावना, (४) इन बहुमूल्य पात्रों के लिए धनिक की प्रशंसा, चाटुकारी आदि की संभावना (५) इन पर आसक्ति या ममता-मूर्च्छा और खराब पात्रों पर घृणा आने की संभावना (६) कीमती पात्र ही लेने की आदत, (७) इन पात्रों को बनाने तथा टूटने-फूटने पर जोड़ने में बहुत आरम्भ होता है (८) शंख दांत, चर्म, आदि के पात्रों के लिए उन-उन जीवों की हिंसा की संभावना; (९) सार्धर्मिकों के साथ प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या एवं दूसरों को उपभोग के लिए न देने की भावना।[1]

इसीलिए निशीथ सूत्र में[2] इस प्रकार के पात्र बनाने, बनवाने और बनाने का अनुमोदन करने वाले साधु-साध्वी के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। चम्मपायाणि[3] का अर्थ है—चमड़े की कुप्पी आदि चेलपायाणि=कपड़े का खलीता, डब्बा या थैलीनुमा पात्र।[4]

पात्रैषणा की चार प्रतिमाएं

५९४. इच्चेताइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा, चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए।

---

१. आचारांग मूल तथा वृत्ति पत्रांक ३९९ के आधार पर

२. निशीथ सूत्र ११/१ में देखिये वह पाठ—"जे भिक्खु अयपायाणि वा तउय-तंब-सीस-हिरण्ण-सुवण्ण-रीरि-या-हारउड-मणि-काय-कंस-अंक-संख-सिंग-दंत-सेल-चेल-चम्मपायाणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं पाताइं करेति..........।"

३. आचारांगचूर्णि—चम्मपादं=चम्मकुतुओ, !" मू. प. टि. पृ. २१४

४. निशीथचूर्णि ११/१ में 'चेलमयं पसेवओ खलियं वा पडियाकारं कज्जइ।'

(१) तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू व २ उद्दिसिय २ पायं जाएज्जा, तंजहा—लाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा जाव[1] पडिगाहेज्जा। पढमा पडिमा।

(२) अहावरा दोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा २ पेहाए पायं जाएज्जा, तंजहा–गाहावई वा जाव[2] कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा, आउसो ! ति वा, भगिणी ! ति वा, दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं पायं, तंजहा–लाउयपायं वा ३,[3] तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा जाव पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा।

(३) अहावरा तच्चा पडिमा–से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण पायं जाणेज्जा संगतियं[4] वा वेजयंतियं वा, तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाव[5] पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।

(४) अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा २ उज्झियधम्मियं पादं जाएज्जा जं चऽण्णे बहवे समण-माहण जाव[6] वणीमगा णावकंखंति, तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा[7] जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पडिमा।

५६५. इच्चेताणं चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं जहा पिंडेसणाए।[8]

५६४ इन (पूर्वोक्त) दोषों के आयतनों (स्थानों) का परित्याग करके पात्र ग्रहण करना चाहिए, साधु को चार प्रतिमा पूर्वक पात्रैषणा करनी चाहिए।

[१] उन चार प्रतिमाओं में से पहली प्रतिमा यह है कि साधु या साध्वी कल्पनीय पात्र का नामोल्लेख करके उसकी याचना करे, जैसे कि तूम्बे का पात्र, लकड़ी का पात्र या मिट्टी का पात्र; उस प्रकार के पात्र की (गृहस्थ से) स्वयं याचना करे, या फिर वह स्वयं दे और वह प्रासुक और एषणीय हो तो प्राप्त होने पर उसे ग्रहण करे। यह पहली प्रतिमा है।

---

१. यहाँ जाव शब्द से 'जाएज्जा' से पडिगाहेज्जा तक का पाठ सू० ४०६/३ के अनुसार समझें।
२. यहाँ 'जाव' शब्द से 'गाहावई' से 'कम्मकरी' तक का पाठ सू० ३५० के अनुसार समझें।
३. यहाँ लाउयपायं के आगे ३ का अंक 'दारुपायं वा मट्टियापायं वा' पाठ का सूचक है।
४. (क) चूर्णिकार के शब्दों में—"संगतियं मत्तओ, वेजयंतियं पडिग्गहओ। अहवा संगतियं वे पादा वारा-वारएणं वा तत्थेगं देति जत्थ पवयणदोसो नत्थि। वेजयंतियं णाम जत्थ अब्भरहियस्स-रायादिणो उस्सवे कालकिच्चे वा भज्जिया हुडं वा छोढु णिज्जति।
(ख) वृत्तिकार के शब्दों में—"संगइयं ति दातुः स्वांगिकं परिभुक्तप्रायम् वेजयंतियं ति द्वित्रेषु पात्रेषु पर्यायेणोपभुज्यमानं पात्रं याचेत।" इनका अर्थ विवेचन में देखें।
५. यहाँ 'जाव' शब्द से 'सयं' 'वा' णं' से पडिग्गाहेज्जा तक का पाठ सूत्र—४०६/ ३ के अनुसार समझें।
६. यहाँ 'जाव' शब्द से 'समण-माहणं से 'वणीमगा' तक का पाठ का सूत्र—४०६/७ के अनुसार समझें।
७. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र ४०६/३ के अनुसार 'जाएज्जा' से 'पडिग्गाहेज्जा' तक के पाठ का सूचक है।
८. 'जहापिंडेसणाए' से यहाँ शेष समग्र पाठ पिण्डैषणाध्ययन के ४०६ सूत्र के अनुसार समझें।

[२] इसके पश्चात् दूसरी प्रतिमा यों है—वह साधु या साध्वी पात्रों को देखकर उनकी याचना करे। जैसेकि गृहपति यावत् कर्मचारिणी से। वह पात्र देखकर पहले ही उससे कहे—आयुष्मन् गृहस्थ ! या आयुष्मती बहन ! क्या मुझे इनमें से एक पात्र दोगी/दोगे ? जैसे कि तुम्बा, काष्ठ या मिट्टी का पात्र। इस प्रकार के पात्र की स्वयं याचना करे, या गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण करे। यह दूसरी प्रतिमा है।

[३] इसके अनन्तर तीसरी प्रतिमा इस प्रकार है—वह साधु या साध्वी यदि ऐसा पात्र जाने कि वह गृहस्थ के द्वारा उपभुक्त है अथवा उसमें भोजन किया जा रहा है, इस प्रकार के पात्र की पूर्ववत् स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ स्वयं दे दे तो उसे प्रासुक एवं एषणीय जानकर मिलने पर ग्रहण करे। यह तीसरी प्रतिमा है।

[४] इसके पश्चात् चौथी प्रतिमा यह है—वह साधु या साध्वी (गृहस्थ के यहाँ से) किसी उज्झितधार्मिक (फेंक देने योग्य) पात्र की याचना करे, जिसे अन्य बहुत-से शाक्यभिक्षु, ब्राह्मण यावत भिखारी तक भी नहीं चाहते, उस प्रकार के पात्र की पूर्ववत् स्वयं याचना करे, अथवा वह गृहस्थ स्वयं दे तो प्रासुक एवं एषणीय जानकर मिलने पर ग्रहण करे। यह चौथी प्रतिमा है।

५९५. इन (पूर्वोक्त) चार प्रतिमाओं (विशिष्ट अभिग्रहों) में से किसी एक प्रतिमा का ग्रहण……जैसे पिण्डैषणा-अध्ययन में वर्णन है, उसी प्रकार शेष वर्णन जाने।

विवेचन—पात्रैषणा के सम्बन्ध में चार प्रतिज्ञाएं—प्रस्तुत सूत्रद्वय में पात्रैषणा की चार प्रतिमाओं का वर्णन पिण्डैषणाऽध्ययन की तरह है। पात्र के प्रसंग को लेकर कहीं-कहीं वर्णन में थोड़ा-सा अन्तर है, बाकी चारों प्रतिमाओं का नाम एवं विधि उसी तरह है—१. उद्दिष्टा, २. प्रेक्षा, ३. परिभुक्तपूर्वा और ४. उज्झित-धार्मिका। निर्ग्रन्थ साधु इन चार प्रतिमाओं में से किसी भी एक, दो या तीन प्रतिमाओं को ग्रहण करके तदनुसार दृढ़ रहकर उसका पालन कर सकता है। परन्तु वह चारों में से किसी एक प्रतिमा के धारक दूसरे मुनि को अपने से निकृष्ट और स्वयं को उत्कृष्ट न माने, अपितु प्रतिमाओं के स्वीकार करनेवाले सभी साधुओं को जिनाज्ञा में उपस्थित एवं परस्पर समाधिकारक, एवं सहायक माने, यही संकेत सूत्र ५९५ में 'जहा पिंडेसणाए' पदों ने दिया गया है।[1]

'संगइयं' आदि पदों की व्याख्या—चूर्णिकार के मतानुसार यों है—**संगइयं**=दो या तीन पात्रों का गृहस्थ बारी-बारी से उपयोग करता है, साधु के द्वारा याचना करने पर उनमें से एक देता है तो ऐसे (स्वांगिक) पात्र के लेने में प्रवचन-दोष नहीं है। **वेजयंतियं**=जिस पात्र में भोजन करके राजा आदि के उत्सव या मृत्युकृत्य पर खाद्य को भूनकर या वैसे ही रखकर छोड़ दिया जाता है, वह पात्र। वृत्तिकार के अनुसार **'संगइय'** का अर्थ है—दाता द्वारा उस

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९९ के आधार पर
(ख) आचारांग मूल (आयारचूला, मुनि नथमलजी) पृ० १७६, १७७

पात्र में प्रायः स्वयं भोजन किया गया हो, वह स्वांगिक पात्र, वेजयंतियं का अर्थ है—दो-तीन पात्रों में वारी-बारी से भोजन किया जा रहा हो, वह पात्र।[1]

अनेषणीय पात्र-ग्रहण निषेध

५९६. से णं एताए एसणाए एसमाणं[2] पासित्ता परो वदेज्जा—आउसंतो समणा! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए।[3]

५९७. से णं परो णेत्ता वदेज्जा—आउसो भइणी! आहरेयं पायं, तेल्लेण[4] वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेत्ता वा तहेव सिणाणादि तहेव, सीतोदगादि कंदादि तहेव[5]।

५९८. से णं परो णेत्ता वदेज्जा—आउसंतो समणा! मुहुत्तगं २ अच्छाहि जाव ताव अम्हे असणं वा ४ उवकरेसु व उवक्खडेमु वा, तो ते वयं आउसो! सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दासामो, तुच्छए पडिग्गहए[6] दिण्णे समणस्स णो सुट्ठु णो साहु भवति। से पुव्वामेव अलोएज्जा—आउसो! ति वा, भइणी! ति वा, णो खलु मे कप्पति आधाकम्मिए असणे वा ४ भोत्तए वा पायए वा, मा उवकरेहि, मा उवक्खडेहि[7], अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि। से सेवं वदंतस्स परो असणं वा ४ उवकरेत्ता उवक्खडेत्ता सपाणं पडिग्गहगं दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

५९६. साधु को इसके (पात्रैषणा के) द्वारा पात्र-गवेषणा करते देखकर यदि कोई गृहस्थ कहे कि "आयुष्मन् श्रमण! अभी तो तुम जाओ, तुम एकमास यावत् कल या परसों तक आना····शेष सारा वर्णन वस्त्रैषणा अध्ययन में जिसप्रकार है, उसी प्रकार जानना। इसी प्रकार यदि कोई गृहस्थ कहे—*आयुष्मन् श्रमण! अभी तो तुम जाओ,* थोड़ी देर बाद आना, हम तुम्हें एक पात्र देंगे, आदि शेष वर्णन भी वस्त्रैषणा अध्ययन की तरह समझ लेना चाहिए।

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २१५
 (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ३९९

२. 'एसमाणं पासित्ता परो वदेज्जा' के वदले 'एसमाणं पास णेत्ता वदेज्जा' 'एसमाणं परो पासित्ता वदेज्जा' आदि पाठान्तर हैं।

३. 'जहावत्थेसणाए' से यहाँ शेष समग्र पाठ वस्त्रैषणा-अध्ययन के सूत्र ५६१-५६२ के अनुसार समझें।

४. तुलना कीजिए—"जे भिक्खू' नो नवए मे परिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण घएण वा णवणीएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा।" —निशीथसूत्र १४/१२

५. जहाँ-जहाँ 'तहेव' पाठ है, वहाँ वहाँ सर्वत्र वस्त्रैषणाअध्ययन के सूत्र—५६४, ५६५, ५६६, ५६७, के अनुसार वर्णन समझें।

६. 'पडिग्गहए' के वदले पाठान्तर हैं—"पडिग्गहं, पडिग्गहे, पडिग्गए।"

७. किसी-किसी प्रति में 'मा उवक्खडेहि' पाठ नहीं है।

५९७. कदाचित् कोई गृहनायक पात्रान्वेषी साधु को देखकर अपने परिवार के किसी पुरुष या स्त्री को बुलाकर यों कहे—"आयुष्मन् ! या बहन ! वह पात्र लाओ, हम उस पर तेल, घी, नवनीत या वसा चुपड़कर साधु को देंगे"...शेष सारा वर्णन, इसीप्रकार स्नानीय पदार्थ आदि से एक बार वार-बार घिसकर"...इत्यादि वर्णन, तथैव शीतल प्रासुकजल, उष्ण जल से या एक बार या बार-बार धोकर"...आदि अवशिष्ट समग्र वर्णन, इसीप्रकार कंदादि उसमें से निकाल कर साफ करके...इत्यादि सारा वर्णन भी वस्त्रैषणा अध्ययन में जिस प्रकार है, उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

विशेषता सिर्फ यही है कि वस्त्र के बदले यहाँ 'पात्र' शब्द कहना चाहिए।

५९८. कदाचित् कोई गृहनायक साधु से इस प्रकार कहे—"आयुष्मन् श्रमण ! आप मुहूर्त्तपर्यन्त ठहरिए। जब तक हम अशन आदि चतुर्विध आहार जुटा लेंगे या तैयार कर लेंगे, तब हम आप आयुष्मान् को पानी और भोजन से भरकर पात्र देंगे, क्योंकि साधु को खाली पात्र देना अच्छा और उचित नहीं होता।" इस पर साधु मन में विचार कर पहले ही उस गृहस्थ से कह दे—"आयुष्मन् गृहस्थ ! या आयुष्मती बहन ! मेरे लिए आधाकर्मी चतुर्विध आहार खाना या पीना कल्पनीय नहीं है। अतः तुम आहार की सामग्री मत जुटाओ, आहार तैयार न करो। यदि मुझे पात्र देना चाहते/चाहती हो तो ऐसे (खाली) ही दे दो।"

साधु के इस प्रकार कहने पर भी यदि कोई गृहस्थ अशनादि चतुर्विध आहार की सामग्री जुटाकर अथवा आहार तैयार करके पानी और भोजन भरकर साधु को वह पात्र देने लगे, तो उस प्रकार के (भोजन-पानी सहित) पात्र को अप्रासुक और अनेषणीय समझकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

विवेचन—**अनेषणीय पात्र ग्रहण न करे**—प्रस्तुत तीन सूत्रों में वस्त्रैषणा-अध्ययन में वर्णित वस्त्र-ग्रहण निषेध की तरह अनेषणीय पात्र-ग्रहण-निषेध का वर्णन है। साधु के लिए पात्र अनेषणीय अग्राह्य कब हो जाता है ? इसकेलिए वस्त्रैषणा की तरह यहाँ भी संकेत किया गया है—(१) साधु को थोड़ी देर बाद से लेकर एक मास बाद आकर पात्र ले जाने का कहे। (२) पात्र के तेल, घी आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर देने को कहे, (३) पात्र पर स्नानीय सुगन्धित पदार्थ रगड़ कर या मलकर देने को कहे, (४) ठंडे या गर्म प्रासुक जल से धोकर देने को कहे, (५) पात्र में रखे कंद आदि निकाल कर उसे साफ कर देने को कहे, (६) पात्र में आहार-पानी तैयार करवाकर उनसे भरकर साधु को देने को कहे।" इन सब स्थितियों में साधु को पात्र को अनेषणीय एवं अग्राह्य बनाने के गृहस्थ के विचार सुनते ही सर्वप्रथम उसे सावधान कर देना चाहिए कि ऐसा अनेषणीय पात्र लेना मेरे लिए कल्पनीय नहीं है; यदि देना चाहते हो तो संस्कार या परिकर्म किये बिना अथवा सदोष आहार से भरे बिना, ऐसे ही दे दो।"[1]

---

१. आचारांग मूलपाठ एवं वृत्ति पत्रांक ४०० के आधार पर

पात्र-प्रतिलेखन

५९९. सिया परो[1] णेत्ता पडिग्गहगं[2] णिसिरेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—आउसो ! ति वा, भइणी ! ति वा, तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि। केवली बूया—आयाणमेयं, अंतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा[3] ४ जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतोअंतेण पडिलेहेज्जा।

६००. सअंडादी सव्वे आलावगा[4] जहा वत्थेसणाए, णाणत्तं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा सिणाणादि जाव अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा [जाव पयावेज्ज वा]।

५९९. कदाचित् कोई गृहनायक पात्र को सुसस्कृत आदि किये बिना ही लाकर साधु को देने लगे तो साधु विचारपूर्वक पहले ही उससे कहे—"आयुष्मन् गृहस्थ ! या आयुष्मती वहन ! मैं तुम्हारे इस पात्र को अंदर-बाहर चारों ओर से भलीभाँति प्रतिलेखन करूंगा, क्योंकि प्रतिलेखन किये बिना पात्रग्रहण करना केवली भगवान् ने कर्मबन्ध का कारण बताया है। सम्भव है उस पात्र में जीवजन्तु हों, बीज हों या हरी (वनस्पति) आदि हो। अतः भिक्षुओं के लिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने पहले से ही ऐसी प्रतिज्ञा का निर्देश किया है या ऐसा हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि साधु को पात्र ग्रहण करने मे पूर्व ही उस पात्र को अंदर-बाहर चारों ओर से प्रतिलेखन कर लेना चाहिए।

६००. अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त पात्र ग्रहण न करे"'इत्यादि सारे आलापक वस्त्रैषणा के समान जान लेने चाहिए। विशेष बात इतनी ही है कि यदि वह तेल, घी, नवनीत आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर या स्नानीय पदार्थों से रगड़कर पात्र को नया व सुन्दर बनाना चाहे, इत्यादि वर्णन ठेठ अन्य उस प्रकार की स्थण्डिलभूमि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके फिर यतनापूर्वक उस पात्र को साफ करे यावत् धूप में सुखाए तक वस्त्रैषणा अध्ययन की तरह ही समझ लेना चाहिए।

विवेचन—पात्रग्रहण से पूर्व प्रतिलेखन आवश्यक—प्रस्तुत सूत्र में वस्त्रैषणा—अध्ययन की तरह यहाँ पात्र ग्रहण करने से पूर्व प्रतिलेखन को अनिवार्य बताया है। बिना प्रतिलेखन किये

---

१. "परो णेत्ता' के बदले पाठान्तर है 'परो उवणेत्ता', अर्थ है—'पर = गृहस्थ लाकर।
२. 'पडिग्गहगं के बदले पाठान्तर है—पडिग्गहं।
३. यहाँ 'पुव्वोदिट्ठा' के आगे '४' का अंक सूत्र ३५७ के अनुसार 'एस उवएसो' तक के पाठ का सूचक है।
४. सअंडादि सव्वे आलावगा जहा वत्थेसणाए' पाठ वस्त्रैषणाध्ययन के सूत्र ५६९ से ५७९ तक के समग्र वर्णन का सूचक समझें, 'पयावेज्ज वा' पाठ तक।

पात्रग्रहण कर लेने में उन्हीं खतरों या दोषों की सम्भावना है, जिनका उल्लेख हम वस्त्रैषणा अध्ययन में कर आए है।[1]

पात्र-ग्रहण-अग्रहण एवं संरक्षण-विवेक—वस्त्रैषणा-अध्ययन में उल्लिखित 'स अंड' से लेकर 'आयावेज्ज पयावेज्ज' तक के सभी सूत्रों का वर्णन इस एक ही सूत्र में समुच्चयरूप से दे दिया है। प्रस्तुत सूत्र में वस्त्रैषणा अध्ययन के ११ सूत्रों का निरूपण एवं एक अतिरिक्त सूत्रका समावेश कर दिया है—(१) अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त पात्र को ग्रहण न करे, (२) अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित होने पर भी वह पात्र अपर्याप्त (अभीष्ट कार्य के लिए असमर्थ) अस्थिर, अध्रुव, अधारणीय एवं अकल्प्य हो तो ग्रहण न करे, (३) किन्तु वह अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित पर्याप्त, स्थिर, ध्रुव, धारणीय एवं रुचिकर हो तो ग्रहण करे, (४) अपने पात्र को नया सुन्दर बनाने के लिए उसे थोड़ा या बहुत स्नानीय सुगन्धित द्रव्य आदि से घिसे नहीं, (५) पात्र नया बनाने के उद्देश्य से थोड़ा बहुत ठंडे या गर्म जल से उसे धोए नहीं, (६) मेरा पात्र दुर्गन्धित है, यह सोच उसे सुगन्धित एवं उत्कृष्ट बनाने हेतु उस पर स्नानीय सुगन्धित द्रव्य थोड़े बहुत न रगड़े, न ही उसे शीतल या गर्म जल से धोए (७) पात्र को सचित्त, स्निग्ध, सचित्त प्रतिष्ठित पृथ्वी पर न सुखाए, (रखे) (८) पात्र को ठूंठ, देहली, ऊखल या स्नानपीठ पर न सुखाए, न ही ऊँचे चल-विचल स्थान पर सुखाए, (९) दीवार, भींत, शिला रोड़े या ऐसे ही अन्य ऊंचे हिलने-डुलने वाले स्थानों पर पात्र न सुखाए। (१०) खंभे, मचान, ऊपर की मंजिल या महल पर या तलघर में या अन्य कम्पित उच्चस्थानों पर पात्र न सुखाए। (११) किन्तु पात्र को एकान्त में ले जाकर अचित्त निर्दोष स्थण्डिलभूमि पर धूल आदि पोंछकर यतनापूर्वक सुखाए। इसमें नौ सूत्र निषेधात्मक हैं, और दो सूत्र विधानात्मक है। शास्त्रकार ने इसमें एक सूत्र और बढ़ा देने का संकेत किया है कि पात्र को सुन्दर व चमकदार बनाने के लिए वह तेल, घी, नवनीत आदि उस पर न लगाए।[2]

'णाणत्तं तेल्लेण वा घएण वा····' पंक्ति के अर्थ में मतभेद—ऊपर जो अर्थ हमने दिया है, उसके अतिरिक्त एक अर्थ और मिलता है—"यदि वह पात्र तेल, घृत या अन्य किसी पदार्थ से स्निग्ध किया हुआ हो तो साधु स्थण्डिलभूमि में जाकर वहाँ भूमि की प्रतिलेखना और प्रमार्जना करे, और तत्पश्चात् पात्र को धूलि आदि से प्रमाजित कर मसल कर रूक्ष बना ले।" परन्तु यह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता।[3]

६०१. एयं खलु[4] तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहितेहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०० के आधार पर

२. आचारांग मूलपाठ सू० ५५९ से ५७९ तक वृत्ति सहित पत्रांक ३९६

३. आचारांग; अर्थागम प्रथम खण्ड पृ० १३७

४. 'एयं खलु तस्स भिक्खुस्स' के बदले किसी-किसी प्रति मे 'अहभिक्खुस्स' पाठान्तर है;

६०१. यही (पात्रैषणा विवेक ही) वस्तुत: उस साधु या साध्वी का समग्र आचार है, जिसमें वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि सर्व अर्थों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

पात्र बीजादियुक्त होने पर ग्रहण-विधि

६०२. से भिक्खू वा २ गाहावइकुलं पिंडवातपडियाए पविसमाणे[1] पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहगं, अवहट्टु पाणे, पमज्जिय रयं, ततो संजयामेव गाहावतिकुलं पिंडवातपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा। केवली बूया—आयाणमेयं। अंतो पडिग्गहगंसि पाणे वा बीए वा रए[2] वा परियावज्जेज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा ४ जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं, अवहट्टु पाणे, पमज्जिय रयं, ततो संजयामेव गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा।

६०२. गृहस्थ के घर में आहार-पानी के लिए प्रवेश करने से पूर्व ही साधु या साध्वी अपने पात्र को भलीभाँति देखे, उसमें कोई प्राणी हों तो उन्हें निकालकर एकान्त में छोड़ दे और धूल को पोंछकर झाड़ दे। तत्पश्चात् साधु अथवा साध्वी आहार-पानी के लिए उपाश्रय से बाहर निकले या गृहस्थ के घर में प्रवेश करे। केवली भगवान् कहते हैं—ऐसा करना कर्मबन्ध का कारण है. क्योंकि पात्र के अंदर द्वीन्द्रिय आदि प्राणी. बीज या रज आदि रह सकते हैं, पात्रों का प्रतिलेखन—प्रमार्जन किये बिना उन जीवों की विराधना हो सकती है। इसीलिए तीर्थंकर आदि आप्तपुरुषों ने साधुओं के लिए पहले से ही इसप्रकार की प्रतिज्ञा, यह हेतु, कारण और उपदेश दिया है कि आहार-पानी के लिए जाने से पूर्व साधु पात्र का सम्यक् निरीक्षण करके कोई प्राणी हो तो उसे निकाल कर एकान्त में छोड़-दे, रज आदि को पोंछकर झाड़ दे और तब आहार के लिए यतनापूर्वक उपाश्रय से निकले और गृहस्थ के घर में प्रवेश करे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भिक्षाटन से पूर्व पात्र को अच्छी तरह देखभाल और झाड़ पोंछ लेना आवश्यक बताया है, ऐसा न करने से आत्म-विराधना और जीव-विराधना के होने

१. 'पविसमाणे' के बदले 'पविट्ठे समाणे' पाठान्तर है।
२. किसी किसी प्रति में 'रएवा' पाठ नहीं है, उसके बदले 'हरिए वा' पाठ है।

का तो मूलपाठ में स्पष्ट उल्लेख है, इन दोषों के अतिरिक्त और भी इन दोषों की संभावना रहती है—

(१) कदाचित् पात्र किसी कारण से फूट गया हो, तो वह आहार-पानी लाने लायक नहीं रहेगा,

(२) किसी धर्मद्वेषी ने साधुओं को वदनाम करने के लिए कोई शस्त्र, विष, या अन्य अकल्प्य, अग्राह्य वस्तु चुपके से रख दी हो,

(३) कोई बिच्छू या सांप पात्र में घुस कर बैठ गया हो तो आहार लेते समय हठात् काट खाएगा, अथवा उसे देखे-भाले बिना अंधाधुंधी में गर्म आहार या पानी लेने से वह आहार पानी भी विषाक्त हो जाएगा, जीव की विराधना तो होगी ही।

(४) पात्र में कोई खट्टी चीज लगी रह गई तो दूध आदि पदार्थ लेते ही फट जाएगा। अतः साधु को उपाश्रय से निकलते समय, गृहस्थ के यहाँ प्रवेश करते समय और भोजन करना प्रारम्भ करने से पूर्व पात्र-प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना आवश्यक है।[1]

सचित्त संसृष्ट पात्र को सुखाने की विधि

६०३. से भिक्खू वा २ गाहावति जाव समाणे सिया से परो आहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाएत्ता णीहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से य आहच्च पडिग्गाहिए सिया, खिप्पामेव[2] उदगंसि साहरेज्जा, सपडिग्गहमायाए व णं परिट्ठवेज्जा, ससणिद्धाए व णं भूमीए नियमेज्जा।

६०४. से भिक्खू वा २ उदउल्लं[3] वा ससणिद्धं वा पडिग्गहं णो आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा। अह पुणेवं जाणेज्जा विगदोदए मे पडिग्गहए छिण्ण-सिणेहे, तहप्पगारं पडिग्गहं ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज[4] वा।

---

१. आचारांग वृत्ति, मूलपाठ पत्रांक ४००

२. इसके बदले पाठान्तर है—'सिया से खिप्पामेव उदगंसि आहरेज्जा'। अर्थ होता है—कदाचित् वह गृहस्थ शीघ्र ही अपने जल पात्र में उसे वापस डाल दे।

३. चूर्णिकार 'उदउल्लं वा ससणिद्धं वा' इस पाठ के बदले कोई दूसरा पाठ मानकर पात्रैषणाध्ययन की यहीं समाप्ति मानते हैं। वह पाठ इस प्रकार है—"उदउल्ल-ससणिद्धं पडिग्गहगं आमज्ज पमज्ज अंतो संलिहति. बाहिं णिल्लिहति, उव्वलेति, उव्वट्टेति, पत्ताविज्ज। इति पात्रैषणा समाप्ता।"

अर्थात्—जल से आर्द्र और सस्निग्ध पात्र को थोड़ा या बहुत प्रमार्जन करके अंदर से लेपरहित करता है, फिर बाहर से लेपरहित करता है, उपलेपन करता है, उद्वर्तन करता है, (जलरहित करता है) फिर थोड़ा या अधिक धूप में सूखाता है। इस प्रकार पात्रैषणा समाप्त हुई। इस पाठ को देखते हुए किसी किसी प्रति में 'आमज्जेज्ज वा' के बाद 'पमज्जेज्ज वा' का पाठ माना है।

४. 'आमज्जेज्ज वा' से 'पयावेज्ज वा' तक के पाठ को सूत्र ३५३ के अनुसार सूचित करने के लिए 'जाव' शब्द है।

६०३. साधु या साध्वी गृहस्थ के यहाँ आहार-पानी के लिए गये हों और गृहस्थ घर के भीतर से अपने पात्र में सचित्त (शीतल) जल ला कर उसमें से निकाल कर साधु को देने लगे, तो साधु उसप्रकार के पर-हस्तगत एवं पर-पात्रगत शीतल, (सचित्त) जल को अप्रासुक और अनेषणीय जान कर अपने पात्र में ग्रहण न करे।

कदाचित् असावधानी से वह जल (अपने पात्र में) ले लिया हो तो शीघ्र दाता के जल पात्र में उंड़ेल दे। यदि गृहस्थ उस पानी को वापस न ले तो फिर वह जलयुक्त पात्र को लेकर किसी स्निग्ध भूमि में या अन्य किसी योग्य स्थान में उस जल का विधिपूर्वक परिष्ठापन कर दे। उस जल से स्निग्ध पात्र को एकान्त निर्दोष स्थान में रख दे।

६०४. वह साधु या साध्वी जल से आर्द्र और स्निग्ध पात्र को जब तक उसमें से बूंदें टपकती रहें, और वह गीला रहे, तब तक न तो पोंछे और न ही धूप में सुखाए। जब वह यह जान ले कि मेरा पात्र अब निर्गतजल (जल-रहित) और स्नेह-रहित हो गया है, तब वह उस प्रकार के पात्र को यतनापूर्वक पोंछ सकता है और धूप में सुखा सकता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्वप्रथम गृहस्थ के हाथ और बर्तन से अपने पात्र में सचित्त जल ग्रहण करने का निषेध है, तत्पश्चात् असावधानी से सचित्त जल पात्र में ले लिया गया हो तो उस पात्र को पोंछने और सुखाने आदि की विधि बताई गई है।[1]

चूर्णिकार इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हैं—"……सचित्त जल हिलाकर निकाल कर देने लगे तो वैसा……पर-हस्तगत पात्र ग्रहण न करे। भूल से वैसा सचित्त जल संसृष्ट पात्र ग्रहण कर लेने पर यदि वही गृहस्थ उस जल को स्वयं वापस ले लेता है तो सबसे अच्छा; अन्यथा वह उस उदक को दूसरी जगह अन्य भाजन में डाल दे।[2]

'परिभाएत्ता' आदि पदों का अर्थ:—परिभाएत्ता = विभाग करके, चूर्णिकार के अनुसार—हिलाकर। 'पीहट्टु = निकाल कर।[3]

जलग्रहण-परक या पात्र ग्रहण-परक—चूर्णिकार इस सूत्र को पात्रैषणा-अध्ययन होने से पात्र-ग्रहण विषयक मानते हैं, किन्तु वृत्तिकार इस की पानक-ग्रहण विषयक व्याख्या करते है—गृहस्थ के घर में प्रविष्ट भिक्षु प्रासुक पानी की याचना करे इस पर कदाचित् वह गृहस्थ असावधानी से, भ्रान्ति से या धर्म-द्वेषवश (प्रतिकूलतावश) अथवा अनुकम्पावश विचार करके घर के भीतर पड़ा हुआ दूसरा अपना बर्तन ला कर, उसमें से कुछ हिस्सा रख कर, पानी निकाल कर देने लगे तो साधु उस प्रकार के पर-हस्तगत, पर-पात्रगत सचित्त जल को अप्रासुक

---

१. आचारांग मूल पाठ एवं वृत्ति पत्रांक ४०० के आधार पर

२. आचारांग चूर्णि मू. पा. ठि. पृ. २१७—"परियाभाएत्त ति छुभित्तु पडिग्गहं परहत्थगयं ण गेण्हेज्जा। आहच्च गहिते गिहत्थो एस चेव उदए जति परिसाहरति, लट्ठं। अण्णत्थ वा उदए (उएज्झइ?) अन्ने हिं भायणे पक्खिवति"

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४००, (ख) आचारांग चूर्णि मू. पा. ठि. पृ. २१७.

मान कर न ले।……" किन्तु यहाँ चूर्णिकार का आशय भिन्न है, उनके अनुसार यों अर्थ होता है—"साधु पात्र के लिए गृहस्थ के यहाँ जाए तव गृहस्थ पात्र खाली न होने के कारण घर में से उस पात्र को लाकर उसमें मे सचित्त जल (अधिकांशतः) निकाल कर उस पात्र को देने लगे तो वह उस पर-हस्तगत सचित्तजल संस्पृष्ट पात्र को अप्रासुक जान कर ग्रहण न करे।" यह अर्थ प्रकरण संगत प्रतीत होता है।[1]

विहार-समय पात्र विषयक विधि-निषेध

६०५. से भिक्खू वा २ गाहावतिकुलं पविसित्तुकामे सपडिग्गहमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा, एवं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा गामाणुगामं [वा] दूइज्जेज्जा, तिव्वदेसियादि जहा बितियाए[2] वत्थेसणाए[3] णवरं एत्थ पडिग्गहो।

६०५. साधु या साध्वी गृहस्थ के यहाँ आहारादि लेने के लिए प्रवेश करना चाहे तो अपने पात्र साथ लेकर वहाँ आहारादि के लिए प्रवेश करे या उपाश्रय से निकले। इसीप्रकार स्व-पात्र लेकर बस्ती से बाहर स्वाध्यायभूमि या शौचार्थ स्थण्डिलभूमि को जाए, अथवा ग्रामानुग्राम विहार करे।

तीव्र वर्षा दूर-दूर तक हो रही हो यावत् तिरछे उड़ने वाले त्रसप्राणी एकत्रित हो कर गिर रहे हों, इत्यादि परिस्थितियों में जैसे वस्त्रैषणा के द्वितीय उद्देशक में निषेधादेश है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ सभी वस्त्रों को साथ में लेकर जाने का निषेध है, जबकि यहाँ अपने सब पात्र लेकर जाने का निषेध है।

६०६. एयं[4] खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं सहितेहिं सदा जएज्जासि त्ति बेमि।

६०६. यही (पात्रैषणा विवेक अवश्य ही) साधु-साध्वी का समग्र आचार है जिसके परिपालन के लिए प्रत्येक साधु-साध्वी को ज्ञानादि सभी अर्थों से प्रयत्नशील रहना चाहिए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

। द्वितीय उद्देशक समाप्त।

।। 'पाएसणा' षष्ठमध्ययनम् समाप्तं ।।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४००–४०१ (ख) आचारांग चूर्णि मू. पा. ठि. पृ. २१७ के आधार पर

२. 'बितियाए' के बदले पाठान्तर है—'बीतीयाए' 'बीयाए'। अर्थ एक-सा है।

३. 'जहा बितियाए वत्थेसणाए' का तात्पर्य है—जैसे वस्त्रैषणा के द्वितीय उद्देशक सूत्र ५८२ में वर्णन है, वैसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए।

४. 'एयं' के बदले कहीं कहीं 'एवं' या 'एतं' पाठान्तर मिलता है।

अवग्रह-प्रतिमा : सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु.त०) के सातवें अध्ययन का नाम 'अवग्रह-प्रतिमा' है।
- 'अवग्रह' जैन शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है। यों सामान्यतया इसका अर्थ—'ग्रहण करना' होता है।
- प्राकृत शब्द कोष में 'अवग्रह' शब्द के ग्रहण करना, अवधारण, लाभ, इन्द्रियद्वारा होने वाला ज्ञान विशेप, ग्रहणकरनेयोग्य वस्तु, आश्रय, आवास, स्वस्वामित्व की या स्वाधीनस्थ वस्तु, देव (सौधर्मेन्द्र) तथा गुरु आदि से आवश्यकतानुसार याचित मर्यादित भूभाग या स्थान; परोसने योग्य भोजन, एवं अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करना आदि अर्थ मिलते हैं।[1]
- प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया चार अर्थों में अवग्रह शब्द प्रयुक्त हुआ है—
  (१) अनुज्ञापूर्वक ग्रहण करना,
  (२) ग्रहण करने योग्य वस्तु,
  (३) जिसके अधीनस्थ जो-जो वस्तु है, आवश्यकता पड़ने पर उससे उस वस्तु के उपयोग करने की आज्ञा मांगना; तथा
  (४) स्थान या आवासगृह, अथवा मर्यादित भूभाग।[2]
- 'अवग्रह' चार प्रकार का है—१. द्रव्यावग्रह, २. क्षेत्रावग्रह, ३. कालावग्रह और ४. भावावग्रह।
- द्रव्यावग्रह के तीन प्रकार (सचित्त, अचित्त, मिश्र) हैं।
- क्षेत्रावग्रह के भी सचित्तादि तीन भेद हैं, अथवा ग्राम, नगर, राष्ट्र, अरण्य आदि अनेक भेद हैं।
- कालावग्रह के ऋतुबद्ध और वर्षाकाल ये दो भेद हैं।
- भावावग्रह—मतिज्ञान के अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह आदि भेद है।
- प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यादि तीन अवग्रह विवक्षित हैं, भावावग्रह नहीं।
- अपरिग्रही साधु को जब कभी आहार, वसति (आवास), वस्त्र, पात्र या अन्य

---

१. 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० १६७, १४३।
२. आचारांग मूलपाठ तथा वृत्ति पत्रांक ४०२।

धर्मोपकरण आदि के ग्रहण का परिणाम(विचार) होता है, तब वह ग्रहण—भावावग्रह होता है।

✡ उक्त पदार्थ मुख्यतया पांच कोटि के व्यक्तियों के अधीन होते हैं, जैसे कि—१. देवेन्द्र, २. राजा (शासक), ३ गृहपति, ४. शय्यातर एवं ५. साधर्मिक साधु वर्ग; अतः अवग्रह के अधिकारी होने से ये भी पंचविध अवग्रह कहलाते हैं। स्थण्डिलभूमि, वसति आदि ग्रहण करने से पूर्व यथावसर इनकी आज्ञा लेना आवश्यक है।[1]

✡ अवग्रह से सम्बन्धित विविध प्रतिज्ञाएं (संकल्प या अभिग्रह) करना अवग्रह-प्रतिमा है। विविध प्रकार के अवग्रहों तथा उनसे सम्बन्धित प्रतिमाओं का वर्णन होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'अवग्रह-प्रतिमा' रखा गया है।

✡ अवग्रह-प्रतिमा-अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में अवग्रह-ग्रहण की अनिवार्यता एवं अवग्रह के प्रकार एवं याचनाविधि बताई है, द्वितीय उद्देशक में मुख्यतः विविध अवग्रहों की याचनाविधि का प्रतिपादन है।[2]

✡ यह अध्ययन सूत्र ६०७ से प्रारम्भ होकर सूत्र ६३६ पर समाप्त होता है।

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३१६ से ३१९ तक।
   (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०२।
२. आचारांग मूलपाठ एवं वृत्ति के आधार पर, पत्रांक ४०२।

सत्तमं अज्झयणं 'ओग्गहपडिमा'

[पढमो उद्देसओ]

अवग्रह-प्रतिमा : सप्तम अध्ययन : प्रथम उद्देशक

अवग्रह-ग्रहण की अनिवार्यता

६०७. समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं णो करिस्सामि त्ति समुट्ठाए सव्वं भंते ! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि ।

से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा णेव सयं अदिण्णं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं अदिण्णं गेण्हावेज्जा, णेवऽण्णं अदिण्णं गेण्हंतं पि समणुजाणेज्जा ।

जेहिं वि सद्धिं संपव्वइए तेसिंऽपियाइं छत्तयं वा[1] डंडगं वा मत्तयं वा जाव[2] चम्मच्छेयणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो गिण्हेज्ज वा, पगिण्हेज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ संजयामेव ओगिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा ।

६०७. मुनिदीक्षा लेते समय साधु प्रतिज्ञा करता है—"अब मैं श्रमण बन जाऊँगा। अनगार (घरबार रहित), अकिंचन (अपरिग्रही), अपुत्र (पुत्रादि सम्बन्धों से मुक्त), अपशु (द्विपद-चतुष्पद आदि पशुओं के स्वामित्व से मुक्त) एवं परदत्तभोजी (दूसरे-गृहस्थ द्वारा प्रदत्त-भिक्षा प्राप्त आहारादि का सेवन करने वाला) होकर मैं अब कोई भी हिंसादि पापकर्म नहीं करूंगा।" इस प्रकार संयम-पालन के लिए उत्थित-समुद्यत होकर (कहता है—) 'भंते ! मैं आज समस्त प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ।

(इस प्रकार की (तृतीय महाव्रत की) प्रतिज्ञा लेने के बाद—) वह साधु ग्राम यावत्

१. छत्र-दण्ड आदि उपकरण बिना दिये लेने का प्रसंग—चूर्णिकार के शब्दों में—"तं कहिं गामे नगरे वा लोइयं गतं। लोउत्तरं डंडगादि, छत्तगं; देसं पडुच्च जहा कोंकणेसु, णिव्वंता मत्ता णाउल्लिति डंडएण मन्नाभूमी गच्छंतो अप्पणो अदिस्संतो अणुन्नवेत्ता णेति, संघारामादिसु वा अणुन्नवेति।" उदाहरणार्थ—साधु किसी ग्राम या नगर में शौचादि के लिए स्थण्डिलभूमि में गया, शौच-निवृत्ति के अनन्तर वर्षा हो गई। चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो गया। अगर साधु उस समय चलता है तो भीग जायेगा, कीचड़ में फँस जायेगा। इसलिए वहाँ अपना दंड न देखकर दूसरे का दंड उतावली में बिना आज्ञा लिए ही ले लेता है। कोंकण आदि देश की अपेक्षा से छाता भी लगाना पड़ता है, वर्षा में, छाता भी दूसरे बौद्ध आदि भिक्षु से बिना आज्ञा के उस समय ले लेता है, फिर संघाराम आदि में आकर उस भिक्षु से उसकी आज्ञा लेता है।

२. 'जाव' शब्द यहाँ सू० ४४४ के अनुसार 'मत्तयं' से 'चम्मच्छेयणगं' तक के पाठ का सूचन है।

राजधानी में प्रविष्ट होकर स्वयं विना दिये हुए (किसी भी) पदार्थ को ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण कराए और न अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन-समर्थन करे।

जिन साधुओं के साथ या जिनके पास वह प्रव्रजित हुआ है, या विचरण कर रहा है या रह रहा है, उनके भी छत्रक, दंड, मात्रक(भाजन)यावत् चर्मच्छेदनक आदि उपकरणों की पहले उनसे अवग्रह-अनुज्ञा लिये विना तथा प्रतिलेखन-प्रमार्जन किये विना एक या अनेक वार ग्रहण न करे। अपितु उनसे पहले अवग्रह-अनुज्ञा (ग्रहण करने की आज्ञा) लेकर, तत्पश्चात् उसका प्रतिलेखन- प्रमार्जन करके फिर संयमपूर्वक उस वस्तु का एक या अनेक वार ग्रहण करे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अवग्रह की उपयोगिता और अनिवार्यता वताई हैं, उसका कारण प्रस्तुत किया गया है—साधु का अकिंचन, परदत्तभोजी एवं अदत्तादान विरमण महाव्रती जीवन। साधु कहीं भी जाए, कहीं भी किसी भी साधु के साथ रहे, या विचरण करे, या किसी भी स्थान, अचित्त पदार्थ. आहार-पानी, औषध, मकान, वस्त्र पात्रादि उपकरण की आवश्यकता हो, नया उपकरण लेना हो, किन्हीं साधुओं के निश्रय के पुराने उपकरणादि का उपयोग करना हो तो सर्वप्रथम उस वस्तु के स्वामी या अधिकारी से अवग्रह-अनुज्ञा लेना आवश्यक है, तत्पश्चात् प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके उसका एक या अधिक वार ग्रहण या उपयोग करना है।[1]

'अपुत्ते अपसू' आदि पदों का तात्पर्य एवं रहस्य—अपुत्ते—का शब्दशः अर्थ तो अपुत्र-पुत्ररहित होता है, किन्तु यहाँ उपलक्षण से पुत्र आदि जितने भी गृहस्थपक्षीय सम्बन्धी हैं, उनके उक्त सम्बन्ध से मुक्त अर्थ समझना चाहिए। इसी प्रकार 'अपसू' का तात्पर्य भी होता है—समस्त द्विपद-चतुष्पद आदि पशु-पक्षी आदि हैं, उन सवके प्रति स्वामित्व या ममत्व से रहित। इन दोनों पदों को प्रस्तुत करने के पीछे शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि साधु का पुत्रादि या पशु आदि के प्रति ममत्व एवं स्वामित्व समाप्त हो चुका है, तब यदि कोई पुत्र आदि शिष्य बनना चाहे तो उसके अभिभावक या संरक्षक की अनुज्ञा के विना शिष्य रूप में उसे स्वीकार नहीं कर सकता। पशु भी साथ में रख नहीं सकता।

सर्वत्र अवग्रहानुज्ञा आवश्यकः विहार, शौचादि, भिक्षाटन आदि प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्त होने से पूर्व आचार्य या दीक्षास्थविर या दीक्षाज्येष्ठ मुनि का गुरु की अनुज्ञा ग्रहण करना आवश्यक है। प्रतिक्रमण, शयन, प्रवचन, स्वाध्याय, तप, वैयावृत्य आदि प्रवृत्ति की भी अनुज्ञा ग्रहण करना आवश्यक बताया है।[2]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०२ के आधार पर

२. तुलना करें—पुच्छिज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इह।
इच्छं निओइउं भंते ! वेयावच्चे व सज्झाए।" —उत्तरा० अ० २६/६
"इच्छामिणं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं पडिक्कमणं ठाइउं' —आवश्यक सूत्र
'अणुजाणह मे मिउग्गहं—आवश्यक गुरुवन्दन सूत्र

छत्रक आदि उपकरणों का उल्लेख क्यों ? प्रस्तुत सूत्रपाठ में छाता (छत्रक) चर्मच्छेदनक आदि उपकरण का उल्लेख है। जबकि दशवैकालिक में छत्तस्स धारणट्ठाए' कह कर इसे अनाचीर्ण में बताया है, तब इनका उल्लेख शास्त्रकार ने यहाँ क्यों किया ?

वृत्तिकार एवं चूर्णिकार इसका समाधान करते हैं— छत्र वर्षाकल्पादि के समय किसी देश विशेष में कारणवश साधु रखता है। कहीं कोंकण आदि देश में अत्यन्त वृष्टि होने के कारण छत्र भी रख सकता है। उसे अभिमानवृद्धि एवं राजसी ठाटबाट का सूचक नहीं बनाना चाहिए। चर्मछेदनक भी प्रातिहारिक रूप में गृहस्थ से किसी कार्य के लिये साध लाता है; उपकरण के रूप में नहीं रखता।[1]

'समणा भविस्सामो' आदि प्रतिज्ञा का पाठ सूत्रकृतांग में भी इसी क्रमपूर्वक मिलता है; इस प्रतिज्ञा को दोहरा कर साधु को अपनी अदत्तादान-विरमण की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रह कर सर्वत्र अवग्रहग्रहण करने की बात पर जो दिया है।[2]

'अकिंचन' का तात्पर्य—चूर्णिकार ने अकिंचन का स्पष्टीकरण यों किया है—साधु द्रव्य से अपुत्र, एवं धन-धान्यादि रहित है, भाव से क्रोधादि से रहित है, इसलिए वह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अकिंचन—अपरिग्रही है।[3]

'ओगिण्हेज्ज पगिण्हेज्ज' दोनों शब्दों के अर्थ में चूर्णिकार अन्तर बताते हैं—एक बार ग्रहण करना अवग्रहण है, बार-बार ग्रहण करना प्रग्रहण है।[4]

अवग्रह-याचनाः विविध रूप

६०८. से आगंतारेसु वा[5] ४ अणुवीइ उग्गहं जाएज्जा, जे तत्थ ईसरे[6] जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवेज्जा—कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो, जाव आउसो; जाव आउसंतस्स उग्गहे, जाव साहम्मिया, एत्ताव ताव उग्गहं ओगिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो।

---

१. (क) आचा. वृत्ति पत्रांक ४०२, (ख) आचा. चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २१६
२. तुलना कीजिए—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं नो करिस्सामो समुट्ठाए।"—सूत्रकृतांग २/१/२
३. अकिंचणा-दव्वे अपुत्ता अपसू, भावे अकोहा—आचा०-चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २१६
४. "ओगिण्हति एक्कासि, पगिण्हति पुणो पुणो।"—आचा० चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २१६
५. 'आगंतारेसु वा' के आगे '४' का अंक सूत्र ४३२ के अनुसार "आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा" पाठ का सूचक है।
६. चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर हैं—"इस्सरो, समाधिट्ठाए।' अर्थ किया गया है—इस्सरो=राया भोइओ जाव सामाइओ। समाधिट्ठाए=प्रभुसंदिट्ठो गहवतिमादी।'—ईश्वर का अर्थ है—राजा, ग्रामाध्यक्ष, ग्रामाध्यापक स्वामी या मालिक आदि। समाधिष्ठाता का अर्थ है—स्वामी के द्वारा आदिष्ट या नियुक्त अधिकारी, गृहपति आदि।

६०९. से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि ? जे तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुण्णा[1] उवागच्छेज्जा जे तेण सयमेसित्तए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवणिमंतेज्जा, णो चेव णं परपडियाए[2] ओगिज्झिय २ उवणिमंतेज्जा।

६१०. से आगंतारेसु वा जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि ? जे तत्थ साहम्मिया अण्णसंभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा जे तेण सयमेसित्तए[3] पीढे वा फलए वा सेज्जासंथारए वा तेण ते साहम्मिए अण्णसंभोइए[4] समणुण्णे उवणिमंतेज्जा, णो चेव णं परपडियाए[5] ओगिण्हिय[6] २ उवणिमंतेज्जा।

६११. से आगंतारेसु वा जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि ? जे तत्थ गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा णहच्छेदणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पडिहारियं जाइत्ता णो अण्णमण्णस्स देज्ज वा अणुपदेज्ज वा, सयं करणिज्जं ति कट्टु से त्तमादाए तत्थ गच्छेज्जा, २ [त्ता] पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवेत्ता इमं खलु इमं खलु त्ति आलोएज्जा, णो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणेज्जा।

६०८. साधु पथिकशालाओं, आरामगृहों, गृहस्थ के घरों और परिव्राजकों के आवासों (मठों) में जाकर पहले साधुओं के आवास योग्य क्षेत्र को भलीभांति देख-सोचकर फिर अवग्रह (वसति आदि) की याचना करे। उस क्षेत्र या स्थान का जो स्वामी हो, या जो वहाँ का अधिष्ठाता—नियुक्त अधिकारी हो उससे इसप्रकार अवग्रह की अनुज्ञा माँगे—'आयुष्मन् ! आपकी इच्छानुसार—जितने समय तक रहने की तथा जितने क्षेत्र में निवास करने की तुम आज्ञा दोगे, उतने समय तक, उतने क्षेत्र में हम निवास करेंगे। यहाँ जितने समय तक आप

---

१. समणुण्णो—का अर्थ चूर्णिकार के शब्दों में—"समणुण्णो. ण केण समं असंखणं, ण वा एगल्लविहारी।"—समनुज्ञ अर्थात् जो न तो अनियंत्रित अथवा किसी के साथ कलहकारी है, और न ही एकलविहारी है, अर्थात् जो मिलनसार है।

२. 'परपडियाए' का अर्थ चूर्णिकार करते है—परवेयावडिया पर संतिएणं।"—दूसरे साधु की सेवा के लिए दूसरे के अधिकार का।

३. 'सयमेसित्तए' के वदले पाठान्तर है—'सयमेसिय' 'सयमेसित्तातें' 'सयमेसितए'।

४. चूर्णिकार के अनुसार तात्पर्य है—'अण्णसंभोइए पीढएण वा फलएण वा सेज्जासंथारएण वा उवणिमंतेज्ज—अर्थात्—अन्यसांभोगिक साधु को पीठ, फलक और शय्यासंस्तारक का उपनिमंत्रण (मनुहार) करना चाहिए।

५. 'परपडियाए' के वदले पाठान्तर है—'परवेयावडियाते'।

६. 'ओगिण्हिय ओगिण्हिय' के वदले पाठान्तर हैं—'उगिज्झिय २' उगिण्हिय उनिमंतेज्जा, उगिण्हिय णिमंतेज्जा उगिण्हिय-२ निमंतेज्जा।' भावार्थ समान है।

ष्मान् की अवग्रह-अनुज्ञा है, उतनी अवधि तक जितने भी अन्य साधर्मिक साधु आएंगे, उनके लिए भी जितने क्षेत्र-काल की अवग्रहानुज्ञा ग्रहण करेंगे वे भी उतने ही समय तक उतने ही क्षेत्र में ठहरेंगे, उसके पश्चात् वे और हम विहार कर देंगे।

६०९. अवग्रह के अनुज्ञापूर्वक ग्रहण कर लेने पर फिर वह साधु क्या करे? वहाँ (निवासित साधु के पास) कोई साधर्मिक, साम्भोगिक एवं समनोज्ञ साधु अतिथि के रूप में आ जाएं तो वह साधु स्वयं अपने द्वारा गवेषणा करके लाये हुए अशनादि चतुर्विध आहार को उन साधर्मिक, सांभोगिक एवं समनोज्ञ साधुओं को उपनिमंत्रित करे, किन्तु अन्य साधु द्वारा या अन्य रुग्णादि साधु के लिए लाए हुए आहारादि को लेकर उन्हें उपनिमंत्रित न करे।

६१०. पथिकशाला आदि अवग्रह को अनुज्ञापूर्वक ग्रहण कर लेने पर फिर वह साधु क्या करे? यदि वहाँ (निवासित साधु के पास) कुछ अन्य साम्भोगिक, साधर्मिक एवं समनोज्ञ साधु अतिथि रूप में आ जाएं तो जो स्वयं गवेषणा करके लाए हुए पीठ (चौकी), फलक (पट्टा) शय्यासंस्तारक (घास आदि) आदि हो, उन्हें (अन्य साम्भोगिक साधर्मिक समनोज्ञ साधुओं को) उन वस्तुओं के लिए आमंत्रित करे, किन्तु जो दूसरे के द्वारा या रुग्णादि अन्य साधु के लिए लाये हुए पीठ, फलक या शय्यासंस्तारक हों, उनको लेने के लिए आमंत्रित न करे।

६११. उस धर्मशाला आदि को अवग्रहपूर्वक ग्रहण कर लेने के बाद साधु क्या करे? जो वहाँ आसपास में गृहस्थ या गृहस्थ के पुत्र आदि हैं, उनसे कार्यवश सूई, कैंची, कानकुरेदनी नहरनी- आदि अपने स्वयं के लिए कोई साधु प्रातिहारिक रूप से याचना करके लाया हो तो वह उन चीजों को परस्पर एक-दूसरे साधु को न दे-ले। अथवा वह दूसरे साधु को वे चीजें न सौंपे।

उन वस्तुओं का यथायोग्य कार्य हो जाने पर वह उन प्रातिहारिक चीजों को लेकर उस गृहस्थ के यहां जाए और लम्बा हाथ करके उन चीजों को भूमि पर रख कर गृहस्थ से कहे—यह तुम्हारा अमुक पदार्थ है, यह अमुक है, इसे संभाल लो, देख लो। परन्तु उन सूई आदि वस्तुओं को साधु अपने हाथ से गृहस्थ के हाथ पर रख कर न सौंपे।

विवेचन—अवग्रहयाचना विधि और याचना के पश्चात्—सूत्र ६०८ से ६११ तक में अवग्रह-याचना के पूर्व और पश्चात् की कर्त्तव्य-विधि बताई गई है। इसमें निम्नोक्त पहलुओं पर कर्त्तव्य निर्देश किया गया है—

(१) आवासीय स्थान के क्षेत्र और निवासकाल की सीमा, अवग्रह की याचना विधि।

(२) अवग्रह-गृहीत स्थान में साधर्मिक, सम्भोगिक, समनोज्ञ साधु आजाएं तो उन्हें स्व-याचित आहारादि में से लेने की मनुहार करे, पर-याचित में से नहीं। स्व-याचित आहार भी यदि रुग्णादि साधु के लिए याचना करके लाया हो तो उसके लिए भी नहीं।

(३) अवग्रह-गृहीत स्थान में अन्य साम्भोगिक साधर्मिक समनोज्ञ साधु आजाएँ तो उन्हें

स्व-याचित पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि में मे लेने की मनुहार करे, पर-याचित पीठादि में से अथवा रुग्णादि के लिए याचित में से नहीं।

(४) गृहस्थ के घर से स्वयाचित सूई, कैंची, कानकुरेदनी, नहरनी आदि चीजें लाया हो तो उन चीजों को स्वयं जाकर उस गृहस्थ को विधिपूर्वक सोंपे, अन्य किसी को नहीं।

तात्पर्य—इन चारों सूत्रों में स्थान, आहार, पीठ-फलकादि या सूई, कैंची आदि, जितनी भी वस्तुओं का साधु उपयोग या उपभोग करता है, उनके स्वामी या अधिकारी से अनुज्ञापूर्वक ग्रहण (अवग्रह) की विधि से उन सबकी याचना करना आवश्यक बताया है, और स्वयाचित वस्तुओं में से ही यथायोग्य साधर्मिकों को मनुहार करके दिया जा सकता है। प्रातिहारिक रूप से स्वयाचित वस्तु (सूई आदि) को स्वयं जाकर वापस सोंपने की विधि बताई है। इन विधानों के पीछे कारण ये है—बिना अवग्रहयाचना किये ही किसी के स्थान का उपयोग करने से उस स्थान का स्वामी या अधिकारी क्रुद्ध होगा, अपमानित करेगा, साधु को अदत्तादान दोष भी लगेगा। परयाचित या परार्थ—दूसरे किसी साधु के लिए याचित वस्तु को लेने की किसी साधर्मी साधु को मनुहार करने से उस साधु को बुरा लग सकता है, वह रुग्ण हो तो उसके अन्तराय लग सकता है। तथा प्रातिहारिकरूप से स्वयाचित वस्तुएं दूसरे साधु को सौंप देने से वह वापस लौटाना भूल जाए या उससे वह चीज खो जाए तो दाता को साधुओं के प्रति अश्रद्धा पैदा हो जाएगी, वचन-भंग होगा, असत्य का दोष लगेगा।

साधर्मिक, साम्भोगिक और समनोज्ञ में अन्तर—एक धर्म, एक देव और प्रायः एक सरीखे वेश वाले सार्धमिक साधु कहलाते है। साम्भोगिक वे कहलाते हैं, जिनके आचार-विचार और समाचारी एक हों, और समनोज्ञ वे होते है, जो उद्युक्त विहारी—आचार-विचार में अशिथिल हों। इसका समनुज्ञ रूपान्तर भी होता है, जिसका अर्थ होता है—एक आचार्य या एक गुरु की अनुज्ञा मे विचरण करने वाले।

शास्त्रीय विधान के अनुसार जो साधार्मिक होते हुए साम्भोगिक (बारह प्रकार के परस्पर सहोपभोग व्यवहारवाले) और समनोज्ञ साधु होते है, उनके साथ आहारादि या वन्दन व्यवहारादि का लेन-देन होता है, किन्तु अन्य साम्भोगिक के साथ शयनीय उपकरणों आदि का लेन-देन खुला होता है। इसी अन्तर को स्पष्ट करने हेतु शास्त्रकार ने ये तीन विशेषण प्रयुक्त किये हैं।

अवग्रह-वर्जित स्थान

६१२. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा अणंतरहिताए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए[1] जाव संताणए, तहप्पगारं उग्गहं णो[2] ओगिण्हेज्ज वा २।

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पुढवीए' से संताणए तक का पाठ सूत्र—३५३ के अनुसार समझें।
२. 'णो ओगिण्हेज्ज वा' के बदले पाठान्तर है—'णो गिण्हेज्ज'।

६१३. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं[1] जाणेज्जा थूणंसि वा[2] ४ जाव तहप्पगारे अंतलिक्खजाते दुब्बद्धे[3] जाव णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज[4] वा।

६१४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा कुलियंसि वा[5] ४ जाव णो [उग्गहं] ओगिण्हेज्ज वा २।

६१५. से भिक्खू वा २ [से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा] खंधंसि वा ६[6], अण्णतरे वा तहप्पगारे जाव णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।

६१६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा सागारियं[7] सागणियं सउदयं सइत्थिं सखुड्डं सपसुभत्तपाणं णो पण्णस्सं णिक्खम-पवेसं[8] जाव धम्माणुओगचिंताए, सेवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए सागारिए जाव[9] सखुड्ड-पसु-भत्तपाणे नो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।

६१७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा गाहावतिकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं पंथे (वत्थए) पडिबद्धं[10] वा, णो पण्णस्स जाव[11], से एवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २।

६१८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा—इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा तहेव[12] तेल्लादि सिणाणादि सीओदगवियडादि णिगिणा ठिता जहा सेज्जाए आलावगा, णवरं उग्गहवत्तव्वता।

---

१. 'से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।
२. 'थूणंसि वा' के आगे '४' का अंक सू० ५७३ के अनुसार शेष तीन पदों का सूचक है।
३. यहां 'जाव' शब्द सू० ५७६ के अनुसार 'दुब्बद्धे' से 'णो उग्गहं' तक के पाठ का सूचक है।
४. 'ओगिण्हेज्ज वा' के आगे '२' का अंक 'पगिण्हेज्ज वा' पाठ का सूचक है।
५. 'कुलियंसि वा' के आगे ४ का अंक सूत्र—५७७ के अनुसार 'भित्तिंसि वा' आदि शेष तीन पदों का सूचक है।
६. ''खंधंसि वा' के आगे ६ का अंक सूत्र० ५७८ के अनुसार 'मंचंसि वा' आदि अवशिष्ट ५ पदों का सूचक है।
७. 'सागारियं' के बदले 'ससागारियं' पाठान्तर है।
८. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र—३४८ के अनुसार 'निक्खम-पवेस' से 'धम्माणुओगचिंताए' पाठ तक का सूचक है।
९. यहाँ 'जाव' शब्द इसी सूत्र के अनुसार 'सागारिए' से लेकर 'सखुड्ड' पाठ तक का सूचक है।
१०. 'गंतु पंथे पडिबद्धं' के बदले 'गंतु वत्थए' 'गंतु पंथपडिबद्धं' पाठान्तर हैं।
११. यहाँ 'जाव' शब्द 'पण्णस्स' से लेकर 'सेवं णच्चा' तक का पाठ सूत्र ३४८ के अनुसार समझें।
१२. 'तहेव' शब्द से सू०—४४९, ५५०, ४५१, ४५२, ४५३ सूत्रों में वर्णित पाठ का समुच्चय में 'जहा सेज्जाए आलावग' कह कर सूचित किये गये है।

६११. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा आइण्णं सलेक्खं[1] णो पण्णस्स णिक्खम-पवेसाउ (ए) जाव[2] चिंताए, तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं ओगिण्हेज्ज वा २ ।[3]

६१२. साधु या साध्वी यदि ऐसे अवग्रह (स्थान) को जाने, जो सचित्त, स्निग्ध पृथ्वी यावत् जीव-जन्तु आदि से युक्त हो, तो इस प्रकार के स्थान की अवग्रह-अनुज्ञा एक बार या अनेक बार ग्रहण न करे।

६१३. साधु या साध्वी यदि ऐसे अवग्रह (स्थान) को जाने, जो भूमि से बहुत ऊँचा हो, ठूंठ, देहली, खूँटी, ऊखल, मूसल आदि पर टिकाया हुआ एवं ठीक तरह से बंधा हुआ या गड़ा या रखा हुआ न हो, अस्थिर और चल-विचल हो, तो ऐसे स्थान की भी अवग्रह-अनुज्ञा एक या अनेक बार ग्रहण न करे।

६१४. साधु या साध्वी ऐसे अवग्रह (स्थान) को जाने, जो घर की कच्ची पतली दीवार पर, या नदी के तट या बाहर की भीत, शिला, या पत्थर के टुकड़ों पर या अन्य किसी ऊँचे व विषम स्थान पर निर्मित हो, तथा दुर्बद्ध, दुर्निक्षिप्त, अस्थिर और चल-विचल हो तो ऐसे स्थान की भी अवग्रह-अनुज्ञा एक या अधिक बार ग्रहण न करे।

६१५. साधु-साध्वी ऐसे अवग्रह को जाने जो स्तम्भ, मचान, ऊपर की मंजिल, प्रासाद पर या तलघर में स्थित हो या उस प्रकार के किसी उच्च स्थान पर हो तो ऐसे दुर्बद्ध यावत् चल-विचल स्थान की अवग्रह-अनुज्ञा एक या अधिक बार ग्रहण न करे।

६१६. साधु या साध्वी यदि ऐसे अवग्रह को जाने, जो गृहस्थों से संसक्त हो, अग्नि और जल से युक्त हो, जिसमें स्त्रियाँ, छोटे बच्चे अथवा क्षुद्र (नपुंसक) रहते हों, जो पशुओं और उनके योग्य खाद्य-सामग्री से भरा हो, प्रज्ञावान् साधु के लिए ऐसा आवास स्थान निर्गमन-प्रवेश, वाचना यावत् धर्मानुयोग-चिन्तन के योग्य नहीं है। ऐसा जानकर उस प्रकार के गृहस्थ यावत् स्त्री, क्षुद्र तथा पशुओं तथा उनकी खाद्य-सामग्री से परिपूर्ण उपाश्रय की अवग्रह-अनुज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

६१७. साधु या साध्वी जिस अवग्रह स्थान को जाने कि उसमें जाने का मार्ग गृहस्थ के घर के बीचोंबीच से है या गृहस्थ के घर से बिल्कुल सटा हुआ है तो प्रज्ञावान् साधु का ऐसे स्थान में निकलना और प्रवेश करना तथा वाचना यावत् धर्मानुयोग-चिन्तन करना उचित नहीं है, ऐसा जानकर उस प्रकार के गृहपतिगृह-प्रतिबद्ध उपाश्रय की अवग्रह-अनुज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

---

१. 'आइण्णं सलेक्खं' पाठ के बदले पाठान्तर है—"आइण्णस्सलेक्खं, आइण्णसंलेक्खं, आइन्नलेक्खं, आइण्ण-सलेक्खं, आइन्नं सलेक्खं" आदि।

२. यहाँ 'जाव' शब्द सूत्र—३४८ के अनुसार 'निक्खमण-पवेसाउ' से लेकर 'धम्मचिंताए' तक के पाठ का सूचक है।

३. ओगिण्हेज्ज वा के आगे '२' क अंक 'पगिण्हेज्ज वा' का सूचक है।

६१८. साधु या साध्वी ऐसे अवग्रह स्थान को जाने, जिसमें गृहस्वामी यावत् उसकी नौकरानियाँ परस्पर एक दूसरे पर आक्रोश करती हों, लड़ती-झगड़ती हों, तथा परस्पर एक दूसरे के शरीर पर तेल, घी आदि लगाते हों, इसीप्रकार स्नानादि, शीतल सचित्त या उष्ण जल से गात्रसिंचन आदि करते हों या नग्नस्थित हो इत्यादि वर्णन शय्याऽध्ययन के आलापकों की तरह यहाँ समझ लेना चाहिए। इतना ही विशेष है कि वहाँ वह वर्णन शय्या के विषय में है, यहाँ अवग्रह के विषय में है। अर्थात्—इस प्रकार के किसी भी स्थान की अवग्रह-अनुज्ञा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

६१९. साधु या साध्वी ऐसे अवग्रह-स्थान को जाने जिस में अश्लील चित्र आदि अंकित या आकीर्ण हों, ऐसा उपाश्रय प्रज्ञावान् साधु के निर्गमन-प्रवेश तथा वाचना से धर्मानुयोग चिन्तन तक (स्वाध्याय) के योग्य नहीं है। ऐसे उपाश्रय की अवग्रह-अनुज्ञा एक या अधिक बार ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

विवेचन—अवग्रह-ग्रहण के अयोग्य स्थान—सूत्र ६१२ से ६१९ तक आठ सूत्रों से अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करने के लिए अयोग्य, अनुचित, अकल्पनीय, अशान्तिजनक एवं कर्मबन्धजनक स्थानों का शय्याऽध्ययन में उल्लिखित क्रम से उल्लेख किया है एवं उन स्थानों के अवग्रह-याचन का निषेध किया है।[1] इन सूत्रों का वक्तव्य एवं आशय स्पष्ट है। पहले वस्त्रैषणा-पिण्डैषणा-शय्या आदि अध्ययनों के सूत्र ३५३, ५७६, ५७७, ५७८, ४२०, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५३, ४५३, ४५४ आदि सूत्रों में इसी प्रकार का वर्णन आ चुका है, और वहाँ उनका विवेचन भी किया जा चुका है।[2]

६२०. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं, जं सवट्ठेहिं [समिते सहिते सदा जएज्जासि त्ति बेमि]।

६२०. यही (अवग्रह-अनुज्ञा-ग्रहण विवेक ही) वास्तव में साधु या साध्वी का समग्र आचार सर्वस्व है, जिसे सभी प्रयोजनों एवं ज्ञानादि से युक्त, एवं समितियों से समित होकर पालन करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहे।[3]

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. आचारांग मूलपाठ एवं वृत्ति पत्रांक ४०४ के आधार पर।
२. आचारांग (मूलपाठ टिप्पणी सहित) पृ० २२१, २२२
३. इसका विवेचन सू० ३३४ मे किया जा चुका है।

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

आम्रवन आदि में अवग्रह विधि-निषेध

६२१. से आगंतारेसु वा[1] ४ अणुवीई उग्गहं जाएज्जा। जे तत्थ ईसरे जे समाधिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवित्ता (ज्जा)—कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिण्णातं वसामो, जाव आउसो, जाव आउसंतस्स उग्गहे, जाव साहम्मिया, एताव उग्गहं ओगिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो।

६२२. से किं पुण[2] तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि? जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा दंडए वा छत्तए वा जाव चम्मछेदणए[3] वा तं णो अंतोहिंतो बाहिं णीणेज्जा, बहियाओ वा णो अंतो पवेसेज्जा, सुत्तं वा ण पडिबोहेज्जा, णो तेसिं किंचि वि अप्पत्तियं[4] पडिणीयं करेज्जा।

६२३. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए। जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए[5] ते उग्गहं अणुजाणावेज्जा-कामं खलु जाव[6] विहरिस्सामो।

से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि? अह भिक्खू इच्छेज्जा अंबं भोत्तए वा [पायए वा]। से ज्जं पुण अंबं जाणेज्जा सअंडं जाव संताणगं तहप्पगारं अंबं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

६२४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छछिण्णं अव्वोच्छिण्णं अफासुयं[7] जाव णो पडिगाहेज्जा।

६२५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छछिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं[8] जाव पडिगाहेज्जा।

---

१. 'आगंतारेसु वा' के आगे '४' का अंक शेष तीन पदों—आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा' का सूचक है।

२. 'से किं पुण' के बदले पाठान्तर है—'से यं पुण सेयं पडिणीयं करेज्जा।' वह साधु जिस अवग्रह की ……वह साधु प्रतिकूल व्यवहार करेगा तो उस अवग्रह (स्थान) की अनुज्ञा ग्रहण करने से क्या मतलब?

३. यहाँ 'जाव' शब्द सू०—४६४ के अनुसार 'छत्तए वा' से 'चम्मछेदणए' पाठ तक का सूचक है।

४. 'अप्पत्तियं पडिणीयं' के बदले पाठान्तर है—'अपत्तियं पडिणीयं' अपत्तियं पडनीयं। अर्थ दोनों का वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—अप्पत्तियंति मनसः पीडाम्, तथा पडिणीयं=प्रत्यनीकतां प्रतिकूलतां न विदध्यात्। अर्थात्—अप्पत्तियं का अर्थ है- मन को पीड़ा न दे, पडिणीयं अर्थात् प्रत्यनीकता, प्रतिकूलता धारण न करे।

५. समाहिट्ठाए के बदले पाठान्तर है—समहिट्ठिए=समधिष्ठित है।

६. यहाँ 'जाव' शब्द से सूत्र ६०८ के अनुसार कामं खलु से विहरिस्सामो तक का सारा पाठ समझें।

७. यहाँ 'जाव' शब्द अफासुयं से णो पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूत्र ३२५ के अनुसार समझें।

८. यहाँ जाव शब्द सू० ३२५ के अनुसार फासुयं से पडिगाहेज्जा तक के पाठ का सूचक है।

६२६. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा अंबभित्तगं वा[1] अंबपेसियं वा अंबचोयगं वा अंबसालगं वा अंबदालगं[2] वा भोत्तए वा पायए वा, से ज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा जाव अंबदालगं वा सअंडं जाव संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा।

६२७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा [जाव अंबदालगं वा] अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं [अव्वोच्छिण्णं] अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्जा।

६२८. से ज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा [जाव अंबदालगं वा] अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा।

६२९. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए। जे तत्थ ईसरे[3] जाव उग्गहियंसि [एवोग्गहियंसि ?] अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुं भोत्तए वा पायए वा से ज्जं उच्छुं जाणेज्जा सअंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिण्णं तहेव[4] तिरिच्छच्छिण्णे वि तहेव।

६३०. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं[5] वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं[6] वा उच्छुसालगं वा भोत्तए वा पातए वा। से ज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा सअंडं जाव णो पडिगाहेज्जा।

६३१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव नो पडिगाहेज्जा, अतिरिच्छच्छिण्णं तिरिच्छच्छिण्णं तहेव।

६३२. से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा ल्हसणवणं उवागच्छित्तए, तहेव[7] तिण्णि वि आलावगा, नवरं ल्हसुणं।

---

१. निशीयचूर्णि में अन्य आचार्य के अभिप्राय की गाथा इस प्रकार है—

अंबं केणति ऊणं, डगलद्धं, भित्तगं चऊभागो।
चोयं तयाओ भणिता सालं पुण अक्खुयं जाण ॥४७००॥

इसका भावार्थ विवेचन में दिया गया है। —निशीथ चूर्णि उ० १५ पृ० ४८१/४८२

२. अंबदालगं के बदले पाठान्तर है—अंबडालगं, अंबडगलं

३. यहाँ जाव शब्द से ईसरे से उग्गहियंसि तक का पाठ सूत्र ६०६ के अनुसार समझें।

४. जहाँ जहाँ तहेव पाठ है, वहाँ उसी सन्दर्भ में पूर्व वर्णित पाठ के अनुसार पाठ समझ लेना चाहिए।

५. निशीथ चूर्णि उद्देशक १६ में इक्षु-अवयवसूत्रान्तर्गत शब्दों का अर्थ इस प्रकार दिया है—

पव्वसहितं तु खंडं, तद्वज्जियं अंतरुच्छुयं होइ।
डगलं चक्कलिछेदो, मोयं पुण छल्लिपरिहीणं ॥४४११॥
चोयं तु होति हीरो सगलं पुण तस्स बाहिरा छल्ली।
डालं पुण भुक्कं (सुक्कं) वा इतरजुतं तप्पइट्ठं तु ॥४४१२॥

भावार्थ विवेचन मे आ चुका है। देखें। —निशीथ चूर्णि उ० १६ पृ० ६६

६. किसी प्रति में 'उच्छुचोयगं' पाठ नहीं है, तो किसी में 'उच्छुडालगं' पाठ नहीं है, कहीं 'अंतरुच्छुयं' पाठ नही है, कही 'तिरिच्छच्छिण्णं' पाठ नही हे।

७. 'तहेव' शब्द से यहाँ अंबवणं सूत्र ६२३, २४, २५ के अनुसार सारा पाठ समझें।

से भिक्खू वा २ अभिकंखेज्जा ल्हसुणं वा ल्हसुणकंदं वा ल्हसुणचोयगं वा ल्हसुणणालगं[1] वा भोत्तए वा पायए वा। से ज्जं पुण जाणेज्जा ल्हसुणं वा जाव ल्हसुणबीजं वा सअंडं जाव णो पडिगाहेज्जा। एवं अतिरिच्छछिण्णे वि। तिरिच्छछिण्णे जाव[2] पडिगाहेज्जा।

६२१. साधु धर्मशाला आदि स्थानों में जाकर, ठहरने के स्थान को देखभालकर विचार पूर्वक अवग्रह की याचना करे। वह अवग्रह की अनुज्ञा मांगते हुए उक्त स्थान के स्वामी या अधिष्ठाता (नियुक्त अधिकारी) से कहे कि—आयुष्मन् गृहस्थ ! आपकी इच्छानुसार— जितने समय तक और जितने क्षेत्र में निवास करने की आप हमें अनुज्ञा देंगे, उतने समय तक और उतने ही क्षेत्र में हम ठहरेंगे। हमारे जितने भी साधर्मिक साधु यहाँ आयेंगे, उनके निवास के लिए भी काल और क्षेत्र की सीमा की अनुज्ञा माँगने पर जितने काल और जितने क्षेत्र तक इस स्थान में ठहरने की आपकी अनुज्ञा होगी, उतने काल और क्षेत्र में वे ठहरेंगे। नियत अवधि के पश्चात् वे और हम यहाँ से विहार कर देंगे।

६२२. उक्त स्थान के अवग्रह की अनुज्ञा प्राप्त हो जाने पर साधु उसमें निवास करते समय क्या करे ? वह यह ध्यान रखे कि—वहाँ (पहले से ठहरे हुए) शाक्यादि श्रमणों या ब्राह्मणों के दण्ड, छत्र, यावत् चर्मच्छेदनक आदि उपकरण पड़े हों, उन्हें वह भीतर से बाहर न निकाले और न ही बाहर से अंदर रखे, तथा किसी सोए हुए श्रमण या ब्राह्मण को न जगाए। उनके साथ किंचित् मात्र भी अप्रीतिजनक या प्रतिकूल व्यवहार न करे, जिससे उनके हृदय को आघात पहुंचे।

६२३. वह साधु या साध्वी आम के वन (बगीचे) में ठहरना चाहे तो सर्वप्रथम वहाँ उस आम्रवन का जो स्वामी या अधिष्ठाता (नियुक्त अधिकारी) हो, उससे वे पूर्वोक्त विधि से अवग्रह की अनुज्ञा प्राप्त करे कि आयुष्मन् ! आपकी इच्छा होगी उतने समय तक, उतने नियत क्षेत्र में हम आपके आम्रवन में ठहरेंगे, इसी बीच हमारे समागत साधर्मिक भी इसी नियम का अनुसरण करेंगे। अवधि पूर्ण होने के पश्चात् हम लोग यहाँ से विहार कर जाएंगे।

उस आम्रवन में अवग्रहानुज्ञा ग्रहण करके ठहरने पर क्या करे ? यदि साधु आम खाना या उसका रस पीना चाहता है, तो वहाँ के आम यदि अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त देखे-जाने तो उस प्रकार के आम्रफलों को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर ग्रहण न करे।

६२४. यदि साधु या साध्वी उस आम्रवन के आमों को ऐसे जाने कि वे हैं तो अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित, किन्तु वे तिरछे कटे हुए नहीं हैं, न खण्डित हैं तो उन्हें अप्रासुक एवं अनेषणीय मानकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

६२५. यदि साधु या साध्वी यह जाने कि आम अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित

---

१. 'णालगं' के बदले कहीं कहीं 'नालं' पाठ है।
२. यहाँ जाव शब्द 'तिरिच्छछिण्णे' से पडिगाहेज्जा' तक के पाठ का सूत्र ६२५ के अनुसार सूचक है।

हैं, साथ ही वे तिरछे कटे हुए हैं और खण्डित हैं, तो उन्हें प्रासुक और एषणीय जानकर प्राप्त होने पर ग्रहण करे।

६२६. यदि साधु या साध्वी आम का आधा भाग, आम की पेशी (फाडी—चौथाई भाग), आम की छाल, या आम की गिरी, आम का रस, या आम के बारीक टुकड़े खाना-पीना चाहे, किन्तु वह यह जानें कि वह आम का अर्ध भाग यावत् आम के बारीक टुकड़े अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो उन्हें अप्रासुक एवं अनेषणीय मानकर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

६२७. यदि साधु या साध्वी यह जानें कि आम का आधा भाग (फांक) यावत् आम के छोटे बारीक टुकड़े अंडों यावत् मकड़ी के जालों से तो रहित है, किन्तु वे तिरछे कटे हुए नहीं हैं और न हीं खण्डित है तो उन्हें भी अप्रासुक एवं अनेषणीय जान कर प्राप्त होने पर भी ग्रहण न करे।

६२८. यदि साधु या साध्वी यह जान ले कि आम की आधी फांक से लेकर आम के छोटे बारीक टुकड़े तक अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, तिरछे कटे हुए भी है और खण्डित भी हैं तो उस प्रकार के आम्र-अवयव को प्रासुक एवं एषणीय मानकर प्राप्त होने पर ग्रहण कर ले।

६२९. वह साधु या साध्वी यदि इक्षुवन में ठहरना चाहें तो जो वहाँ का स्वामी या उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी हो, उससे पूर्वोक्त विधिपूर्वक क्षेत्र-काल की सीमा खोलकर अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करके वहाँ निवास करे। उस इक्षुवन की अवग्रहानुज्ञा ग्रहण करने से क्या प्रयोजन? (शास्त्रकार कहते हैं—) यदि वहाँ रहते हुए साधु कदाचित् ईख खाना या उसका रस पीना चाहे तो पहले यह जान ले कि वे ईख अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त तो नहीं है? यदि वैसे हों तो साधु उन्हें अप्रासुक अनेषणीय जानकर छोड़ दे। यदि वे अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त तो नहीं है, किन्तु तिरछे कटे हुए या टुकड़े-टुकड़े किये हुए नहीं हैं, तब भी उन्हें पूर्ववत् जानकर न ले। यदि साधु को यह प्रतीति हो जाए कि वे ईख अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित हैं, तिरछे कटे हुए तथा टुकड़े-टुकड़े किये हुए है तो उन्हें प्रासुक एवं एषणीय जानकर प्राप्त होने पर वह ले सकता है। यह सारा वर्णन आम्रवन में ठहरने तथा आम्रफल ग्रहण करने—न करने की तरह समझना चाहिए।

६३०. यदि साधु या साध्वी ईख के पर्व का मध्यभाग, ईख की गँडेरी, ईख का छिलका या ईख का अन्दर का गर्भ, ईख की छाल या रस, ईख के छोटे-छोटे बारीक टुकड़े, खाना या पीना चाहे तो यदि पहले वह जान जाए कि वह ईख के पर्व का मध्यभाग यावत् ईख के छोटे-छोटे बारीक टकड़े अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो उसप्रकार के उन इक्षु-अवयवों को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर ग्रहण न करे।

६३१. साधु या साध्वी यदि यह जाने कि वह ईख के पर्व का मध्यभाग यावत् ईख के

छोटे-छोटे कोमल टुकड़े अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से तो रहित हैं, किन्तु तिरछे कटे हुए नहीं हैं, तो उन्हें पूर्ववत् जानकर ग्रहण न करे, यदि वह यह जान ले कि वे इक्षु-अवयव अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित हैं तथा तिरछे कटे हुए भी हैं तो उन्हें प्रासुक एवं एषणीय जानकर मिलने पर वह ग्रहण कर सकता है।

६३२. यदि साधु या साध्वी (किसी कारणवश) लहसुन के वन (खेत) पर ठहरना चाहें तो पूर्वोक्त विधि से उसके स्वामी या नियुक्त अधिकारी से क्षेत्र-काल की सीमा खोलकर अवग्रहानुज्ञा ग्रहण करके रहे। अवग्रह ग्रहण करके वहाँ रहते हुए किसी कारणवश लहसुन खाना चाहे तो पूर्व सूत्रवत् दो बातें—अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त तथा तिरछे न कटे हुए हों तो न ले, यदि ये दोनों बातें न हों, और वह तिरछा कटा हुआ हो तो पूर्वोक्त विधिवत् ग्रहण कर सकता है। इसके तीनों आलापक पूर्वसूत्रवत् समझ लेने चाहिए। विशेष इतना ही है कि यहाँ 'लहसुन' का प्रकरण है।

यदि साधु या साध्वी (किसी कारणवश) लहसुन, लहसुन का कंद, लहसुन की छाल या छिलका या रस अथवा लहसुन के गर्भ का आवरण (लहसुन का वीज) खाना-पीना चाहे और उसे ज्ञात हो जाए कि यह लहसुन यावत् लहसुन का बीज अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है तो पूर्ववत् जानकर ग्रहण न करे, यदि वह अंडों यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, किन्तु तिरछा कटा हुआ नहीं तो भी उसे न ले, यदि तिरछा कटा हुआ हो तो पूर्ववत् प्रासुक एवं एषणीय जानकर मिलने पर ले सकता है।

विवेचन—विभिन्न अवग्रहों की ग्रहण-विधि और कर्त्तव्य—सूत्र ६२१ से ६३२ तक १२ सूत्रों में अवग्रह-ग्रहण के विभिन्न मुद्दों पर विविध पहलुओं से विचार प्रस्तुत किये गए हैं। इनमें विशेष रूप से ४ बातों का निर्देश है—

(१) किसी स्थान रूप अवग्रह की अनुज्ञा लेने की विधि,

(२) अवग्रह-ग्रहण करने के बाद वहाँ निवास करते समय साधु का कर्त्तव्य,

(३) आम्रवन, इक्षुवन एवं लहसुन के वन में अवग्रह-ग्रहण करके ठहरने पर ये तीनों वस्तुएँ यदि अप्रासुक और अनेषणीय हों, तो सेवन करने का निषेध और

(४) यदि ये वस्तुएँ प्रासुक और एषणीय हो, और उस-उस क्षेत्र के स्वामी या अधिकारी से यथाविधि प्राप्त हों तो साधु के लिए ग्रहण करने का विधान।[1]

आवासस्थानरूप अवग्रह-ग्रहण में सीमाबद्धता क्यों?—अगर स्थान रूप अवग्रह-ग्रहण में इतना स्पष्टीकरण अवग्रहदाता से न किया जाए तो मुख्य रूप से चार खतरों की सम्भावना है—(१) साधु वहाँ सदा के लिए या चिरकाल तक जम जाएंगे, ऐसी स्थिति में कदाचित् शय्यातर रुष्ट होकर अपमानित करके साधुओं को वहाँ से निकाल दे, (२) भविष्य में कभी

---

१. आचारांग वृत्ति एवं मूलपाठ पत्रांक ४०४–४०५ के आधार पर

अपना स्थान साधुओं को निवास के लिए देने में उत्साह न रहेगा; (३) साधुओं द्वारा अधिक क्षेत्र रोक लेने पर गृहस्थ को अपने अन्य कार्य करने में दिक्कतें होंगी और (४) इससे साधुओं के प्रति उपर्युक्त कारणों से अश्रद्धा पैदा हो जाएगी।

स्थान रूप अवग्रह की अनुज्ञा लेते समय काल और क्षेत्र की सीमा बांधना अनिवार्य बताया है और अवग्रहदाता को पूर्ण आश्वस्त एवं विश्वस्त करने हेतु साधु को स्वयं वचनबद्ध होना पड़ता है। हां, यदि अवग्रहदाता उदारतापूर्वक यह कह दे कि आप जब तक और जितने क्षेत्र में रहना चाहें, खुशी से रह सकते हैं, तब साधु अपनी कल्पमर्यादा का विवेक करके रहे।

अवग्रह-गृहीत स्थान में निवास और कर्त्तव्य—प्रस्तुत सूत्र में ऐसे स्थान के विषय में कर्त्तव्य-निर्देश किया है, जहां पहले से शाक्य भिक्षु आदि श्रमण या ब्राह्मण अथवा गृहस्थ ठहरे हुए हैं। ऐसी स्थिति में साधु उनके सामान को न तो बाहर फेंके और न ही एक कमरे से निकाल कर दूसरे में रखे; अगर वे सोये हों या आराम कर रहे हों तो हल्लागुल्ला करके उन्हें न उठाए, और न ऐसा कोई व्यवहार करे जिससे उन्हें कष्ट हो या उसके प्रति अप्रीति हो। यह तो सामान्य नैतिक कर्त्तव्य है। इससे भी आगे बढ़कर साधु को अपने क्षमा, मैत्री, अहिंसा, मुदिता (प्रमोद), मृदुता, ऋजुता, संयम, तप, त्याग आदि धर्मों का अपने व्यवहार से परिचय देना चाहिए। यदि जरा-सी भी कोई अनुचित बात या कठोर व्यवहार अथवा अनुदारता अपने या अपने साथियों से हो गई हो तो उन पूर्व निवासी व्यक्तियों से उसके लिए क्षमा मांगनी चाहिए, वाणी में मृदुता और व्यवहार में सरलता इन दोनों श्रमण-गुणों का त्याग तो कथमपि नहीं करना चाहिए। प्रथम तो साधु को ऐसी सार्वजनिक सर्वजन संसक्त धर्मशाला आदि में अन्य एकान्त एवं सर्वजन विविक्त स्थान के रहते ठहरना ही नहीं चाहिए, यदि वैसा स्थान न मिले और कारणवश ऐसे स्थान में ठहरना पड़े तो अपने नैतिक कर्त्तव्यों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।[1]

इसके साथ कुछ नैतिक कर्तव्य और भी है जिनका स्पष्टतः उल्लेख तो मूलपाठ में नहीं है, किन्तु 'णो तेसिं किंचि वि अप्पत्तियं पडिणीयं करेज्जा' पाठ से ध्वनित अवश्य होते हैं वे इस प्रकार हैं—(१) आवासीय स्थान को गंदा न करे, न ही कूडा-कर्कट जहाँ तहाँ डाले (२) मल-मूत्र आदि के परिष्ठापन में भी अत्यन्त विवेक से काम ले, (३) मकान या स्थान को स्वच्छ रखे, (४) मकान को तोड़े-फोडे नहीं, (५) जोर-जोर से चिल्ला कर, या आराम के समय शोर मचा कर शान्ति भंग न करे। (६) अन्य धर्म-सम्प्रदाय के आगन्तुकों के साथ भी साधु का व्यवहार उदार एवं मृदु हो। यद्यपि इन नैतिक कर्तव्यों का समावेश साधु के द्वारा आचरणीय पांच समिति, तीन गुप्ति एवं अहिंसा महाव्रत में हो जाता है तथापि साधु को

---

१. (क) आचारांग वृत्ति एवं मूलपाठ ४०४-४०५

इनका विशेष ध्यान रखना वर्तमानयुग में अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए यहाँ सूत्र में संक्षेप में उल्लेख कर दिया है।[1]

आम्रवन निवास आदि से सम्बन्धित सूत्र—यद्यपि तीन सूत्रों में इन तीनों वनों से सम्बन्धित अवग्रह-विवेक का समावेश हो जाता, तथापि विशेष स्पष्ट करने की दृष्टि से १० सूत्रों में इनका वर्णन किया है। इन तीनों वनों (क्षेत्र) में निवास करने के सूत्र प्रणयन का रहस्य वृत्तिकार एवं चूर्णिकार दोनों ने संक्षेप में खोला है।

चूर्णिकार के अनुसार—आम्रवन में दारुक-दोष या अस्थिदोष नहीं होते, इसलिए किसी रोगादि कारणवश औषध के कार्य हेतु (वैद्यादि के निर्देश पर) श्रद्धालु श्रावक से गवेषणा करने पर वह प्रार्थना करता है, भगवन्! मेरे आम्रवन में निवास करें। किसी वस्तु के गंध से भी व्याधि नष्ट होती है। जैसे रसोई की गंध से ग्लान को तृप्ति-सी होने लगती है, हर्डे की गंध से कई व्यक्तियों को विरेचन होने लगता है, स्वर्ण से व्याकुलता दूर होती है।……व्याधि-निवारण के निमित्त इक्षुवन में निवास करना उचित है।……लहशुन के वन में भी व्याधि के कारण रहा जा सकता है, इसलिए लहशुन का विकल्प भी प्रतिपादित किया गया है।[2]

वृत्तिकार का कथन है-कारण उपस्थित होने पर कोई साधु आम खाना चाहे……… प्रासुक आम कारण होने पर ले सकता है। ….यहां आम्रादि सूत्रों के अवकाश के सम्बन्ध में निशीथ सूत्र के १६ वें उद्देशक से जान लेना चाहिए।[3]

'अंबभित्तग' आदि पदों का अर्थ—भित्तगं (भत्तगं)=आधाभाग या चतुर्थभाग पेसी=चौथाई भाग आम की लंबी फाडी चोयगं=त्वचा या छाल (किसी के मत से) मोयगं=अंदर का गर्भ या गिरी सलागं=नखादि से अक्षुण्ण बाहर की छाल, अथवा रस। डालगं=छोटे-छोटे मुलायम टुकड़े अथवा डलगं (रूपान्तर)=जो लम्बे और सम न हों, ऐसे चक्रिकाकार खण्ड अथवा आधा भाग। अंतरुच्छुयं=पर्वरहित या पर्व का मध्य-भाग खंडं=पर्व सहित भाग; गंडिका=गंडेरी।[4]

---

१. (क) दशवै० अ० ८/४८ गा० 'अपत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो।''
(ख) आचारांग मूलपाठ, वृत्ति पत्रांक ४०४–४०५

२. आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २२३–२२४ में—''अंबवणे ण वट्टति, दारुय अट्ठिमादि दोसा, कारणे ओसहकज्जे सड्ढो मग्गिओ भणति—भगवं अंबवणे ट्ठाह। कस्सवि गंधेण चेव णस्सति वाही, जहा रसवईए गिलाणो, जहा वा हरीडईए गंधेण विरिच्चति, हेमयाए कलं।……वाधिणिमित्तं उक्खुवणेवि वाहिकारणे लसुणं विभासियव्वं।''

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०५………''तत्रस्थश्च सति कारणे आम्रं भोक्तुमिच्छेत्।………व्यवच्छिन्नं यावत्प्रासुकं कारणे सति गृण्हीयात्।……आम्रादिसूत्राणामवकाशो निशीथषोडद्देशकादवगन्तव्यः।''

४. (क) आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २२३
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०५
(ग) निशीथ चूर्णि उद्दे० १५, पृ. ४८१, ४८२

अवग्रह-ग्रहण में सप्त-प्रतिमा

६३३. से भिक्खू वा २ आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि[1] जे तत्थ गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं[2] उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं ओगिण्हित्तए–

[१] तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से आगंतारेसु वा[3] ४ अणुवीयि उग्गहं जाएज्जा[4] जाव[5] विहरिस्सामो। पढमा पडिमा।

[२] अहावरा दोच्चा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहे उग्गहिते उवल्लिस्सामि'[6]। दोच्चा पडिमा।

[३] अहावरा तच्चा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति–'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसिं च उग्गहे उग्गहिते णो उवल्लिस्सामि'। तच्चा पडिमा।

[४] अहावरा चउत्था पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति–'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसिं च उग्गहे उग्गहिते उवल्लिस्सामि'। चउत्था पडिमा।

[५] अहावरा पंचमा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं ओगिण्हिस्सामि, णो दोण्हं, णो तिण्हं, णो चउण्हं, णो पंचण्हं'। पंचमा पडिमा।

[६] अहावरा छट्ठा पडिमा—से भिक्खू वा २ जस्सेव उग्गहे उवल्लिएज्जा, जे तत्थ अहासमण्णागते तंजहा–इक्कडे वा[7] जाव पलाले वा, तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स[8] अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिओ[9] वा विहरेज्जा। छट्ठा पडिमा।

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द 'आगंतारेसु वा' से 'ओग्गहियंसि' तक के पाठ को सू० ६२१, ६२२ के अनुसार सूचित करता है।
२. आयतणाइं के बदले पाठान्तर है—आयाणाइं, आयणाइं।
३. आगंतारेसु वा के आगे ४ का अंक सू० ४३२ के अनुसार शेष तीनों स्थानों का सूचक है।
४. 'जाएज्जा' के बदले पाठान्तर है—'जाणेज्जा'। अर्थ होता है जाने।
५. 'जाव' शब्द से यहाँ 'जाएज्जा' से 'विहरिस्सामो' तक का पाठ सूत्र ६०८ के अनुसार समझें।
६. 'उवल्लिस्सामि' के बदले पाठान्तर हैं—'उवल्लिसामि', 'उवलिइस्सामि', उवलिस्सामि। अर्थ समान है।
७. यहाँ जाव शब्द सू० ५५६ के अनुसार 'इक्कडे वा' से 'पलाले वा' पाठ तक का सूचन है।
८. 'तस्स अलाभे' के बदले पाठान्तर हैं—तस्सालाभे, तस्सऽलाभे।
९. 'णेसज्जिओ' के बदले पाठान्तर हैं—'णेसज्जिए'

[७] अहावरा सत्तमा पडिमा—से भिक्खू वा २ अहासंथडमेव, उग्गहं जाएज्जा, तंजहा—पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव. तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा णेसज्जिओ वा विहरेज्जा । सत्तमा पडिमा ।

६३४. इच्चेतासिं[1] सत्तण्हं पडिमाणं अण्णतरिं जहा पिंडेसणाए[2] ।

६३३. साधु या साध्वी पथिकशाला आदि स्थानों में पूर्वोक्त विधिपूर्वक अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करके रहे । अवग्रह-गृहीत स्थान में पूर्वोक्त अप्रीतिजनक प्रतिकूल कार्य न करे । तथा विविध अवग्रहरूप स्थानों की याचना भी विधिपूर्वक करे । इसके अतिरिक्त अवगृहीत स्थानों में गृहस्थ तथा गृहस्थपुत्र आदि के संसर्ग से सम्बन्धित (पूर्वोक्त) स्थानदोषों का परित्याग करके निवास करे ।

भिक्षु इन सात प्रतिमाओं के माध्यम से अवग्रह ग्रहण करना जाने—

(१) उनमें से पहली प्रतिमा यह है—वह साधु पथिकशाला आदि स्थानों की परिस्थिति का सम्यक् विचार करके अवग्रह की पूर्ववत् विधिपूर्वक क्षेत्र-काल की सीमा के स्पष्टीकरण सहित याचना करे। इसका वर्णन स्थान की परिस्थिति का विचार करने से नियत अवधि पूर्ण होने के पश्चात् विहार कर देंगे तक समझना चाहिए । यह प्रथम प्रतिमा है ।

(२) इसके पश्चात् दूसरी प्रतिमा यह है—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह (संकल्प) होता है कि मैं अन्य भिक्षुओं के प्रयोजनार्थ अवग्रह की याचना करूंगा और अन्य भिक्षुओं के द्वारा याचित अवग्रह-स्थान (उपाश्रय) में निवास करूंगा । यह द्वितीय प्रतिमा है ।

(३) इसके अनन्तर तृतीय प्रतिमा यों है—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह याचना करूंगा, परन्तु दूसरे भिक्षुओं के द्वारा याचित अवग्रह स्थानों में नहीं ठहरूंगा । यह तृतीय प्रतिमा है ।

(४) इसके पश्चात् चौथी प्रतिमा यह है—जिस भिक्षु के ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना नहीं करूंगा, किन्तु दूसरे साधुओं द्वारा याचित अवग्रह स्थान में निवास करूंगा । यह चौथी प्रतिमा है ।

(५) इसके बाद पांचवीं प्रतिमा इस प्रकार है—जिस भिक्षु के ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि

---

१. चूर्णिकार इस सूत्र का आशय स्पष्ट करते है—"अंतरादीवगं सुयं मे आउसंतेण भगवता, पंचविहे उग्गहे परुवेयव्वे । एवं पिंडेसणाणं सव्वज्झयणाण य । इत्यवग्रहप्रतिमा समाप्ता । अर्थात्—बीच में और आदि में 'सुयं मे आउसंतेण भगवता' इस प्रकार से कहकर शास्त्रकार को पंचविध अवग्रह की प्ररूपणा करनी चाहिए थी । (चूर्णिकार के मतानुसार) इस प्रकार पिण्डैषणा की तथा समस्त अध्ययनों की अवग्रह प्रतिमा समाप्त हुई ।" इस दृष्टि से सूत्र ६३६ से पहले ही यह अध्ययन समाप्त हो जाता है । यह सूत्र अतिरिक्त है ।

२. 'जहा पिंडेसणाए' शब्द से यहाँ पिण्डैषणा अध्ययन के सूत्र ४१० के अनुसार वर्णन जान लेने का संकेत किया है ।

मैं अपने प्रयोजन के लिए ही अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु दूसरे दो, तीन, चार और पांच साधुओं के लिए नहीं। यह पांचवीं प्रतिमा है।

(६) इसके पश्चात् छठी प्रतिमा यों है—जो साधु जिसके अवग्रह (आवासस्थान) की याचना करता है उसी अवगृहीत स्थान में पहले से ही रखा हुआ शय्या-संस्तारक (बिछाने के लिए घास आदि) मिल जाए, जैसे कि इक्कड़ नामक तृणविशेष यावत् पराल आदि; तभी निवास करता है। वैसे अनायास प्राप्त शय्या-संस्तारक न मिले तो वह उत्कटुक अथवा निषद्या-आसन द्वारा रात्रि व्यतीत करता है। यह छठी प्रतिमा है।

(७) इसके पश्चात् सातवीं प्रतिमा इस प्रकार है—साधु या साध्वी ने जिस स्थान की अवग्रह-अनुज्ञा ली हो, यदि उसी स्थान पर पृथ्वीशिला, काष्ठशिला तथा पराल आदि बिछा हुआ प्राप्त हो तो वहाँ रहता है, वैसा सहज संस्तृत पृथ्वीशिला आदि न मिले तो वह उत्कटुक या निषद्या-आसन पूर्वक बैठकर रात्रि व्यतीत कर देता है। यह सातवीं प्रतिमा है।

६३४. इन सात प्रतिमाओं में से जो साधु किसी एक प्रतिमा को स्वीकार करता है, वह इस प्रकार न कहे—मैं उग्राचारी हूँ, दूसरे शिथिलाचारी है, इत्यादि शेष समस्त वर्णन पिण्डैषणा अध्ययन में किये गए वर्णन के अनुसार जान लेना चाहिए।

विवेचन—अवग्रह सम्बन्धी सप्त प्रतिमाएं—सूत्र ६३३ और ६३४ में अवग्रह-याचना सम्बन्धी सात प्रतिज्ञाएँ (अभिग्रह) और उनका स्वरूप बताने के अतिरिक्त प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु का जीवन कितना सहिष्णु, समभावी एवं नम्र होना चाहिए, यह भी उपसंहार में बता दिया है। चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के अनुसार इन सातों प्रतिमाओं का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार होगा —"सात प्रतिमाएं है। जितनी भी अवग्रह याचनाएं है, वे सब इन सातों प्रतिमाओं के अन्दर आ जाती है।

(१) **प्रथम प्रतिमा**—सांभोगिकों की सामान्य है। धर्मशाला आदि के सम्बन्ध में पहले से विचार करके प्रतिज्ञा करता है कि 'ऐसा ही उपाश्रय मुझे अवग्रह के रूप में ग्रहण करना है, अन्यथाभूत नहीं।'

(२) **दूसरी प्रतिमा**—गच्छान्तर्गत साम्भोगिक साधुओं की तथा असाम्भोगिक उद्युक्त-विहारी साधुओं की होती है। जैसे—"मैं दूसरे साधुओं के लिए अवग्रह-याचना करूंगा, दूसरों के गृहीत अवग्रह में रहूंगा।"

(३) **तीसरी प्रतिमा**—आहालंदिक साधुओं और आचार्यों की होती है, कारण विशेष में अन्य साम्भोगिक साधुओं की भी होती है। जैसे—"मैं दूसरे साधुओं के लिए अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु दूसरों के अवगृहीत अवग्रह में नहीं ठहरूंगा।

(४) **चौथी प्रतिमा**—गच्छ में स्थित अभ्युद्यतविहारियों तथा जिनकल्पादि के लिए परिकर्म करने वालों की होती है। जैसे—"मैं दूसरों के लिए अवग्रह-याचना नहीं करूंगा, दूसरे साधुओं द्वारा याचित अवग्रह में रहूँगा।"

(५) पांचवीं प्रतिमा—जिनकल्पिक की या प्रतिमाधारक साधु की होती है। यथा—"मैं अपने लिए अवग्रह की याचना करूंगा, किन्तु अन्य दो, तीन, चार, पांच साधुओं के लिए नहीं।"

(६) छठी प्रतिमा—यह भी जिनकल्पिक आदि मुनियों की या जिनभगवान् (वीतराग) की होती है। जैसे—मैं जिस अवग्रह (स्थानरूप अवग्रह) को ग्रहण करूंगा, उसी में अगर शय्यासंस्तारक (घास आदि) होगा तो ग्रहण करूंगा (बाहर से अन्दर ले जाने या अन्दर से बाहर घास आदि संस्तारक निकालने का इसमें पूर्ण निषेध है) अन्यथा, उत्कटुक या निषद्या-आसन से बैठकर रात्रि बिता दूंगा।"

(७) सातवीं प्रतिमा—यह भी जिनकल्पिक आदि मुनियों की या वीतरागों की होती है। जैसे—मैं जिस अवग्रह को ग्रहण करूंगा, वहाँ यदि पहले से ही स्वाभाविक रूप से पृथ्वी-शिला या काष्ठशिला आदि बिछाई हुई होगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उत्कटुक या निषद्या-आसन से बैठकर रात बिता दूंगा।

सातों प्रतिमाओं में से किसी भी एक प्रतिमा का धारक साधु पिण्डैषणा-प्रतिमा-प्रतिपन्न की तरह आत्मोत्कर्ष, अभिमान आदि से रहित, समभाव में स्थित होकर रहे।[1]

"उवल्लिस्सामि" आदि पदों का अर्थ—उवल्लिस्सामि = आश्रय लूंगा, निवास करूंगा। अहासमण्णागते = यथागत, पहले से जैसा है, वैसा ही। अहासंथडं = जैसा बिछा हुआ हो, जो भी संस्तारक हो, स्वाभाविक रूप से बिछा हो।[2]

पंचविध अवग्रह

६३५. सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते, तंजहा-देविंदोग्गहे १, राओग्गहे[3] २, गाहावतिउग्गहे ३, सागारियउग्गहे ४, साधम्मियउग्गहे ५।

६३५. हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने उन भगवान् से इस प्रकार कहते हुए सुना है कि इस जिन प्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने पांच प्रकार का अवग्रह बताया है, जैसे कि—(१) देवेन्द्र-अवग्रह, (२) राजावग्रह, (३) गृहपति-अवग्रह, (४) सागारिक-अवग्रह, और (५) साधर्मिक-अवग्रह।

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २२५
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६

३. 'राओग्गहे' के बदले पाठान्तर हैं—रायाउग्गहे, रायोउग्गहे, राय-उग्गहे, राउग्गहे, राउउग्गहे, रायोग्गहे आदि। अर्थ एक-सा है।

विवेचन—(पांच प्रकार के अवग्रह)-प्रस्तुत सूत्र में पांच प्रकार के अवग्रह, अवग्रहदाताओं की दृष्टि से बताए हैं। अर्थात् देवेन्द्र सम्बन्धी अवग्रह राजा सम्बन्धी अवग्रह आदि। अथवा देवेन्द्र का अवग्रह, राजा का अवग्रह आदि पांच प्रकार के अवग्रहों की याचना साधु के लिए जिनशासन में विहित है।

६३६. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

६३६. यही उस भिक्षु या भिक्षुणी का समग्र आचार है, जिसके लिए वह अपने सभी ज्ञानादि आचारों एवं समितियों सहित सदा प्रयत्नशील रहे।

॥ सत्तमज्झयणं उग्गहपडिमा समत्ता ॥

॥ प्रथम चूला सम्पूर्ण ॥

स्थान-सप्तिका : अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के आठवें अध्ययन का नाम स्थान-सप्तिका है।

☆ यहाँ से सप्त-सप्तिका नाम की द्वितीय चूला प्रारम्भ होती है।

☆ साधु को रहने तथा अन्य धार्मिक क्रियाएं करने के लिए स्थान की आवश्यकता अनिवार्य है। स्थान के बिना वह स्थिर नहीं हो सकता। साधु जीवन में केवल चलना, खड़े रहना या थोड़ी देर बैठना ही नहीं है, यथासमय उसे शयन, प्रतिलेखन, प्रवचन, कायोत्सर्ग आदि क्रियाएं करने के लिए स्थिर भी होना पड़ता है। किन्तु साधु कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार, उच्चार-प्रस्रवणादि के लिए किस प्रकार के स्थान में, कितनी भूमि में, कब तक, किस प्रकार से स्थित हो? इसका विवेक करना अनिवार्य है। साथ ही कायोत्सर्ग के समय स्थान से सम्बन्धित प्रतिज्ञाएं भी होनी आवश्यक हैं, ताकि स्थान के सम्बन्ध में जागृति रहे। इसी उद्देश्य से 'स्थान-सप्तिका' अध्ययन का प्रतिपादन किया गया है।[1]

☆ जहाँ ठहरा जाए, उसे स्थान कहते हैं। यहाँ द्रव्यस्थान-ग्राम, नगर यावत् राजधानी में ठहरने योग्य स्थान विवक्षित है। औपशमिकभाव आदि या स्वभाव में स्थिति करना आदि भाव स्थान विवक्षित नहीं है।

☆ साधु को कैसे स्थान का आश्रय लेना चाहिए? ऊर्ध्व (प्रशस्त) या उक्त भाव स्थान आदि प्राप्त करने के लिए द्रव्य-स्थान के सम्बन्ध में प्रतिपादन है?[2]

☆ स्थान (ठाणं) एक विशेष पारिभाषिक शब्द भी है, शय्याऽध्ययन में जगह-जगह इस शब्द का प्रयोग किया गया है—कायोत्सर्ग अर्थ में। वहाँ 'ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतेज्जा' वाक्य-प्रयोग यत्र-तत्र किया है। यही कारण है कि स्थान (कायोत्सर्ग) सम्बन्धी चार प्रतिमाएँ इस अध्ययन के उत्तरार्द्ध में दी गई हैं।[3] अतः द्रव्यस्थान एवं कायोत्सर्ग रूप स्थान के सात विवेक सूत्रों का वर्णन इस अध्ययन में है।

☆ यद्यपि सात अध्ययनों में सातों ही सप्तिकाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं, सातों ही उद्देशक-रहित हैं, तथापि सर्वप्रथम स्थान के सम्बन्ध में कहा जाना अभीष्ट है, इसलिए सर्वप्रथम 'स्थान-सप्ततिका' नामक अध्ययन का प्रतिपादन किया गया है।[4]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६ के आधार पर
२. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३२०। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६।
३. आचारांग मूल पाठ सू० ४१२ से ४२३ तक वृत्ति सहित पत्रांक
४. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६।

॥ बीआ चूला ॥

अट्ठमं अज्झयणं 'ठाणसत्तिक्कयं'

स्थान-सप्तिका : अष्टम अध्ययन :

अण्डादि युक्त-स्थान ग्रहण-निषेध

६३७. से भिक्खू वा २ अभिकंखेति[1] ठाणं ठाइत्तए। से अणुपविसेज्जा गामं वा नगरं वा जाव[2] संणिवेसं वा। से अणुपविसित्ता गामं वा जाव संणिवेसं वा से ज्जं पुण ठाणं जाणेज्जा सअंडं[3] जाव मक्कडासंताणयं, तं तहप्पगारं ठाणं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा। एवं सेज्जागमेण नेयव्वं जाव उदयपसूयाइं[4] ति।

६३७. साधु या साध्वी यदि किसी स्थान में ठहरना चाहे तो वह पहले ग्राम, नगर यावत् सन्निवेश में पहुंचे। वहाँ पहुंच कर वह जिस स्थान को जाने कि यह अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है, तो उस प्रकार के स्थान को अप्रासुक एवं अनेषणीय जानकर मिलने पर भी ग्रहण न करे।

इसीप्रकार इससे आगे का यहाँ से उदकप्रसूत कंदादि तक का स्थानैषणा सम्बन्धी वर्णन शय्यैषणा अध्ययन में निरूपित वर्णन के समान जान लेना चाहिए।

विवेचन—कैसे स्थान में न ठहरे, कैसे में ठहरे?—प्रस्तुत सूत्र में शय्यैषणा अध्ययन की तरह स्थान सम्बन्धी गवेषणा में विवेक बताया गया है। शय्या के बदले यहाँ स्थान समझना चाहिए। एक सूत्र तो यहाँ दे दिया है, शेष सूत्रों का रूप संक्षेप में इस प्रकार समझ लेना चाहिए—

(१) अंडों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त स्थान न हो तो उसमें ठहरे।

(२) एक साधार्मिक यावत् बहुत-सी साधर्मिणियों के उद्देश्य से समारम्भपूर्वक निर्मित, क्रीत, पामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत स्थान पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो अथवा अनासेवित, उसमें न ठहरे।

---

१. 'अभिकंखेति' के बदले 'अभिकंखति', 'अभिकंखेज्जा' पाठान्तर है, अर्थ एक-सा है।

२. यहाँ 'जाव' शब्द सू० २२४ के अनुसार 'गामं वा' से 'संणिवेसं वा' तक के पाठ का सूचक है।

३. यहाँ 'जाव' शब्द सू० ३२४ के अनुसार 'सअंडं' से 'मक्कडासंताणयं' तक के पाठ का सूचक है।

४. यहाँ 'जाव' शब्द से शय्याऽध्ययन के सू० ४१२ से ४१७ तक उदकपसूताणि कंदाणि······चेतेज्जा' तक का समग्र वर्णन समझें।

(३) बहुत-से श्रमणादि को गिन-गिनकर औद्देशिक यावत् अभिहृत दोषयुक्त स्थान हो, तो न ठहरे।

(४) बहुत-से श्रमणादि के उद्देश्य से निर्मित, क्रीतादि दोषयुक्त तथा अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित स्थान में न ठहरे।

(५) ऐसे पुरुषान्तरकृत स्थान में ठहरे।

(६) साधु के लिए संस्कारित-परिकर्मित और अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित स्थान में न ठहरे।

(७) इससे विपरीत पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित स्थान में ठहरे।

(८) साधु के लिए द्वार छोटे या बड़े बनवाए, यावत् भारी चीजों को इधर-उधर हटाए, बाहर निकाले, ऐसे अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित स्थान में न ठहरे।

(९) इससे विपरीत पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित स्थान में ठहरे।

(१०) साधु को ठहराने के लिए उसमें पानी से उगे हुए कंदमूल यावत् हरी को वहाँ से हटाए, उखाड़े, निकाले, फिर वह अपुरुषान्तर कृत यावत् अनासेवित स्थान हो तो उसमें न ठहरे।

(११) इससे विपरीत पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उसमें ठहरे।[1]

इन ११ आलापकों के अतिरिक्त चूर्णिकार के मतानुसार और भी बहुत से आलापक हैं, जैसे कि—जो स्थान अनन्तरहित (सचेतन) पृथ्वी यावत् जीवों से युक्त हो, जहाँ दुष्ट मनुष्य सांड, सिंह, सर्प आदि का निवास हो या खतरा हो, जो ऊँचा हो और जिस पर चढ़ने में फिसल जाने का भय हो, जो विषम ऊबड़-खाबड़ या बहुत नीचा या बहुत ऊँचा स्थान हो, जिस स्थान पर गृहस्थ द्वारा पश्चात्कर्म करनें की सम्भावना हो, जो स्थान सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि से युक्त या प्रतिष्ठित हो, जिस स्थान में स्त्री, पशु, क्षुद्र प्राणी तथा नपुंसक का निवास हो, जहाँ गृहस्थ का परिवार अग्नि जलाना, स्नानादि करना आदि सावद्य-कर्म करता हो, जहाँ गृहस्थ का परिवार व पारिवारिक महिलाएँ रहती हों, जिस स्थान में से बार-बार गृहस्थ के घर में जाने-आने का मार्ग हो, जहाँ गृहस्थ के पारिवारिक जन परस्पर लड़ते-झगड़ते हों, हैरान करते हों। जहाँ परस्पर तेल आदि का मर्दन किया जाता हो, जहाँ पड़ौस में स्त्री-पुरुष एक दूसरे के शरीर पर पानी छींटते यावत् स्नान कराते हों, जहाँ बस्ती में नग्न या अर्धनग्न स्त्री-पुरुष परस्पर मैथुन सेवन की प्रार्थना करते हों, रहस्यमंत्रणा करते हों, जहाँ नग्न या अश्लील चित्र अंकित हों इत्यादि स्थानों में साधु निवास न करे।

इसके अतिरिक्त गाँव आदि में जिस स्थान में दो, तीन, चार या पांच साधु समूह रूप से ठहरें, वहाँ एक दूसरे के शरीर से आलिंगन आदि मोहोत्पादक दुष्क्रियाओं से दूर रहे। इन

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ३६०-३६१; सूत्र ४१२ से ४१८ तक।

दोषों की सम्भावना के कारण एक साधु दूसरे साधु से कुछ अन्तर (दूर)—कोई विशेष कारण न हो तो दो हाथ के फासले पर—सोए।[1]

निष्कर्ष यह है "स्थानैषणा के सम्बन्ध में चूर्णिकार सम्मत बहुत-से सूत्रपाठ हैं, जो वर्तमान में आचारांग सूत्र में उपलब्ध नहीं हैं।[2]

चार स्थान प्रतिमा

६३८. इच्चेताइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू इच्छेज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए।

[१] तत्थिमा पढमा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, अवलंबेज्जा, काएण विप्परिकम्मादी[3], सवियारं ठाणं ठाइस्सामि। पढमा पडिमा।

[२] अहावरा दोच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, अवलंबेज्जा, णो काएण विप्परिकम्मादी, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि त्ति दोच्चा पडिमा।

[३] अहावरा तच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, अवलंबेज्जा, णो काएण विप्परिकम्मादी, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि त्ति तच्चा पडिमा।

[४] अहावरा चउत्था पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा, णो अवलंबेज्जा, णो काएण विप्परिकम्मादी, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि, वोसट्ठकाए वोसट्ठकेस-मंसु-लोम-णहे संणिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामि त्ति[4] चउत्था पडिमा।

६३९. इच्चेयासिं[5] चउण्हं पडिमाणं[6] जाव पग्गहियतरायं विहरेज्जा, णेव किंचि वि वदेज्जा।

---

१. (क) आचारांग सूत्र मूलपाठ सू० ४१९ से ४४१, तथा ४४३ से ४५४ तक वृत्ति सहित।
(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २२८।
"इदाणिं सव्वेसिं सुत्तालावगा—से भिक्खू वा भिक्खूणीवा अभिकंखेज्ज ठाणं ठाइत्तए स अंडादिसु ण ठाएज्जा। अणंतरहियाए पुढवादी जाव आइण्णसलेक्ख आलावगसिद्धा। गामादिसु एगो वा २, ३, ४, ५ तेहिं सद्धिं एगततो ठाणं ठाएमाणे आलिंगणा वज्जेज्ज। जम्हा एते दोसा तम्हा अंतरा सुवंति, दो हत्था अणावाधा।"

२. आचारांग मूलपाठ टिप्पण—सम्पादक का मत—"इत आरभ्य बहुषु सूत्रेषु चूर्णिकर्ता सम्मतो भूयान् सूत्रपाठः सम्प्रति आचारांगसूत्रे नोपलभ्यत इति ध्येयम्।" पृ० २२८।

३. विप्परिकम्मादी' के बदले पाठान्तर हैं—'विप्परकम्मादी', 'विपरिकम्मादी', विप्परक्कम्मादी'। अर्थ समान है।

४. चूर्णिकार के अनुसार 'त्ति चउत्था पडिमा' (सू० ६३८/४) के बाद ही 'स्थानसप्तिका' अध्ययन समाप्त हो जाता है। आगे के दो सूत्र उनके मतानुसार नहीं हैं पढमं ठाण सत्तिकयं समाप्तम्। पृ० २२९

५. यहाँ 'इच्चेयासिं' के बदले पाठान्तर है—'इच्चेयाणं'

६. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिमाणं' से 'पग्गहियतरायं' तक का समग्र पाठ सू० ४१० के अनुसार समझें।

६३८. इन पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण कर्मोपादानरूप दोष स्थानों को छोड़कर साधु इन (आगे कही जाने वाली) चार प्रतिमाओं का आश्रय लेकर किसी स्थान में ठहरने की इच्छा करे।

[१] इन चारों में से प्रथम प्रतिमा का स्वरूप इस प्रकार है—मैं अपने कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में निवास करूंगा, अचित्त दीवार आदि का शरीर से सहारा लूंगा तथा हाथ-पैर आदि सिकोड़ने-फैलाने के लिए परिस्पन्दन आदि करूंगा, तथा वहीं (मर्यादित भूमि में ही) थोड़ा-सा सविचार पैर आदि से विचरण करूंगा। यह पहली प्रतिमा हुई।

[२] इसके पश्चात् दूसरी प्रतिमा का रूप इस प्रकार है—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूँगा और अचित्त दीवार आदि का शरीर से सहारा लूंगा तथा हाथ-पैर आदि सिकोड़ने-फैलाने के लिए परिस्पन्दन आदि करूंगा; किन्तु पैर आदि से मर्यादित भूमि में थोड़ा-सा भी विचरण नहीं करूंगा।

[३] इसके अनन्तर तृतीय प्रतिमा—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्त स्थान में रहूंगा, अचित्त दीवार आदि का शरीर से सहारा लूंगा, किन्तु हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण एवं पैरों से मर्यादित भूमि में जरा-सा भी भ्रमण नहीं करूंगा।

[४] इसके बाद चौथी प्रतिमा यों है—मैं कायोत्सर्ग के समय अचित्तस्थान में स्थित रहूंगा। उस समय न तो शरीर से दीवार आदि का सहारा लूंगा, न हाथ-पैर आदि का संकोचन-प्रसारण करूंगा, और न ही पैरों से मर्यादित भूमि में जरा-सा भी भ्रमण करूंगा। मैं कायोत्सर्ग पूर्ण होने तक अपने शरीर के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करता हूँ। केश, दाढ़ी, मूंछ, रोम और नख आदि के प्रति भी ममत्व-विसर्जन करता हूं। और कायोत्सर्ग द्वारा सम्यक् प्रकार से काया का निरोध करके इस स्थान में स्थित रहूंगा।

६३९. साधु इन (पूर्वोक्त) चार प्रतिमाओं से किसी एक प्रतिमा को ग्रहण करके विचरण करे। परन्तु प्रतिमा ग्रहण न करने वाले अन्य मुनि की निन्दा न करे, न अपनी उत्कृष्टता की डींग हांके। इस प्रकार की कोई भी बात न कहे।

विवेचन—स्थान सम्बन्धी चार प्रतिज्ञाएँ—प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए स्थान में स्थित होने पर स्वेच्छा से ग्राह्य ४ प्रतिज्ञाएं (अभिग्रह विशेष) बताई गई हैं। वे चार प्रतिज्ञाएँ संक्षेप में ये हैं—

(१) अचित्त स्थानोपाश्रया, (२) अचित्तावलम्बना,
(३) हस्तपादादि परिक्रमणा, (४) स्तोक पादविहरणा।

प्रथम में ये चारों ही होती है, फिर उत्तरोत्तर एक-एक अन्तिम कम होती जाती है।

इन चारों की व्याख्या चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार है—

(१) **प्रथम प्रतिमा का स्वरूप**—चार प्रकार से कायोत्सर्ग में स्थित हो—अचित्त (स्थान) का (कायोत्सर्ग में) आश्रय लेकर रहता है, दीवार, खंभे आदि अचित्त वस्तुओं का पीठ से,

या पीठ एवं छाती से सहारा लेता है। हाथ लम्बा रखने से थक जाने पर आगल आदि का सहारा लेता है। अपने स्थान की मर्यादित भूमि में ही काय-परिक्रमण—परिस्पन्दन करता है, यानी हाथ, पैर आदि का संकोचन-प्रसारणादि करता है और थोड़ा-सा पैरों से चंक्रमण करता है। (सवियार का अर्थ है—चंक्रमण, अर्थात्—पैरों से थोड़ा-थोड़ा विचरण-विहरण करना, चहलकदमी करना) यानी वह विहरणरूप स्थान में ही स्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि पैरों से उतना ही चंक्रमण करता है, जिससे मल-मूत्र विसर्जन सुखपूर्वक हो सके।[1]

दूसरी प्रतिमा में कायोत्सर्ग में स्थिति के अतिरिक्त आलम्बन एवं परिस्पदन (आकुञ्चन-प्रसारणादि क्रिया वाणी एवं काया से) करता है, पैरों आदि से चंक्रमण नहीं करता।

तीसरी प्रतिमा में कायोत्सर्ग में स्थिति के अतिरिक्त केवल आलम्बन ही लेता है, परिस्पन्दन और परिक्रमण (चंक्रमण) नहीं करता और

चौथी प्रतिमा में तो इन तीनों का परित्याग कर देता है। चतुर्थ प्रतिमा के धारक का स्वरूप यह है कि वह परिमित काल तक अपनी काया का व्युत्सर्ग कर देता है, तथा अपने केश, दाढ़ी-मूंछ रोम-नख आदि पर से भी ममत्व विसर्जन कर देता है, इसप्रकार शरीरादि के प्रति ममत्व एवं आसक्तिरहित होकर वह सम्यक् निरुद्ध स्थान में स्थित होकर कायोत्सर्ग करता है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके सुमेरु की तरह निष्कम्प रहता है। यदि कोई उसके केश आदि को उखाड़े तो भी वह अपने स्थान—कायोत्सर्ग से विचलित नहीं होता।

'संणिरुद्धगामट्ठाणं ठाइस्सामि' पाठ मानकर चूर्णिकार व्याख्या करते हैं—सन्निरुद्ध कैसे होता है? समस्त प्रवृत्तियों का त्याग करके, इधर-इधर तिरछा निरीक्षण छोड़कर एक ही पुद्गल पर दृष्टि टिकाए हुए अनिमिष (अपलक) नेत्र होकर रहना सन्निरुद्ध होना कहलाता है। इसमें साधक को अपने केश, रोम, नख, मूंछ आदि उखाड़ने पर भी विचलितता नहीं होती।[2]

६४०. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा जाव[3] जएज्जासि त्ति बेमि।

६४०. यही (स्थानैषणा विवेक ही) उस भिक्षु या भिक्षुणी का आचार—सर्वस्व है; जिसमें सभी ज्ञानादि आचारों से युक्त एवं समित होकर वह सदा प्रयत्नशील रहे।

॥ अष्टम अध्ययन ; प्रथम सप्तिका समाप्त ॥

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २२८ पर—'चउहिं ठणेहिं ठाएज्जा, अचित्तं अवसज्जिस्सामि, अवसज्जणं अवत्थंभणं, कुड्डे संभादिसु वा पट्ठीए वा, पट्ठीए उरेण वा अवलंबणं, हत्थेण लंबंता परिस्संता अग्गलादिसु अवलंबति। ठाण-परिच्चातो कायविपरिक्कमणं। सवियारं, चंक्रमणमित्यर्थः; उच्चार पासवणादि सुहं भवति ते जाणेज्जा।"

२. "संणिरुद्धगामट्ठाणं ठाइस्सामि—कहं सन्निरुद्धं? अण्णजसमि (य) ति (?) अप्पतिरियं एगपोग्गल-दिट्ठी अणिमिसणयणे विभासियव्वं परूढणहकेसमंसू........।"

३. 'जाव' शब्द से यहां सू० ३३४ के अनुसार 'भिक्खुणीए वा' से 'जएज्जासि' तक का समग्र पाठ समझें।

निषीधिका : नवम अध्ययन

प्राथमिक

✡ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के नौवें अध्ययन का नाम 'निषीधिका' है।

✡ 'निषीधिका' शब्द भी जैन शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। यों तो निषीधिका का सामान्य रूप मे अर्थ होता है—बैठने की जगह।

✡ प्राकृत शब्द कोष में निषीधिका के निशीथिका, नैषेधिकी आदि रूपान्तर तथा श्मशान-भूमि, शवपरिष्ठापनभूमि, बैठने की जगह, पापक्रिया के त्याग की प्रवृत्ति, स्वाध्याय-भूमि, अध्ययन स्थान आदि अर्थ मिलते हैं।[1]

✡ प्रस्तुत प्रसंग में निषीधिका या निशीथिका दोनों का स्वाध्यायभूमि अर्थ ही अभीष्ट है। स्वाध्याय के लिए ऐसा ही स्थान अभीष्ट होता है, जहाँ अन्य सावद्य व्यापारों, जनता की भीड़, कलह, कोलाहल, कर्कशस्वर, रुदन आदि अशान्तिकारक बातों, गंदगी, मल-मूत्र, कूड़ा डालने आदि निषिद्ध व्यापारों का निषेध हो। जहाँ चिन्ता, शोक, आर्तध्यान रौद्रध्यान मोहोत्पादक रागरंग आदि कुविचारों का जाल न हो, जो सुविचारों की भूमि हो, स्वस्थ चिन्तनस्थली हो। दिगम्बर आम्नाय में प्रचलित 'नसीया' नाम इसी 'निसीहिया' का अपभ्रष्ट रूप है।'

✡ वह निषीधिका ('स्वाध्यायभूमि') कैसी हो? वहाँ स्वाध्याय करने हेतु कैसे बैठा जाए? कहाँ बैठा जाए? कौन-सी क्रियाएँ वहां न की जाएं? कौन-सी की जाएं? इत्यादि स्वाध्यायभूमि से सम्वन्धित क्रियाओं का निरूपण होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'निषीधिका' या 'निशीथिका' रखा गया है।[2]

✡ अथवा निशीथ एकान्त या प्रच्छन्न को भी कहते हैं। निशीथ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चार प्रकार का है। द्रव्य-निशीथ यहाँ जनता के जमघट का अभाव है, क्षेत्र-निशीथ—एकान्त, शान्त, प्रच्छन्न एवं जनसमुदाय के आवागमन से रहित क्षेत्र है, काल-निशीथ—जिस काल में स्वाध्याय किया जा सके। और भाव-निशीथ—नो आगमतः, यह अध्ययन है। जिस अध्ययन में द्रव्य क्षेत्रादि चारों प्रकार से निषीथिका का प्रतिपादन हो, वह निशीथिका अध्ययन है। इसे निषीधिका-सप्तिका भी कहते है। यह दूसरी सप्तिका है।

---

१. 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० ४१४

२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०८ के आधार पर

नवमं अज्झयणं 'णिसीहिया' सत्तिक्कयं

निषीधिका : नवम अध्ययन : द्वितीय सप्तिका

निषीधिका-विवेक

६४१. से भिक्खू वा २ अभिकंखति[1] णिसीहियं[2] गमणाए[3]। से [ज्जं] पुण णिसीहियं जाणेज्जा सअंडं सपाणं जाव मक्कडासंताणयं, तहप्पगारं णिसीहियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो चेतिस्सामि।

६४२. से भिक्खू वा २ अभिकंखति णिसीहियं[4] गमणाए, से ज्जं पुण निसीहियं जाणेज्जा अप्पपाणं अप्पबीयं जाव मक्कडासंताणयं तहप्पगारं णिसीहियं फासुयं एसणिज्जं लाभे संते चेतिस्सामि।

एवं सेज्जागमेण णेतव्वं जाव उदयपसूयाणि त्ति।

६४१. जो साधु या साध्वी प्रासुक-निर्दोष स्वाध्यायभूमि में जाना चाहे, वह यदि ऐसी स्वाध्यायभूमि (निषीधिका) को जाने, जो अंडों, जीव जन्तुओं यावत् मकड़ी के जालों से युक्त हो तो उस प्रकार की निषीधिका को अप्रासुक एवं अनेषणीय समझ कर मिलने पर कहे कि मैं इसका उपयोग नहीं करूंगा।

६४२. जो साधु या साध्वी प्रासुक-निर्दोष स्वाध्यायभूमि में जाना चाहे, वह यदि ऐसी स्वाध्यायभूमि को जाने, जो अंडों, प्राणियों, बीजों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त न हो, तो उस प्रकार की निषीधिका को प्रासुक एवं एषणीय समझ कर प्राप्त होने पर कहे कि मैं इसका उपयोग करूंगा।

निषीधिका के सम्बन्ध में यहाँ से लेकर उदक-प्रसूत कंदादि तक का समग्र वर्णन शय्या (द्वितीय) अध्ययन के अनुसार जान लेना चाहिए।

विवेचन—निषीधिका कैसी न हो, कैसी हो ?—प्रस्तुत सूत्र द्वय में निषीधिका से सम्बन्धित

---

१. इसके बदले पाठान्तर है—'कंखसि', 'कंखेज्ज'

२. 'णिसीहियं गमणाए' के बदले कहीं-कहीं पाठ है—"णिसीहियं फासुयं गमणाए" अर्थात्—प्रासुक निषीधिका प्राप्त करने के लिए।

३. 'गमणाए' के बदले पाठान्तर है—'उवागच्छित्तए'। अर्थ होता है—निकट जाना या प्राप्त करना।

४. निषीधिका में गमन करने का उद्देश्य वृत्तिकार के शब्दों में—'स भावभिक्षुर्यदि वसतेरुपहताया अन्यत्र निषीधिकां स्वाध्यायभूमिं गन्तुमभिकांक्षेत्……।' वह भावभिक्षु वसति दूषित होने से यदि अन्यत्र निषीधिका में जाना चाहता है……।

निषेध एवं विधान किया गया है। इसमें शय्या-अध्ययन (द्वितीय) के सू० ४१२ से ४१७ तक के समस्त सूत्रों का वर्णन समुच्चय-रूप में कर दिया गया। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने स्वयं कहा है—'एवं सेज्जागमेण णेतव्वं जाव उदयपसूयाणि।' प्रस्तुत सूत्र द्वय में शय्या-अध्ययन के ४१२ सूत्र का मन्तव्य दे दिया है। अब ४१३ सू० से ४१७ तक के सूत्रों का संक्षेप में निषीधिका संगत रूप इस प्रकार होगा[1]—

(१) निर्ग्रन्थ को देने की प्रतिज्ञा से एक साधर्मिक साधु के निमित्त से आरम्भपूर्वक बनायी हुई, क्रीत, पामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत निषीधिका, और वह भी पुरुषान्तरकृत हो या अपुरुषान्तरकृत, यावत् आसेवित हो या अनासेवित, तो ऐसी निषीधिका का उपयोग न करे।

(२) इसी प्रकार की निषीधिका बहुत-से साधर्मिकों के उद्देश्य से निर्मित हो, तथैव एक साधर्मिणी या बहुत-सी साधर्मिणियों के उद्देश्य से निर्मित तथाप्रकार की हो तो उसका भी उपयोग न करे।

(३) इसीप्रकार बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि को गिन-गिनकर बनाई हुई तथाप्रकार की निषीधिका हो तो उसका भी उपयोग न करे।

(४) बहुत-से श्रमण-ब्राह्मण आदि के निमित्त से निर्मित, क्रीत आदि तथा अपुरुषान्तर-कृत यावत् आसेवित हो तोउसका उपयोग न करे।

(५) वैसी निषीधिका पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उपयोग करे।

(६) गृहस्थ द्वारा काष्ठादि द्वारा संस्कृत यावत् संप्रधूपित (धूप-दी हुई) तथा अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित निषीधिका हो, तो उसका उपयोग न करे।

(७) वैसी निषीधिका यदि पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उपयोग करे।

(८) गृहस्थ द्वारा साधु के उद्देश्य से उसके छोटे द्वार बड़े बनवाए गए हों, बड़े द्वार छोटे, यावत् उसमें से भारी सामान निकाल कर खाली किया गया हो, ऐसी निषीधिका अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसका उपयोग न करे।

(९) यदि वह पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो तो उपयोग करे।

(१०) वहाँ जल में उत्पन्न कंद आदि यावत् हरी आदि साधु के निमित्त उखाड़ कर साफ करके गृहस्थ निकाले तथा ऐसी निषीधिका अपुरुषान्तरकृत यावत् अनासेवित हो तो उसका उपयोग न करें।

(११) यदि वैसी निषीधिका पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो गई हो तो उसका उपयोग कर सकता है।

वास्तव में निषीधिका की अन्वेषणा तभी की जाती है, जब आवासस्थान संकीर्ण छोटा, खराब या स्वाध्याय-ध्यान के योग्य न हो।

---

१. आचारांग सूत्र ४१२ से ४१७ तक की वृत्ति पत्रांक ३६० पर से।

प्रस्तुत में उदकप्रसूत-कंदादि तक २+११=१३ विकल्प होते हैं, शय्यैषणा-अध्ययन के अनुसार आगे और भी विकल्प हो सकते हैं।[1]

निषीधिका में अकरणीय कार्य

६४३. जे तत्थ दुवग्गा वा तिवग्गा वा चउवग्गा[2] वा पंचवग्गा वा अभिसंधारेंति णिसीहियं गमणाए ते णो अण्णमण्णस्स कायं आलिंगेज्ज वा, विलिंगेज्ज वा, चुंबेज्ज वा, दंतेहिं वा नहेहिं वा अच्छिदेज्ज वा।

६४३. यदि स्वाध्यायभूमि में दो-दो, तीन-तीन, चार-चार या पांच-पांच के समूह में एकत्रित होकर साधु जाना चाहते हों तो वे वहाँ जाकर एक दूसरे के शरीर का परस्पर आलिंगन न करें, न ही विविध प्रकार से एक दूसरे से चिपटें, न वे परस्पर चुम्बन करें, न ही दांतों और नखों से एक दूसरे का छेदन करें।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में निषीधिका में न करने योग्य परस्पर आलिंगन, चुम्बन आदि कामविकारोत्पादक मोहवर्द्धक प्रवृत्तियों का निषेध किया है। ये निषिद्ध प्रवृत्तियाँ और भी अनेकप्रकार की हो सकती है, जैसे निषीधिका में कलह, कोलाहल, तथा पचन-पाचनादि अन्य सावद्य प्रवृत्तियाँ करना इत्यादि।

६४४. एतं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं[3] सहिए समिए सदा जएज्जा, सेयमिणं मण्णेज्जासि त्ति बेमि।

६४४. यही (निषीधिका के उपयोग का विवेक ही) उस भिक्षु या भिक्षुणी के साधु जीवन का आचार सर्वस्व है; जिसके लिए वह सभी प्रयोजनों और ज्ञानादि आचारों से तथा समितियों से युक्त होकर सदा प्रयत्नशील रहे और इसी को अपने लिए श्रेयस्कर माने।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ नवम अध्ययन, द्वितीय सप्तिका समाप्त ॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक, ३६०।
२. इनके वदले पाठान्तर है—'चउग्गा वा पंचमा वा'।
३. सर्वार्थ' का भावार्थ वृत्तिकार के शब्दों में—अशेषप्रयोजनैरामुष्मिकैः सहितः समन्वितः।"—पारलौकिक समस्त प्रयोजनों से युक्त।

उच्चार-प्रस्रवणसप्तक : दशम अध्ययन

प्राथमिक

- ☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रुत०) के दसवें अध्ययन का नाम उच्चार-प्रस्रवण सप्तक है।
- ☆ उच्चार और प्रस्रवण ये दोनों शारीरिक संज्ञाएं (क्रियाएं) है, इनका विसर्जन करना अनिवार्य है। अगर हाजत होने पर इनका विसर्जन न किया जाए तो अनेक भयंकर व्याधियाँ उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।[1]
- ☆ मल और मूत्र दोनों दुर्गन्धयुक्त चीजें हैं, इन्हें जहाँ-तहाँ डालने से जनता के स्वास्थ्य को हानि पहुंचेगी, जीव-जन्तुओं की विराधना होगी, लोगों को साधुओं के प्रति घृणा होगी। इसलिए मल-मूत्र विसर्जन या परिष्ठापन कहाँ, कैसे और किसविधि से किया जाए, कहाँ और कैसे न किया जाए ? इन सब बातों का सम्यक् विवेक साधु को होना चाहिए। यह विवेक नहीं रखा जाएगा तो जनता के स्वास्थ्य की हानि, कष्ट एवं व्यथा होगी, अन्य प्राणियों को पीड़ा एवं जीवहिंसा होगी। तथा साधुओं के प्रति अवज्ञा की भावना पैदा होगी, इनसे बचने के लिए ज्ञानी एवं अनुभवी अध्यात्मपुरुषों ने इस अध्ययन की योजना की है।[2]
- ☆ 'उच्चार' का शाब्दिक अर्थ है—शरीर से जो प्रबल वेग के साथ च्युत होता—निकलता है। मल या विष्ठा का नाम उच्चार है। प्रस्रवण का शब्दार्थ है—प्रकर्षरूप से जो शरीर से बहता है, झरता है। प्रस्रवण (पेशाब) मूत्र या लघु शंका को कहते हैं।
- ☆ इन दोनों का कहाँ और कैसे विसर्जन या परिष्ठापन करना चाहिए? इसका किस प्रकार आचरण करने वाले षड्जीवनिकाय-रक्षक साधु की शुद्धि होती हैं, महाव्रतों एवं समितियों में अतिचार-दोष नहीं लगता, उसका विधि निषेध—सात मुख्य विवेक सूत्रों द्वारा बताने के कारण इस अध्ययन का नाम रखा गया है—उच्चार-प्रस्रवणसप्तक।[3]
- ☆ इस अध्ययन में उन सभी विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया गया है, जो साधु के मल-मूत्र-विसर्जन एवं परिष्ठापन से सम्बन्धित हैं।[4]

---

१. (क) दशवै० हारि० टीका 'वच्चमुत्तं न धारए'—जओ मुत्तनिरोहे चक्खुबाधाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओपघाओ, असोहणा य आयविराहणा।' —अ०८/गा०२६

(ख) मुत्तनिरोहे चक्खुं वच्चनिरोहे य जीवियं चयति।
उड्डनिरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवे अपुमं ॥ —ओघनिर्युक्ति गा०१५७

२. जै० सा० का बृहत् इतिहास (पं० बेचरदासजी) भा० १—अंगग्रन्थों का अन्तरंग परिचय, पृ० ११६

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६। (ख) आचारांग निर्युक्ति गा० ३२१, ३२२

४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०६

दसमं अज्झयणं 'उच्चार-पसावण' सत्तिक्कओ

उच्चार-प्रस्रवण सप्तक : दशम अध्ययन : तृतीय सप्तिका

उच्चार-प्रस्रवण-विवेक

६४५. **से भिक्खू वा २ उच्चार-पासवणकिरियाए उब्बाहिज्जमाणे[1] सयस्स पादपुंछणस्स असतीए ततो पच्छा साहम्मियं जाएज्जा ।**

६४५. साधु या साध्वी को मल-मूत्र की प्रबल बाधा होने पर अपने पादपुञ्छनक के अभाव में सार्धमिक साधु से उसकी याचना करे, [और मल-मूत्र विसर्जन क्रिया से निवृत्त हो ।]

विवेचन—मल-मूत्र के आवेग को रोकने का निषेध—प्रस्तुत सूत्र में मल-मूत्र की हाजत हो जाने पर उसे रोकने के निषेध का संकेत किया है। हाजत होते ही वह तुरंत अपना मात्रक-पात्र ले, यदि मात्रक न हो तो अपना पात्रप्रोञ्छन या पादपोंछन वस्त्र लेकर उस क्रिया से निवृत्त हो, यदि वह भी न हो, खो गया हो, कहीं भुला गया हो, नष्ट हो गया हो तो यथाशीघ्र सार्धमिक साधु से मांगे और उक्त क्रिया से शीघ्र निवृत्त होवें। वृत्तिकार इस सूत्र का आशय स्पष्ट करते हैं—मल-मूत्र के आवेग को रोकना नहीं चाहिए। मल के आवेग को रोकने से व्यक्ति जीवन से हाथ धो बैठता है, और मूत्र बाधा रोकने मे चक्षुपीड़ा हो जाती है।[2]

उब्बाहिज्जमाणे आदि पदों का अर्थ—उब्बाहिज्जमाणे = प्रबल बाधा हो जाने पर। सयस्स = अपने। असतीए = न होने पर, अविद्यमानता में, अभाव में।[3]

---

१. सू० ६४५ में उच्चार-प्रस्रवण की बाधा प्रबल हो जाने पर जो विसर्जन विधि बताई हैं, उसका स्पष्टीकरण चूर्णिकार करते है—(जोर की बाधा होने पर) सअण्ड हो या अल्पाण्ड स्थण्डिल, वह झटपट वहाँ पहुँच जाए, और अपना पादप्रोञ्छन, रजोहरण या जीर्ण वस्त्रखण्ड जो शरीर पर हो, अगर अपना न हो, नष्ट हो गया हो, खो गया हो या कहीं भूला गया हो या गीला हो तो दूसरे साधु से मांग कर मलादि विसर्जन करे, मलादि त्याग करे, जल लेकर मलद्वार को शुद्ध और निर्लेप कर ले।
—आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ २३१

२. (क) देखिये दशवै० अ०५, उ०१ गा०११ की जिनदासचूर्णि पृ०१७५ पर—'......मुत्तनिरोधे चक्खुबाधाओ भवति, वच्चनिरोहे य जीवियमवि रुंधेज्जा। तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वो।'
(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३१ में बताया है—'खुड्डागसन्निरुद्धे पवडणादि दोसा'—शंकाओं को रोकने से प्रपतनादि दोष—गिर जाने आदिका खतरा होते हैं।
(ग) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०९ (घ) देखें पृष्ठ ३१० (प्राथमिक का टिप्पण १)

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०९

६४६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा सअंडं सपाणं जाव[1] मक्कडासंताणयंसि[2] (णयं) तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६४७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अप्पपाणं अप्पबीयं जाव मक्कडासंताणयं सि (णयं) तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६४८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए बहवे साहम्मिया समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए एगं साहम्मिणिं समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए बहवे साहम्मिणीओ[3] समुद्दिस्स, अस्सिंपडियाए बहवे समण-माहण-[अतिहि-किवण,] वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स, पाणाइं ४ जाव[4] उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिलं पुरिसंतरगडं वा अपुरिसंतरगडं[5] वा जाव बहिया णीहडं वा अणीहडं वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६४९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा—बहवे समण-माहण-किवण-वणीमग-अतिही[6] समुद्दिस्स पाणाइं भूय-जीव-सत्ताइं[7] जाव उद्देसियं चेतेति, तहप्पगारं थंडिलं अपुरिसंतरकडं[8] जाव बहिया अणीहडं, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

अह पुणेवं जाणे [ज्जा] पुरिसंतरकडं[9] जाव बहिया णीहडं, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५०. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अस्सिंपडियाए कयं वा कारियं वा

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३२४ के अनुसार 'अप्पबीयं वा सपाणं' से लेकर 'मक्कडासंताणयं' तक का समग्र पाठ समझें।
२. 'संताणयं' के बदले सभी प्रतियों में 'संताणयंसि' पाठ मिलता है, किन्तु 'संताणयं' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।
३. 'साहम्मिणीओ' के बदले पाठान्तर है—'साहम्मिणियाओ'।
४. 'पाणाइं' के बाद '४' का अंक 'भूयाइं जीवाइं सत्ताइं' इन तीनों अवशिष्ट शब्दों का सूचक है। तथा यहाँ 'जाव शब्द से सू० ३३५ के अनुसार 'पाणाइं ४' से 'उद्देसियं' तक का पूर्ण पाठ समझें।
५. यहाँ 'अपुरिसंतरगडं' के बाद "जाव 'बहिया णीहडं वा अणीहडं' पाठ भूल से अंकित लगता है, होना चाहिए—'जाव आसेवियं वा अणासेवियं वा' क्योंकि 'बहिया णीहडं वा अणीहडं वा' पाठ तो अपुरिसंतरगडं के तुरन्त बाद में ही है। वह सारा पाठ इस प्रकार है—'पुरिसंतरगडं वा अपुरिसंतरगडं वा, बहिया णीहडं वा अणीहडं वा, अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा, परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा, आसेवियं वा अणासेवियं वा'—देखें सूत्र ३३१।
६. 'वणीमग-अतिही' के बदले पाठान्तर हैं—वणीमगातिही, वणीमगा अतिही।
७. यहाँ 'जाव' से 'सत्ताइं से उद्देसियं' तक का पाठ सू० ३३५ के अनुसार समझें।
८. यहाँ भी भूल से अपुरिसंतरकडं के बाद जाव बहिया अणीहडं पाठ है, होना चाहिए था—अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवियं। कारण पूर्वसूत्र के टिप्पण (५) में बताया जा चुका है।
९. यहाँ पुरिसंतरकडं के बाद 'जाव बहिया णीहडं' भूल से अंकित है, होना चाहिए—पुरिसांतरकडं जाव आसेवियं। कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है। 'आयारो तह आयार चूला' के सम्पादक ने भी यह पाठ नहीं दिया है।

पामिच्चियं वा छन्नं[1] वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा समट्ठं वा संपधूवितं वा, अण्णतरंसि [वा] तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा गाहावति-पुत्ता वा कंदाणि वा मूलाणि वा जाव[2] हरियाणि वा अंतातो वा बाहिं णीहरंति, बाहीतो[3] वा अंतो साहरंति, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५२. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासादंसि वा, अण्णतरंसि वा [तहप्पगारंसि] थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५३. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा अणंतरहिताए पुढवीए, ससणिद्धाए पुढवीए, ससरक्खाए पुढवीए, मट्टियाकडाए[4], चित्तमंताए सिलाए, चित्तमंताए लेलुए[5], कोला-वासंसि वा, दारुयंसि वा जीवपतिट्ठितंसि जाव मक्कडासंताणयंसि, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा गाहावति-पुत्ता वा कंदाणि वा[6] जाव बीयाणि वा परिसाडेंसु वा परिसाडेंति वा परिसाडिस्संति वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा इह खलु गाहावती वा गाहावति-पुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु[7] वा पइरंति वा पइरिस्संति वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडि-लंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा—आमोयाणि वा घसाणि वा भिलु-

---

१. 'छन्न' आदि पदों की व्याख्या सू० ४१५ के अनुसार समझें।

२. कंदाणि से हरियाणि' तक का पाठ सूचित करने के लिए 'जाव' शब्द है। सू० ४१७ के अनुसार।

३. 'बाहीतो' के बदले पाठान्तर हैं—'बहीतो, बहियाओ, बाहिणी।' अर्थ एक-सा है।

४. 'मट्टियाकडाए' के बदले पाठान्तर है—'मट्टियाकम्मकडाए, मट्टियामक्कडाए।' निशीथ सूत्र उ० १३ भाष्य या चूर्णि में 'मट्टियाकडाए' पाठ की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, इसलिए सम्भव है—"ससरक्खाए पुढवीए मट्टियाकडाए" यह एक ही सूत्र वाक्य हो।

५. 'लेलुए, कोलावासंसि' के बदले पाठान्तर हैं—'लेलुयाए कोलावासंसि, लेलुयाए चित्तमंताए कोला-वासंसि, लेलुए चित्तमंताए कोलावासंसि।' अर्थ है—सचित्त पत्थर के टुकड़े पर, घुण के आवास वाले काष्ठ पर।

६. यहाँ जाव शब्द से 'कंदाणि वा' से 'बीयाणि वा' तक का पाठ सूत्र ४१७ के अनुसार समझें।

७. इस पाठ के बदले पाठान्तर है—'पतिरिंसु वा पतिरिंति वा पतिरिस्संति वा', 'पइरंसु वा पतिरंति वा पतिरिस्संति वा', 'पइरंसु वा पइरिस्संति वा'

याणि वा विज्जलाणि वा खाणुयाणि वा कडवाणि[1] वा पगत्ताणि वा दरीणि[2] वा पदुग्गाणि वा समाणि वा विसमाणि वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५७. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा माणुसरंधणाणि[3] वा महिसकरणाणि वा वसभकरणाणि वा अस्सकरणाणि वा कुक्कुडकरणाणि[4] वा मक्कडकरणाणि[5] वा लावयकरणाणि या वट्टयकरणाणि वा तित्तिरकरणाणि वा कवोतकरणाणि वा कपिंजलकरणाणि वा अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५८. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा वेहाणसट्ठाणेसु वा गद्धपट्ठट्ठाणेसु वा तरुपवडणट्ठाणेसु[6] वा मेरुपवडणट्ठाणेसु[7] वा विसभक्खणट्ठाणेसु[8] वा अगणिफंडय (पक्खंदण ?)ट्ठाणेसु वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६५९. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि[9] वा पवाणि वा अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६०. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं[10] जाणेज्जा[11] अट्टालयाणि[12] वा चरियाणि वा

---

१. 'कडवाणि वा पगत्ताणि वा' के वदले पाठान्तर हैं—कडवाणि वा पगड्डाणि वा, कडयाणि वा पगड्डाणि वा।' अर्थ समान है।
२. 'दरीणि' के वदले पाठान्तर हैं—दरिणि; दरियाणि। अर्थ समान है।
३. तुलना कीजिए—निशीथ सूत्र उ०१२ सू०२२
४. 'कुक्कुडकरणाणि' के वदले पाठान्तर है—'कुक्कुरकरणाणि' अर्थ होता है—'कुत्तों के लिए वना आश्रय स्थान।'
५. किसी किसी प्रति में मक्कडकरणाणि' पाठ नहीं है।
६. 'तरुपवडणट्ठाणेसु' के वदले पाठान्तर है—'तरुपडणट्ठाणेसु'।
७. 'मेरुपवडणट्ठाणेसु' किसी किसी प्रति में नहीं है, किसी प्रति में उसके वदले पाठान्तर है—मरुपवडणट्ठाणेसु। अर्थ समान है।
८. 'विसभक्खणट्ठाणेसु' के वदले पाठान्तर है—'विसभक्खयट्ठाणेसु।'
९. किसी किसी प्रति में सभाणि' पाठ नहीं है।
१०. तुलना कीजिए—निशीथ सूत्र के उ० १५ चूर्णि पृ० ५५६ सू० ६८-७४ से।
११. निशीथ उ० ३ चूर्णि में व्याख्या का उपसंहार करते हुए कहा है—'विभासा वित्थारेण कर्तव्या जहा सुत्ते आयारबित्तिय सुत्तखंधे थंडिलसत्तिकए।'—व्याख्या विस्तृत रूप मे करनी चाहिए, जिस प्रकार आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में स्थण्डिलसप्तिका में वर्णन है।'
१२. 'अट्टालयाणि वा' इत्यादि पाठ विस्तृत रूप में 'जे अट्टंसि वा अट्टालगंसि वा पागारंसि वा चरियंसि दारंसि वा गोपुरंसि वा ……महाकुलेसु वा महागिहेसु वा……।' निशीथ सूत्र अष्टम उद्देशक में मिलता है। देखें इसकी चूर्णि—(संपादन : उपाध्याय अमरमुनि) पृ० ४३१-४३८

दाराणि वा गोपुराणि वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६१. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा–तिगाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउमुहाणि[1] वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि [थंडिलंसि] णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६२. [2]से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा-इंगालडाहेसु[3] वा खारडाहेसु[4] वा मडयडाहेसु वा मडयथूभियासु वा मडयचेतिएसु वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६३. [5]से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्ज, णदिआयतणेसु[6] वा पंकायतणेसु वा ओघायतणेसु वा सेयणपहंसि[7] वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६४. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा णवियासु वा मट्टियखाणियासु णवियासु वा गोप्पलेहियासु[8] गवाणीसु वा खाणीसु वा, अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि वा थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६५. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा डागवच्चंसि[9] वा सागवच्चंसि वा मूलगवच्चंसि वा हत्थुंकरवच्चंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६६. से भिक्खू वा २ से ज्जं पुण थंडिलं जाणेज्जा असणवणंसि वा सणवणंसि वा धातइवणंसि वा केयइवणंसि वा अंबवणंसि वा असोगवणंसि[10] वा णागवणंसि, वा पुन्नागवणंसि

---

१. 'चउमुहाणि' के वदले पाठान्तर है—'चउम्मुहाणि'।
२. चूर्णि में सू० ६६२ का पाठ विस्तृत रूप से मानकर व्याख्या की गई है—मडगं— मृतकमेव, वच्चं जत्थ छंड्डिज्जंति डज्झति जत्थ तं छारियं। मडगलेणं—मतगिहं, जहा दीवे जोगविसए वा।....गातडाहंसि—गावीसु मरंतीसु गाइं सरीराइं उवसमणत्थं डज्झंति अट्ठिगाणि वा।
३. 'इंगालडाहेसु' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—इंगालडाहंसि वा जत्थ इंगाला डज्झंति।
४. किसी किसी प्रति में 'खारडाहेसु वा मडयडाहेसु वा' पाठ नहीं है।
५. तुलना कीजिए—'जे भिक्खू सेयायणंसि वा पंकाययणंसि वा पणगाययणंसि वा उच्चार-पासवणं परिट्ठवेइ।'—निशीथ उ० ३ चूर्णि पृ० २२५-२२६।
६. 'णदिआयतणेसु' के वदले पाठान्तर है—णदिआययणेसु नदियायणेसु णदिआततणेसु। अर्थ समान है।
७. सेयणपहंसि के वदले पाठान्तर हैं—सेयणपधंसि सेयणवंधेसु सेयणवधेसु। अर्थ एक-सा है।
८. 'गोप्पलेहियासु' पाठ के वदले पाठान्तर हैं—गोवलेहियासु गोप्पलेहियासु। पिछले पाठान्तर का अर्थ होता है—गायें जहाँ विशेष रूप से चरती हैं, ऐसी गोचरभूमियों में।
९. डागवच्चंसि के वदले 'डालागवच्चंसि वा' पाठान्तर हैं।
१०. निशीथ सूत्र उ०३ के पाठ से तुलना कीजिए।'...इक्खुवणंसि, सालिवणंसि वा...असोगवणंसि वा, कप्पासवणंसि वा...चूयवणंसि वा अण्णयरेसु वा....परिट्ठवेइ।'—पृ०२२६

वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु पत्तोवएसु[1] वा पुप्फोवएसु वा फलोवएसु वा बीओवएसु वा हरितोवएसु वा णो उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।

६६७. से भिक्खू वा २ सपाततं[2] वा परपाततं वा गहाय से त्तमायाए[3] एगंतमवक्कमे, अणावाहंसि[4] अप्पपाणंसि जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवस्सयंसि ततो संजयामेव उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा, उच्चार-पासवणं वोसिरित्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमे, अणावाहंसि जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि अचित्तंसि ततो संजयामेव उच्चार-पासवणं वोसिरेज्जा।[5]

६४६. साधु या साध्वी ऐसी स्थण्डिल भूमि को जाने, जो कि अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त है, तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६४७. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो प्राणी, वीज, यावत् मकड़ी के जालों से रहित है, तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन कर सकता है।

६४८. साधु या साध्वी यह जाने कि किसी भावुक गृहस्थ ने निर्ग्रन्थ निष्परिग्रही साधुओं को देने की प्रतिज्ञा से एक साधर्मिक साधु के उद्देश्य से, या वहुत से साधर्मिक साधुओं के उद्देश्य से आरम्भ-समारम्भ करके स्थण्डिल वनाया है, अथवा एक साधर्मिणी साध्वी के उद्देश्य से या बहुत-सी साधर्मिणी साध्वियों के उद्देश्य से स्थण्डिल वनाया है, अथवा वहुत-से श्रमण ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र या भिखारियों को गिन-गिनकर उनके उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ करके स्थण्डिल वनाया है तो इस प्रकार का स्थण्डिल पुरुषान्तर

---

१. 'पत्तोवएसु' आदि के वदले चूर्णिकार ने 'पत्तोवग' इत्यादि पाठ मानकर अर्थ किया है—पत्तोवगा—तम्बोली, पुप्फोवगा—जहा पुन्नागा, फलोवगा—जहा कविट्ठादीणि, छाओवग हैं—वंजुल—णंदिरुक्खादि, उवयोगं गच्छतीति उवगा।' जिसके पत्ते उपयोग में आते हैं। इसीप्रकार पुष्प, फल, छाया आदि उपयोगी हो वह पत्रोवग आदि कहलाता है।

२. निशीथ चूर्णि उ० ३ में इसका स्पष्टीकरण किया गया है—राओ त्ति संझा वियालो त्ति संझावगमो। उत् प्रावल्येन बाधा उब्बाहा। अप्पणिज्जो सण्णामत्ताओ सगपायं भण्णति, अप्पणिज्जस्स, अभावे परपाते वा जाइत्ता वोसिरइ।······ उदिते सूरिए परिट्ठवेति।' —पृ० २२७-२२८

३. से त्तमायाए के बदले पाठान्तर है—'से त्तमादाय' आदि वह उसे लेकर।

४. 'अणावाहंसि' के वदले पाठान्तर है—अणावायंसि असंलोयंसि। किसी-किसी प्रति में अणावाहंसि पाठ नहीं है। "अणावाहंसि अनावाधे इत्यर्थः।" अनावाध स्थण्डिल में, अणावायंसि का अर्थ होता है—अनापात,—जहाँ किसी का आवागमन न हो। असंलोयंसि का अर्थ है—जहाँ किसी की दृष्टि न पड़ती हो, कोई देखता न हो।

५. यहाँ 'वोसिरेज्ज' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—'उच्चारं प्रस्रवणं वा कुर्यात् प्रतिष्ठापयेदिति वा।' मल-मूत्र विसर्जन करे या उसे परठे।

कृत हो या अपुरुषान्तरकृत, यावत् बाहर निकाला हुआ हो, अथवा अन्य किसी उस प्रकार के दोष से युक्त स्थण्डिल हो तो वहाँ पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६४९. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो किसी भावुक गृहस्थने बहुत-से शाक्यादि श्रमण, ब्राह्मण, दरिद्र, भिखारी या अतिथियों के उद्देश्य से प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का समारम्भ करके औद्देशिक दोषयुक्त बनाया है, तो उस प्रकार के अपुरुषान्तरकृत यावत् काम में नहीं लिया गया हो तो उस अपरिभुक्त स्थण्डिल में या अन्य उस प्रकार के किसी एषणादि दोष से युक्त स्थण्डिल में मल-मूत्र विसर्जन न करे।

यदि वह यह जान ले कि पूर्वोक्त स्थण्डिल पुरुषान्तरकृत यावत् अन्य लोगों द्वारा उपभुक्त है, और अन्य उस प्रकार के दोषों से रहित स्थण्डिल है तो साधु या साध्वी उस पर मल-मूत्र विसर्जन कर सकते हैं।

६५०. साधु या साध्वी यदि इस प्रकार का स्थण्डिल जाने, जो कि निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रही साधुओं को देने की प्रतिज्ञा से किसी गृहस्थ ने बनाया है, बनवाया है, या उधार लिया है, उस पर छप्पर छाया है या छत डाली है, उसे घिसकर सम किया है, कोमल या चिकना बना दिया है, उसे लीपापोता है, संवारा है, धूप आदि से सुगन्धित किया है, अथवा अन्य भी इस प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करके उसे तैयार किया है तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर वह मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५१. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने कि गृहपति या उसके पुत्र कन्द, मूल यावत् हरी जिसके अन्दर से बाहर ले जा रहे हैं, या बाहर से भीतर ले जा रहे हैं, अथवा उसप्रकार की किन्ही सचित्त वस्तुओं को इधर-उधर कर रहे हैं, तो उस प्रकार के स्थण्डिल में साधु-साध्वी मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५२. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो कि स्कन्ध (दीवार या पेड़ के स्कन्ध पर, चौकी (पीठ) पर, मचान पर, ऊपर की मंजिल पर, अटारी पर या महल पर या अन्य किसी विषम या ऊंचे स्थान पर, बना हुआ है, तो उस प्रकार के स्थण्डिल पर वह मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५३. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो कि सचित्त पृथ्वी पर, स्निग्ध (गीली) पृथ्वी पर; सचित्त रज से लिप्त या संसृष्ट पृथ्वी पर सचित्त मिट्टी से बनाई हुई जगह पर सचित्त शिला पर, सचित्त पत्थर के टुकड़ों पर, घुन लगे हुए काष्ठ पर या दीमक आदि द्वीन्द्रियादि जीवों से अधिष्ठित काष्ठ पर या मकड़ी के जालों से युक्त स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५४. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल के सम्बन्ध में जाने कि यहाँ पर गृहस्थ या गृहस्थ के पुत्रों ने कंद, मूल यावत् बीज आदि इधर-उधर फेंके हैं, या फेंक रहे हैं, अथवा फेंकेंगे, तो ऐसे अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी दोषयुक्त स्थण्डिल में मल-मूत्रादि का त्याग न करे।

६५५. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल के सम्वन्ध में जाने कि यहाँ पर गृहस्थ या गृहस्थ के पुत्रों ने शाली, व्रीहि (धान), मूँग, उड़द, तिल, कुलत्थ, जौ और ज्वार आदि वोए हुए है, बो रहे हैं या बोएंगे, ऐसे अथवा अन्य इसी प्रकार के बीज वोए हुए स्थण्डिल में मल-मूत्रादि का विसर्जन न करे।

६५६. साधु या साध्वी यदि ऐसे किसी स्थण्डिल को जाने, जहाँ कचरे (कूड़े-कर्कट) के ढेर हों, भूमि फटी हुई या पोली हो, भूमि पर रेखाएँ (दरारें) पड़ी हुई हों, कीचड़ हो, ठूंठ अथवा खीले गाड़े हुए हों, किले की दीवार या प्राकार आदि हो, सम-विषम स्थान हों, ऐसे अथवा अन्य इसीप्रकार के ऊबड़-खाबड़ स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५७. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जहाँ मनुष्यों के भोजन पकाने के चूल्हे आदि सामान रखे हों, तथा भैंस, बैल, घोड़ा, मुर्गा या कुत्ता, लावक पक्षी, वत्तक, तीतर कबूतर, कपिंजल (पक्षी विशेष) आदि के आश्रय स्थान हों, ऐसे तथा अन्य इसीप्रकार के किसी पशु-पक्षी के आश्रय स्थान हों, तो इस प्रकार के स्थण्डिल में मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६५८. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जहाँ फाँसी पर लटकाने के स्थान हों; गृद्धपृष्ठमरण के – गीध के सामने पड़कर मरने के स्थान हों, वृक्ष पर से गिरकर मरने के स्थान हों, पर्वत से झंपापात करके मरने के स्थान हों, विषभक्षण करने के स्थान हों, या दौड़कर आग में गिरने के स्थान हों, ऐसे और अन्य इसी प्रकार के मृत्युदण्ड देने या आत्म-हत्या करने के स्थान वाले स्थण्डिल हों तो वैसे स्थण्डिलों में मल-मूत्र त्याग न करे।

६५९. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जैसे कि वगीचा (उपवन), उद्यान, वन, वनखण्ड, देवकुल, सभा या प्याऊ, हो अथवा अन्य इसी प्रकार का कोई पवित्र या रमणीय स्थान हो, तो उस प्रकार के स्थण्डिल में वह मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६६०. साधु या साध्वी ऐसे किसी स्थण्डिल को जाने, जैसे—कोट की अटारी हों, किले और नगर के बीच के मार्ग हों; द्वार हों, नगर के मुख्य द्वार हों, ऐसे तथा अन्य इसी प्रकार के सार्वजनिक आवागमन के स्थल हों, तो ऐसे स्थण्डिल में मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६६१. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जहाँ तिराहे (तीन मार्ग मिलते) हों, चौक हों, चौहट्टे या चौराहे (चार मार्ग मिलते) हों, चतुर्मुख (चारों ओर द्वार वाले बंगला आदि) स्थान हों, ऐसे तथा अन्य इसी प्रकार के सार्वजनिक जनपथ हों, ऐसे स्थण्डिल में मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६६२. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जहाँ लकड़ियाँ जलाकर कोयले वनाए जाते हों; जो काष्ठादि जलाकर राख वनाने के स्थान हों, मुर्दे जलाने के स्थान हों, मृतक के स्तूप हों, मृतक के चैत्य हों, ऐसा तथा इसी प्रकार का कोई स्थण्डिल हो, तो वहाँ पर मल-मूत्र-विसर्जन न करे।

६६३. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो कि नदी तट पर बने तीर्थस्थान

हों, पंकबहुल आयतन हों, पवित्र जलप्रवाह वाले स्थान हों, जलसिंचन करने के मार्ग हों, ऐसे तथा इसी प्रकार के जो स्थण्डिल हों, उन पर मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६६४. साधु या साध्वी ऐसे स्थण्डिल को जाने, जो कि मिट्टी की नई खानें हों, नई गोचर भूमि हों, सामान्य गायों के चरागाह हों, खानें हों, अथवा अन्य उसी प्रकार का कोई स्थण्डिल हो तो उसमें उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन न करे,

६६५. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जहाँ डालप्रधान शाक के खेत हैं, पत्रप्रधान शाक के खेत हैं, मूली, गाजर आदि के खेत है, हस्तंकुर वनस्पति विशेष के क्षेत्र हैं, उनमें तथा अन्य उसी प्रकार के स्थण्डिल में मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६६६. साधु या साध्वी यदि ऐसे स्थण्डिल को जाने, जहाँ बीजक वृक्ष का वन है, पटसन का वन है, धातकी (आंवला) वृक्ष का वन है, केवड़े का उपवन है, आम्रवन है, अशोकवन है, नागवन है, या पुन्नागवृक्षों का वन है, ऐसे तथा अन्य उस प्रकार के स्थण्डिल, जो पत्रों, पुष्पों, फलों, बीजों या हरियाली से युक्त हों, उनमें मल-मूत्र विसर्जन न करे।

६६७. संयमशील साधु या साध्वी स्वपात्रक (स्वभाजन) लेकर एकान्त स्थान में चला जाए, जहाँ पर न कोई आता-जाता हो और न कोई देखता हो, या जहाँ कोई रोक-टोक न हो, तथा जहाँ द्वीन्द्रिय आदि जीव-जन्तु, यावत् मकड़ी के जाले भी न हों, ऐसे बगीचे या उपाश्रय में अचित्त भूमि पर बैठकर साधु या साध्वी यतनापूर्वक मल-मूत्रविसर्जन करे।

उसके पश्चात् वह उस (भरे हुए मात्रक) को लेकर एकान्त स्थान में जाए, जहाँ कोई न देखता हो और न ही आता-जाता हो, जहाँ पर किसी जीवजन्तु की विराधना की सम्भावना न हो, यावत् मकड़ी के जाले न हों, ऐसे बगीचे में या दग्धभूमि वाले स्थण्डिल में या उस प्रकार के किसी अचित्त निर्दोष पूर्वोक्त निषिद्ध स्थण्डिलों के अतिरिक्त स्थण्डिल में साधु यतनापूर्वक मल-मूत्र-परिष्ठापन (विसर्जन) करे।

विवेचन—मल-मूत्र-विसर्जन : कैसे स्थण्डिल पर करे, कैसे पर नहीं?—सूत्र ६४६ से ६६७ तक २२ सूत्रों में मल-मूत्र विसर्जन के लिए निषिद्ध और विहित स्थण्डिल का निर्देश किया गया है। इनमें से तीन सूत्र विधानात्मक है, शेष सभी निषेधात्मक हैं। निषेधात्मक स्थण्डिल सूत्र संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) जो अण्डों यावत् मकड़ी के जालों से युक्त हो।

(२) जो स्थण्डिल एक या अनेक साधर्मिक साधु या साधर्मिणी साध्वी के उद्देश्य से, अथवा श्रमणादि की गणना करके उनके उद्देश्य से निर्मित हो, साथ ही अपुरुषान्तरकृत यावत् अनीहृत हो।

(३) जो बहुत से शाक्यादि श्रमण ब्राह्मण यावत् अतिथियों के उद्देश्य से निर्मित हो, साथ ही अपुरुषान्तरकृत यावत् अनीहृत हो।

(४) जो निष्परिग्रही साधुओं के निमित्त बनाया, बनवाया, उधार लिया या संस्कारित परिकर्मित किया गया हो।

(५) जहाँ गृहस्थ कंद, मूल आदि को बाहर-भीतर ले जाता हो।

(६) जो चौकी मचान आदि किसी विषम एवं उच्च स्थान पर बना हो।

(७) जो सचित्त पृथ्वी, जीवयुक्त काष्ठ आदि पर बना हो।

(८) जहाँ गृहस्थ द्वारा कंद, मूल आदि अस्त-व्यस्त फेंके हुए हों।

(९) शाली, जौ, उड़द आदि धान्य जहाँ बोया जाता हो।

(१०) जहाँ कूड़े के ढेर हों, भूमि फटी हुई हो, कीचड़ हो, ईख के डंडे, ठूंठ, खीले आदि पड़े हों, गहरे बड़े-बड़े गड्ढे आदि विपम स्थान हों।

(११) जहाँ रसोई बनाने के चूल्हे आदि रखे हों, तथा जहाँ भैंस, बैल आदि पशु-पक्षी गण का आश्रय स्थान हो।

(१२) जहां मृत्यु दण्ड देने के या मृतक के स्थान हों।

(१३) जहाँ उपवन, उद्यान, वन, देवालय, सभा, प्रपा आदि स्थान हों।

(१४) जहाँ सर्वसाधारण जनता के गमनागमन के मार्ग, द्वार आदि हों।

(१५) जहाँ तिराहा, चौराहा आदि हों।

(१६) जहाँ कोयले, राख (क्षार) बनाने या मुर्दे जलाने आदि के स्थान हों, मृतक के स्तूप व चैत्य हों।

(१७) जहाँ नदी तट, तीर्थस्थान हो, जलाशय या सिंचाई की नहर आदि हो।

(१८) जहाँ नई मिट्टी की खान, चारागाह आदि हों।

(१९) जहाँ साग-भाजी, मूली आदि के खेत हों।

(२०) जहाँ विविध वृक्ष के वन हों।

तीन विधानात्मक स्थण्डिल सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) जो स्थण्डिल प्राणी, बीज यावत् मकड़ी के जाड़ों आदि से रहित हों।

(२) जो श्रमणादि के उद्देश्य से बनाया गया न हो तथा पुरुषान्तरकृत यावत् आसेवित हो।

(३) एकान्त स्थान में, जहाँ लोगों का आवागमन एवं अवलोकन न हो, जहाँ कोई रोकटोक न हो, द्वीन्द्रियादि जीव-जन्तु यावत् मकड़ी के जाले न हों, ऐसे बगीचे, उपाश्रय आदि में दग्धभूमि आदि पर जीव-जन्तु की विराधना न हो, इस प्रकार से यतनापूर्वक मल-मूत्र का विसर्जन करे।[1]

निषिद्ध स्थण्डिलों में मल-मूत्र विसर्जन से हानियाँ—(१) जीव-जन्तुओं की विराधना होती है, वे दब जाते हैं, कुचल जाते हैं, पीड़ा पाते है।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०८, ४०९, ४१० के आधार पर

(२) साधु को एषणादि दोष लगता है, जैसे—औद्देशिक, क्रीत, पामित्य, स्थापित आदि,

(३) ऊंचे एवं विषमस्थानों से गिर जाने एवं चोट लगने तथा अयतना की सम्भावना रहती है।

(४) कूड़े के ढेर पर मलोत्सर्ग करने से जीवोत्पत्ति होने की सम्भावना है।

(५) फटी हुई, ऊबड़-खाबड़, या कीचड़ व गड्ढे वाली भूमि पर परठते समय पैर फिसलने से आत्म-विराधना की भी सम्भावना है।

(६) पशु-पक्षियों के आश्रयस्थानों में तथा उद्यान, देवालय आदि रमणीय एवं पवित्र स्थानों में मल-मूत्रोत्सर्ग करने से लोगों के मन में साधुओं के प्रति ग्लानि पैदा होती है।

(७) सार्वजनिक आवागमन के मार्ग, द्वार या स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करने से लोगों को कष्ट होता है, स्वास्थ्य बिगड़ता है, साधुओं के प्रति घृणा उत्पन्न होती है।

(८) कोयले, राख आदि बनाने तथा मृतकों को जलाने आदि स्थानों में मल-मूत्र विसर्जन करने से अग्निकाय की विराधना होती है। कोयला, राख आदि वाली भूमि पर जीव-जन्तु न दिखाई देने से अन्य जीव-विराधना भी संभव है।

(९) मृतक स्तूप, मृतक चैत्य आदि पर वृक्षादि के नीचे तथा वनों में मल-मूत्र विसर्जन से देव-दोष की आशंका है।

(१०) जलाशयों, नदी तट या नहर के मार्ग में मलोत्सर्ग से अप्कायकी विराधना होती है, लोक दृष्टि में पवित्र माने जानेवाले स्थानों में मल-मंत्र विसर्जन से घृणा वा प्रवचन-निन्दा होती है।

(११) शाक-भाजी के खेतों में मल-मूत्र विसर्जन से वनस्पतिकाय-विराधना होती हैं। इन सब दोषों से बचकर निरवद्य, निर्दोष स्थण्डिल में पंच समिति से विधिपूर्वक मल-मूत्र विसर्जन करने का विवेक बताया है।[1]

'मट्टियाकडाए' आदि पदों की व्याख्या—वृत्तिकार एवं चूर्णिकार की दृष्टि से इस प्रकार है—**मट्टियाकडाए**=मिट्टी आदि के बर्तन पकाने का कर्म किया जाता हो, उस पर। **परिसाडेंसु**=बीज आदि खलिहान वगैरह में इधर-उधर फैंके गए हैं अथवा कहीं बीजों से अर्चना की हो। **आमोयानि**=कचरे के पुंज। **घसाणि**=पोलीभूमि, फटी हुई भूमि। **भिलुयाणि**=दरारयुक्त भूमि। **विज्जलाणि**=कीचड़ वाली जगह। **कडवाणि**=ईख के डंडे। **पगत्ताणि**=बड़े-बड़े गहरे गड्ढे। **पदुग्गाणि**=कोट की दुर्गम्य दीवार आदि ऐसे विषम स्थानों में मल-मूत्रादि विसर्जन से संयम-हानि और आत्म-विराधना संभव है। **माणुसरंधानि**=चूल्हे आदि। **महिसकरणाणि आदि**=जहाँ भैंस आदि के उद्देश्य से कुछ बनाया जाता है या स्थापित किया जाता है, अथवा करण

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४०८ से ४१०, (ख) आचा० णिचू मू० पा० टि० पृ० २३१ से २३९

का अर्थ है आश्रय। ऐसे स्थानों में लोकविरोध तथा प्रवचन-विघात के भय से मलोत्सर्ग आदि नहीं करना चाहिए।[1]

निशीथचूर्णि में 'आसकरण' आदि पाठ है, वहाँ अर्थ किया गया है—अश्व-शिक्षा देने का स्थान—अश्वकरण है, आदि।[2] **वेहाणसट्ठाणेसु**=मनुष्यों को फाँसी आदि पर लटकाने के स्थानों में, **गिद्धपट्ठाणेसु**=जहाँ आत्महत्या करने वाले गिद्ध आदि के भक्षणार्थ रुधिरादि से लिपटे हुए शरीर को उनके सामने डाल कर बैठते हैं। **तरु-पवडणट्ठाणेसु**=जहाँ मरणाभिलाषी लोग अनशन करके तरुवत् पड़े रहते हैं। अथवा पीपल, बड़ आदि वृक्षों से जो मरने का निश्चय करके अपने आपको ऊपर से गिराता है। उसे भी तरुप्रपतन स्थान कहते हैं। **मेरुपवडणट्ठाणेसु**=मेरु का अर्थ है पर्वत। पर्वत से गिरने के स्थानों में।

निशीथचूर्णि में 'गिरि' और 'मरु' का अन्तर बताया है, 'जिस पर्वत पर चढ़ने पर प्रपात-स्थान दिखाई देता है, वह गिरि, और नहीं दिखाई देता हो, वह मरु। **अगणिपक्खंदणट्ठाणेसु**= जहाँ व्यक्ति निकट से दौड़कर अग्नि में गिरता है उन स्थानों में। निशीथचूर्णि में भी 'गिरिपवडण' आदि पाठ मिलता है।[3]

आरामाणि उज्जाणाणि=आराम का अर्थ बगीचा, उपवन होता है, परन्तु यहाँ उपलक्षण से आरामागार अर्थ अभीष्ट है, उज्जाण का अर्थ है—'उद्यान'। निशीथचूर्णि में 'उज्जाण' और 'निज्जाण' (जहाँ शस्त्र या शास्त्र रखे जाते हों) दोनों प्रकार के स्थलों में, बल्कि उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याणगृह और निर्याणशाला में भी उच्चार-प्रस्रवण-विसर्जन का दण्ड—प्रायश्चित्त बताया है। नगर के समीप ऋषियों के ठहरने के स्थान को उद्यान और नगर से निर्गमन का जो स्थान हो, उसे निर्याण कहते हैं। **चरियाणि**–प्राकार के अन्दर ८ हाथ चौड़ी

---

१. (क) आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३३ पर।—'**बीयाणि पडिसारेंसु वा पडिसारेंति वा पडिसाडिस्संति वा खलगादिसु, काहिंचि वा अच्चणिया कया वीएहिं।**'

(ख) **आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१०—आमोकानि**=कचवरपुंजा, **घसा**=बृहत्यो भूमिराजयः, **भिलुगानि**=श्लक्ष्णभूमिराजयः, **विज्जलं**=पिच्छलं, **कडवाणि**—इक्षुजो नलिकादिदण्डकः, प्रगर्ता-महागर्ताः, **प्रदुर्गाणि**=कुड्यप्रकारादीनि। एतानि च समानि वा विषमाणि भवेयुः, तेष्वात्मसंयम-विराधनासम्भवात् नोच्चारादि कुर्यात्।'....मानुषरन्धनादीनि चुल्ल्यादीनि, तथा महिष्यादीनुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते, ते वा यत्र स्थाप्यन्ते, तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपघातभयान्नोच्चारादि कुर्यात्।

२. 'आससिक्खाणं आसकरणं, एवं सेसाण वि।' —**निशीथ चूर्णि उ०१२, पृ ३४८**

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१०

(ख) 'जे भिक्खू गिरिपवडणाणि वा'.......इत्यादि पाठ **निशीथ उ० ११**। गिरिमरूणं विसेसो, जत्थ पव्वते आरुढेहिं पवायट्ठाणं दीसति सो गिरी भन्नति, अदिस्समाणे मरु।...पिप्पलवडमादी तरु, एते हिंतो जो अप्पाणं मुंचति मरणववसितो तं सवडणं भण्णति। पवडण-पक्खंदणाण इमो भेदो—... थाणत्थो उड्ढं उप्पइत्ता जो पडति वस्त्रडेवणे डिंडकवत् एतं पवडणं, जं पुण अदूरतो आधावित्ता पडइ, तं पक्खंदणं।....जलजलणपक्खंदणा चउत्थो मरणभेदो। सेसा विसभक्खणादिया अट्ठपत्तेयभेदा।

—निशीथ चूर्णि उ०११

जगह—चर्या, द्वार, गोपुर, प्राकार आदि स्थानों में मल-मूत्र-विसर्जन करने से लोग या राज कर्मचारी ताड़न आदि करते हैं।[1]

चूर्णिसम्मत अतिरिक्त पाठ और उसकी व्याख्या—सूत्र ६६० का चूर्णिकार सम्मत पाठ बहुत अधिक है, जो यहाँ मूल में उपलब्ध नहीं है। उसकी चूर्णिकार-कृत व्याख्या इस प्रकार है— **दगमग्गो**=नाली या जल बहने का मार्ग। **दगपहो**=पनिहारिनों के पानी लेने जाने-आने का मार्ग। **सुन्नगारं**=सूना घर। **भिन्नागारं**=टूटा जीर्ण-शीर्ण मकान, खण्डहर। **कूडागारं**=मंत्रणा-गृह। **कोट्ठागारं**=अनाज का कोठार, गोदाम। **जाणसाला**=गाड़ी, रथ आदि रखने की शाला। **वाहणसाला**=बैल, घोड़े आदि के बांधने का स्थान। **तृणसाला**=घास-चारा रखने का स्थान। **तुससाला**=कुम्भार आदि जहाँ तुस (जौ, गेहूँ आदि) रखते हैं। **भुससाला**=पराल आदि घास से भरी शाला। **गोमयसाला**=गोबर, कंडे आदि का स्थान। **महाकुलं**=राजा का महल। **महागिहं**=रावल आदि अथवा अधिकारियों का घर, अथवा स्त्रियों के लिए बना हुआ विशाल शौचालय। **गिहं**=घर के अन्दर। **गिहमुहं**=घर की देहली। **गिहदुवारं**=घर का दरवाजा। **गिहंगणं**=घर का आंगन। **गिहवच्चं पुरोहडं**=घर की देहली के बाद सामने स्थित स्थान।[2]

निशीथ सूत्र में भी इसी तरह का पाठ मिलता। बल्कि वहाँ इसके अतिरिक्त पाठ भी है—"····**पणियसालंसि वा, पणियगिहंसि वा, परिआयगिहंसि वा, परिआयसालंसि वा, कुवियसालंसि वा, कुवियगिहंसि वा, गोणसालासु वा गोणगिहेसु वा**···।' इसका अर्थ स्पष्ट है।[3]

'णदिआयतणेसु' इत्यादि पदों के अर्थ—**णदि आयतणेसु**=नद्यायतन—तीर्थस्थान, जहाँ लोग पुण्यार्थ स्नानादिक करते हैं **पंकायतणेसु**=जहाँ पंकिलप्रदेश में लोग धर्म-पुण्यकी इच्छा से लोटने आदि की क्रिया करते हैं। **ओघायतणेसु**=जो जलप्रवाह या तालाब के जल में प्रवेश का स्थान पूज्य माना जाता है, उनमें। **सेयणपथे**=जल-सिंचाई का मार्ग—नहर या नाली में। निशीथ चूर्णि में भी इस प्रकार का पाठ मिलता है। **वच्चं**=पत्ते, फूल, फल आदि वृक्ष से गिरने पर जहाँ

---

१. (क) 'आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा ४ उज्जाणंसि वा, णिज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा उज्जाणसालंसि वा, णिज्जाणगिहंसि वा णिज्जाणसालंसि वा। उच्चारपासवणं परिट्ठवेति····।'
—निशीथ उ०१५ आ० चूर्णि पृ० २३४

(ख) उज्जाणं जत्थ उज्जाणियाए गम्मति, णिज्जाणं जत्थ सत्थो आवासेति जं वा ईसिणगरस्स उवकंठं ठियं तं उज्जाणं। णगरणिग्गमे वा जं ठियं तं णिज्जाणं।
—निशीथ चूर्णि उ०८, पृ०४३१, ४३४
—आचा० चू० २३४

(ग) चरिया अंतो पगारस्स अट्ठहत्था, दार-गोपुर-पागारा, तत्थ छड्डणे पंतावणादी।
—आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३५

२. एतदनुसारेण चूर्णिकृता सम्मतोऽत्र भूयान् सूत्रपाठो नेदानीमुपलभ्यते, इति ध्येयम्।'
—आचा० मूल पाठ टिप्पणी सहित जम्बूविजय सम्पादित पृ० २३५

३. तुलना, निशीथ सूत्र उ०१५, पृ०५५६ सू० ६८-७४। उ०८ में भी देखें
"जे भिक्खू गिहंसि वा गिहमुहंसि वा गिहदुवारियंसि वा गिहेलुयंसि वा गिहंगणंसि वा गिह-वच्चंसि वा उच्चारं पासवणं वा परिट्ठवेति····।
—निशीथ उ० ३।

सड़ाये या सूखाए जाते हैं, उस स्थान को 'वर्च' कहते हैं। इसलिए डागवच्चंसि, सागवच्चंसि आदि पदों का यथार्थ अर्थ होता है—डाल-प्रधान या पत्र-प्रधान साग को सुखाने या सड़ाने के स्थान में। निशीथ सूत्र में अनेक वृक्षों के वर्चस् वाले स्थान में मल-मूत्र परिष्ठापन का प्रायश्चित्त विहित है। असणवणंसि=अशन यानी बीजक वृक्ष के वन में। पत्तोवएसु=पत्रों से युक्त पान (ताम्बूल नागबिल) आदि वनस्पति वाले स्थान में। इसी तरह पुप्फोवएसु आदि पाठों का अर्थ समझ लेना चाहिए। निशीथ सूत्र में इस सूत्र के समान पाठ मिलता है।[1]

अणावाहंसि के दो अर्थ मिलते हैं—(१) अनापात और अनाबाध। अनापात का अर्थ है—जहाँ लोगों का आवागमन न हो। अनाबाध का अर्थ है—जहाँ किसी प्रकार की रोकटोक न हो, सरकारी प्रतिबन्ध न हो। इंगालदाहेसु=काष्ठ जला कर जहाँ कोयले बनाये जाते हों, उन पर। खारडाहेसु=जहाँ जंगल और खेतों में घास, पत्ती आदि जला कर राख बनाई जाती हैं। मडयडाहेसु=मृतक के शव की जहाँ दहन क्रिया की जाती है, वैसी श्मशान भूमि में। मडगथूभियासु=चिता स्थान के ऊपर जहां स्तूप बनाया जाता है, उन स्थानों में। मडयचेतिएसु=चिता स्थान पर जहाँ चैत्य—स्थान (स्मारक) बनाया जाता है, उनमें। निशीथ चूर्णि में सूत्र ६६२ के समान पाठ के अतिरिक्त "मडगगिहंसि वा, मडगछारियंसि वा मडगथूभियंसि. मडगासयंसि वा मडगलेणंसि' मडगथंडिलंसि वा मडगवच्चंसि वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेई····।' इत्यादि पाठ मिलता है। इनका अर्थ स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि मृतक से सम्बन्धित गृह, राख, स्तूप, आश्रय, लयन (देवकुल), स्थण्डिल, वर्चस् इत्यादि पर मल-मूत्र विसर्जन निषिद्ध है।

गोप्पहेलियासु=जहाँ नई गायों को बाँटा (गवार खली आदि) चटाया जाता है, उन स्थानों में।[2] गवाणीसु=गोचरभूमियों में। सपाततं=स्वपात्रक, इसका अपभ्रंश पाठ मिलता है सवारकं=वारक का अर्थ उच्चारार्थ मात्रक—भाजन।[3]

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१० (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २३७
(ग) निशीथ सूत्र उ०३ के पाठ से तुलना—'जे भिक्खू नई आययणंसि वा पंकाययणंसि वा य···(ओघा ? पणगा ?) य यणंसि वा, सेयणपहंसि वा····।'
सेयणपहो तु णिक्का, सुक्कंति फला जहिं वच्चं ॥ —भाष्य गा० १५३६ पृ० २२५-२२६
(घ) वच्चं नाम जत्थ पत्ता पुप्फा फला वा सुक्काविज्जंति'—आचा० चूर्णि मू० पा० ठि० पृ० २३८
(च) निशीथसूत्र तृतीय उद्देशक में उक्त पाठ की तुलना करें–'जे भिक्खू उंबरवच्चंसि···डागवच्चंसि वा सागवच्चंसि वा मूलगवच्चंसि वा कोत्थुंभरिवच्चंसि वा···इक्खुवणंसि वा····चंपकवणं सि वा चूयवणंसि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु पत्तोवएसु पुप्फोवएसु फलोवएसु बीओवएसु उच्चारपासवणे परिट्ठवेई····पृ० २२६।···उंबरस्स फला जत्थ गिरितडे उप्पविज्जंति तं उंबरवच्चं भण्णति।
(छ) 'वच्च' शब्द पुरीष (उच्चार) अर्थ में भी आगमों में प्रयुक्त हुआ है। विनयपिटक में भी वच्चकुटी (संडास) शौचस्थान के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

२. णविआ गोलेहिया जत्थ गावीओ लिहंति। एतेसिं चेव ठाणाणि दोसा।

३. (क) निशीथ सूत्र उ०-३ से तुलना करें चूर्णि पृ० २२५
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१० तुलना करें—निशीथ—उ०३ चूर्णि २२६ पृ०

निशीथ सूत्र में साधुओं को रात्रि या विकाल में शौच की प्रवल वाधा हो जाने पर उसके विसर्जन की विधि वताई है, कि स्वपात्रक लेकर या वह न हो तो दूसरे साधु से माँग कर उसमें विसर्जन करे किन्तु उसका परिष्ठापन वह सूर्योदय होने पर एकान्त अनाबाध, आवागमनरहित निरवद्य, अचित्त स्थान में करे। प्रस्तुत सूत्र में दैवसिक-रात्रिक सामान्य विधि बताई है कि अपना या दूसरे साधु का पात्रक लेकर वैसे एकान्त निर्दोष स्थण्डिल पर मल-मूत्र विसर्जन करे या उसका परिष्ठापन करे।[1]

६६८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं[2] जाव[3] जएज्जासि त्ति बेमि ॥

६६८. यही (उच्चार-प्रस्रवण व्युत्सर्गार्थं स्थण्डिल विवेक) उस भिक्षु या भिक्षुणी का आचार सर्वस्व है, जिसके आचरण के लिए उसे समस्त प्रयोजनों से ज्ञानादि सहित एवं पांच समितियों से समित होकर सदैव-सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

॥ दसम अज्झयणं समत्तं ॥

---

१. (क) आचारांग चूर्णि० मू० पा० टि० पृ० २३८-२३९
   (ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१०
   (ग) तुलना करें—निशीथ उ० ३, निशीथचूर्णि पृ० २२७-१२८
२. किसी-किसी प्रति में 'सव्वट्ठेहिं' पाठ नहीं है।
३. यहाँ 'जाव' शब्द से सू० ३३४ के अनुसार 'सव्वट्ठेहिं' से 'जएज्जासि' तक का पाठ समझें।

शब्द-सप्तक . एकादश अध्ययन

प्राथमिक

✫ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'शब्द-सप्तक' है।

✫ कर्णेन्द्रिय का लाभ शब्द श्रवण के लिए है। भिक्षु अपनी संयम साधना को—ज्ञान-दर्शन-चारित्र को तेजस्वी एवं उन्नत बनाने हेतु कानों से शास्त्र-श्रवण करे, गुरुदेव के प्रशस्त हित-शिक्षा पूर्ण वचन सुने, दीन-दुःखी व्यक्तियों की पुकार सुने, किसी के द्वारा भी कर्तव्य प्रेरणा से कहे हुए वचन सुने, वीतराग प्रभु के, मुनिवरों के प्रशस्त स्तुति-परक शब्द, स्तोत्र एवं भक्तिकाव्य सुने, अहिंसादि लक्षण प्रधान गुण वर्णन सुने, यह तो अभीष्ट शब्द-श्रवण है।[1]

✫ संसार में अनेक प्रकार के शब्द हैं, कर्णप्रिय और कर्णकटु भी। परन्तु अपनी प्रशंसा और कीर्ति के शब्द सुनकर हर्ष से उछल पड़े और निन्दा, गाली आदि के शब्द सुन रोष से उबल पड़े; इसी प्रकार वाद्य, संगीत आदि के कर्णप्रिय स्वर सुनकर आसक्ति या मोह पैदा हो और कर्कश, कर्णकटु और कठोर शब्द सुन कर द्वेष, घृणा या अरुचि पैदा हो, यह अभीष्ट नहीं है।

✫ कोई भी प्रिय या अप्रिय शब्द अनायास कानों में पड़ जाए तो साधु उसे सुन भर ले किन्तु उसके साथ मन को न जोड़े। न ही कर्णप्रिय मधुर लगने वाले शब्दों को सुनने की मन में उत्कण्ठा करे। वह समभाव में रहे।

✫ इस अध्ययन में कर्ण-सुखकर मधुर शब्द सुनने की इच्छा से गमन करने, प्रेरणा या उत्कण्ठा का निषेध किया गया है।[2]

✫ चूंकि राग और द्वेष दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं, किन्तु राग का त्याग करना बहुत कठिन होने से राग-त्याग पर पर जोर दिया है। शब्द सप्तक अध्ययन में किसी भी मनोज्ञ दृष्ट, प्रिय, कर्ण सुखकर शब्द के प्रति मन में १. इच्छा, २. लालसा, ३. आसक्ति,

---

१. आचारांग निर्युक्ति गा० ३२३, आचारांग वृत्ति पत्रांक ४११

२. (क) कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं कायेण अहियासये॥

—दशवै० अ० ८ गा० २६

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३२, गा० ३० से ४७ तक

४. राग, ५. गृद्धि, ६. मोह और ७. मूर्च्छा; । इन सातों से दूर रहने का निर्देश होने से (शब्द सप्तक) नाम सार्थक है ।[1]

- भाषावर्गणा के पुद्गल द्रव्य जब शब्द रूप में परिणत होते हैं, तो वे नो आगमतः द्रव्य शब्द कहलाते हैं। शब्द अर्थ के में जो उपयुक्त है—उपयोग वाला है वह आगम से भाव शब्द है। नो आगम से भाव शब्द आगम के पन्नों पर अंकित अहिंसादि तत्त्वों के वर्णन रूप हैं, या जिनदेवों की स्तुति रूप स्तोत्र हैं।
- द्रव्य शब्द के तीन भेद हैं—१. जीव शब्द, २. अजीव शब्द और ३. मिश्र शब्द। इसके फिर सार्थक-निरर्थक आदि अनेक भेद हैं।[2]
- इस अध्ययन में शब्द-श्रवण के साथ राग-द्वेषादि से दूर रहकर समत्व एवं माध्यस्थ्य में लीन रहने की प्रेरणा दी गई है।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४४१
(ख) जैन साहित्य का वृहत् इतिहास (अंगों का अंतरंग परिचय) पृ० ११२
२. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४११

एगारसमं अज्झयणं 'सद्दसत्तिक्कओ'[1]

शब्द सप्तक : एकादश अध्ययन : चतुर्थ सप्तिका

वाद्यादि शब्द श्रवण-उत्कण्ठा-निषेध

६६९. से भिक्खू वा २ मुइंगसद्दाणि वा नंदीसद्दाणि वा झल्लरीसद्दाणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं वितताइं सद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए[2]।

६७०. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं[3] सुणेति, तंजहा—वीणासद्दाणि वा विवंचिसद्दाणि वा बद्धीसगसद्दाणि वा तुणयसद्दाणि वा पणवसद्दाणि वा तुंबवीणियसद्दाणि वा ढकुणसद्दाणि[4] वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाणि सद्दाणि तताइं[5] कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७१. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा—तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दाणि वा गोहियसद्दाणि वा किरिकिरिसद्दाणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं तालसद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७२. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा—संखसद्दाणि वा वेणु-

---

१. चूर्णिकार ने 'रूपसप्तैकक:' नामक पंचम अध्ययन को चतुर्थ माना है और 'शब्दसप्तैकक:' को पंचम। अत: शब्दसप्तैकक में चूर्णिकार सम्मत पाठ इतना ही है—एवं सद्दाइं पि संखादीणि। तताणि, वीणा ववीसमुग्घोसादीणि विततणि बंभादि। घणाइं उज्जउललक्कुडा। सुसिराइं वंसपव्वगादि पव्वादीणि। सद्दं सुणेत्ताणं जितो जाति पिक्खतो वणिज्जंतेसु वा रागादीणि जाति। पंचमं सत्तिक्कगं समत्तं।' अर्थात्—इसी प्रकार शब्दों के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। शंखादि शब्द तत हैं, वीणा, ववीस, उद्घोप आदि के शब्द वितत है, भंभा आदि घन, उज्ज्वकुल आदि ताल शब्द। शुपिर वाँस, पर्वकपर्वादि के शब्द। किसी शब्द को सुनकर रागादि को प्राप्त करता है, अथवा रूप आदि को देख कर उसका वर्णन करने से राग-द्वेष आदि होते हैं। इस प्रकार पंचम सप्तैकक समाप्त।

२. सू० ६६९ का संक्षेप में अर्थ वृत्तिकार के शब्दों में—'स पूर्वाधिकृतो भिक्षुर्यदि वितत-तत-घन-शुषिर-रूपांश्चतुर्विधानातोद्यशब्दान् शृणुयात् ततस्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनाय, न तदाकर्णनाय गमनं कुर्यादित्यर्थ:।' इसका भावार्थ विवेचन में दिया जा चुका है।

३. 'अहावेगतियाइं' के बदले पाठान्तर है—अहावेगयाइं।

४. ढकुणसद्दाणि के बदले पाठान्तर है–'ढकुलसद्दाणि, ढंकुणसद्दाणि।

५. ततं का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—ततं वीणा-विपंची-बब्बीसकादि तंत्रीवाद्यम्।

सद्दाणि वा वंससद्दाणि वा खरमुहिसद्दाणि[1] वा पिरिपिरियसद्दाणि[2] वा अण्णयराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं[3] झुसिराइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६६९. संयमशील साधु या साध्वी मृदंगशब्द, नंदीशब्द या झलरी (झालर या छैने) के शब्द तथा इसीप्रकार के अन्य वितत शब्दों को कानों से सुनने के उद्देश्य से कहीं भी जाने का मन में संकल्प न करे।

६७०. साधु या साध्वी कई शब्दों को सुनते हैं, अर्थात् अनायास कानों में पड़ जाते हैं, जैसे कि वीणा के शब्द, विपंची के शब्द, बद्धीसक के शब्द, तूनक के शब्द या ढोल के शब्द, तुम्बवीणा के शब्द, ढंकुण (वाद्य विशेष) के शब्द, या इसीप्रकार के विविध तत-शब्द किन्तु उन्हें कानों से सुनने के लिए कहीं भी जाने का मन में विचार न करे।

६७१. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि ताल के शब्द, कंसताल के शब्द, लत्तिका (कांसी) के शब्द, गोधिका (भांड लोगों द्वारा कांख और हाथ में रखकर बजाए जाने वाले वाद्य) के शब्द या बांस की छड़ी से बजने वाले शब्द, इसीप्रकार के अन्य अनेक तरह के तालशब्दों को कानों से सुनने की दृष्टि से किसी स्थान में जाने का मन में संकल्प न करे।

६७२. साधु-साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि शंख के शब्द, वेणु के शब्द, बांस के शब्द, खरमुही के शब्द, बांस आदि की नली के शब्द या इसीप्रकार के अन्य नाना शुषिर (छिद्रगत) शब्द, किन्तु उन्हें कानों से श्रवण करने के प्रयोजन से किसी स्थान में जाने का संकल्प न करे।

विवेचन—विविध वाद्य-स्वर श्रवणार्थ उत्सुकता निषेध—इन ४ सूत्रों (सू ६६९ से ६७२ तक) में विविध प्रकार के वाद्यों के स्वर सुनने के लिए लालायित होने का स्पष्ट निषेध है। इस निषेध के पीछे कारण ये हैं—(१) साधु वाद्यश्रवण में मस्त हो कर अपनी साधना को भूल जाएगा, (२) वाद्य-श्रवण रसिक साधु अहर्निश संगीत और वाद्य की महफिले ढूंढ़ेगा, (३) वाद्य श्रवण की लालसा से राग और मोह, तथा श्रवणेन्द्रिय विषयासक्ति और तत्पश्चात् कर्मबन्ध

---

१. खरमुही का अर्थ निशीथचूर्णि में किया गया है—"खरमुखी काहला, तस्स मुहत्थाणे खरमुहाकारं कट्ठमयं मुहं कज्जति।"—खरमुखी उसे कहते हैं, जिसके मुख के स्थान में गर्दभमुखाकार काष्ठमय मुख बनाया जाता है।

२. 'परिपिरिया' का अर्थ निशीथ चूर्णि में किया गया है—'परिपिरिया तततोण सलागातो सुसिराओ जमलाओ संघाडिज्जंति मुहमूले एगमुहा सा संखागारेण वाइज्जमाणी जुगवं तिण्णि सद्दे परिपिरितों करेति।' —परिपरिया विस्तृत तृण शलाकासे पोला पोला समश्रेणि में इकट्ठी की जाती है। मुख के मूल में एकमुखी करके उसे शंखाकृति रूप में बजाई जाने पर एक साथ तीन शब्द परिपिरिया करती है।
—निशीथ चूर्णि उ०१७ पृ०२०१

☐ इसके बदले पाठान्तर हैं—पिरिपिरिसद्दाणि।

३. सद्दाइं के आगे 'झूसिराइं' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं है।

होगा, (४) वाद्य-श्रवण की उत्कण्ठा के कारण नाना वादकों की चाटुकारी करेगा। इसलिए वाद्य शब्द अनायास ही कान में पड़ें, यह बात दूसरी है, किन्तु चलाकर श्रवण करने के लिए उत्कण्ठित हो, यह साधु के लिए उचित नहीं।[1]

प्रस्तुतचतुःसूत्री में मुख्यतया चार कोटि के वाद्य-श्रवण की उत्कण्ठा का निषेध है—(१) वितत शब्द, (२) ततशब्द, (३) ताल शब्द और (४) शुषिर शब्द। वाद्य चार प्रकार के होने से तज्जन्य शब्दों के भी चार प्रकार हो जाते हैं। इन चारों के लक्षण इस प्रकार हैं—(१) वितत—तार रहित बाजों से होने वाला शब्द, जैसे मृदंग, नंदी और झालर आदि के स्वर। (२) तत—तार वाले बाजे-वीणा, सारंगी, तुनतुना, तानपूरा, तम्बूरा आदि से होने वाले शब्द। (३) ताल—ताली बजने से होने वाला या कांसी, झांझ, ताल आदि के शब्द। (४) शुषिर-पोल या छिद्र में से निकलने वाले बांसुरी, तुरही, खरमुही, बिगुल आदि के शब्द।

स्थानांगसूत्र में शब्द के भेद-प्रभेद—जीव के वाक् प्रयत्न से होने वाला—भाषा शब्द तथा वाक्-प्रयत्न से भिन्न शब्द। इनके भी दो भेद किये हैं—अक्षर-सम्बद्ध, नो-अक्षर-सम्बद्ध। नो अक्षर-सम्बद्ध के दो भेद-आतोद्य (बाजे आदि का) शब्द, नो आतोद्य (बांस आदि के फटने से होने वाला) शब्द। आतोद्य के दो भेद-तत और वितत, तत के दो भेद-ततघन और तत-शुषिर, तथा वितत के दो भेद-विततघन, वितत-शुषिर। नो आतोद्य के दो भेद—भूषण, नोभूषण। नो भूषण के दो भेद-ताल और लतिका।[2]

प्रस्तुत में आतोद्य के सभी प्रकारों का समावेश-तत, वितत, घन और शुषिर इन चारों में कर दिया गया है। वृत्तिकार ने ताल को एक प्रकार से घनवाद्य का ही रूप माना है। परन्तु स्थानांग सूत्र में ताल और लतिका (लात मारने से होनेवाला या बांस का शब्द) को नो आतोद्य के अन्तर्गत नो-भूषण के प्रकारों में गिनाया है।

भगवती सूत्र में वाद्य के तत, वितत, घन और शुषिर इन चारों प्रकारों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार निशीथसूत्र में वितत, तत, घन और शुषिर इन चार प्रकार के शब्दों का प्रस्तुत चतुःसूत्रीक्रम से उल्लेख किया है।[3]

'बद्धीसगसद्दाणि' आदि पदों के अर्थ—'बद्धीसग' का अर्थ प्राकृत कोष में नहीं मिलता, 'बद्धग' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ तूण वाद्य विशेष किया गया है। तुणयसद्दाणि=तुनतुने के शब्द, पणवसद्दाणि=ढोल की आवाज, तुम्बवीणियसद्दाणि=तुम्बे के साथ संयुक्त वीणा के शब्द या तम्बूरे के शब्द, ढंकुणसद्दाणि=एक वाद्य विशेष के शब्द, कंसतालसद्दाणि=कांसे का शब्द, लत्तियसद्दाणि=कांसा, कंसिका के शब्द। गोहियसद्दाणि=भांडों द्वारा कांख और हाथ में रखकर

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४० (ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१२
(ग) दशवै० अ० ८ गा० २६ (घ) उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ३८, ३९, ४०, ४१ का भावार्थ

२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२ (ख) स्थानांग० स्थान-२, उ० ३ सू०—२११ से २१९

३. (क) आचा० वृत्ति० पत्रांक ४१२ (ख) निशीथ सू० उ० १७ पृ० २००-२०१

वजाया जाने वाले वाद्य के शब्द । किरकिरिसद्दाणि=बांस आदि की छड़ी से बजाये जाने वाले वाद्य के शब्द । पिरपिरियसंद्दाणि=बांस आदि की नाली से बजने वाले वाद्य शब्द, अथवा देशी भाषा में पिपुड़ी।[1]

विविध स्थानों में शब्देन्द्रिय-संयम

६७३. से भिक्खू वा २ अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-वप्पाणि[2] वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सरपंतियाणि[3] वा सरसरपंतियाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए ।

६७४. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेइ, तंजहा—कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि वा[4] पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं सद्दाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए ।

६७५. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा—गामाणि[5] वा नगराणि वा निगमाणि वा रायधाणाणि[6] वा आसम-पट्टण-सण्णिवेसाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए,

६७६. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए ।

६७७. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अण्णतराणि वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए ।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२ (ख) आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४१
(ग) पाइअसद्दमहण्णवो (घ) निशीथ चूर्णि उ० १७ पृ० २०१

२. *'वप्पाणि वा' आदि का अर्थ वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है—वप्रः केदारस्तटादिर्वा, तद्वर्णकाः शब्दा वप्रा एवोक्ताः* वप्र—कहते हैं—क्यारी को, अथवा तट आदि को, उसका वर्णन करने वाले शब्द भी वप्र कहलाते हैं ।

३. 'सराणि वा सरपंतियाणि वा' के वदले पाठान्तर हैं—सागराणि वा सरपंतियाणि वा, सागराणि वा सरसरपंतियाणि है ।

४. वणदुग्गाणि वा के वाद पव्वयाणि वा किसी-किसी प्रति में नहीं है ।

५. निशीथचूर्णि में उ०१२ पृ०३४४-३४६, ३४७ में इन सवकी विशेप व्याख्या की गई है—
"करादियाण गम्मो गामो । ण करा जत्थ तं णगरं । खेडं नाम धूलीपागारपरिक्खित्तं । कुनगरं कव्वडं । जोयणब्भंतरे जस्स गामादि नत्थि तं मडंवं । सुवण्णादि आगरो । पट्टणं दुविहं जलपट्टणं थलपट्टणं च, जलेण जस्स भंडमागच्छति तं जलपट्टणं, इतरं थलपट्टणं । दोण्णि मुहा जस्स तं दोणपहं जलेण वि थलेण वि भंडमागच्छति । आसमं नाम तावसमादीणं । सत्थावासणट्ठणं सन्निवेसं । गामो वा पट्ठितो सन्निविट्ठो जत्तागतो वा लोगो सन्निविट्ठो तं सन्निवेसं भण्णति । अन्नत्थ किसिं करेत्ता अन्नत्थ वोढुं वसंति तं संवाहं भन्नति । घोसं गोउलं । वणियवग्गो जत्थ वसति तं नेगमं । अंसिया गामततियभागादी । भंडग्गाहणा जत्थ भिज्जंति तं पुडाभेदं । जत्थ राया वसति सा राजधाणी ।

६. 'रायहाणिं'—पाठान्तर है ।

६७८. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउमुहाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७९. से भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभकरणट्ठाणाणि वा अस्सकरणट्ठाणाणि[1] वा हत्थिकरणट्ठाणाणि[2] वा जाव कविंजलकरण-ट्ठाणाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६७३. वह साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द श्रवण करते हैं, जैसे कि-खेत की क्यारियों में तथा खाइयों में होने वाले शब्द यावत् सरोवरों में, समुद्रों में, सरोवर की पंक्तियों या सरोवर के बाद सरोवर की पंक्तियों के शब्द अन्य इसी प्रकार के विविध शब्द, किन्तु उन्हें कानों से श्रवण करने के लिए जाने का मन में संकल्प न करे।

६७४. साधु या साध्वी कतिपय शब्दों को सुनते हैं, जैसे कि नदी तटीय जलबहुल प्रदेशों, (कच्छों) में, भूमिगृहों या प्रच्छन्न स्थानों में, वृक्षों से सघन एवं गहन प्रदेशों में, वनों में, वन के दुर्गम प्रदेशों में, पर्वतों पर, या पर्वतीय दुर्गों में तथा इसीप्रकार के अन्य प्रदेशों में, किन्तु उन शब्दों को कानों से श्रवण करने के उद्देश्य से गमन करने का संकल्प न करे।

६७५. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द श्रवण करते हैं, जैसे—गांवों में, नगरों में, निगमों में, राजधानी में, आश्रम, पत्तन और सन्निवेशों में या अन्य इसीप्रकार के नाना रूपों में होने वाले शब्द हैं, किन्तु साधु-साध्वी उन्हें सुनने की लालसा से न जाए।

६७६. साधु या साध्वी के कानों में कई प्रकार के शब्द पड़ते हैं, जैसे कि—आरामगारों में, उद्यानों में, वनों में, वनखण्डों में, देवकुलों में, सभाओं में, प्याऊओं में या अन्य इसीप्रकार के विविध स्थानों में, किन्तु इन कर्णप्रिय शब्दों को सुनने की उत्सुकता से जाने का संकल्प न करे।

६७७. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि—अटारियों में, प्राकार से सम्बद्ध अट्टालयों में, नगर के मध्य में स्थित राजमार्गों में; द्वारों या नगर-द्वारों तथा इसी प्रकार के अन्य स्थानों में, किन्तु इन शब्दों को सुनने हेतु किसी भी स्थान में जाने का संकल्प न करे।

६७८. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि—तिराहों पर, चौकों में, चौराहों पर, चतुर्मुख मार्गों में तथा इसीप्रकार के अन्य स्थानों में, परन्तु इन शब्दों को श्रवण करने के लिए कहीं भी जाने का संकल्प न करे।

६७९. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द श्रवण करते है, जैसे कि—भैंसों के स्थान,

१. आसकरणं का अर्थ निशीथ चूर्णि में किया गया है—आससिक्खावणं आसकरणं एवं सेसाणि वि। अश्वकरण कहते हैं—अश्वशिक्षा देने को। इसी प्रकार शेष करणों के सम्बन्ध में जान लें।

२. यहाँ जाव शब्द से हत्थिकरणट्ठाणाणि से कविंजलकरणट्ठाणाणि तक का पाठ सू० ६५७ के अनुसार है।

वृषभशाला, घुड़साल, हस्तिशाला यावत् कपिंजल पक्षी आदि के रहने के स्थानों में होने वाले शब्दों या इसी प्रकार के अन्य शब्दों को, किन्तु उन्हें श्रवण करने हेतु कहीं जाने का मन में विचार न करे।

विवेचन—विविध स्थानों में विभिन्न शब्दों की श्रवणोत्कण्ठानिषेध-प्रस्तुत सात सूत्रों (६७३ से ६७९) में विभिन्न स्थानों में उन स्थानों मे सम्वन्धित आवाजों या उन स्थानों में होने वाले श्रव्य गेय आदि स्वरों को श्रवण करने की उत्सुकतावश जाने का निषेध किया गया है। ये स्वर कर्णप्रिय लगते हैं, किन्तु साधु उसे चला कर सुनने न जाए, न ही सुनने की उत्कण्ठा करे।[1] अनायास शब्द कान में पड़ ही जाते हैं, मगर इन शब्दों को मात्र शब्द ही माने, इनमें मनोज्ञता या अमनोज्ञता का मन के द्वारा आरोप न करे। राग-द्वेष का भाव न उत्पन्न होने दे।

निशीथ सूत्र के १७ वें उद्देशक में इन स्थानों में होने वाले शब्दों को सुनने का मन में संकल्प करने वाले साधु या साध्वी के लिए इन शब्दों को सुनने में प्रायश्चित बताया है-जे भिक्खू वप्पाणि वा... कण्णसवणपडियाए अभिसंधारेइ....' चूर्णिकार इनके सम्बन्ध में बताते हैं कि जैसे १२ वें उद्देशक में ये १४ (रूप-दर्शन-सम्बद्ध) सूत्र प्रतिपादित किये हैं, वैसे यहां (शब्द-श्रवण-सम्बद्ध सूत्र १७ वें उद्देशक में भी प्रतिपादित समझ लेना चाहिए। विशेष इतना ही है कि वहाँ चक्षु से रूप दर्शन की प्रतिज्ञा से गमन का प्रायश्चित्त है, जबकि यहां कानों से शब्द श्रवण प्रतिज्ञा से गमन करने का प्रायश्चित है। वप्र आदि स्थानों में जो शब्द होते हैं, उन्हें ग्रहण करने के लिए जो साधु जाता है, वह प्रायश्चित का भागी होता है।[2]

मनोरंजन स्थलों में शब्दश्रवणोत्सुकता निषेध

६८०. से[3] भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेइ, तंजहा-महिसजुद्धाणि वा वसभ-जुद्धाणि वा अस्सजुद्धाणि वा जाव कविंजलजुद्धाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं नो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६८१. से[4] भिक्खू वा २ अहावेगतियाइं सद्दाइं सुणेति, तंजहा-जूहियट्ठाणाणि वा हयजूहियट्ठाणाणि वा गयजूहियट्ठाणाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभि-संधारेज्जा गमणाए।

६८२. से भिक्खू वा २[5] जाव सुणेति, तंजहा-अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणिय-

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२

२. निशीथ सूत्र उ० १७, चूर्णि पृ० २०१-२०३

३. सूत्र ६८० का आशय वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है—"कलहादिवर्णन तत्स्थानं वा श्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेत्।" अर्थात्—कलह आदि का वर्णन या उस स्थान में होने वाले कलह का श्रवण करने के लिए न जाए।

४. सू० ६८१ में उल्लिखित पाठ से अतिरिक्त अनेक पाठ निशीथ सूत्र १२वें उद्देशक में हैं।

५. यहाँ जाव शब्द से भिक्खूणी वा से सुणेति तक का पाठ सूत्र ६८१ के अनुसार समझें।

ट्ठाणाणि वा महयाहतनट्ट-गीत-वाइत-तंति-तलताल-तुडिय-पडुप्प-वाइयट्ठाणाणि वा अण्णतराइं[1] वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्जा गमणाए।

६८३. से भिक्खू वा २ जाव सुणेति, तंजहा–कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि[2] वा विरुद्धरज्जाणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं सद्दाइं णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८४. से भिक्खू वा २ जाव सद्दाइं सुणेति, [तंजहा]-खुड्डियं दारियं परिवुतं मंडितालंकितं निवुज्झमाणिं[3] पेहाए, एगपुरिसं वा वहाए णीणिज्जमाणं पेहाए, अण्णतराइं वा अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८५. से भिक्खू वा २ अण्णतराइं विरूवरूवाइं महासवाइं[4] एवं जाणेज्जा[5], तंजहा–बहुसगडाणि वा बहुरहाणि[6] वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अण्णतराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महासवाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८६. से भिक्खू वा २ अण्णतराइं विरूवरूवाइं महुस्सवाइं[7] एवं जाणेज्जा तंजहा–इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि[8] वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि[9] वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डयमाणाणि वा विग्गोवयमाणाणि वा अण्णयराइं वा तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं महुस्सवाइं कण्णसोयपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

६८०. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि—जहाँ भैंसों के युद्ध, सांडों के युद्ध, अश्व-युद्ध, हस्ति-युद्ध यावत् कपिंजल-युद्ध होते हैं तथा अन्य इसी प्रकार के पशु-पक्षियों के लड़ने से या लड़ने के स्थानों में होने वाले शब्द, उनको सुनने हेतु जाने का संकल्प न करे।

---

१. अण्णतराइं के बदले पाठ है—अण्णतराणि। अर्थ समान है।
२. किसी-किसी प्रति में वेरज्जाणि वा पाठ नहीं है।
३. 'निवुज्झमाणिं' के बदले पाठान्तर है णिवुज्झमाणिं, णिव्वुज्झमाणि। वृत्तिकारकृत अर्थ है—अश्वादिना नीयमानाम्। —घोड़े आदि पर ले जाते हुए।
४. महासवाइं का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—महान्येतान्याश्रवस्थानानि पापोपादानस्थानानि वर्तन्ते। —ये महान् आश्रव स्थान-पापोपादान के स्थान हैं।
५. जाणेज्जा के बदले पाठान्तर हैं—जाणे
६. तुलना कीजिए—जे भिक्खू विरूवरूवाणि महामहाणि तंजहा—बहुरयाणि……बहुमिलक्खूणि…। (चूर्णि)…अव्वत्तभासिणो जत्थ महेमिलन्ति सो बहुमिलक्खोमहो, द्रमिडादि। —निशीथ उ० १२ चूर्णि पृ० ३५०
७. तुलना कीजिए—जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा…डहराणि वा…गायंताणि वा…… मोहंताणि वा…विउलं…परिभुंजंताणि वा…। —निशीथ उ० १२ पृ० ३५०
८. विभूसियाणि के बदले पाठान्तर है—विभूसाणि। आभूषणों की साज-सज्जा से युक्त।
९. किसी-किसी प्रति में मोहंताणि वा पाठ नहीं है, कहीं पाठान्तर है—मोगंताणि

६८१· साधु या साध्वी के कानों में कई प्रकार के शब्द पड़ते हैं, जैसे कि—वर-वधू युगल आदि के मिलने के स्थानों (विवाह-मण्डपों) में या जहाँ वरवधू-वर्णन किया जाता है, ऐसे स्थानों में, अश्वयुगल स्थानों में, हस्तियुगल स्थानों में तथा इसीप्रकार के अन्य कुतूहल एवं मनोरंजक स्थानों में, किन्तु ऐसे श्रव्य-गेयादि शब्द सुनने की उत्सुकता से जाने का संकल्प न करे।

६८२· साधु या साध्वी कई प्रकारके शब्द-श्रवण करते हैं, जैसे कि कथा करने के स्थानों में, तोल-माप करने के स्थानों में या घुड़-दौड़, कुश्ती प्रतियोगिता आदि के स्थानों में, महोत्सव स्थलों में, या जहाँ वड़े-वड़े नृत्य, नाट्य, गीत, वाद्य, तंत्री, तल (कांसी का वाद्य), ताल, त्रुटित वादित्र, ढोल वजाने आदि के आयोजन होते हैं, ऐसे स्थानों में तथा इसीप्रकार के अन्य मनोरंजन स्थलों में होने वाले शब्द, मगर ऐसे शब्दों को सुनने के लिए जाने का संकल्प न करे।

६८३. साधु या साध्वी कई प्रकार के शब्द सुनते हैं, जैसे कि जहाँ कलह होते हों, शत्रु सैन्य का भय हो, राष्ट्र का भीतरी या वाहरी विप्लव हो, दो राज्यों के परस्पर विरोधी स्थान हों, वैर के स्थान हों, विरोधी राजाओं के राज्य हों, तथा इसीप्रकार के अन्य विरोधी वातावरण के शब्द, किन्तु उन शब्दों को सुनने की दृष्टि से गमन करने का संकल्प न करे।

६८४· साधु या साध्वी कई शब्दों को सुनते हैं, जैसे कि वस्त्राभूषणों से मण्डित और अलंकृत तथा बहुत-से लोगों से घिरी हुई किसी छोटी बालिका को घोड़े आदि पर बिठाकर ले जाया जा रहा हो, अथवा किसी अपराधी व्यक्ति को वध के लिए वधस्थान में ले जाया जा रहा हो, तथा अन्य किसी ऐसे व्यक्ति की शोभायात्रा निकाली जा रही हो, उस समय होने वाले (जय, धिक्कार, तथा मानापमानसूचक नारों आदि) शब्दों को सुनने की उत्सुकता से वहां जाने का संकल्प न करे।

६८५. साधु या साध्वी अन्य नानाप्रकार के महास्रवस्थानों को इस प्रकार जाने, जैसे कि जहाँ वहुत से शकट, वहुत से रथ, वहुत से म्लेच्छ, वहुत से सीमाप्रान्तीय लोग एकत्रित हुए हों, अथवा उस प्रकार के नाना महास्रव के स्थान हों, वहाँ कानों से शब्द-श्रवण के उद्देश्य से जाने का मन में संकल्प न करे।

६८६· साधु या साध्वी किन्हीं नाना प्रकार के महोत्सवों को यों जाने कि जहाँ स्त्रियां, पुरुष, वृद्ध, वालक और युवक आभूषणों से विभूषित होकर गीत गाते हों, बाजे वजाते हों, नाचते हों, हंसते हो, आपस में खेलते हो, रतिक्रीड़ा करते हो, तथा विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थों का उपभोग करते हों, परस्पर बाँटते हों, या परोसते हों, त्याग करते हों, परस्पर तिरस्कार करते हों, उनके शब्दों को तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से महोत्सवों में होने वाले शब्दों को कान से सुनने की दृष्टि से जाने का मन में संकल्प न करे।

विवेचन—मनोरंजन स्थलों में शब्दश्रवणोत्कण्ठा वर्जित—सूत्र ६८० से ६८६ तक सप्तसूत्री

में प्राय: मनोरंजन स्थलों में होने वाले शब्दों के उत्सुकतापूर्वक श्रवण का निषेध किया गया है। संक्षेप में इन सातों में सभी मुख्य-मुख्य मनोरंजन एवं कुतूहलवर्द्धक स्थलों में विविध कर्ण प्रिय स्वरों के श्रवण की उत्कण्ठा से साधु को दूर रहने की आज्ञा दी है—(१) भैंसों, सांडों आदि के लड़ने के स्थानों में, (२) वर-वधू युगलमिलन स्थलों या अश्वादि युगल स्थानों में, (३) घुड़दौड़ कुश्ती आदि के स्थानों में तथा नृत्य-गीत-वाद्य आदि की महफिलवाले स्थानों में, (४) कलह, शत्रु-सैन्य के साथ युद्ध, संघर्ष, विलम्ब आदि विरोधी वातावरण के शब्दों का (५) किसी की शोभायात्रा में किये जाने वाले जय-जयकार या धिक्कार सूचक नारे या हर्ष-शोक सूचक शब्दों का, (६) महान् आस्रव स्थलों में, (७) बड़े-बड़े महोत्सवों में होने वाले शब्द।[1]

इन्हीं पाठों से मिलते-जुलते पाठ—इन सातों सूत्रों में प्राय: मिलते-जुलते स्वरों—की श्रवणोत्सुकता का निषेध स्पष्ट है; निशीथ (चूर्णि सहित) उद्देशक बारहवें में कई सूत्र और कई पद अविकल रूप से मिलते हैं[2] कुछ सूत्रों में अधिक पाठ भी है।

जूहियट्ठाणाणि आदि पदों के अर्थ—आचारांगवृत्ति, चूर्णि आदि में तथा निशीथ सूत्र चूर्णि आदि में प्रतिपादित अर्थ इस प्रकार है—**जूहियट्ठाणाणि**=जहाँ वर और वधू आदि जोड़ों के मिलन या पाणिग्रहण का जो स्थान (वेदिका, विवाहमण्डप आदि) हैं, वे स्थान। **अक्खाइयट्ठाणाणि**=कथा कहने के स्थान, या कथक द्वारा पुस्तक वाचन। **माणुम्मणियट्ठाणाणि**=मान-प्रस्थ आदि का उन्मान-नाराच (गज) आदि के स्थान, अथवा मानोन्मान का अर्थ है—घोड़े आदि के वेग इत्यादि की परीक्षा करना। अथवा एक के बल का माप दूसरे के बल से अनुमानित किया जाए, अथवा माप का अर्थ वस्त्र मानोन्मानित है उनके स्थान। **'निवुज्झमाणि'**=अश्व आदि ले जाती हुई। **महयाहत**=जोर-जोर से बाजे को पीटना, अथवा महा कथानक। **वाइता**=तंत्री। **ताल**=करतल ध्वनि। **महासवाइं**=जो भारी आस्रवों—पाप कर्मों के आगमन के स्थान हों। **बहुमिलक्खूणि**=जिस उत्सव में बहुत-से अव्यक्तभाषी मिलते हैं, वह बहुम्लेच्छ उत्सव। अथवा जो आभाषक है, उन्हें पूछता नहीं है, वह। **महुस्सवाइं**=महोत्सव। **'मोहंताणि'**=मोहोत्पत्ति करने वाली क्रिया, **मोहना**=मैथुनसेवन, **विछड्डयमाणाणि**=अलग करते हुए, त्याग करते हुए।[3]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२

२. तुलना करिये—**'जे भिक्खू उज्जूहियाठाणाणि वा णिज्जूहियाठाणाणि वा मिहोजूहियाठाणाणि वा, हयजूहियाठाणाणि वा गयजूहियाठाणाणि वा।'**—निशीथ उ०-१२···**एगपुरिसं वा बज्झं णिज्जमाणं।** 'जे भिक्खू आघायाणि वा माणुम्माणियं णम्माणि वा वुग्गहाणि वा···डिंबाणि वा डमराणि वा खाराणि वा, वेराणि वा महाजुद्धाणि वा महासंगामाणि, कलहाणि वा। अभिसेमट्ठाणाणि वा अक्खाइयाट्ठाणाणि वा माणुम्माणियाट्ठाणाणि वा महयाहयणट्टगीयवादिमतंतीतलतालतुडिय घण-मुइंगपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा। जे भिक्खू विरुवरूवाणि महामहाणि····गच्छति। जे भिक्खू विरुव रूवेसु महुस्सवेसु परिभुंजंति।
—**निशीथ उ०-१२ चूर्णि पृ० ३४८-३५०**

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१२ (ख) आचारांगचूर्णि टि० पृ० २४५, २४६, २४७ निशीथचूर्णि पृ० ३४८-५०

६८७. से भिक्खू वा २ णो इहलोइएहिं सद्देहिं णो परलोइएहिं सद्देहिं, णो सुतेहिं सद्देहिं नो असुतेहिं सद्देहिं, णो[1] दिट्ठेहिं सद्देहिं नो अदिट्ठेहिं सद्देहिं, नो[2] [इट्ठेहिं सद्देहिं, नो कंतेहिं सद्देहिं सज्जेज्जा, णो रज्जेज्जा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्जेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा[3] ।

६८८. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जएज्जासि त्ति बेमि ॥

६८७. साधु या साध्वी इहलौकिक एवं पारलौकिक शब्दों में, श्रुत=(सुने हुए) या अश्रुत=(विना सुने) शब्दों में, देखे हुए या विना देखे हुए शब्दों में, इष्ट और कान्त शब्दों में न तो आसक्त हो, न रक्त(रागभाव से लिप्त) हो, न गृद्ध हो, न मोहित हो और न ही मूच्छित या अत्यासक्त हो ।

६८८. यही (शब्द श्रवण-विवेक ही) उस साधु या साध्वी का आचार-सर्वस्व है, जिसमें सभी अर्थो-प्रयोजनों सहित समित होकर सदा वह प्रयत्नशील रहे ।

विवेचन—शब्द श्रवण में आसक्ति आदि का निषेध—प्रस्तुतसूत्र में इहलौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के इष्ट आदि (पूर्वोक्त) शब्दों के श्रवण में आसक्ति, रागभाव, गृद्धि, मोह और मूर्छा का निषेध किया गया है ।[4] इसके निषेध के पीछे मुख्यतया ये कारण हो सकते हैं—(१) शब्दों में आसक्ति से मृग या सर्प की भांति जीवन विनाश सम्भव है, (२) इष्ट शब्द-वियोग और अनिष्ट-संयोग से मन में तीव्र पीड़ा होती है । (३) आसक्ति से अतुष्टि दोष, दुःख प्राप्ति, हिंसादि दोप उत्पन्न होते हैं ।[5]

दिट्ठ आदि पदों के अर्थ—दिट्ठ=पहले प्रत्यक्ष देखे—स्पर्श किये हुए शब्द, अदिट्ठ= जो शब्द प्रत्यक्ष न हो, जैसे—देवादि का शब्द । यद्यपि 'सज्जेज्जा' (आसक्त हो) आदि पद एकार्थक लगते हैं, किन्तु गहराई से सोचने पर इनका पृथक् अर्थ प्रतीत होता है जैसे आसेवना भाव आसक्ति है, मन में प्रीति होना रक्तता/अनुराग है, दोष जान लेने (उपलब्ध होने) पर भी निरन्तर आसक्ति गृद्धि है और अगम्यगमन का आसेवन करना अध्युपपन्न होना है । इहलोइयं=मनुष्यादिकृत, पारलोइयं=जैसे—हय, गज आदि ।[6]

॥ एकादश अध्ययन, चतुर्थ सप्तिका सम्पूर्ण ॥

---

१. किसी-किसी प्रति में नो दिट्ठेहिं सद्देहिं णो अदिट्ठेहिं सद्देहिं पाठ नहीं है ।

२. किसी-किसी प्रति में नो इट्ठेहिं सद्देहिं नो कंतेहिं सद्देहिं नहीं है ।

३. अज्झोववज्जेज्जा के वदले पाठान्तर है—अज्जोवज्जेज्जा ।

४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३

५. उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ३७, ३८, ३९

६. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१३ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४८,
(ग) निशीथचूर्णि उ-१२ पृ ३५० में "सज्जणादी पद-एगट्ठिया, अहवा आसेवणभावे सज्जणता, मणसा पीतिगमणं रज्जणता, सदोसुवलद्धे वि अविरमोगेधी, अगम्ममणासेवणे अज्झुववातो ।"
(घ) तुलना कीजिए—जेभिक्खू इहलोइएसु⋯परलोइएसु⋯दिट्ठेसु⋯सज्जई वा रज्जई वा गिज्झइ वा अज्झोववज्जइ वा ।—निशीथ उ०-१२ पृ० ३५०

रूप सप्तक : द्वादश अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु त०) के वारहवें अध्ययन का नाम 'रूप-सप्तक' है।

☆ चक्षुरिन्द्रिय का कार्य रूप देखना है। संसार में अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय, इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप हैं, दृश्य है, दिखाई देनेवाले पदार्थ हैं। ये सव यथाप्रसंग आँखों से दिखाई देते हैं, परन्तु इन दृश्यमान पदार्थों का रूप देखकर साधु साध्वी को अपना आपा नहीं खोना चाहिए। न मनोज्ञ रूप पर आसक्ति, मोह, राग, गृद्धि, मूर्च्छा उत्पन्न होना चाहिए। और न ही अमनोज्ञ रूप देखकर उनके प्रति द्वेष, घृणा, अरुचि करना चाहिए। अनायास ही कोई दृश्य या रूप दृष्टिगोचर हो जाए तो उसके साथ मन को नहीं जोड़ना चाहिए। समभाव रखना चाहिए, किन्तु उन रूपों को देखने की कामना, लालसा, उत्कण्ठा, उत्सुकता या इच्छा से कहीं जाना नहीं चाहिए।[1]

☆ राग और द्वेष दोनों ही कर्मबन्धन के कारण हैं, किन्तु राग का त्याग करना अत्यन्त कठिन होने से शास्त्रकार ने राग-त्याग पर जोर दिया है। इसी कारण 'शब्द सप्तक' अध्ययनवत् इस अध्ययन में भी किसी मनोज्ञ, प्रिय, कान्त, मनोहर रूप के प्रति मन में इच्छा, मूर्च्छा, लालसा, आसक्ति, राग, गृद्धि या मोह से बचने का निर्देश किया है। अतएव इसका नाम 'रूप सप्तक' रखा गया है।

☆ रूप के यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, ये चार निक्षेप बताए गए हैं, किन्तु नाम और स्थापना निक्षेप सुबोध होने से उन्हें छोड कर यहाँ द्रव्यरूप और भावरूप का निरूपण किया है। द्रव्यरूप नो आगमत: परिमण्डल आदि पाँच संस्थान हैं, और भाव रूप दो प्रकार है—१. वर्णतः, २. स्वभावतः। वर्णतः काला आदि पांचों रंग हैं। स्वभावतः रूप है—अन्तरंग क्रोधादि वश भौंहें तानना, आँखें चढ़ाना, नेत्र लाल होना, शरीर कांपना, कठोर वोलना आदि।[2]

☆ रूप सप्तक अध्ययन में कुछ दृश्यमान वस्तुओं के रूपों को गिना कर अन्त में यह निर्देश कर दिया है कि जैसे शब्द सप्तक में वाद्य को छोड़कर शेष सभी सूत्रों का वर्णन है, तदनुसार, इस रूप सप्तक में भी वर्णन समझना चाहिए।[3]

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१४

(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २४०—से भिक्खू वा २ जहोवगयाइं रुवाइं, ण सक्का चक्खु-विसयमागयं ण दट्ठुं, जं तण्णिमित्तं गमणं तं वज्जेयव्वं।

२. (क) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१४ (ख) आचा० निर्यु क्ति गा० २२०

३. "एवं नेयव्वं जहा सद्दपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिमा वि।—आचा० मू० पा० पृ०-२४६

बारसमं अज्झयणं 'रूव' सत्तिक्कयं

रूप सप्तक : बारहवाँ अध्ययन : पंचम सप्तिका

रूप-दर्शन-उत्सुकता निषेध

६८९. से भिक्खू वा २ अहावेगइयाइं रूवाइं पासति, तंजहा—गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघातिमाणि वा कट्ठकम्माणि[1] वा पोत्थकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा मणिकम्माणि वा दंतकम्माणि वा पत्तच्छेज्जकम्माणि[2] वा विविहाणि वा वेढिमाइं अण्णतराइं [वा] तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं चक्खुदंसणवडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए।

एवं नेयव्वं जहा सद्दपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा[3] रूवपडिमा वि।

६८९. साधु या साध्वी अनेक प्रकार के रूपों को देखते हैं, जैसे—गूँथे हुए पुष्पों से निष्पन्न स्वस्तिक आदि को, वस्त्रादि से वेष्टित या निष्पन्न पुतली आदि को, जिनके अन्दर कुछ पदार्थ भरने से पुरुषाकृति बन जाती हो, उन्हें, अनेक वर्णों के संघात से निर्मित चोलकादिको, काष्ठ कर्म से निर्मित रथादि पदार्थों को, पुस्तकर्म से निर्मित पुस्तकादि को, दीवार आदि पर चित्रकर्म से निर्मित चित्रादि को, विविध मणिकर्म से निर्मित स्वस्तिकादि को, दंतकर्म से निर्मित दन्तपुत्तलिका आदि को, पत्रछेदन कर्म से निर्मित विविध पत्र आदि को, अथवा अन्य विविध प्रकार के वेष्टनों से निष्पन्न हुए पदार्थों को, तथा इसीप्रकार के अन्य नाना पदार्थों के रूपों को, किन्तु इनमें से किसी को आँखों से देखने की इच्छा से साधु या साध्वी उस ओर जाने का मन में विचार न करे।

इस प्रकार जैसे शब्द सम्बन्धी प्रतिमा का (११ वें अध्ययन में) वर्णन किया गया है, वैसे ही यहाँ चतुर्विध आतोद्यवाद्य को छोड़कर रूपप्रतिमा के विषय में भी जानना चाहिए।

विवेचन—एक ही सूत्र द्वारा शास्त्रकार ने कतिपय पदार्थों के रूपों के तथा अन्य उस प्रकार के विभिन्न रूपों के उत्सुकता पूर्वक प्रेक्षण का निषेध किया है। सूत्र के उत्तरार्द्ध में एक पंक्ति द्वारा शास्त्रकार ने उन सब पदार्थों के रूपों को उत्कण्ठापूर्वक देखने का निषेध किया

---

१. 'कट्ठकम्माणि वा' के बदले पाठान्तर हैं—"कट्ठाणि वा, 'कट्ठकम्माणि वा मालकम्माणि वा।" अर्थात् काष्ठकर्म द्वारा निर्मित पदार्थों के, तथा माल्यकर्म द्वारा निष्पन्न माल्यादि पदार्थों के।

२. 'पत्तच्छेज्जकम्माणि' के बदले पाठान्तर है—'पत्तच्छेयककम्माणि'

३. वृत्तिकार इस पंक्ति का स्पष्टीकरण करते हैं—"एवं शब्द सप्तैककसूत्राणि चतुर्विधातोद्यरहितानि सर्वाण्यपीहाप्योज्यानि।" अर्थात् इस प्रकार शब्दसप्तक अध्ययन के चतुर्विध आतोद्य (वाद्य) रहित सूत्रों को छोड़ कर शेष सभी सूत्रों का आयोजन यहाँ कर लेना चाहिये।

है, जो ग्यारहवें शब्द सप्तक अध्ययन में शब्द श्रवण-निषेध के रूप में वर्णित हैं। सिर्फ वाद्य शब्दों को छोड़ा गया है। संक्षेप में, उत्कण्ठापूर्वक रूप-दर्शन-निषेध सूत्र इस प्रकार फलित होते हैं—(१) केतकी क्यारियों, खाइयों आदि के रूप को देखने का,

(२) नदी तटीय कच्छ, गहन, वन आदि पदार्थों के रूप को देखने का,

(३) ग्राम, नगर, राजधानी आदि के रूपों को देखने का,

(४) आराम, उद्यान, वनखण्ड, देवालय आदि पदार्थों के रूप देखने का,

(५) अटारी, प्राकार, द्वार, राजमार्ग आदि स्थानों के रूप देखने का,

(६) नगर के त्रिपथ, चतुष्पथ आदि के रूप देखने का,

(७) महिषशाला, वृषभशाला आदि विविध स्थानों के रूप देखने का,

(८) विविध युद्ध क्षेत्रों के दृश्य देखने का,

(९) आख्यायिकस्थानों, घुड़दौड, कुश्ती आदि द्वन्द्व स्थानों के दृश्य देखने का,

(१०) वर-वधू मिलन स्थान, अश्वयुगल स्थान आदि विविध स्थानों के दृश्य देखने का,

(११) कलहस्थान, शत्रु राज्य, राष्ट्र विरोधी स्थान आदि के रूपों को देखने का,

(१२) किसी वस्त्र भूषण सज्जित बालिका के, तथा मृत्युदण्ड वेष में अपराधी पुरुष के जुलूस आदि को देखने का,

(१३) अनेक महास्रव के स्थानों को देखने का,

(१४) महोत्सव स्थलों एवं वहाँ होने वाले नृत्य आदि देखने का, मन से जरा भी विचार न करे।[1]

यद्यपि चूर्णिकार ने रूप सप्तक अध्ययन को १२ वें अध्ययन में न मानकर ११ वें अध्ययन में माना है। इन विविध पाठों की चूर्णि में इस बात के प्रबल संकेत मिलते हैं। अतः वहाँ सर्वत्र 'कण्णसवणपडियाए' के बदले 'चक्खुदंसणपडियाए' पाठ मिलता है। निशीथ सूत्र के बारहवें उद्देशक में भी ये सब पाठ देकर 'चक्खुदंसणपडियाए' अन्त में दिया गया है।[2] साथ ही अन्तिम ६८७ सूत्र के अनुसार यहां भी रूपदर्शन निषेध का उपसंहार समझना चाहिए।

---

१. आचारांग सूत्र वृत्ति पत्रांक ४१४ के आधार पर।

२. (क) देखें आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण (ख) निशीथचूर्णि उद्देशक १२ पृ० २०१, २०३, ३४४-३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०

१. जे वप्पाणि वा····पवाओ···सुहाकम्मंतानि····कट्ठकम्मंतानि वा····भवणगिहाणि वा···· कच्छाणि वा···सरसरपंतीओ वा चक्खुदंसणपडियाए गच्छति····।

२. जे भिक्खू गामाणि वा····रायधाणीमहाणि वा ···चक्खुदंसणपडियाए गच्छति।

३. जे आसकरणाणि वा···सूकरकरणाणि वा,···हयजुद्धाणि वा णिउद्धाणि वा उट्ठायुद्धाणि वा चक्खूदंसणपडियाए गच्छति

४. जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा पुरिसाणि वा···मोहंताणि वा परिभुंजंताणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ।

५. जे भिक्खू इहलोइएसु वा रूवेसु, परलोइएसु वा रूवेसु····दिट्ठेसु वा रूवेसु····अमणुण्णेसु वा रूवेसु सज्जइ वा रज्जइ वा गिज्झइ वा अज्झोववज्जइ वा।

उत्कण्ठापूर्वक रूप दर्शन से हानियाँ—

(१) रूप एवं दृश्य देखने की लालसा तीव्र हो जाती है,

(२) मनोज्ञ रूप पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष पैदा होता है,

(३) साधक में अजितेन्द्रियता बढ़ती है,

(४) स्वाध्याय, ध्यान आदि से मन हट जाता है,

(५) पतंगे की तरह रूप लालसा ग्रस्त व्यक्ति अपनी साधना को चौपट कर देता है,

(६) नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन हो जाता है।

(७) रूपवती सुन्दरियों एवं सुन्दर सुरूप वस्तुओं को प्राप्त करने की लालसा जागती है।[1]

गंथिमाणि आदि शब्दों की व्याख्या-गंथिमाणि-गूंथे हुए फूल आदि से बने हुए स्वस्तिक आदि। वेढिमाणि=वस्त्रादि से बनी हुई पुतली आदि वस्तुएं। पूरिमाणि=जिनके अन्दर कुछ भरने से पुरुषाकार बन जाते हैं, ऐसे पदार्थ। संघाइमाणि=अनेक एकत्रित वर्णों से निर्मित 'चोलक आदि, चक्खुदंसणपडियाए'=आँखों से देखने की इच्छा से।

॥ बारहवाँ अध्ययन, रूप सप्तक समाप्त ॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१५

पर-क्रिया सप्तक : त्रयोदश अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के इस अध्ययन का नाम 'पर-क्रिया सप्तक' है।

☆ साधक जितना स्व-क्रिया करने में, अथवा स्वकीय आवश्यक शरीरादि सम्बन्धित क्रिया करने में स्वतन्त्र, स्वावलम्बी और स्वाश्रयी होता है, उतनी ही उसकी साधना तेजस्वी बनती है और शनैः-शनैः साधना की सीढ़ियाँ चढ़ता-चढ़ता एकदिन वह अक्रिय—क्रिया से रहित, निश्चल-निःस्पन्द शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[1]

☆ साधक जितना अधिक दूसरों का सहारा, दूसरों का मुँह ताकेगा, दूसरों से अपना कार्य कराने के लिए दीनता प्रकट करेग, वह उतना ही अधिक पराधीन, पराश्रयी, परमुखापेक्षी, दीन-हीन, मलिन बनता जाएगा। एकदिन वह पूर्ण रूपेण उन व्यक्तियों या वस्तुओं का दास बन जाएगा। इसी निकृष्ट अवस्था से साधकको हटाने औरउत्कृष्टता के सोपान पर आरूढ़ करने हेतु पर-क्रिया का निषेध तन-वचन से ही नहीं, मन से भी किया गया है। साधु के लिए की जानेवाली इस प्रकार की परक्रिया को कर्म बन्धन की जननी कहा गया है।[2]

☆ 'पर' का अर्थ यहाँ साधु से इतर—गृहस्थ किया गया है।

☆ वैसे 'पर' के नाम-स्थापना आदि ६ निक्षेप वृत्तिकार ने किये हैं, उनमें से यहाँ प्रसंगवश 'आदेश-पर' अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। 'आदेश पर' का अर्थ होता है—जो किसी क्रिया में नियुक्त किया जाता है, वह कर्मकर, भृत्य या अधीनस्थ व्यक्ति समझना चाहिए।

☆ 'पर' के द्वारा' साधु के शरीर, पैर, आँख, कान आदि अवयवों पर की जाने वाली परिकर्म-क्रिया या परिचर्या 'परक्रिया' कहलाती है। ऐसी पर-क्रिया कराना साधु के लिए मन, वचन, काया से निषिद्ध है।

---

१. (क) सवणे नाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव वादाणे अकिरिया सिद्धी ॥ —भगवती सूत्र २/५

(ख) उत्तरा० अ० २९, बोल ३९—सहायपच्चक्खाणेणं भंते····।

२. आचारांग मूलपाठ वृत्ति पत्रांक ४३६

- ✰ ऐसी परक्रिया विविध रूपों में गृहस्थादि से लेना साधु के लिए वर्जित है। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण किया है कि गच्छ-निर्गत जिनकल्पी या, प्रतिमाप्रति-
- ✰ पन्न साधु के लिए परक्रिया का सर्वथा निषेध है, किन्तु गच्छान्तर्गत स्थविरकल्पी के लिए कारणवश यतना करने का निर्देश है।[1]
- ✰ इस अध्ययन में परक्रिया की परिभाषा, परिणाम, पाद-काय-व्रण-गंडादि-परिकर्म-रूप परक्रिया निषेध, मलनिष्कासन, केश-रोमकर्तन, जूं-लीख-निष्कासन, अंक-पर्यंक पाद-काय-व्रणादि परिकर्म, आभूषण-परिधान, चिकित्सा आदि के रूप में परिचर्या का निषेध है। अन्त में, कृत-कर्म फलस्वरूप प्राप्त वेदना को समभावपूर्वक सहने का उपदेश भी है।[2]

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१५; ४१६
   (ख) आचारांग निर्युक्ति ३२६ गा०

२. आचा० मूलपाठ वृत्ति ४१६

तेरसमं अज्झयणं 'परकिरिया' सत्तिक्कओ

पर-क्रिया सप्तक : त्रयोदश अध्ययन : षष्ठ सप्तिका

पर-क्रिया-स्वरूप

६९०. परकिरियं अज्झत्थियं संसेइयं णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९०. पर अर्थात् गृहस्थ के द्वारा आध्यात्मिकी अर्थात् मुनि के शरीर पर की जाने वाली कायव्यापाररूपी क्रिया (सांश्लेषिणी) कर्मवन्धन जननी है, (अतः) मुनि उसे मन से भी न चाहे, न उसके लिए वचन से कहे, न ही काया से उसे कराए।

विवेचन—परक्रिया और उसका परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में परक्रिया क्या है, वह क्यों निषिद्ध है? वह आचरणीय क्यों नहीं है? इसका निर्देश किया गया है। चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के अनुसार—पर अर्थात् गृहस्थ के द्वारा की जाने वाली क्रिया—चेष्टा, व्यापार या कर्म, परक्रिया हैं,[1] वह परक्रिया (पर द्वारा की जाने वाली क्रिया) तभी है, जब वह आध्यात्मिकी (अपने आप पर-साधु के शरीर पर की जा रही हो) ऐसी परक्रिया, जो अपने आप पर होती हो, वह कर्मसंश्लेषिकी कर्मबन्ध का कारण तब होती है, जब दूसरे (गृहस्थ) द्वारा की जाते समय मन से उसमें स्वाद या रुचि ले, मन से चाहे या कहकर करा ले या कायिक संकेत द्वारा करावे। अतः साधु इसे न तो मन से चाहे, न वचन और काया से कराए।

इस सूत्र में तीन बातें फलित होती हैं—१. परक्रिया की परिभाषा, २. साधु के लिए उससे हानि, और ३. मन-वचन-काया से उसे अपने आप पर कराने का निषेध।[2]

अज्झत्थियं-आदि पदों की व्याख्या—अज्झत्थियं=आत्मा—अपने (मुनि के) शरीर पर की जाने वाली। संसेइयं=कर्म-संश्लेषकारिणी। णो सातिए=स्वाद/रुचि न ले, मन से न चाहे। णो णियमे=वचन-काया से प्रेरणा न करे, अर्थात्—न कराए।[3]

पाद परिकर्म-परक्रिया निषेध :

६९१. से से परो पादाइं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९२. से से परो पादाइं संबाधेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, [णो तं सातिए णो तं णियमे]।

६९३. से[4] से परो पादाइं फुमेज्ज वा रएज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

---

१. परकिरिया परेण कीरमाणं कम्मं भवति—आचा० चूर्णि

२. (क) आचारांग वृत्ति मू० पा० टि० पृष्ठ २५० (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६

४. इसके वदले 'से सियाइं परो' 'से सिते परो' 'से सिया परो' पाठान्तर हैं। अर्थ समान हैं।

६९४. से से परो पादाइं तेल्लेण वा घतेण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज[1] वा णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९५. से से परो लोद्धेण वा कक्केण[2] वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोढेज्ज[3] वा उव्वलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९६. से से परो पादाइं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज[4] वा पधोएज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९७. से से परो पादाइं अण्णतरेण विलेवणजातेण आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९८. से[5] से परो पादाइं अण्णतरेण धूवणजाएणं[6] धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९९. से[7] से परो पादाओ खाणुयं वा कंटयं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७००. से से परो पादाओ पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

६९१. कदाचित् कोई गृहस्थ धर्म-श्रद्धावश मुनि के चरणों को वस्त्रादि से थोड़ा-सा पोंछे, अथवा बार-बार अच्छी तरह पोंछ कर साफ करे, साधु उस परक्रिया को मन से न चाहे तथा वचन और काया से भी न कराए।

६९२. कदाचित् कोई गृहस्थ मुनि के चरणों को सम्मर्दन करे या दबाए तथा बार-बार मर्दन करे या दबाए, साधु उस परक्रिया की मन से भी इच्छा न करे, न वचन और काया में कराए।

६९३. यदि कोई गृहस्थ साधु के चरणों को फूंक मारने हेतु स्पर्श करे, तथा रंगे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन एवं काया से कराए।

---

१. इसके बदले पाठान्तर हैं—भिलंगेज्ज वा, हिलंगेज्ज वा अब्भिंगेज्ज वा।
२. निशीथ चूर्णि उ० १३, में—'कक्केण' आदि का अर्थ—"कक्को सो दव्वसंजोगेण वा असंजोगेण वा भवति। लोद्धो रुक्खो, तस्स छल्ली लोद्धं भन्नति। वन्नो पुण हिंगुलुगादी तेल्लमोइओ। चुन्नो पुण गन्धुणिगादि फला चुन्नी कता।" कल्क वह है, जो द्रव्यों के संयोग या असंयोग से होता है। लोद्ध वृक्ष होता है, उसकी छाल को भी लोद्ध कहते हैं। तेल में स्निग्ध हिंगलू आदि को वर्ण कहते हैं। सुगन्धित फल को चूर्ण करने पर चूर्ण कहते हैं।
३. 'उल्लोढेज्ज वा' के बदले में पठान्तर हैं—उल्लोढेज्ज वा 'उल्लोलेज्ज वा'
४. 'उच्छोलेज्ज' के बदले पाठान्तर हैं—'उज्जोलेज्ज,' उज्जलेज्ज उल्लोलेज्ज अर्थ है शरीर को उज्ज्वल करना साफ करना।
५. इसके बदले पाठान्तर है—'से सिया परो पादाइं'
६. धूयं वा धूवेज्ज, धूयं सोहेज्ज वा, 'धूएज्ज वा पधूएज्ज वा' ये तीन पाठान्तर इसके मिलते हैं।
७. इसके स्थान पर सर्वत्र 'से सिया परो' पाठान्तर मिलता है।

६९४. यदि कोई गृहस्थ साधु के चरणों को तेल, घी या चर्बी से चुपड़े, मसले तथा मालिश करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न वचन व काया से उसे कराए।

६९५ कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के चरणों को लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण से उवटन करे अथवा उपलेप करे तो साधु मन से भी उसमें रस न ले, न वचन एवं काया से उसे कराए।

६९६. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के चरणों को प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से प्रक्षालन करे, अथवा अच्छी तरह से धोए तो मुनि उसे मन से न चाहे, न वचन और काया से कराए।

६९७. यदि कोई गृहस्थ साधु के पैरों का इसीप्रकार के किन्हीं विलेपन द्रव्यों से एक वार या वार-बार आलेपन-विलेपन करे तो साधु उसमें मन से भी रुचि न लें, न ही वचन और शरीर से उसे कराए।

६९८. यदि कोई गृहस्थ साधु के चरणों को किसी प्रकार के विशिष्ट धूप से धूपित और प्रधूपित करे तो उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से उसे कराए।

६९९. यदि कोई गृहस्थ साधु के पैरों में लगे हुए खूंटे या कांटे आदि को निकाले या उसे शुद्ध करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन एवं काया से उसे कराए।

७००. यदि कोई गृहस्थ साधु के पैरों में लगे रक्त और मवाद को निकाले या उसे निकाल कर शुद्ध करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न ही वचन एवं काया से कराए।

विवेचन—**चरण परिकर्म रूप परक्रिया का सर्वथा निषेध**—सूत्र ६९१ से ७०० तक दस सूत्रों में चरण-परिकर्म से सम्बन्धित विविध परक्रिया मन-वचन-काया से कराने का निषेध किया गया है। संक्षेप में, गृहस्थ द्वारा पाद-परिकर्मरूप परक्रिया निषेध इस प्रकार है—(१) एक बार या बार-बार चरणों को पोंछ कर साफ करे, (२) एक बार या वार-बार सम्मर्दन करे, (३) फूंक मारने के लिए स्पर्श करे या रंगे, (४) तेल, घी आदि चुपड़े, मसले अथवा मालिश करे, (५) लोध आदि सगन्धित द्रव्यों से उबटन करे, लेप करे, (६) ठंडे या गर्म पानी से साधु के पैरों को एक वार या बार-बार धोए, (७) विलेपन-द्रव्यों से आलेपन-विलेपन करे, (८) साधु के चरणों के एक बार या वार-बार धूप दे, (९) साधु के पैरों में लगे हुए कांटे आदि को निकाले, और (१०) साधु के पैरों में लगे घाव से रक्त, मवाद आदि को निकालकर साफ करे। साधु के लिए गृहस्थ द्वारा की जाने वाली ऐसी परिचर्या लेने का मन, वचन, काया से निषेध है। निशीथ सूत्र में इसीसे मिलता पाठ है।[1]

गृहस्थ से ऐसी चरण-परिचर्या लेने में हानि—(१) गृहस्थ द्वारा आरम्भ-समारम्भ किया जाएगा, (२) स्वावलम्बनवृत्ति छूट जाएगी, (३) परतंत्रता, परमुखापेक्षिता, चाटुकारिता और दीनता आने की सम्भावना है, (४) कदाचित् गृहस्थ परिचर्या का मूल्य चाहे जो अकिंचन

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६ के आधार पर
(ख) निशीथ सूत्र—उद्देशक ३ चूर्णि पृ० २१२-२१३

साधु दे नहीं सकेगा, (५) परिचर्या योग्य वस्तुओं का भी मूल्य चाहे, (६) अपरिग्रही साधु को उसके प्रबन्ध के लिए गृहस्थ से याचना करनी पड़ेगी, (७) अग्निकाय, वायुकाय, अप्काय एवं वनस्पतिकाय आदि के जीवों की विराधना सम्भव है। (८) साधु के प्रति अवज्ञा और अश्रद्धा पैदा होना सम्भव है।[1]

आमज्जेज्ज, पमज्जेज्ज आदि पदों का अर्थ—एक बार पोंछे बार-बार पोंछकर साफ करे। संबाधेज्ज = दबाए, पगचंपी करे, मसले। पलिमद्देज्ज = विशेष रूप से पैर दबाए। फुमेज्ज = फूंक मारे, इसके बदले फुसेज्ज पाठान्तर होने से अर्थ होता है—स्पर्श करे। रएज्ज = रंगे। मक्खेज्ज = चुपड़े, भिलिंगेज्ज = मालिश-मर्दन करे। उल्लोढेज्ज = उबटन करे, उव्वलेज्ज = लेपन करे।[2]

काय-परिकर्म-परक्रिया-निषेध

७०१. से से परो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७०२. से से परो कायं संबाधेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७०३. से से परो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०४. से से परो कायं लोद्धेण[3] वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०५. से से परो कायं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज[4] वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७०६. से से परो कायं अण्णतरेणं विलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०७. [से से परो] कायं अण्णतरेण धूवणजाएण धूवेज्ज[5] वा पधूवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

[से से परो कायं फुमेज्ज वा रएज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे]

७०१. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर को एक वार या बार-बार पोंछकर साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न वचन और काया से कराए।

७०२. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर को एक वार या बार-बार दबाए तथा विशेष रूप से मर्दन करे, तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६ के आधार पर

२. (क) वही, पत्रांक ४१६ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २५०-२५१

३. लोद्धेण के बदले पाठान्तर हैं—लोट्ठेण, लोट्टेण, लोढेण, लोहेण आदि।

४. 'पधोवेज्ज' के बदले 'पहोएज्ज' पाठान्तर है।

५. 'धूवेज्ज पधूवेज' के बदले 'धुवेज्ज पधूवेज्ज' पाठान्तर है।

७०३. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर तेल, घी आदि चुपड़े, मसले या मालिश करे तो साधु न तो उसे मन से ही चाहे न वचन और काया से कराए।

७०४. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण का उवटन करे, लेपन करे तो साधु न तो उसे मन से ही चाहे और न वचन और काया से कराए।

७०५. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर को प्रासुक शीतल जल से या उष्ण जल से प्रक्षालन करे या अच्छी तरह धोए तो साधु न तो उसे मन से चाहे, और न वचन और काया से कराए।

७०६. कदाचित् कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर किसी प्रकार के विशिष्ट विलेपन का एक वार लेप करे या वार-वार लेप करे तो साधु न तो उसे मन से चाहे और न उसे वचन और काया से कराए।

७०७. यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर को किसी प्रकार के धूप से धूपित करे या प्रधूपित करे तो साधु न तो उसे मन से चाहे और न वचन और काया से कराए।

[यदि कोई गृहस्थ मुनि के शरीर पर फूंक मारकर स्पर्श करे या रंगे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से उसे कराए।]

विवेचन—काय-परिकर्मरूप परक्रिया का सर्वथा निषेध—सू. ७०१ से ७०७ तक ७ सूत्रों में गृहस्थ द्वारा विविध काय-परिकर्म रूप परिचर्या लेने का निषेध किया गया है। सारा ही विवेचन पाद-परिकर्मरूप परक्रिया के समान है। गृहस्थ से ऐसी काय-परिकर्म रूप परिचर्या कराने में पूर्ववत् दोषों की सम्भावनाएँ हैं।

व्रण-परिकर्म रूप परक्रिया निषेध :

७०८ से से परो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०९. से से परो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१०. से से परो कायंसि वणं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज[1] वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७११. से से परो कायंसि वणं लोद्धेण[2] वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोढेज्ज वा उव्वलेज्ज[3] वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७१२. से से परो कायंसि वणं सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज[4] वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

---

१. 'भिलिंगेज्ज' के वदले 'भिलंगेज्ज' पाठान्तर है। २. इसके वदले 'लोद्देण' पाठान्तर है।

३. 'उल्लोढेज्ज' के वदले 'उल्लोट्टेज्ज' पाठान्तर है।

४. 'पधोवेज्ज' के वदले पाठान्तर हैं—पहोएज्ज, 'पधोएज्ज'

७१३. से से परो कायंसि वणं अण्णतरेणं सत्थजाएणं अच्छिदेज्ज वा विच्छिदेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१४. से से परो [कायंसि वणं] अण्णतरेणं सत्थजातेणं अच्छिदित्ता वा विच्छिदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७०८. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण (घाव) को एक बार पोंछे या बार-बार अच्छी तरह से पोंछकर साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, और न वचन और काया से उसे कराए।

७०९. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण को दबाए या अच्छी तरह मर्दन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

७१०. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर में हुए व्रण के ऊपर तेल, घी या वसा चुपड़े, मसले, लगाए या मर्दन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न कराए।

७११. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर पर हुए व्रण के लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण आदि विलेपन द्रव्यों का आलेपन-विलेपन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

७१२ कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण को प्रासुक शीतल या उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोए तो साधु उसे मन मे भी न चाहे और न वचन और काया से कराए।

७१३. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर पर हुए व्रण को किसी प्रकार के शस्त्र से थोड़ा-सा छेदन करे या विशेष रूप से छेदन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही उसे वचन और काया से कराए।

७१४. कदाचित् कोई गृहस्थ साधु के शरीर पर हुए व्रण को किसी विशेष शस्त्र से थोड़ा-सा या विशेष रूप से छेदन करके उसमें से मवाद या रक्त निकाले या उसे साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न ही वचन एवं काया से कराए।

विवेचन—सू. ७०८ से ७१४ तक सात सूत्रों में गृहस्थ द्वारा साधु को शरीर पर हुए घाव के परिकर्म कराने का मन-वचन-काया से निषेध किया गया है। इस सप्तसूत्री में पहले के ५ सूत्र चरण और शरीरगत परिकर्म निषेधक सूत्रों की तरह है, अन्तिम दो सूत्रों में गृहस्थ से शस्त्र द्वारा व्रणच्छेदन कराने तथा व्रणच्छेद करके उसका रक्त एवं मवाद निकाल कर उसे साफ कराने का निषेध है।

इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि गृहस्थ द्वारा चिकित्सा कराने का निषेध अहिंसा व अपरिग्रह की साधना को अखंड रखने की दृष्टि से ही किया गया है। इस चिकित्सा-निषेध का मूल आशय प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र ९४ में द्रष्टव्य है।

ग्रन्थी अर्श—भगंदर आदि पर परक्रिया-निषेध

७१५. से से परो कायंसि गंडं वा अरइयं[1] वा पुलयं[2] वा भगंदलं वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१६. से से परो कायंसि गंडं वा अरइयं वा पुलयं वा भगंदलं वा संबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे

७१७. से से परो कायंसि गंडं वा जाव भगंदलं वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१८. से से परो कायंसि गंडं वा जाव भगंदलं वा लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोढेज्ज[3] वा उव्वलेज्ज[4] वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१९. से से परो कायंसि गंडं वा जाव भगंदलं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोलेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७२०. से[5] से परो कायंसि गंडं वा अरइयं वा जाव[6] भगंदलं वा अण्णतरेणं सत्थजातेणं अच्छिदेज वा, विच्छिदेज्ज वा अन्नतरेणं सत्थजातेणं अच्छिदित्ता वा विच्छिदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७१५. कदाचित् कोई गृहस्थ, साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को एक बार या बार-बार पपोल कर साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, नहीं वचन और शरीर से कराए।

७१६. यदि कोई गृहस्थ, साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को दवाए या परिमर्दन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे न ही वचन और काया से कराए।

७१७. यदि कोई गृहस्थ साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर पर तेल, घी, वसा चुपड़े, मले या मालिश करे तो साधु उसे मन से न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७१८. यदि कोई गृहस्थ, साधु के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर पर लोध, कर्क, चूर्ण या वर्ण का थोड़ा या अधिक विलेपन करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

---

१. 'अरइयं' के वदले 'अरइगं' 'अरइगं दलं' पाठान्तर मिलते हैं।
२. 'पुलयं' के वदले 'पुलइयं' पाठान्तर है।
३. 'उल्लोढेज्ज' के वदले 'उल्लोडेज्ज' पाठान्तर मिलता है।
४. 'आलेप' के तीन अर्थ निशीथ चूर्णि पृ० २१५-२१७ पर मिलते हैं। आलेवो त्रिविधो-वेदणपसमकारी, पाककारी, पुतादिणीहरणकारी। अर्थात्–आलेपं तीन प्रकार का है–१. वेदना शान्त करने वाला २. फोड़ा पकाने वाला ३. मवाद निकालने वाला।
५. 'से से परो' के वदले पाठान्तर हैं—'से सिया परो' 'से सिते परो'।
६. यहाँ 'जाव' शब्द से 'अरइयं' से 'भगंदलं' तक का पाठ सू० ७१५ के अनुसार समझें।

७१९. यदि कोई गृहस्थ, मुनि के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को प्रासुक शीतल और उष्ण जल से थोड़ा या बहुत बार धोए तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७२०. यदि कोई गृहस्थ, मुनि के शरीर में हुए गंड, अर्श, पुलक अथवा भगंदर को किसी विशेष शस्त्र से थोड़ा-सा छेदन करे या विशेष रूप से छेदन करे, अथवा किसी विशेष शस्त्र से थोड़ा-सा या विशेष रूप से छेदन करके मवाद या रक्त निकाले या उसे साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

विवेचन—सू० ७१५ से ७२० तक ६ सूत्रों में गृहस्थ से गंडादि से सम्बन्धित परिकर्म रूप परक्रिया कराने का निषेध है। सभी विवेचन पूर्ववत् समझना चाहिए। इस परक्रिया से होने वाली हानियाँ भी पूर्ववत् हैं। निशीथ सूत्र में भी इससे मिलता-जुलता पाठ मिलता है।[1]

'गंडं' आदि शब्दों के अर्थ—प्राकृतकोश के अनुसार गंड शब्द के गालगंड—मालारोग, गांठ, ग्रन्थी, फोड़ा, स्फोटक आदि अर्थ होते हैं। यहाँ प्रसंगवश गंड शब्द के अर्थ गाँठ, ग्रन्थी, फोड़ा, या कंठमाला रोग है। 'अरइयं' (अरइ) के प्राकृतकोश में अर, अर्श, मस्सा, बबासीर आदि अर्थ मिलते हैं। 'पुलयं' (पुल) का अर्थ छोटा फोड़ा या फुंसी होता है। भगंदलं का अर्थ—भगंदर है। अच्छिदणं=एक बार या थोड़ा-सा छेदन, विच्छिदणं=बहुत बार या बार-बार अथवा अच्छी तरह छेदन करना।[2]

अंगपरिकर्म रूप परक्रिया निषेध

७२१. से से परो कायातो[3] सेयं वा जल्लं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७२२. से से परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६।
(ख) निशीथ सूत्र उ० ३ चूर्णि पृ० २१५-२१७ में—"जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा अरतियं वा असिं वा पिलगं वा भगंदलं वा अन्नतरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्छिंदति वा विच्छिंदति वा,......पूयं वा सोणियं वा णीहरेति वा विसोहेति वा......सीओदगवियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेति वा पधोवेति वा......आलेवणजाएणं आलिपइ वा विलिपइ वा...... तेल्लेण वा घएण वा......णवणीएण वा अब्भंगेति वा मक्खेति वा......धूवणजाएणं धूवेति वा पधूवेति वा।...

२. (क) पाइअ-सद्दमहण्णवो।
(ख) निशीथ सूत्र उ० ३ चूर्णि पृ० २१५-२१७—गंडं—गंडमाला, जं च अण्णं सुपायगं तं गंडं। अरतियं—अरतिओ जं ण पच्चति।......एक्कसि ईषद् वा अच्छिदणं, वहुवारं सुट्ठु वा छिदणं विच्छिदणं....।"
(ग) ते फोडा भिज्जंति, तत्थ पुला संमुच्छंति, ते पुला भिज्जंति। —स्थानांग० स्थान १०

३. 'कायातो' के बदले 'कायंसि' पाठान्तर है।

७२३. से से परो दीहाइं वालाइं[1] दीहाइं रोमाइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइं कक्ख-रोमाइं दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे।

७२४. से से परो सीसातो लिक्खं वा जूयं वा णीहरेज्ज[2] वा विसोहेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे।

७२१, यदि कोई गृहस्थ, साधु के शरीर से पसीना, या मैल से युक्त पसीने को मिटाए (पोंछे) या साफ करे तो साधु उसे मन से भी न चाहे और न ही वचन एवं काया से कराए।

७२२. यदि कोई गृहस्थ, साधु के आँख का मैल, कान का मैल, दाँत का मैल, या नख का मैल निकाले या उसे साफ करे, तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७२३. यदि कोई गृहस्थ साधु के सिर के लंबे केशों, लंबे रोमों, भौहों एवं कांख के लंबे रोमों, लंबे गुह्य रोमों को काटे, अथवा संवारे, तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न ही वचन और काया से कराए।

७२४. यदि कोई गृहस्थ, साधु के सिर से जूं या लीख निकाले, या सिर साफ करे, तो साधु मन से भी न चाहे, और न ही वचन और काया से ऐसा कराए।

विवेचन—सू० ७२१ से ७२४ तक चतुःसूत्री में उस परक्रिया का निषेध किया गया है, जो शरीर के विविध अंगों के परिकर्म से सम्बन्धित है। वस्तुतः इस प्रकार की शारीरिक परिचर्या गृहस्थ से लेने में पूर्वोक्त अनेक दोषों की सम्भावना है। इन सभी सूत्रों से मिलते-जुलते सूत्र निशीथ सूत्र में भी हैं।[3]

'सेयं' आदि पदों के अर्थ—सेओ=स्वेद, पसीना। जल्लो=शरीर का मैल कप्पेज=काटे। संठवेज्ज=संवारे।[4]

---

१. निशीथचूर्णि उ०-१३ में बताया गया है—"जे भिक्खू दीहाओ अप्पणो णहा इत्यादि जाव अप्पणो दीहेकेसे कप्पई, इत्यादि तेरस सुत्ता उच्चारेयव्वा।"—जे भिक्खू...से लेकर अप्पणो दीहे केसे कप्पई १३ सूत्रों का उच्चारण करना चाहिए।

२. णीहरति आदि का अर्थ निशीथचूर्णि में है—"णीहरतिणाम णिग्गलेति। अवसससेसावयफेडणं—विसोहणं सभावन्थ सोणियं भण्णति।

३. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६ के आधार पर।
(ख) निशीथ सूत्र उ० ३ चूर्णि पृ० २१६-२२१—"जे भिक्खू अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पेति संठवेति वा...", दीहाइं जंघरोमाइं, दीहाइं वत्थिरोमाइं....दीहाइं कक्खाणरोमाइं...मंसूइं कप्पेति वा संठवेति वा...दंते आमज्जति वा पमज्जति वा...उत्तरोट्ठरोमाइं....दीहरोमाइं.... भमुहारोमाइं....दीहे केसे कप्पेइ वा संठवेइ वा...। जे भिक्खू अप्पणो कायंसि सेयं वा, जल्लं वा पंकं वा मलं वा उव्वट्टेति वा पव्वट्टेति वा........अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णखमलं वा णीहरति वा विसोधेति वा।"

४. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २२५—कप्पेति=छिदेति, संठवेति=समारेति, सेओ=प्रस्वेदो जल्लो=कमढो; मल थिग्गलं। तथा निशीथ भाष्य गा० १५२१

परिचर्यारूप परक्रिया-निषेध

७२५. से से परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता पायाइं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, [णो तं सातिए णो तं णियमे ।] एवं हेट्ठिमो गमो पादादि भाणितव्वो ।

७२६. से से परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावेत्ता हारं वा अद्धहारं वा उरत्थं वा गेवेयं वा मउडं वा पालंबं वा सुवण्णसुत्तं वा आविंधेज्ज[1] वा पिणिधेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे ।

७२७. से से परो आरामंसि वा उज्जाणंसि वा णीहरित्ता वा विसोहित्ता[2] वा पायाइं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे, एवं णेयव्वा अण्णमण्णकिरिया वि ।

७२८. से से परो सुद्धेणं वा वइबलेणं तेइच्छं आउट्टे, से से परो असुद्धेणं वइबलेणं तेइच्छं आउट्टे, से से परो गिलाणस्स सचित्ताइं कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि[3] वा हरियाणि वा खणित्तु वा कड्ढेत्तु वा कड्ढावेत्तु वा तेइच्छं आउट्टेज्जा[4], णो तं सातिए णो तं नियमे ।

कडुवेयणा कट्टुवेयणा पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदणं[5] वेदेंति ।

७२५. यदि कोई गृहस्थ, साधु को अपनी गोद में या पलंग पर लिटाकर या करवट वदलवा कर उसके चरणों को वस्त्रादि से एकवार या वार-वार भलीभाँति पोंछकर साफ करे; साधु इसे मन से भी न चाहे और न वचन एवं काया से उसे कराए । इसके बाद चरणों से सम्बन्धित नीचे के पूर्वोक्त ९ सूत्रों में जो पाठ कहा गया है, वह सब पाठ यहाँ भी कहना चाहिए ।

७२६. यदि कोई गृहस्थ साधु को अपनी गोद में या पलंग पर लिटा कर या करवट वदलवाकर उसको हार (अठारह लड़ीवाला), अर्धहार (९ लड़ी का), वक्षस्थल पर पहनने योग्य आभूषण, गले का आभूषण, मुकुट, लम्वी माला, सुवर्णसूत्र बांधे या पहनाए तो साधु उसे मन से भी न चाहे, न वचन और काया से उससे ऐसा कराए ।

७२७. यदि कोई गृहस्थ साधु को आराम या उद्यान में ले जाकर या प्रवेश कराकर उसके चरणों को एक बार पोंछे, बार-बार अच्छी तरह पोंछकर साफ करे तो साधु उसे मन मे भी न चाहे और न वचन व काया से कराए ।

इसी प्रकार साधुओं की अन्योन्यक्रिया-पारस्परिक क्रियाओं के विषय में भी ये सब सूत्र पाठ समझ लेने चाहिए ।

---

१. 'आविंधेज्ज' के वदले पाठान्तर है—आविहेज्ज, आविंधेज्ज, आवंधेज्ज हाविहेज्ज ।
२. 'विसोहित्ता' के वदले 'परिभेत्ता वा पायाइं' पाठान्तर है ।
३. तयाणि' के वदले पाठान्तर है—'बीयाणि'
४. आउट्टेज्जा' के वदले पाठान्तर है—'आउट्टावेज्ज'
५. 'वेदणं वेदेंति' आदि पाठ के आगे चूर्णिकार ने 'छट्ठं सत्तिक्कयं समाप्तमिति' पाठ दिया है, इससे प्रतीत होता है कि सूत्र ७२९ का 'एयं खलु तस्स,.........'आदि पाठ चूर्णिकार के मतानुसार नहीं है ।

७२८. यदि कोई गृहस्थ, शुद्ध वाग्बल (मंत्रबल) से साधु की चिकित्सा करनी चाहे, अथवा वह गृहस्थ अशुद्ध मंत्रबल से साधु की व्याधि उपशान्त करना चाहे, अथवा वह गृहस्थ किसी रोगी साधु की चिकित्सा सचित्त कंद, मूल, छाल, या हरी को खोदकर या खींचकर बाहर निकाल कर या निकलवा कर चिकित्सा करना चाहे, तो साधु उसे मन से भी पसंद न करे, और न ही वचन से कहकर या काया से चेष्टा करके कराए।

यदि साधु के शरीर में कठोर वेदना हो तो (यह विचार कर उसे समभाव से सहन करे कि) समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व अपने किये हुए अशुभ कर्मों के अनुसार कटुक वेदना का अनुभव करते हैं।

विवेचन—विविध परिचर्यारूप परक्रिया का निषेध—सू० ७२५ से ७२८ तक गृहस्थ द्वारा साधु की विविध प्रकार से की जाने वाली परिचर्या के मन, वचन, काया से परित्याग का निरूपण है। इन सूत्रों में मुख्यतया निम्नोक्त परिचर्या के निषेध का वर्णन है—(१) साधु को अपने अंक या पर्यंक में बिठा या लिटा कर उसके चरणों का आमार्जन-परिमार्जन करे, (२) आभूषण पहना कर साधु को सुसज्जित करे, (३) उद्यानादि में ले जा कर पैर दबाने आदि के रूप में परिचर्या करे, (४) शुद्ध या अशुद्ध मंत्रबल से रोगी साधु की चिकित्सा करे, (५) सचित्त कंद, मूल आदि उखाड़ कर या खोद कर चिकित्सा करे।[1]

अंक-पर्यंक का विशेष अर्थ—चूर्णिकार के अनुसार अंक का अर्थ उत्संग या गोद है जो एक घुटने पर रखा जाता है, किन्तु पर्यंक वह है जो दोनों घुटनों पर रखा जाता है।[2]

मैथुन की इच्छा से अंक-पर्यंक शयन—अंक या पर्यंक पर साधु को गृहस्थ स्त्री द्वारा लिटाया या बिठाया जाता है, उसके पीछे रति-सहवास की निकृष्ट भावना भी रहती है, अंक या पर्यंक पर बिठाकर साधु को भोजन भी कराया जाता है, उसकी चिकित्सा भी सचित्त समारम्भादि करके की जाती है। निशीथ सूत्र उ० ७ एवं उसकी चूर्णि में इस प्रकार का निरूपण मिलता है। अगर इस प्रकार की कुत्सित भावना से गृहस्थ स्त्री या पुरुष द्वारा साधु की परिचर्या की जाती है, तो वह परिचर्या साधु के सर्वस्व स्वरूप संयम-धन का अपहरण करने वाली है। साधु को इस प्रकार के धोखे में डालने वाले मोहक, कामोत्तेजक एवं प्रलोभन कारक जाल से बचना चाहिए।[3]

पर-क्रिया के समान ही सूत्र ७२७ में अन्योन्यक्रिया (साधुओं की पारस्परिक क्रिया) का भी निषेध किया है।

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१६

२. (क) आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २५६-अंको उच्छंगो एगम्मि जणुगे उक्खित्ते; पलियंको दोसु वि।
(ख) निशीथचूर्णि पृ० ४०८/४०९ एगेण उरुएणं अंको, दोहिं वि उरुएहिं पलियंको।"

३. देखिए निशीथ सप्तम उद्देशक चूर्णि पृ० ४०८—'जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा पलिअंकंसि वा णिसीयावेत्ता वा तुयट्टावेत्ता वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्घासेज्ज वा अणुपाएज्ज वा।"—एत्थ जो मेहुणट्ठाए णिसीयावेति तुयट्टावेति वा ते चेव दोसा,

'वुयट्टावेत्ता' आदि पदों के अर्थ—वुयट्टावेत्ता = करवट बदलवा कर, लिटाकर या बिठाकर उरत्थं = वक्षस्थल पर पहने जाने वाले आभूषण। आविंधेज्ज = पहनाए या बांधे। पिणीधेज्ज = पहनाए या बांधे। आउट्टे = करना चाहे। वइबलेण = वाणी (मन्त्रविद्या आदि) के बल से। खणित्तु = खोदकर, उखाड़ कर। कड्ढेत्तु = निकाल कर।[1]

'कडुवेयणा''''''वेदंति' सूत्र का तात्पर्य—चूर्णिकार के शब्दों में—इसलिए साधु को शरीर परिकर्म से रहित होना चाहिए। क्योंकि चिकित्सा की जाने पर भी मानव पचते है। वे पचते हैं पूर्वकृत-कर्म के कारण। इसप्रकार पचते हुए वे दूसरों को भी संताप-दुःख देते हैं। जो इस समय पचते है, वे भविष्य में पचेंगे। कर्म अपने अनन्त गुने कटु विपाक (फल) को लेकर आता है। किसमें आता है? कर्त्ता के पीछे-पीछे कर्म आते हैं। अर्थात् – कर्ता कर्म करके या किये हुए कर्मो का वेदन करता है। वेदन का वेत्ता ही इस वेदन के द्वारा कर्म वेदन को विदारित करता है। सभी कर्म से विमुक्त होता है। अथवा कर्म करके दुःख होता है या दुःख स्पर्श करता है इसलिए इस समय दुःख नहीं करना चाहिए।[2]

वेदना के समय साधु का चिन्तन—इस संसार में जीव अपने पूर्वकृत कर्म फल के विषय में स्वाधीन है। कर्म फल को कटु वेदना मानकर कर्मविपाक, शारीरिक एवं मानसिक वेदनाएं संसार के सभी जीव स्वतः ही भोगते हैं।

७२६. एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठे [हिं] सहिते समिते सदा जते, सेयमिणं मण्णेज्जासि त्ति बेमि॥

७२६. यही (परक्रिया से विरति ही) उस साधु या साध्वी का समग्र आचार सर्वस्व है, जिसके लिए समस्त इहलौकिक-पारलौकिक प्रयोजनों से युक्त तथा ज्ञानादि-सहित एवं समितियों से समन्वित होकर सदा प्रयत्नशील रहे। और इसी को अपने लिए श्रेयस्कर समझे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तेरहवां अध्ययन, छठी सप्तिका सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) आचा. वृत्ति पत्रांक ४१६
(ख) आचा. चूर्णि मूल पाठ टि. पृ. २५६—वाग्बलेन मंत्रादिसामर्थ्येन चिकित्सां व्याध्युपशमं आउट्टे त्ति कर्तुमभिलषेत्।

२. (क) "तम्हा अपडिकम्मसरीरेण होयव्वं, किं कारणं? जेण तिगिच्छाए कीरमाणीए पच्चंति पयंति माणवा, पच्चंति पुव्वंकतेन कर्मणा, ते पच्चमाणा अ[न्या] न्यपि संतापयंति य, दुक्खापयंतीत्यर्थः। अहवा कृत्वा दुक्खं भवति फुसति च तम्हा संपयं न करेमि दुक्खं।
—आचा. चूर्णि पृ. १५७.

(ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१६, जीवाः कर्मविपाककृतकटुकवेदनाः कृत्वा परेषां वेदनाः स्वतः प्राणि-भूत-जीव सत्वाः तत्कर्मविपाकजां वेदनामनुभवन्तीति।''''

अन्योन्यक्रिया सप्तक : चतुर्दश अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के चौदहवें अध्ययन का नाम 'अन्योन्यक्रिया सप्तक' है।

☆ साधु जीवन में उत्कृष्टता और तेजस्विता, स्वावलम्बिता एवं स्वाश्रयिता लाने के लिए 'सहाय-प्रत्याख्यान' और 'संभोग-प्रत्याख्यान' अत्यन्त आवश्यक है।

☆ सहाय-प्रत्याख्यान से अल्पशब्द[1], अल्पकलह, अल्पप्रपंच, अल्पकषाय, अल्पाहंकार होकर साधक संयम और संवर से बहुल बन जाता है।[2]

संभोग-प्रत्याख्यान से साधक आलम्बनों का त्याग करके निरालम्बी होकर मन-वचन-काय को आत्मस्थित कर लेता है, स्वयं के लाभ में संतुष्ट रहता है, पर द्वारा होने वाले लाभ की इच्छा नहीं करता, न पर-लाभ को ताकता है, उसके लिए न प्रार्थना करता है, न इसकी अभिलाषा करता है वह द्वितीय सुखशय्या को प्राप्त कर लेता है।[3] इस दृष्टि से साधु को अपने स्वधर्मी साधु से तथा साध्वी को अपनी सार्धमिणी साध्वी से किसी प्रकार की शरीर एवं शरीर के अवयव सम्बन्धी परिचर्या लेने का मन-वचन-काया से निषेध किया गया है।[4]

☆ साधुओं या साध्वियों की परस्पर एक दूसरे से (त्रयोदश अध्ययन में वर्णित पाद-काय-व्रणादि परिकर्म सम्बन्धी परक्रिया) परिचर्या लेना, अन्योन्यक्रिया कहलाती है। इस प्रकार की अन्योन्यक्रिया का इस अध्ययन में निषेध होने के कारण इसका नाम अन्योन्यक्रिया रखा गया है।[5]

☆ अन्योन्यक्रिया की वृत्ति साधक में जितनी अधिक होगी, उतना ही वह परावलम्वी, पराश्रयी, परमुखापेक्षी और दीन हीन बनता जाएगा। इसलिए इस अध्ययन की योजना की गई है।[6]

☆ चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के मत से इस अध्ययन में निरूपित 'अन्योन्यक्रिया' का निषेध

---

१. आगम शैली में—'अल्प' शब्द यहाँ अभाव वाचक है।

२. उत्तराध्ययन अ० २९ बोल ४० ३३।   ३. उत्त० २९, बोल ३४

४. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१७।

५. (क) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१७।

(ख) आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २५०-२५१।

६. उत्तरा० अ० २९ बोल० ३४ के आधार पर।

(जिनकल्पी, जिन) एवं प्रतिमाप्रतिपन्न साधुओं के उद्देश्य से किया गया है। वास्तव में, गच्छनिर्गत साधुओं का जीवन स्वभावत: निष्प्रतिकर्म एवं अन्योन्यक्रिया-निषेध में से अभ्यस्त होता है।

☆ गच्छान्तर्गत स्थविरकल्पी साधुओं के लिए यतनापूर्वक अन्योन्यक्रिया कारणवश उपादेय हो सकती है।[७]

☆ इस अध्ययन में, तेरहवें अध्ययन में वर्णित पाद-काय-व्रण आदि के परिकर्म से सम्बन्धित परक्रिया निषेध की तरह उन सब परिकर्मों से सम्बन्धित क्रियाओं का निषेध किया गया है।[८]

---

७. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१७, आचारांग निर्युक्ति गा० ३२६।
(ख) चूर्णिकार के अनुसार—"अण्णमण्णकिरिया दो सहिता अण्णमणस्स पगरंति, ण कप्पति एवं चेव एवं पुण पडिमा पडिवण्णाणं जिणाणं च ण कप्पति। थेराणं किं पि कप्पेज्ज कारणजाए। बुद्ध्या विभासियव्वं।"—आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २५८

८. आचारांग मूलपाठ वृत्ति पत्रांक ४१७।

चउदसमं अज्झयणं 'अण्णमण्णकिरिया' सत्तिक्कओ

अन्योन्यक्रिया सप्तक : चतुर्दश अध्ययन : सप्तम सप्तकिका

अन्योन्यक्रिया-निषेध

७३०. से भिक्खू वा २ अण्णमण्णकिरियं अज्झत्थियं संसेइयं[1] णो तं सातिए णो तं नियमे।

७३१. से अण्णमण्णे पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं नियमे, सेसं तं चेव।

७३२. एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं जाव[2] जएज्जासि त्ति बेमि।

७३०. साधु या साध्वी की अन्योन्यक्रिया= परस्पर पाद-प्रमार्जनादि समस्त क्रिया, जो कि परस्पर में सम्बन्धित है, कर्मसंश्लेषजननी है, इसलिए साधु या साध्वी इसको मन से भी न चाहे, और न वचन एवं काया से करने के लिए प्रेरित करे।

७३१. साधु या साध्वी (बिना कारण) परस्पर एक दूसरे के चरणों को पोंछ कर एक बार या बार-बार अच्छी तरह साफ करे तो मन से भी इसे न चाहे, न वचन और काया से करने की प्रेरणा करे। इस अध्ययन का शेष वर्णन तेरहवें अध्ययन में प्रतिपादित पाठों के समान जानना चाहिए।

७३२. यही (अन्योन्यक्रिया निषेध में स्थिरता ही) उस साधु या साध्वी का समग्र आचार है; जिसके लिए वह समस्त प्रयोजनों, ज्ञानादि एवं पंचसमितियों से युक्त होकर सदैव अहर्निश उसके पालन में प्रयत्नशील रहे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—अन्योन्यक्रिया-निषेध—इन तीन सूत्रों में शास्त्रकार ने पिछले (तेरहवें) अध्ययन के समान ही समस्त वर्णन करके उन्हीं पाठों को यहाँ समझने का निर्देश किया है। विशेषता इतनी-सी है कि वहाँ 'परक्रिया' शब्द है जबकि इस अध्ययन में 'अन्योन्यक्रिया' है। यह अन्योन्यक्रिया परस्पर दो साधुओं या दो साध्वियों को लेकर होती है। जहाँ दो साधु परस्पर एक दूसरे की परिचर्या करें, या दो साध्वियाँ परस्पर एक दूसरे की परिचर्या करें,

---

१. 'संसेइयं' के बदले पाठान्तर हैं—संसेतियं, संसतियं संसइयं।"

२. यहाँ 'जाव' शब्द से सव्वट्ठेहिं से 'जएज्जासि' तक का पाठ सूत्र ३३४ के अनुसार समझें।

वहीं अन्योन्यक्रिया होती है। इसप्रकार की अन्योन्यक्रिया अकल्पनीय या अनाचरणीय गच्छ-निर्गत प्रतिमाप्रतिपन्न साधुओं और जिन (वीतराग) केवली साधुओं के लिए है। इसलिए यह अन्योन्यक्रिया गच्छनिर्गत साधुओं के उद्देश्य से निषिद्ध है। गच्छगत-स्थविरों को कारण होने पर कल्पनीय है। फिर भी उन्हें इस विषय में यतना करनी चाहिए।[1] गच्छ-निर्गत प्रतिमाप्रतिपन्न, जिनकल्पी साधुओं के लिए इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

स्थविरकल्पी साधुओं के लिए विभूषा की दृष्टि से, अथवा वृद्धत्व, अशक्ति, रुग्णता आदि कारणों के अभाव में, शौक से या बड़प्पन-प्रर्शन की दृष्टि से चरण-सम्मार्जनादि सभी का नियमतः निषेध है, कारणवश अपनी बुद्धि मे यतनापूर्वक विचार कर लेना चाहिए।[2]

निशीथ उ० ४ की चूर्णि में स्पष्ट उल्लेख है कि 'जे भिक्खू अण्णमण्णस्स पाए आमज्जइ वा पमज्जइ वा' इत्यादि ४१ सूत्रों का परक्रिया सप्तक अध्ययनवत् उच्चारण करना चाहिए।

निशीथ (१५) में 'विभूसावडियाए' पाठ है, अतः सर्वत्र विभूषा की दृष्टि से इन सबका निषेध समझना चाहिए।[3]

इन ४१ सूत्रों को संक्षेप में इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—(१) पाद-परिकर्म-रूप, (२) काय-परिकर्मरूप, (३) व्रण-परिकर्मरूप, (४) गंडादिपरिकर्मरूप, (५) मल-निष्कासनरूप, (६) केश-रोमपरिकर्मरूप, (७) लीख-यूकानिष्कासनरूप, (८) अंक-पर्यंकस्थित पादपरिकर्मरूप, (९) अंक-पर्यंक स्थित-कायपरिकर्मरूप, (१०) अंक-पर्यंक स्थित व्रण परिकर्म-रूप, (११) अंक-पर्यंक स्थित गंडादि परिकर्मरूप, (१२) अंक-पर्यंक स्थित मलनिष्कासन रूप, (१३) अंक-पर्यंकस्थित केश-रोमकर्त्तनादिपरिकर्मरूप, (१४) अंक-पर्यंकस्थित लीख-यूका-निष्कासनरूप, (१५) अंक-पर्यंकस्थित आभरणपरिधानरूप, (१६) आराम, उद्यानादि में ले जाकर पादपरिकर्मरूप, (१७) शुद्ध या अशुद्ध मंत्रादि बल से, सचित्त कंद आदि उखड़वा कर उनके द्वारा चिकित्सा रूप अन्योन्य परिचर्या रूप।[4]

॥ अन्योन्यक्रिया चौदहवाँ अध्ययन, सप्तम सप्तिका समाप्त ॥

॥ द्वितीय चूला सम्पूर्ण ॥

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४१७, आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २५८। देखें पृष्ठ ३५७ का टिप्पण संख्या ७ (ख)।

२. (क) वही पत्रांक ४७ के आधार पर।
 (ख) निशीथ उ० चूर्णि ४, पृ० २९२-२९७।
 (ग) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २५८—"विभूसा वडियाए वि नियमा गमो सो चेव।

३. निशीथ उ० १५ चूर्णि।

४. आयार चूला (मुनिश्री नथमलजी द्वारा सम्पादित) पृ० २२४ से २३०।

॥ तृतीय चूला ॥

भावना : पन्द्रहवाँ अध्ययन

प्राथमिक

- आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु०) के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम **भावना** है—यह तीसरी चूला में है।
- भावना साधु जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण और सशक्त नौका है।[1] उसके द्वारा मुक्ति मार्ग का पथिक साधक मोक्ष यात्रा की मंजिल निर्विघ्नता से पार कर सकता है।
- ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि के साथ भावना जुड़ जाने से साधक उत्साह, श्रद्धा और संवेग के साथ साधना के राजमार्ग पर गति-प्रगति कर सकता है, अन्यथा विघ्न-बाधाओं, परीषहोपसर्गों या कष्टों के समय ज्ञानादि की साधना से घबराकर भय और प्रलोभन के उत्पथ पर उसके मुड़ जाने की साम्भावना है। भावनाध्ययन के पीछे यही उद्देश्य निहित है।
- भावना के मुख्य दो भेद हैं—द्रव्य-भावना और भाव-भावना।
- **द्रव्यभावना** का अर्थ दिखावटी-बनावटी भावना, अथवा जाई के फूल आदि द्रव्यों से तिल तैल आदि की या रासायनिक द्रव्यों से भावना देना—द्रव्य-भावना है।
- **भाव-भावना** प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की है। प्राणिवध; मृषावाद आदि की अशुभ या क्रोधादि कषायों से कलुषित विचार अशुभ भावना, अप्रशस्त भावना है।
- प्रशस्त भावना दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य आदि की लीनता में होती है।
- तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों, उनके गुणों तथा उनके प्रवचनों—द्वादशांग गणिपिटकों, युगप्रधान प्रावचनिक आचार्यों, तथा अतिशय ऋद्धिमान एवं लब्धिमान, चतुर्दश पूर्वधर, केवलज्ञान-अवधि-मनःपर्यायज्ञान सम्पन्न मुनिवरों के दर्शन, उपदेश-श्रवण, गुणोत्कीर्तन, स्तवन आदि **दर्शन-भावना** के रूप हैं। इनसे दर्शन-विशुद्धि होती है।
- जीव, अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, बन्धन-मुक्ति, बन्ध, बन्ध-हेतु, बन्धफल, निर्जरा, तत्त्वों का ज्ञान स्वयं करना, गुरुकुलवास करके आगम का स्वाध्याय करना, दूसरों को वाचना देना, जिनेन्द्र प्रवचन आदि पर अनुशीलन करना **ज्ञान-भावना** के अन्तर्गत है। मेरा ज्ञान विशिष्टतर हो, इस आशय से प्रसंगोपात्त ज्ञान का अभ्यास निरन्तर करे, इस प्रकार ज्ञानवृद्धि के लिए प्रयत्न करना भी **ज्ञान भावना** है।

---

१. भावणा जोगसुद्धप्पा जले नावा व्व आहिया। —सूत्रकृतांग १/१५/५

- ✡ अहिंसादि पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म, आचार. नियमोपनियम आदि की भावना करना चारित्रभावना है।
- ✡ "मैं किस निर्विगई आदि तप के आचरण से अपने दिवस को सफल बनाऊं, कौन-सा तप करने में मैं समर्थ हूं ?" तथा तप के लिए द्रव्य क्षेत्रादि का विचार करना तपोभावना है।
- ✡ सांसारिक सुख के प्रति विरक्तिरूप भावना वैराग्य भावना है।
- ✡ कर्मबन्धजनक मद्यादि अष्टविध प्रमाद का आचरण न करना अप्रमादभावना है।
- ✡ एकाग्रभावना—एकमात्र आत्म-स्वभाव में ही लीन होना। इसीतरह अनित्यादि १२ भावनाएं भी है। यों अनेक भावनाओं का अभ्यास करना 'भावना' के अन्तर्गत है।
- ✡ भावना अध्ययन के पूर्वार्द्ध में दर्शनभावना के सन्दर्भ में आचार-प्रवचनकर्त्ता आसन्नोपकारी भगवान् महावीर का जीवन निरूपित है। उत्तरार्द्ध में चारित्र भावना के सन्दर्भ में पांच महाव्रत एवं उनके परिपालन-परिशोधनार्थ २५ भावनाओं का वर्णन है।[1]

---

१. (क) आचारांग निर्युक्ति गा० ३२७ से ३४१ तक।
(ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४१८-४१९।

॥ तइया चूला ॥

पण्णरसमं अज्झयणं 'भावणा'

भावना : पन्द्रहवाँ अध्ययन

भगवान् के पंच कल्याणक नक्षत्र

७३३. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था—हत्थुत्तराहिं चुते[1] चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भातो गब्भं साहरिते, हत्थुत्तराहिं जाते, हत्थुत्तराहिं सव्वतो[2] सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइते, हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे अव्वाघाते निरावरणे अणंते[3] अणुत्तरे केवलवरणाण-दंसणे समुप्पण्णे सातिणा भगवं परिणिव्वुते ।

७३३. उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पांच कल्याणक उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में हुए। जैसे कि—भगवान् का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में देवलोक से च्यवन हुआ, च्यव कर वे गर्भ में उत्पन्न हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में गर्भ से गर्भान्तर में संहरण किये गए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में ही सब ओर से सर्वथा (परिपूर्ण रूप से) मुण्डित होकर आगार (गृह) त्याग कर अनगार-धर्म में प्रव्रजित हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् को सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, निर्व्याघात, निरावरण, अनन्त और अनुत्तर प्रवर (श्रेष्ठ) केवलज्ञान केवलदर्शन समुत्पन्न हुआ। स्वाति नक्षत्र में भगवान् परिनिर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

विवेचन—भगवान् महावीर के गर्भ में आने से निर्वाण तक के नक्षत्र—प्रस्तुत सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर के गर्भागमन से परिनिर्वाण तक के नक्षत्रों का निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्यों के दो मत हैं—कुछ आचार्य गर्भसंहरण को कल्याणक में नहीं मानते, तदनुसार पंचकल्याणक इस प्रकार बनते हैं—१. गर्भ, २. जन्म, ३. दीक्षा, ४. केवल ज्ञान, और ५. निर्वाण। किन्तु कुछ आचार्य गर्भसंहरण क्रिया को कल्याणक में मान कर प्रभु के ६ कल्याणक की कल्पना करते हैं।[4]

---

१. 'चुते' के बदले 'चुओ', चुतो, चुए आदि का पाठान्तर हैं।

२. 'सव्वओ सव्वत्ताए' पाठ किसी-किसी प्रति में नहीं हैं।

३. 'अणंते' किसी-किसी प्रति में नहीं है।

४. कल्पसूत्र खरतरगच्छीय मान्य टीका।

तेणं कालेणं तेणं समएणं— उस दुषम—सुषमादि काल (चतुर्थ आरा) तथा उस विवक्षित विशिष्ट समय (चतुर्थ आरे का अंतिम चरण) में, जिस समय में जन्मादि अमुक कल्याणक हुआ था।

पंच हत्थुत्तरे—हस्त (नक्षत्र) से उत्तर हस्तोत्तर है, *अर्थात्*—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र। नक्षत्रों की गणना करने से हस्तनक्षत्र जिसके उत्तर में (बाद में) आता है, वह नक्षत्र हस्तोत्तर कहलाता है। यहाँ 'पंच-हत्थुत्तरे' महावीर का विशेषण है, जिनके गर्भाधान-संहरण-जन्म-दीक्षा केवलज्ञानोत्पत्ति रूप पाँच कल्याणक हस्तोत्तर में हुए है, इसलिए भगवान् 'पंच हस्तोत्तर' हुए हैं।[1]

'समणे भगवं महावीरे' की व्याख्या—भगवान् महावीर के ये तीन विशेषण मननीय है। 'समण' के तीन रूप होते हैं—श्रमण, शमन और समन—'सुमनस्'।[2] श्रमण का अर्थ क्रमशः क्षीणकाय, आत्म-साधना के लिए स्वयंश्रमी और तपस्या से खिन्न—तपस्वी श्रमण कहलाता है। कषायों को शमन करनेवाला शमन, तथा सबको आत्मौपम्यदृष्टि से देखने वाला समन और राग-द्वेष रहित मध्यस्थवृत्ति वाला सुमनस् या समनस् कहलाता है, जिसका चित्त सदा कल्याणकारी चिन्तन में लगा रहता हो, वह भी समनस् या सुमनस् कहलाता है।[3]

भगवान् का अर्थ है— जिसमें समग्र ऐश्वर्य, रूप, धर्म, यश, श्री, और प्रयत्न ये ६ भग हों। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भगवान् शब्द की व्युत्पत्ति यों है—जिसके राग, द्वेष, मोह एवं आश्रव भग्न-नष्ट हो गए हैं, वह भगवान् है।[4]

महावीर—यश और गुणों में महान् वीर होने से भगवान् महावीर कहलाए। कषायादि शत्रुओं को जीतने के कारण भगवान् महाविक्रान्त महावीर कहलाए। भयंकर भय-भैरव तथा अचेलकता आदि कठोर तथा घोरातिघोर परीषहों को दृढ़तापूर्वक सहने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा।[5]

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२५।
२. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२५।
(ख) कल्पसूत्र आ० पृथ्वीचन्द्र टिप्पण सू० २ पृ० १।
३. (क) दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १५४, १५५, १५६ 'समण' शब्द की व्याख्या।
(ख) अनुयोग द्वार १२६-१३१।
(ग) "सह मनसा शोभनेन, निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन चेतसा वर्तते इति सुमनसः।
—स्थानांग ४/४/३६३ टीका
—सूत्र कृ० १/१६/१ टीका
(घ) "श्राम्यते तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणः।" —दशवै० हारि० टीका पत्र ६८
(ङ) "श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।" —दशवै० चूर्णि०
४. (अ) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसःश्रियः......"
(आ) भग्गरागो भग्गदोसो भग्गमोहो अनासवो।
भग्गासपापको धम्मो भगवा तेन वुच्चति॥ — विसुद्धिमग्गो ७/५६
५. (क) 'महंतो यसोगुणेहि वीरोत्ति महावीरो।' —दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १३२

भगवान् का गर्भावतरण

७३४. समणे भगवं महावीरे इमाए ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए वीतिकंताए, सुसमाए समाए वीतिकंताए, सुसमदुसमाए समाए वीतिकंताए, दुसमसुसमाए समाए बहुवीतिकंताए, पण्णत्तरीए वासेहिं मासेहिं य अद्धणवम सेसेहिं, जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवगतेणं[1], महाविजयसिद्धत्थपुप्फुत्तरवरपुंडरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणातो महाविमाणाओ वीसं[2] सागरोवमाइं आउयं[3] पालइत्ता आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं चुते, चइत्ता इह खलु जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंणिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए सीहब्भवभूतेणं अप्पाणेणं कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते।

समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगते[4] यावि होत्था, चइस्सामि त्ति जाणति, चुए मि त्ति जाणइ, चयमाणे[5] ण जाणति, सुहुमे णं से काले पण्णत्ते।

७३४. श्रमण भगवान् महावीर ने इस अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषम, नामक आरक, सुषम आरक और सुषम-दुषम आरक के व्यतीत होने पर तथा दुषम-सुषम नामक आरक के अधिकांश व्यतीत हो जाने पर और जब केवल ७५ वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रह गए थे, तब; ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास, आठवें पक्ष, आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की रात्रि को; उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर महाविजयसिद्धार्थ, पुष्पोत्तरवर पुण्डरीक, दिक्-स्वस्तिक, वर्द्धमान महाविमान से बीस सागरोपम की आयु पूर्ण करके देवायु, देवभव और देवस्थिति को समाप्त करके वहाँ से च्यवन किया। च्यवन करके इस जम्बूद्वीप में भारतवर्ष

(ख) शूरवीर विक्रान्तो इति कषायादि शत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः।

—दशवै० हारि० टीका प० १३७

(ग) "सहसंम्मुइए समणे भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परीसहे सहत्ति कट्टु देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे,"

—आचा० २/३/४०० पत्र ३८९ (सूत्र ७४३) (ख) तुलनार्थ देखें—आव० चूर्णि पृ० २४५

१. 'जोगोवगतेणं' के बदले पाठ है—'जोगमुवागएणं'
२. इसके बदले पाठान्तर है—चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे।
३. 'आउयं' के बदले पाठान्तर है—अहाउयं। अर्थ है—जितना आयुष्य था, उतना पाल कर।
४. 'तिण्णाणोवगते' के बदले पाठान्तर है—'तिणाणोवगते'। अर्थ समान है।
५. 'चयमाणे ण जाणति' इसका विश्लेषण करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—'तिन्नि नाणा, एकसमइ उवजोगो णत्थि, तेण ण याणइ चयमाणो।' (पृ० २६०) अर्थात् भगवान् में तीन ज्ञान थे, एक समय (च्यवन काल के समय) में उपयोग नहीं लगता, इसलिए च्यवन करते हुए वे नहीं जानते थे।

के दक्षिणार्द्ध भारत के दक्षिण—ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में कुडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्रीया देवानन्दा नाम की ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंह की तरह गर्भ में अवतरित हुए।

श्रमण भगवान् महावीर (उस समय) तीन ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान) से युक्त थे। वे यह जानते थे कि मैं स्वर्ग से च्यव कर मनुष्यलोक में जाऊंगा। मैं वहाँ से च्यव कर गर्भ में आया हूँ, परन्तु वे च्यवनसमय को नहीं जानते थे, क्योंकि वह काल अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

विवेचन—देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में भगवान् का अवतरण—इस सूत्र में शास्त्रकार ने माता के गर्भ में प्रभु महावीर के अवतरण का वर्णन किया है। इसमें भ० महावीर के द्वारा गर्भ में अवतरित होने के समय की चार स्थितियों का विशेषतः उल्लेख किया गया है—(१) उस समय के काल, वर्ष, मास, पक्ष, ऋतु नक्षत्र तिथि आदि का निरूपण, (२) किस विमान से, किस वैमानिक देवलोक से च्यव कर गर्भ में आए? (३) किस ब्राह्मण की पत्नी, किस नाम गोत्रवाली माता के गर्भ में अवतरित हुए? (४) गर्भ में अवतरित होने से पूर्व, पश्चात् एवं अवतरित होते समय की ज्ञात दशा का वर्णन।

"इमाए ओसप्पिणीए··· बहुवीतिकंताए····" जैन शास्त्रों में कालचक्र का वर्णन आता है। प्रत्येक कालचक्र बीस (२०) कोटाकोटी सागरोपम परिमित होता है। इसके दो विभाग है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध में १० कोटाकोटी सागरोपम तक समस्त पदार्थों के वर्णादि एवं सुख का उत्तरोत्तर क्रमशः ह्रास होता जाता है। अतः यह ह्रासकाल माना जाता है। इसी तरह उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध में १० कोटाकोटी सागरोपम तक समस्त पदार्थों के वर्णादि एवं सुख की उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि होती जाती है। अतः यह उत्क्रान्ति काल माना जाता है।

प्रत्येक कालचक्रार्द्ध में ६-६ आरक (आरे) होते हैं। अवसर्पिणीकाल के ६ आरक इस प्रकार हैं—(१) सुषम-सुषम, (२) सुषम, (३) सुषम-दुषम, (४) दुषम-सुषम, (५) दुषम और (६) दुषम-दुषम। यह क्रमशः (१) चार कोटाकोटी सागरोपम, (२) तीन कोटा०, (३) दो कोटा०, (४) ४२ हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी, (५) २१ हजार वर्ष, और (६) २१ हजार वर्ष, परिमित काल का होता है। अवसर्पिणी काल का छठा आरा समाप्त होते ही उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ हो जाता है। इसके ६ आरे इस प्रकार हैं—१. दुषम-दुषम, २. दुषम, ३. दुषम-सुषम, ३. सुषम-दुषम, ५. सुषम और ६. सुषम-सुषम। प्रस्तुत में अवसर्पिणी काल के क्रमशः३ आरे समाप्त होने पर, चतुर्थ आरक का प्रायः भाग समाप्त हो चुका था, उसमें सिर्फ ७५ वर्ष, ८॥ महीने शेष रह गए थे, तभी भगवान्······गर्भ में अवतरित हुए थे।

---

१. आचा० वृत्ति पत्रांक ४२५ के आधार पर।

२. कल्पसूत्र (पं० देवेन्द्र मुनि सम्पादित) पृ० २४; २५, २६।

देवानन्दा का गर्भ-साहरण

७३५. ततो णं समणे भगवं महावीरे[1] अणुकंपएणं[2] देवेणं 'जीयमेयं' ति कट्टु जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले[3] तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगतेणं बासीतीहिं रातिंदिएहिं वीतिक्कंतेहिं तेसीतिमस्स[4] रातिंदियस्स परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसातो उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसंसि णाताणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगोत्तस्स तिसलाए[5] खत्तियाणीए वासिट्ठसगोत्ताए असुभाणं पोग्गलाणं अवहारं करेत्ता सभाणं पोग्गलाणं पक्खेवं करेत्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरति, जे वि य तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे तं पि य दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए कुच्छिंसि साहरति।

समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगते यावि होत्था, साहरिज्जिस्सामि[6] त्ति जाणति, साहरिते मि त्ति जाणति, साहरिज्जमाणे वि जाणति समणाउसो!

७३५. देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद श्रमण भगवान् महावीर के हित और अनुकम्पा से प्रेरित होकर 'यह जीत आचार है', यह कहकर वर्षाकाल के तीसरे मास, पंचम पक्ष अर्थात्—आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, ८२ वीं रात्रिदिन के व्यतीत होने और ८३ वें दिन की रात को दक्षिण ब्राह्मण

---

१. इस सम्बन्ध में कल्पसूत्र में विस्तृतपाठ है—'जं रयणिं च समणे भगवं महावीरे····गब्भत्ताए वक्कते तं रयणिं च णं सा देवाणंदा···चोद्दस महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धा ॥ ४ ॥····तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे···हियाणुकंपएणं देवेणं हरिणेगमेसिणा····तिसलाए खत्तियाणीए····अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं कुच्छिंसि साहरिए ॥ ३० ॥

—कल्पसूत्र सूत्र ४ से ३० तक मूल (देवेन्द्रमुनि) पृ० ४१ से ७६

२. 'अणुकंपएणं' के बदले 'हियाअणुकंपएणं'। इसकी व्याख्या करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—हिताणुकंपितं अप्पणो सक्कस्स य, अणुकंपओ तित्थगरस्स अदुवित्तए ति।" हिताणुकंपित्त—शक्रेन्द्र का अपना हित, अथवा तीर्थंकर के प्रति अनुकम्पा से प्रेरित।

३. 'आसोयबहुले' के बदले पाठान्तर है—"अस्सोयवहुले।" अर्थ समान है।

४. 'तेसीतिमस्स' के बदले पाठान्तर हैं—'तेसीति राइ'', 'तेसीराइ'' 'तेसीयमस्स'।

५. 'तिसलाए' के बदले पाठान्तर हैं—'तिसिलाए'।

६. 'साहरितेमि त्ति जाणति, साहरिज्जमाणे वि जाणति' के बदले पाठान्तर है—'साहरिज्जमाणे न जाणति, साहरिएमि त्ति जाणइ।' कल्पसूत्र में भी ऐसा ही पाठ मिलता है—'साहरिज्जमाणे नो जाणइ साहरिएमि त्ति जाणइ। इसके टीकाकार आचार्य पृथ्वीचन्द्र ने 'तिन्नाणोवगए साहरिज्जिस्सामि' इत्यादि च्यवनवद् ज्ञेयम्" लिखा है; परन्तु च्यवन और संहरण में बहुत अन्तर है। च्यवन स्वतः होता है, और संहरण पर-कृत। च्यवन एक समय में हो सकता है, किन्तु संहरण में असंख्यात समय लगते हैं। इस दृष्टि से भी आचारांग का पाठ ही अधिक तर्कसंगत और आगमसिद्ध है, क्योंकि संहरण में असंख्यात समय लगते हैं, अतः अवधिज्ञानी उसे जान सकता है। प्रस्तुत सूत्र में यह भूल कब और कैसे हुई? यह विद्वानों के लिए अन्वेषण का विषय है।—सं०

कुण्डपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर सन्निवेश में (आकर वहाँ देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से गर्भ को लेकर) ज्ञातवंशीय क्षत्रियों में प्रसिद्ध काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ राजा की वाशिष्ठगोत्रीय पत्नी त्रिशला (क्षत्रियाणी) महारानी के अशुभ पुद्‌गलों को हटा कर उनके स्थान पर शुभ पुद्‌गलों का प्रक्षेपण करके उसकी कुक्षि में उस गर्भ को स्थापित किया। और जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में जो गर्भ था, उसे लेकर दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश में कुडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में स्थापित किया।

आयुष्मन् श्रमणो ! श्रमण भगवान् महावीर गर्भावास में तीन ज्ञान (मति-श्रुत-अवधि) से युक्त थे। 'मैं इस स्थान से संहरण किया जाऊँगा', यह वे जानते थे, 'मैं संहृत किया जा चुका हूँ', यह भी वे जानते थे और यह भी वे जानते थे कि 'मेरा संहरण हो रहा है।'

विवेचन—**गर्भ की अदला-बदली**—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से निकाल कर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में रखने और त्रिशला महारानी के कुक्षिस्थ गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में स्थापित करने का वर्णन है। कल्पसूत्र में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है—देवानन्दा के स्वप्नदर्शन, स्वप्न-फल-श्रवण, हर्षाविष्करण, इधर शक्रेन्द्र का चिन्तन, भगवान् की स्तुति, इस आश्चर्यजनक घटना पर पुनः चिन्तन एवं कर्तव्य-विचार, हरिणैगमेषीदेव का आह्वान, इन्द्र द्वारा आदेश, हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ की अदला-बदली तक का वर्णन विस्तार के साथ है, यहाँ उसे अति संक्षेप में दिया गया है।[1]

गर्भापहरण की घटना : शंका-समाधान—तीर्थंकरों के गर्भ का अपहरण नहीं होता, इस दृष्टि से दिगम्बर परम्परा इस घटना को मान्य नहीं करती, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसे एक आश्चर्यभूत एवं सम्भावित घटना मानती है। आचारांग में ही नहीं, स्थानांग, समवायांग, आवश्यकनिर्युक्ति एवं कल्पसूत्र प्रभृति में स्पष्ट वर्णन है कि श्रमण भगवान् महावीर ८२ रात्रि व्यतीत हो जाने पर एक गर्भ से दूसरे गर्भ में ले जाए गये। भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने गणधर गौतम स्वामी से देवानन्दा ब्राह्मणी के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख किया है—"गौतम ! देवानन्दा ब्राह्मणी मेरी माता है।"[2]

वैदिक परम्परा के मूर्धन्य पुराण श्रीमद् भागवत में भी गर्भ-परिवर्तन विधि का उल्लेख है कि कंस जब वसुदेव की सन्तानों को समाप्त कर देता था, तब विश्वात्मा योगमाया को आदेश देता है कि देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रखे। विश्वात्मा के आदेश-निर्देश से

---

१. देखें कल्पसूत्र मूल (सं० देवेन्द्र मुनि)

२. (क) समवायांग ८३, पत्र ८३/२
   (ख) स्थानांग स्था० ५, पत्र ३०७
   (ग) आवश्यक निर्युक्ति पृ० ८०-८३
   (घ) 'गोयमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा'—भगवती शतक ५ उ० ३३ पृ० २५६

योगमाया देवकी का गर्भ रोहिणी के गर्भ में रख देती है। तब पुरवासी लोग अत्यन्त दुःख के साथ कहने लगे—"हाय ! बेचारी देवकी का गर्भ नष्ट हो गया।"[1]

वैज्ञानिकों ने भी परीक्षण करके गर्भ-परिवर्तन को सम्भव माना है। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी द्वारा प्रकाशित जीव विज्ञान (पृ० ४३) में इस घटना को प्रमाणित करने वाला एक वर्णन दिया गया है—एक अमेरिकन डॉक्टर को एक गर्भवती भाटिया महिला का ऑपरेशन करना था। डॉक्टर ने एक गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा एक विद्युत संचालित डिब्बे में रखा, और उस स्त्री के पेट का बच्चा बकरी के पेट में। ऑपरेशन कर चुकने के बाद डॉक्टर ने स्त्री का बच्चा स्त्री के पेट में और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर में स्त्री और बकरी ने जिन बच्चों को जन्म दिया, वे स्वस्थ एवं स्वाभाविक रहे।[2]

भगवान महावीर का जन्म

७३६. तेणं कालेणं तेणं समएणं तिसिला खत्तियाणी अह अण्णदा कदायी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाण राइंदियाणं वीतिकंताण जे से गिम्हाणं पढमे मासे दोच्चे पक्खे चेतसुद्धे तस्स णं चेत्तसुद्धस्स तेरसीपक्खणं हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवगतेणं समणं भगवं महावीरं अरोया अरोयं पसूता।

७३७. जं णं रातिं तिसिला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं अरोया अरोयं पसूता तं णं[3] राइं भवणवति-वाणमंतर-जोतिसिय-विमाणवासिदेवेहिं य देवीहिं य ओवयंतेहिं य उप्पयंतेहिं य संपयंतेहिं य एगे महं दिव्वे देवुज्जोते देवसंणिवाते[4] देवकहक्कहए उप्पिंजलगभूते यावि होत्था।

७३८. जं णं रयणिं तिसिला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं अरोया अरोयं पसूता[5] तं णं रयणिं बहवे देवा य देवीओ य एगं महं अमयवासं च गंधवासं च चुण्णवासं च पुप्फवासं च हिरण्णवासं च रयणवासं च वासिंसु।

७३९. जं णं रयणिं तिसिला खत्तियाणी समणं भगवं महावीरं अरोगा अरोगं पसूता तं णं रयणिं भवणवति-वाणमंतर-जोतिसिय-विमाणवासिणो देवा य देवीओ य समणस्स भगवतो महावीरस्स कोतुगभूइकम्माइं तित्थगराभिसेयं च करिंसु।

---

१. गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशः॥ १५॥ —भागवत स्कंध १० पृ० १२२-१२३

२. कल्पसूत्र (देवेन्द्र मुनि सम्पादित) में वर्णित घटना।

३. तुलना करिए—सा णं रयणी बहूहिं देवेहिं या देवीहिय उवयंतेहि य उप्पयंते हि य उप्पिंजलमाणभूया कहकहभूया यावि होत्था। —कल्पसूत्र सूत्र ९४।

४. 'देवसंणिवाते' के बदले पाठ है देवसंणिवातेण, 'देसंणिवातेण ते देव।'

५. 'पसूता' के बदले 'पसुता' और 'पसुत्ता' पाठान्तर है।

७३६. उस काल और उस समय में त्रिशला क्षत्रियाणी ने अन्यदा किसी समय नौ मास साढ़े सात अहोरात्र प्राय: पूर्ण व्यतीत होने पर ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास के द्वितीय पक्ष में अर्थात् चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर सुखपूर्वक (श्रमण भगवान् महावीर को) जन्म दिया।

७३७. जिस रात्रि को त्रिशला क्षत्रियाणी ने सुखपूर्वक (श्रमण भगवान् महावीर को) जन्म दिया, उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों और देवियों के स्वर्ग से आने और मेरुपर्वत पर जाने—यों ऊपर-नीचे आवागमन से एक महान् दिव्य देवोद्योत हो गया, देवों के एकत्र होने से लोक में एक हलचल मच गई, देवों के परस्पर हास-परिहास (कहकहों) के कारण सर्वत्र कलकलनाद व्याप्त हो गया।

७३८. जिस रात्रि त्रिशला क्षत्रियाणी ने स्वस्थ श्रमण भगवान् महावीर को सुखपूर्वक जन्म दिया, उस रात्रि में बहुत-से देवों और देवियों ने एक बड़ी भारी अमृतवर्षा सुगन्धित पदार्थों की वृष्टि और सुवासित चूर्ण, पुष्प, चांदी और सोने की वृष्टि की।

७३९. जिस रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी ने आरोग्यसम्पन्न श्रमण भगवान् महावीर को सुखपूर्वक जन्म दिया, उस रात्रि में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों और देवियों ने श्रमण भगवान महावीर का कौतुकमंगल, शुचिकर्म तथा तीर्थंकराभिषेक किया।

विवेचन—भगवान् महावीर का जन्म—सूत्र ७३६ से ७३९ तक चार सूत्रों में भगवान् महावीर का जन्म, जन्म के प्रभाव से सर्वत्र महाप्रकाश एवं आनन्द का संचार, देवों द्वारा विविध पदार्थों की वृष्टि, देवों द्वारा जन्माभिषेक आदि वर्णन है।

भगवान् महावीर के जन्म के समय केवल क्षत्रियकुण्डपुर ही नहीं, परन्तु क्षण भर के लिए सारे जगत् में प्रकाश फैल गया। बाद में उनके उपदेश और ज्ञान से केवल मनुष्य लोक ही नहीं, तीनों लोक प्रकाशमान हो गए हैं। स्थानांगसूत्र में बताया है कि तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा एवं केवलज्ञानोत्पत्ति के समय में तीनों लोकों में अपूर्व उद्योत होता है।[1] वस्तुत. तीर्थंकर भगवान् का इस भूमण्डल पर जन्म धारण करना धर्म, ज्ञान और अध्यात्म के महाप्रकाश का साक्षात् अवतरण है।

सारा ही संसार, यहाँ तक कि नारकीय जीव भी क्षण भर के लिए अनिर्वचनीय आनन्द व उल्लास का अनुभव करते हैं।

जन्म से पूर्व त्रिशला महारानी के स्वप्नों का, तथा गर्भ-परिपालन, गर्भ का संचालन बन्द हो जाने से आर्तध्यान, भ० महावीर द्वारा मातृभक्ति सूचक प्रतिज्ञा, जृम्भक देवों द्वारा

---

१. (क) 'लोगस्स उज्जोयगरे धम्मतित्थयरे जिणे।' —चतुर्विंशतिस्तव पाठ आवश्यक सूत्र
(ख) "तिहिं ठाणेहिं लोगुज्जोए सिया, तंजहा—अरहंतेहिं जायमाणेहिं, अरहंतेसु पव्वयमाणेसु, अरहंताणं णाणूप्पायमहिमासु।" —स्थानांग स्था० ३

निधानों का सिद्धार्थ राजा के भवन में संग्रह, हिरण्यादि में वृद्धि के कारण माता-पिता द्वारा वर्द्धमान नाम रखने का विचार, सिद्धार्थ द्वारा हर्षवश पारितोषिक, प्रीतिभोज आदि विस्तृत वर्णन कल्पसूत्र में देखना चाहिए। यहाँ संक्षेप में मुख्य बातें कह दी गई हैं।[1]

भगवान का नामकरण

७४०. जतो णं पभिति भगवं महावीरे तिसिलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भं आहूते ततो णं पभिति तं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं[2] सुवण्णेणं धणेणं[3] धण्णेणं माणिक्केणं मोत्तिएणं संख-सिल-प्पवालेणं अतीव अतीव परिवड्ढति।

ततो णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो एयमट्ठं जाणित्ता[4] णिव्वत्तदसाहंसि[5] वोक्कंतंसि सुचिभूतंसि विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेंति। विपुलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेत्ता मित्त-णाति-सयण-संबंधिवग्गं उवनिमंतेत्ता बहवे समण-माहण-किवण-वणीमग-भिच्छुंडग[6]-पंडरगाईण विच्छड्ढेंति[7], विग्गोवेंति, विस्साणेंति, दायारेसु[8] णं दाणं पज्जाभाएंति। विच्छड्डित्ता, विग्गोवित्ता, विस्साणित्ता[9] दायारेसु णं[10] दाणं पज्जाभाइत्ता मित्त-णाइ-सयण-संबंधिवग्गं भुंजावेंति। मित्त-णाति-सयण-संबंधिवग्गं भुंजावित्ता, मित्त-णाति-सयण-संबंधिवग्गेण इमेयारूवं णामधेज्जं कारवेंति[11]–जतो णं पभिति[3] इमे कुमारे तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे आहूते ततो णं पभिति इमं कुलं विपुलेणं हिरण्णेणं सुवण्णेणं

१. कल्पसूत्र मूलपाठ पृ० ८० से १३८ तक।
२. यहाँ किसी-किसी प्रति में 'हिरण्णेणं' पाठ नहीं है।
३. 'धणेणं' के बदले पाठान्तर है—'धण्णेणं'। 'धान्य से।'
४. 'जाणित्ता' के बदले 'जाणिया' पाठान्तर है।
५. 'णिव्वत्तदसाहंसि' के बदले कल्पसूत्र में पाठ है—'एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते निव्वतिए असूतिजात-कम्मकरणे संपत्ते बारसाहदिवसे····।' ग्यारहवाँ दिन व्यतीत होने पर असूति (अशुचि) जातककर्म से निवृत्त होने पर बारहवाँ दिन आने पर···।
६. 'भिच्छुंडग—पंडरगाईण' से मिलता-जुलता ज्ञाताधर्मकथांग के पन्द्रहवें अध्ययन में समागत पाठ—चरए वा ·· भिच्छंडे वा पंडरंगे वा—है। उसकी टीका में अभयदेवसूरि ने अर्थ किया है—'चरको धाटिभिक्षाचरः।···भिक्षाण्डो भिक्षाभोजी सुगतशासनस्य इत्यन्ये, पाण्डुरागः शैव.।'—अर्थात्—चरक संन्यासियों का झुंडविशेष, यूथबंध घूमकर भिक्षाटन करने वाले भिक्षुओं की एक जाति। भिक्षाण्ड = भिक्षाभोजी, कई आचार्य कहते हैं—"बौद्ध शासन के भिक्षु हैं। पाण्डुराग = शैवभिक्षु।"
७. 'विच्छड्ढेति' के बदले पाठान्तर हैं—'विच्छडेंति, 'विच्छडेइ'।
८. 'दायारेसु णं पज्जाभाएंति' का समानार्थक पाठ कल्पसूत्र में मिलता है—'दाणं दायारेहिं परिभाएत्ता'
९. 'विस्साणित्ता' के बदले पाठान्तर हैं—'विस्साणिया'।
१०. 'णं दाणं पज्जाभाइत्ता' के बदले पाठान्तर हैं—'णं पज्जाभाइत्ता, णं दाणं पज्जाभाइत्ता' णं दायं पज्जाभाइत्ता'।
११. 'कारवेंति के बदले पाठान्तर हैं—कारवेति, करेंति।

धणेणं धण्णेणं माणिक्केणं मोत्तिएणं संख-सिल-प्पवालेणं अतीव अतीव परिवड्ढति, तो होउ णं कुमारे वद्धमाणे, ।[1]

७४०. जब से श्रमण भगवान् महावीर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूप में आए, तभी से उस कुल में प्रचुर मात्रा में चाँदी, सोना, धन, धान्य, माणिक्य, मोती, शंख, शिला और प्रवाल (मूंगा) आदि की अत्यन्त अभिवृद्धि होने लगी।

तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता ने यह बात जानकर भगवान् महावीर के जन्म के दस दिन व्यतीत हो जाने के बाद ग्यारहवें दिन अशुचि-निवारण करके शुचीभूत होकर, प्रचुर मात्रा में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ बनवाए। चतुर्विध आहार तैयार हो जाने पर उन्होंने अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धि-वर्ग को आमंत्रित किया। इसके पश्चात् उन्होंने बहुत-से शाक्य आदि श्रमणों, ब्राह्मणों, दरिद्रों, भिक्षाचरों, भिक्षाभोजी, शरीर पर भस्म रमाकर भिक्षा मांगने वालों आदि को भी भोजन कराया, उनके लिए भोजन सुरक्षित रखाया, कई लोगों को भोजन दिया, याचकों में दान बांटा। इस प्रकार शाक्यादि भिक्षाजीवियों को भोजनादि का वितरण करवा कर अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन, सम्बन्धिजन आदि को भोजन कराया। उन्हें भोजन कराने के पश्चात् उनके समक्ष नामकरण के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—जिस दिन से यह बालक त्रिशलादेवी की कुक्षि में गर्भरूप से आया, उसी दिन से हमारे कुल में प्रचुर मात्रा में चांदी, सोना, धन, धान्य, माणिक, मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूंगा) आदि पदार्थों की अतीव अभिवृद्धि हो रही है। अतः इस कुमार का गुण सम्पन्न नाम—'वर्द्धमान' हो, अर्थात् इसका नाम वर्द्धमान रक्खा जाता है।

विवेचन—भगवान् का गुण-निष्पन्न नामकरण—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् का 'वर्द्धमान' नाम रखने का कारण बताया है। राजा सिद्धार्थ एवं महारानी त्रिशला दोनों अपने सभी इष्ट-स्वजन-परिजन-मित्रों तथा श्वसुर पक्ष के सभी सगे-सम्बन्धियों को भोजन के लिए आमंत्रित करते हैं, साथ ही समस्त प्रकार के भिक्षाजीवियों को भी भोजन देते हैं। उसके पश्चात् सबके समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करते है और 'वर्द्धनाम' नाम रखने का प्रबल कारण भी बताते हैं।

इन सबसे प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में प्रायः सभी सम्पन्न वर्ग के लोग अपने शिशु का नामकरण समारोहपूर्वक करते थे, और प्रायः उसके किसी न किसी गुण को सूचित करने वाला नाम रखते थे।[2]

भगवान का संवर्द्धन

७४१. ततो णं समणे भगवं महावीरे पंचधातिपरिवुडे, तंजहा—खीरधातीए, मज्जण-

---

१. **'तो होउणं कुमारे वद्धमाणे'** का समानार्थक पाठ कल्पसूत्र में इस प्रकार है—**'तं होउ णं कुमारे वद्धमाणे २ नामेणं।'**

२. आचारांग सूत्र मूलपाठ, वृत्ति पत्रांक ४२५।

धातीए, मंडावणधातीए, खेल्लावणधातीए[1], अंकधातीए, अंकातो अंकं साहरिज्जमाणे रम्मे मणिकोट्टिमतले गिरिकंदरसमल्लीणे[2] व चंपयपायवे अहाणुपुव्वीए संवड्ढति।

७४१. जन्म के बाद श्रमण भगवान् महावीर का लालन-पालन पांच धाय माताओं द्वारा होने लगा। जैसे कि—१. क्षीर धात्री—दूध पिलानेवाली धाय, २. मज्जन धात्री—स्नान कराने वाली धाय, ३. मंडन धात्री—वस्त्राभूपण पहनानेवाली धाय, ४. क्रीड़ा धात्री · क्रीड़ा कराने वाली धाय, और ५. अंकधात्री—गोद में खिलाने वाली धाय। वे इस प्रकार एक गोद से दूसरी गोद में संहृत होते हुए एवं मणिमण्डित रमणीय आंगन में (खेलते हुए), पर्वतीय गुफा में स्थित (आलीन) चम्पक वृक्ष की तरह कुमार वर्द्धमान क्रमशः सुखपूर्वक बढ़ने लगे।

यौवन एवं पाणिग्रहण

७४२. ततो णं समणे भगवं महावीरे विण्णायपरिणयए[3] विणियत्तबालभावे[4] अप्पुस्सुयाइं[5] उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाइं परियारेमाणे एवं[6] चाए विहरति।

७४२. उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर बाल्यावस्था को पार कर युवावस्था में प्रविष्ट हुए। उनका परिणय (विवाह) सम्पन्न हुआ और वे मनुष्य सम्बन्धी उदार शब्द,, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त पांच प्रकार के कामभोगों का उदासीनभाव से उपभोग करते हुए त्यागभावपूर्वक विचरण करने लगे।

विवेचन—यौवन और विवाह—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर की युवावस्था के जीवन का चित्रण है। यहाँ तीन बातों की ओर मुख्यतया संकेत किया गया है—(१) यौवन में प्रवेश,

---

१. 'खेल्लावणा' के बदले पाठान्तर है—खेलावण, खेड्डणण, खेडण।

२. 'गिरिकंदरसमल्लीणे' के बदले पाठान्तर है—गिरिकंदरसंलीणे, गिरिकंदरस्समल्लीणे। ज्ञाताधर्मकथांग में इसी प्रकार का पाठ मिलता है—'गरिकंदरमल्लीणे व चंपगपायवे' वृत्तिकार ने अर्थ किया है—गिरिकंदरेत्ति गिरिनिकुञ्जे आलीन इव चम्पकपादपः सुखंसुखेन वर्धते स्मेति।' अर्थात्—गिरिकंदर यानी गिरिनिकुंज में आलीन—आश्रित चंपकवृक्ष की तरह सुखपूर्वक बढ़ रहे थे।

३. विण्णाय परिणय के बदले कल्पसूत्र ६-५४-७६ में इसी से मिलता जुलता पाठ है—से वि य णं दारए उम्मुक्कबालभावे 'विण्णायपरिणयमित्ते।' अर्थात्—वह बालक बाल्यभाव से उन्मुक्त होकर परिणय (प्रणय) का विशेप रूप से ज्ञाता हो गया था। अथवा—परिणय (विवाह) विज्ञात—समाप्त सम्पन्न हो चुका था।

४. 'विणियत्त' के बदले पाठान्तर है—'विणियित्त'। अर्थ होता है—विनिवृत्त।

५. 'अप्पुसुयाइं' के बदले पाठान्तर हैं—अप्पुसुगाइं, अप्पुसुत्ताइं, अप्पुस्सुत्ताइं।' अर्थ प्रायः समान है।

६. 'एवं चाए' के बदले पाठान्तर हैं—'उमंचाए', 'उमंचाते' 'उमच्चाए'। अर्थ समान होता है—त्याग-भाव से।

(२) विवाह, (३) त्यागभाव और उदासीनता-पूर्वक पंचेन्द्रिय-काम-भोगों का उपभोग एवं उनका त्याग।

दिगम्बर परम्परा भ० महावीर को अविवाहित मानती है। दिगम्बर ग्रन्थों में उनके लिए 'कुमार' शब्द का प्रयोग हुआ है, श्वेताम्बर परम्परा में भी उनके लिए कुमार शब्द प्रयुक्त हुआ है। वही संभवतः उन्हें अविवाहित मानने की धारणा का पोषक बना हो।[1]

वस्तुतः 'कुमार' का अर्थ 'कुंआरा'—अविवाहित ही नहीं होता, उसका अर्थ राजकुमार, युवराज आदि भी होता है[2], इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'कुमारवासम्मि पव्वइया' कहकर 'कुमार' शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में आचारांग में ही नहीं, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि आदि प्राचीन साहित्य में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।[3]

भगवान के प्रचलित तीन नाम

७४३. समणे भगवं महावीरे कासवगोत्तेणं, तस्स णं इमे तिन्नि नामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा—अम्मापिउसंतिए वद्धमाणे, सहसम्मुइए समणे, भीमं[4] भयभेरवं उरालं अचेलयं[5] परीसहे सहति त्ति कट्टु देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे।

७४३. काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के ये तीन नाम इस प्रकार कहे गए हैं—(१) माता-पिता का दिया हुआ नाम—वर्द्धमान, (२) समभाव में स्वाभाविक सन्मति होने के कारण श्रमण, और (३) किसी प्रकार का भयंकर भय-भैरव उत्पन्न होने पर भी अविचल रहने तथा अचेलक रहकर विभिन्न परीषहों को समभावपूर्वक (उदार होकर) सहने के कारण देवों ने उनका नाम रखा—'श्रमण भगवान् महावीर'।

---

१. (क) पद्मपुराण ३०/६७।
   (ख) हरिवंश पुराण ६०/२१४ भा० २।
२. (क) 'कुमारो युवराजेऽश्ववाहके'—शब्दरत्न समन्वय कोष पृ० २६८।
   (ख) 'पाइअ-सद्दमहण्णवो' पृ० २५३।
   (ग) अमरकोष काण्ड १, नाट्यवर्ग श्लोक १२।
   (घ) आप्टेकृत संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० ३६३।
३. (क) आवश्यक निर्युक्ति पृ० ३६ गा० २२२।
४. कल्पसूत्र में "भीमं भयभेरवं" आदि पाठ विस्तृत रूप में है। देखिये कल्पसूत्र—१०४····'अयले भयभेरवाणं परिसहोवसग्गाणं-खंतिखमे पडिमाणं पालए धीमं अरति-रतिसहे दविए वीरियसंपन्ने देवेहिं से णामं कयं समणे भगवं महावीरे ३।"
५. 'अचेलयं' के बदले पाठान्तर अचेले, 'अचले' मान कर चूर्णिकार ने अर्थ किया है—'अचले परिसहो-वसग्गेहिं'। अर्थ होता है—परिसहोपसर्गों के समय अचल।

विवेचन—तीन प्रचलित गुणनिष्पन्न नाम—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के तीन प्रचलित नाम किस कारण से पड़े ? इसका उल्लेख है। वर्द्धमान नाम तो माता-पिता के यहाँ धन-धान्य आदि में वृद्धि होने के कारण माता-पिता ने रखा था।[1]

'श्रमण' नाम प्रचलित होने का कारण यहाँ बताया है—'सहसम्मुइए'। चूर्णिकार सहसम्मुदियाए' पाठ मानकर अर्थ करते हैं—'सोभणामतिःसन्मतिः, सन्मत्या सहगतः'—अच्छी बुद्धि या सहज स्वाभाविक सन्मति के कारण। इसका अर्थ स्वाभाविक स्मरण-शक्ति के कारण भी होता है। तात्पर्य यह है कि सहज शारीरिक एवं बौद्धिक स्फूर्ति एवं शक्ति से उन्होंने तप आदि आध्यात्मिक साधना के मार्ग में कठोर श्रम किया, एतदर्थ वे 'श्रमण' कहलाए। तीसरा प्रचलित नाम 'महावीर' था, जो देवों के द्वारा रखा गया था। तीनों नाम गुणनिष्पन्न थे।[2]

भगवान के परिवारजनों के नाम

७४४.[3] समणस्स णं भगवतो महावीरस्स पिता कासवगोत्तेणं। तस्स णं तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा–सिद्धत्थे ति वा सेज्जंसे ति वा जसंसे ति वा।

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स अम्मा वासिट्ठसगोत्ता। तीसे णं तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा–तिसला इ वा विदेहदिण्णा इ वा पियकारिणी ति वा।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पित्तियए[4] सुपासे कासवगोत्तेणं।

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स जेट्ठे भाया णंदिवद्धणे कासवगोत्तेणं।

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स जेट्ठा[5] भइणी सुदंसणा कासवगोत्तेणं[6]।

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स भज्जा जसोया गोत्तेणं कोडिण्णा[7]।

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स धूता कासवगोत्तेणं। तीसे णं दो नामधेज्जा एवमाहिज्जंति; तंजहा–अणोज्जा ति वा पियदंसणा ति वा।

समणस्स णं भगवतो महावीरस्स णत्तुई कोसियगोत्तेणं। तीसे णं दो णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—सेसवती ति वा जसवती ति वा।

---

१. कल्पसूत्र मूल (देवेन्द्र मुनि सम्पादित) पृ० १४०।
२. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६४।
(ख) कल्पसूत्र (देवेन्द्र मुनि सम्पादित) पृ० १४१।
३. सूत्र—७४४ की तुलना कीजिए कल्पसूत्र सूत्र—१०५ से १०६ तक। आवश्यक चूर्णि पृ०—२४४।
४. 'पित्तियए' के बदले पाठान्तर है—पित्तिज्जे
५. किसी-किसी प्रति में 'जेट्ठा भइणी' के बदले 'कणिट्ठा भइणी' पाठ है।
६. 'कासव' के बदले यहाँ 'कासवी' पाठान्तर मिलता हैं।
७. 'गोत्तेणं कोडिण्णा' के बदले पाठान्तर हैं—कोडिन्ना गोत्तेण, गोयमा गोत्तेणं, से गोयमा गोत्तेणं। अर्थ अर्थ क्रमशः यों है—कौडिन्यागोत्र से थी, गोत्र से गौतमीया थी, वह गौतमगौत्रीया थी।

७४४. श्रमण भगवान् महावीर के पिता काश्यप गोत्र के थे। उनके तीन नाम इस प्रकार कहे जाते थे, जैसे कि—१. सिद्धार्थ, २. श्रेयांस और ३. यशस्वी।

श्रमण भगवान् महावीर की माता वाशिष्ठ गोत्रीया थी। उनके तीन नाम इस प्रकार कहे जाते हैं, जैसेकि—१. त्रिशला, २. विदेहदत्ता और ३. प्रियकारिणी।

श्रमण भ० महावीर के चाचा 'सुपार्श्व' थे, जो काश्यप गोत्र के थे।

श्रमण भ० महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन थे, जो काश्यप गोत्रीय थे।

श्रमण भ० महावीर की बड़ी बहन सुदर्शना थी, जो काश्यप गोत्र की थी।

श्रमण भ० महावीर की पत्नी 'यशोदा' थी, जो कौण्डिन्य गोत्र की थी।

श्रमण भ० महावीर की पुत्री काश्यप गोत्र की थी। उसके दो नाम इस प्रकार कहे जाते हैं, जैसेकि—१. अनोज्जा, (अनवद्या) और २. प्रियदर्शना।

श्रमण भ० महावीर की दौहित्री कौशिक गोत्र की थी। उसके दो नाम इस प्रकार कहे जाते हैं, जैसेकि—१. शेषवती तथा २. यशोमती या यशस्वती।

विवेचन—भगवान् महावीर के परिवार का संक्षिप्त परिचय—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के पिता, माता, चाचा, भाई, बहन, पत्नी, पुत्री और दौहित्री के नाम और गोत्र का परिचय दिया गया है। भगवान् महावीर के पिता का नाम श्रेयांस क्यों पड़ा? इस सम्बन्ध में चूर्णिकार कहते हैं—'श्रेयांसि श्रयन्ति अस्मिन्निति श्रेयांसः।' अर्थात्—जिसमें श्रेयों—कल्याणों का आश्रय स्थान हो, वह श्रेयांस है। माता का एक नाम 'विदेहदिन्ना' इसलिए पड़ा कि वे 'विदेहेन दिन्ना'—विदेह (विदेहराज) द्वारा प्रदत्त थीं।[1] भगवान् की भगिनी सुदर्शना उनसे बड़ी थी या छोटी थी? यह चिन्तनीय है। इस सम्बन्ध में कल्पसूत्रकार मौन हैं। आचारांग में प्रस्तुत पाठ में किसी प्रति में 'कणिट्ठा' पाठ था, उसे काट कर किसी संशोधक ने 'जेट्ठा' संशोधन किया है।[2] विशेषावश्यक भाष्य में महावीर की पुत्री के नाम 'ज्येष्ठा, सुदर्शना एवं अनवद्यांगी' बताए हैं, जबकि यहाँ भ० महावीर की बहन का नाम सुदर्शना एवं पुत्री का नाम 'अनवद्या' व प्रियदर्शना बताया गया है। अतः ज्येष्ठभगिनी एवं पुत्री के नामों में कुछ भ्रान्ति-सी मालूम होती है।[3] यद्यपि 'अणोज्जा' का संस्कृत रूपान्तर 'अनवद्या' होता है, किन्तु चूर्णिकार ने 'अनोजा' रूपान्तर करके अर्थ किया है—'नास्य ओजं अणोज्जा।' अर्थात्—जिसमें ओज (बल) न हो वह 'अनोजा' है[4]—अर्थात् जो बहुत ही कोमलांगी, नाजुक हो।

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६४-२६५।

२. (क) आचारांग मूलपाठ सटिप्पण (मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ० २६४।
(ख) कल्पसूत्र मूलपाठ में 'भगिणी सुदंसणा' बतना ही पाठ है—पृ० १४५ (देवेन्द्र मुनि)।

३. (क) विशेषावश्यक भाष्य गा० २३०७।
"जिट्ठा सुदंसण जमालिणोज्ज सावत्थि तिंदुगुज्जाणे···" —मू० भा० १२६।

४. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २६५।

भगवान के माता-पिता की धर्म साधना

७४५. समणस्स णं भगवतो महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालयित्ता छण्हं जीवणिकायाणं सारक्खणणिमित्तं आलोइत्ता णिंदित्ता गरहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणं पायच्छित्ताइं[1] पडिवज्जित्ता कुससंथारं दुरुहित्ता भत्तं पच्चक्खायंति[2], भत्तं पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीरसंलेहणाए झूसियसरीरा कालमासेणं कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुते कप्पे देवत्ताए उववन्ना।

ततो णं आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं चुते(ता) चइत्ता महाविदेहे वासे चरिमेणं उस्सासेणं[3] सिज्झिस्संति, बुज्झिस्संति, मुच्चिस्संति, परिणिव्वाइस्संति[4], सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

७४५. श्रमण भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वापत्य—पार्श्वनाथभगवान् के अनुयायी थे, दोनों श्रावक-धर्म का पालन करने वाले श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का पालन करके (अन्तिम समय में) षड्जीवनिकाय के संरक्षण के निमित्त आलोचना, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप), आत्मगर्हा, एवं पाप दोषों का प्रतिक्रमण करके, मूल और उत्तर गुणों के यथायोग्य प्रायश्चित स्वीकार करके, कुश के संस्तारक पर आरूढ़ होकर भक्तप्रत्याख्यान नामक अनशन (संथारा) स्वीकार किया। चारों प्रकार के आहार-पानी का प्रत्याख्यान—त्याग करके अन्तिम मारणान्तिक संलेखना से शरीर को सुखा दिया। फिर कालधर्म का अवसर आने पर आयुष्यपूर्ण करके उस (भौतिक) शरीर को छोड़कर अच्युतकल्प नामक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए।

तदनन्तर देव सम्बन्धी आयु, भव (जन्म) और स्थिति का क्षय होने पर वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में चरम श्वासोच्छ्वास द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं परिनिवृत होंगे और वे सब दुःखों का अन्त करेंगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के माता-पिता के धार्मिक जीवन की झाकी बताई गई है। साथ ही उस जीवन की फलश्रुति भी अंकित कर दी है। इसके द्वारा शास्त्रकार ने एक आदर्श श्रमणोपासक का जीवन चित्र प्रस्तुत कर दिया है। भगवान् के माता-पिता राजा-रानी होते हुए भी सांसारिक भोगों में ही नहीं फंसे रहे, किन्तु उन्होंने एक श्रमणोपासक का धर्म-मर्यादित जीवन स्वीकार किया। त्याग, सेवा व अनासक्ति भाव से जीवन जीया और अन्तिम समय निकट आने पर समस्त भोगों, यहाँ तक कि आहार, शरीर और

---

१. 'पायच्छित्ताइं' के बदले पाठान्तर है—'पायच्छित्त'।
२. 'पच्चक्खायंति' के बदले पाठान्तर हैं—पच्चक्खिति, पच्चाइक्खंति, पच्चक्खाइंति। अर्थ एका-सा है।
३. 'उस्सासेणं' के बदले पाठान्तर है—ऊसासेणं।
४. 'परिणिव्वाइस्संति' के बदले पाठान्तर है—'परिण्णेवाइस्संति मुच्चिस्संति।

समस्त साधनों का सर्वथा परित्याग करके आत्मशुद्धिपूर्वक शरीर छोड़ा, और १२ वाँ देवलोक प्राप्त किया, जहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेंगे।

दीक्षा-ग्रहण का संकल्प

७४६. तेणं कालेणं तेणं समएणं समण भगवं महावीरे णाते णातपुत्ते[1] [2]णायकुलविणिव्वते[3] विदेहे विदेहदिण्णे विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहे[4] त्ति कट्टु अगारमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगतेहिं देवलोगमणुप्पत्तेहिं समत्तपइण्णे चेच्चा हिरण्णं, चेच्चा सुवण्णं चेच्चा बलं, चेच्चा वाहणं, चेच्चा धण[5]-कणग-रयण-संतसारसावतेज्जं, विच्छड्डित्ता विग्गोवित्ता, विस्साणित्ता, दायारेसु णं दायं पज्जाभाइत्ता, संवच्छरं दलइत्ता, जे से हेमंताणं पढमे मासे, पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले, तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवगतेणं अभिनिक्खमणाभिप्पाए यावि होत्था।

७४६. उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर, जो कि ज्ञातपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे, ज्ञातकुल (के उत्तरदायित्व) से विनिवृत्त थे, अथवा ज्ञातकुलोत्पन्न थे, देहासक्ति रहित थे, विदेहजनों द्वारा अर्चनीय-पूजनीय थे, विदेहदत्ता (माता) के पुत्र थे, विशिष्ट शरीर—वज्रऋषभ-नाराच-संहनन एवं समचतुरस्र संस्थान से युक्त होते हुए भी शरीर से सुकुमार थे।

(इस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न) भगवान् महावीर तीस वर्ष तक विदेह रूप में गृह में निवास करके माता-पिता के आयुष्य पूर्ण करके देवलोक को प्राप्त हो जाने पर अपनी ली हुई प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने से, हिरण्य, स्वर्ण, सेना (बल), वाहन (सवारी), धन, धान्य, रत्न आदि सारभूत, सत्वयुक्त पदार्थों का त्याग करके, याचकों को यथेष्ट दान देकर, अपने द्वारा दानशाला पर नियुक्त जनों के समक्ष सारा धन खुला करके, उसे दान रूप में देने का विचार प्रगट करके, अपने सम्बन्धियों में सम्पूर्ण पदार्थों का यथायोग्य (दाय) विभाजन करके, संवत्सर (वर्षी) दान देकर (निश्चिन्त हो चुके, तब) हेमन्तऋतु के प्रथम मास एवं प्रथम मार्गशीर्ष

---

१. 'णातपुत्ते' के बदले पाठान्तर है—'णातिपुत्ते'।

२. कल्पसूत्र में भगवान् के द्वारा दीक्षा की पूरी तैयारी का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'समणे भगवं महावीर दक्खे दक्खपतिन्ने, पडिरूवे आलीणे भद्दए विणीए नाए नायपुत्ते नायकुलचंदे विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासइं विदेहसि कट्टु अम्मापिईहिं देवत्तगएहिं गुरुमहत्तरएहिं अब्भणुन्नाए...।" कल्पसूत्र सूत्र—११०

३. 'णायकुल-विणिव्वत्ते' के बदले पाठान्तर है—णायकुलविणिवत्ते, णायकुलनिव्वत्ते, णायकुलणिव्वत्ते ति विदेहे।

४. इसके बदले किसी-किसी प्रति 'विदेहित्ति' 'विदेहत्ति' पाठान्तर हैं। कल्पसूत्र में 'विदेहंसि कट्टु' पाठ है।

५. 'धणकणगं' के बदले पाठान्तर है—धणधण्णक। अर्थ है—धन और धान्य।

कृष्ण पक्ष में, मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर भगवान् ने अभिनिष्क्रमण (दीक्षाग्रहण) करने का अभिप्राय किया।

विवेचन—**अभिनिष्क्रमण की पूर्व तैयारी**—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर ने मुनि दीक्षा के लिए अपनी योग्यता और क्षमता कितनी बढ़ा ली थी, अपना जीवन कितना अलिप्त, अनासक्त, विरक्त और अप्रमत्त बना लिया था, यह उनके विशेषणों से शास्त्रकार ने प्रकट कर दिया है।[1] यद्यपि वृत्तिकार ने इन शब्दों की कोई व्याख्या नहीं की है, तथापि चूर्णिकार ने कल्पसूत्र में दिये गए विशेषणों के अनुसार व्याख्या की है, **दक्खे**=क्रियाओं में दक्ष। **पतिण्णे**=विशेषज्ञाता। **पडिरूवे**=रूप और गुण के प्रतिरूप, भद्र स्वभाववाले, भद्रक या मध्यस्थ। **विणीते**=दक्षतादि गुणयुक्त होने पर भी अभिमान नहीं करने वाले। **णाते पुत्ते विणियट्टे**=ज्ञात-कुल में उत्पन्न, **विदेहदिन्ने**=विदेहा—त्रिशला माता के अंगजात। **जच्चे**=जात्य-कुलीन, श्रेष्ठ। अथवा **विदेहवच्चे**=विदेह का वर्चस्वी पुरुष। **विदेहे**=देह के प्रति अनासक्त।

आचारांग (अर्थागम) में एवं कल्पसूत्र में इनका अर्थ यों किया गया है—**णाए**=प्रसिद्ध-ज्ञात, अथवा वे ज्ञातवंश के थे। **णायकुलविणिव्वते**=ज्ञातकुल में चन्द्रमा के समान। **विदेहे**=उनका देह दूसरों के देह की अपेक्षा विलक्षण था या विशिष्ट शरीर (विशिष्ट संहनन-संस्थान) वाले। **विदेहदिण्णे**=त्रिशला माता के पुत्र। **विदेहजच्चे**=त्रिशला माता के शरीर से जन्म ग्रहण किये हुए विदेहवासियों में श्रेष्ठ। **विदेहसूमाले**=अत्यन्त सुकुमाल या घर में सुकुमाल अवस्था में रहने वाला।[2]

साथ ही उनकी प्रतिज्ञा (माता-पिता के जीवित रहते दीक्षा न लेने की) पूर्ण हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त घर में रहते हुए उन्होंने सोना, चाँदी, सैन्य, वाहन, धान्य, रत्न आदि सारभूत पदार्थो का त्याग करके जिनको जो देना, बाँटना या सौंपना था, वह सब वे दे, बाँट या सौंप कर निश्चिन्त हो चुके थे। वार्षिकदान भी देना प्रारम्भ कर चुके थे। इस प्रकार भगवान् महावीर ने दीक्षा की पूर्ण तैयारी करने के पश्चात् ही मार्गशीर्ष कृष्णा १० को दीक्षा ग्रहण करने का अपना अभिप्राय किया था।[3]

सांवत्सरिक दान

७४७. संवच्छरेण होहिती[4] अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदस्स[5]।
तो अत्थसंपदाणं पवत्तती पुव्वसूरातो ॥१११॥

---

१. आचारांग मूल पाठ सटिप्पण पृ० २६५, २६६
२. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २६५
(ख) कल्पसूत्र (देवेन्द्र मुनि सम्पादित) पृ० १४७
(ग) आचारांग (अर्थागम खण्ड–१) (पुप्फभिक्खू-सम्पादित) पृ० १५४
३. आचारांग मूल पाठ पृ० २६६
४. 'होहिति' के बदले पाठान्तर है—'होहित्ति।'
५. 'वरिंदस्स' के बदले पाठान्तर है—'वरिंदाणं'।

७४८. एगा हिरण्णकोडी अट्ठेव अणूणया सयसहस्सा।
सूरोदयमादीयं दिज्जइ जा पायरासो त्ति ॥११२॥

७४९. तिण्णेव य कोडिसता अट्ठासीतिं च होंति कोडीओ।
असीतिं च सतसहस्सा एतं संवच्छरे दिण्णं ॥११३॥

लोकांतिक देवों द्वारा उद्बोध

७५० वेसमणकुंडलधरा देवा लोगंतिया महिड्ढीया।
बोहिंति य तित्थकरं पण्णरससु कम्मभूमीसु ॥११४॥

७५१. बंभम्मि य कप्पम्मि बोद्धव्वा कण्हराइणो मज्झे।
लोगंतिया विमाणा अट्ठसु वत्था असंखेज्जा[1] ॥११५॥

७५२. एते देवनिकाया भगवं बोहिंति जिणवरं वीरं।
सव्वजगज्जीवहियं अरहं! तित्थं[2] पवत्तेहि ॥११६॥

७४७. श्री जिनवरेन्द्र तीर्थंकर भगवान् का अभिनिष्क्रमण एक वर्ष पूर्ण होते ही होगा, अतः वे दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले सांवत्सरिक-वर्षी दान देना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढ़ने तक उनके द्वारा अर्थ का सम्प्रदान (दान) होता है।१११।

७४८. प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर एक प्रहर पर्यन्त, जब तक कि वे प्रातराश (नाश्ता) नहीं कर लेते, तब तक एक करोड़ आठ लाख से अन्यून (कम नहीं) स्वर्णमुद्राओं का दान दिया जाता है॥ ११२॥

७४९. इस प्रकार वर्ष में कुल तीन अरब, ८८ करोड़ ८० लाख स्वर्णमुद्राओं का दान भगवान् ने दिया॥ ११३॥

---

१. 'अट्ठसु वत्था' के बदले पाठान्तर है—अट्ठसु वच्छा।
तत्वार्थसूत्र ४/२५ के अनुसार भी 'ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः' लोकान्तिक देवों का ब्रह्मलोक में निवास है। अन्य कल्पों में नहीं। ब्रह्मलोक को घेर कर आठ दिशाओं में आठ प्रकार के लोकान्तिक देव रहते हैं। तत्वार्थसूत्र में ८ लोकान्तिक देवों के नाम इस प्रकार गिनाए हैं—१ 'सारस्वताऽऽदित्य-३ वन्ह्यरुण-४ गर्दतोय-५ तुषिताऽ ६ व्याबाध- ७ मरुतोऽ-रिष्टाश्च ८।' यदि वन्हि और अरुण को अलग-अलग मानें तो इनकी संख्या ९ हो जाती है। ८ कृष्णराजियाँ हैं, दो-दो कृष्ण-राजियों के मध्यभाग में ये रहते हैं। मध्य में अरिष्ट रहते हैं। इस प्रकार ये ९ भेद होते हैं। तत्वार्थ—भाष्यकार ने आठ भेद ही बताये हैं। लोकान्तवर्ती ये ८ भेद ही होते हैं, जिन्हें आचार्य श्री ने बताए हैं, नौवां भेद रिष्ट विमान प्रस्तारवर्ती होने से होता है। इसलिए कोई दोष नहीं है। अन्य आगमों में ९ भेद ही बताए हैं। यहाँ जो आठ भेद बताए हैं, वे भी इसी अपेक्षा से समझें।
—तत्वार्थ सूत्र सिद्धसेनगणि टीका ४ पृ०—३०७

२. देखिये कल्पसूत्र ११० से ११३ तक का पाठ—"बुज्झाहि भगवं लोगनाहा! पवत्तेहि धम्मतित्थं हियसुहनिस्सेयकरं····पुव्विपि य णं···नाणदंसणे होत्था। तएणं समणे भगवं····तेणेव उवागच्छइ।"

७५०. कुण्डलधारी वैश्रमण देव और महान् ऋद्धि सम्पन्न लोकान्तिक देव १५ कर्म-भूमियों में (होने वाले) तीर्थंकर भगवान् को प्रतिबोधित करते हैं ॥ ११४ ॥

७५१. ब्रह्म (लोक) कल्प में आठ कृष्णराजियों के मध्य में आठ प्रकार के लोकान्तिक विमान असंख्यात विस्तार वाले समझने चाहिए ॥ ११५ ॥

७५२. ये सब देव निकाय (आकर) भगवान् वीर-जिनेश्वर को बोधित (विज्ञप्त) करते हैं—हे अर्हन् देव ! सर्वजगत् के जीवों के लिए हितकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन (स्थापना) करें ॥ ११६ ॥

विवेचन—सांवत्सरिकदान और लोकान्तिक देवों द्वारा उद्बोध—प्रस्तुत सूत्र ७४७ से ७५२ तक ६ गाथाओं में मुख्यतया दो बातों का उल्लेख है, जो प्रत्येक तीर्थंकर भगवान् द्वारा दीक्षा ग्रहण करने का अभिप्राय व्यक्त करने के बाद निश्चित रूप से होती हैं—(१) प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण से पूर्व एक वर्ष तक दान करते हैं। वे प्रतिदिन सूर्योदय से एक प्रहर तक १ करोड़ ८ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान करते हैं, इस प्रकार वार्षिक दान की राशि ३ अरब ८८ करोड़ ८० लाख स्वर्णमुद्राएँ हो जाती हैं।

(२) ब्रह्मलोकवासी लोकान्तिक देव तीर्थंकर से विनम्र विज्ञप्ति (बोध) करते हैं—तीर्थ स्थापना करने हेतु। बोध का अर्थ—यहाँ नम्रविज्ञप्ति या सविनय निवेदन करना है। जिन तो स्वयंबुद्ध होते हैं। उन्हें बोध देने की अपेक्षा नहीं रहती। लोकान्तिक देव एक प्रकार से भगवान् के वैराग्य की सराहना, अनुमोदना करते हैं। यह उनका परम्परागत आचार है।

अभिनिष्क्रमण महोत्सव के लिए देवों का आगमन

७५३. ततो णं समणस्स भगवतो महावीरस्स अभिनिक्खमणाभिप्पायं जाणित्ता भवणवति-वाणमंतर-जोतिसिय-विमाणवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं, सएहिं २ णेवत्थेहिं, सएहिं २ चिंधेहिं, सव्विड्ढीए सव्वजुतीए[1] सव्वबलसमुदएणं सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरुहंति। सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरुहित्ता अहाबादराइं पोग्गलाइं परिसाडेंति। अहाबादराइं पोग्गलाइं परिसाडेत्ता अहासुहुमाइं पोग्गलाइं परियाइंति। अहासुहुमाइं पोग्गलाइं परियाइत्ता उड्ढं उप्पयंति। उड्ढं उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए दिव्वाए देवगतीए अहेणं ओवतमाणा २ तिरिएणं असंखेज्जाइं दीव समुद्दाइं वीतिक्कममाणा २ जेणेव जंबुद्दीवे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसे तेणेव उवागच्छंति तेणेव उवागच्छित्ता जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंणिवेसस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसाभागे तेणेव झत्ति वेगेण ओवतिया[4]।

---

१. 'जुतीए' के वदले पाठान्तर है—'जुत्तीए'। अर्थ समान है। कल्पसूत्र में 'सव्विड्ढीए सव्वजुईए पाठ है।
२. 'सयाइं सयाइं' के वदले 'साइं साइं' पाठ है।
३. 'पच्चोतरित' के वदले 'पच्चोयरति' पाठ है। कहीं 'पच्चोट्ठवइ' पाठ भी है।
४. 'ओवतिया' के वदले 'उवत्तिया' पाठान्तर है।

७५३. तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जानकर भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव एवं देवियाँ अपने-अपने रूप में, अपने-अपने वस्त्रों में और अपने-अपने चिन्हों से युक्त होकर तथा अपनी-अपनी समस्त ऋद्धि, द्युति, और समस्त बल-समुदाय सहित अपने-अपने यान-विमानों पर चढ़ते हैं। फिर सब अपने-अपने यान-विमानों में बैठकर जो भी वादर (स्थूल) पुद्गल हैं, उन्हें पृथक् करते हैं। वादर पुद्गलों को पृथक् करके सूक्ष्म पुद्गलों को चारों ओर से ग्रहण करके वे ऊँचे उड़ते हैं। ऊंचे उड़कर अपनी उस उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित और दिव्य देव गति से नीचे उतरते-उतरते क्रमशः तिर्यक्लोक में स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रों को लांघते हुए जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, वहाँ आते हैं। वहाँ आकर जहाँ उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर सन्निवेश है, उसके निकट आ जाते हैं। वहाँ आकर उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर सन्निवेश के ईशानकोण दिशा भाग में शीघ्रता से उतर जाते हैं।

विवेचन—चारों प्रकार के देव-देवियों का आगमन—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् के दीक्षा ग्रहण के अभिप्राय को जानकर चारों प्रकार के देव-देवियों के आगमन का वर्णन है। साथ ही यह भी बताया है कि वे कैसे रूप, परिधान एवं चिन्ह से युक्त होकर तथा कैसी ऋद्धि, द्युति व दलवल सहित, किस वाहन में, किस गति एवं स्फूर्ति से इस मनुष्य लोक में, तीर्थंकर भगवान् के सन्निवेश में आते हैं?[1]

प्रश्न होता है—तीर्थंकर के दीक्षा समारोह में भाग लेने के लिए देवता क्यों भागे आते हैं? उत्तर का अनुमोदन यह है कि संसार में जो भी धर्मात्मा एवं धर्मनिष्ठ पुरुष होते हैं, उनके धर्म कार्य के लिए देवता आते ही हैं। वे अपना अहोभाग्य समझते हैं कि हमें धर्मात्मा पुरुषों के धर्म कार्य को अनुमोदन करने का अवसर मिला। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

'देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।'

'जिसका मन सदा धर्म में ओत-प्रोत रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।'

यद्यपि देवता भौतिक समृद्धि व ऐश्वर्य में सबसे आगे हैं, किन्तु उनके जीवन में संयम का अभाव है, इसलिए वे आध्यात्मिकता के धनी संयमी पुरुषों की सेवा में उनके संयम की सराहना करने हेतु आते हैं। शास्त्रकार ने देवों के आगमन की गति का भी वर्णन किया है कि वे उत्कृष्ट, शीघ्र, चपल, त्वरित दिव्यगति से आते हैं, क्योंकि उनके मन में धर्मनिष्ठ तीर्थंकर की दीक्षा में सम्मिलित होने की स्फूर्ति, श्रद्धा एवं उमंग होती है।[2]

---

१. आचारांग मूल पाठ सटिप्पण (जम्बूविजय जी) पृ० २६८

२. (क) दशवैकालिक अ० १ गा० १
   (ख) आचारांग मूल पाठ टिप्पण पृ० २६८

शिविका-निर्माण

७५४. ततो णं सक्के देविंदे देवराया सणियं २ जाणविमाणं ठवेति। सणियं २ [जाण] विमाणं ठवेत्ता सणियं २ जाणविमाणातो पच्चोतरति, सणियं २ जाणविमाणाओ पच्चोत्तरित्ता एगंतमवक्कमति। एगंतमवक्कमित्ता महता वेउव्विएणं समुग्घातेणं समोहणति। महता वेउव्विएणं समुग्घातेणं समोहणित्ता एगं महं णाणामणि-कणग-रयणभत्तिचित्तं सुभं चारुकंतरूवं देवच्छंदयं विउव्वंति। तस्स णं देवच्छंदयस्स बहुमज्झदेसभागे एगं महं सपादपीटं सीहासणं णाणामणि-कणग-रयणभत्तिचित्तं सुभं चारुकंतरूवं विउव्वति, २ [त्ता] जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ [त्ता] समणं भगवं महावीरं तिखुत्तो[1] आयाहिण-पयाहिणं करेति। समणं भगवं महावीरं तिखुत्तोआयाहिणपयाहिणं करेत्ता, समणं भगवं महावीरं वंदति, णमंसति। वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं गहाय, जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छति। तेणेव उवागच्छित्ता सणियं २ पुरत्थाभिमुहं सीहासणे णिसीयावेति। सणियं २ पुरत्थाभिमुहं णिसीयावेत्ता, सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेति। सयपाग-सहस्सपागेहिं तेल्लेहिं अब्भंगेत्ता गंधकासाएहिं[3] उल्लोलति। सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं उल्लोलेत्ता सुद्धोदएणं[4] मज्जावेति, २[त्ता] जस्स जंतबलं[5] सयसहस्सेणं तिपडोलतित्तएणं साहिएण[6] सरसीएण गोसीसरत्तचंदणेणं अणुलिंपति, २ [त्ता] ईसिणिस्सासवातवोज्झं वरणगर-पट्टणुग्गतं कुसलणरपसंसितं[7] अस्सलालपेलयं[8] छेयायरियकणगखचितंतकम्मं हंसलक्खणं पट्टजुयलं णियंसावेति, २ [त्ता] हारं अद्धहारं उरत्थं एगावलिं पालंबसुत्त-पट्ट-मउड-रयणमालाइं आविंधावेति। आविंधावेत्ता गंथिम-वेढिम-पूरिम-संघातिमेणं मल्लेणं कप्परुक्खमिव समालंकेति[9]।

समालंकेत्ता दोच्चं सि महता वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहणति, २[त्ता] एगं महं चंदप्पभं सिवियं सहस्सवाहिणियं विउव्वति, तंजहा-ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मकर-विहग-वाणर-कुंजर[10]

१. किसी-किसी प्रति में 'तिक्खुत्तो' शब्द नहीं है।
२. 'पुरत्थाभिमुहं' के बदले 'पुरत्थाभिमुहे' पाठान्तर है।
३. 'कासाएहिं' के बदले 'कसाएहिं' पाठ है।
४. 'सुद्धोदएणं मज्जावेति' के बदले 'उल्लोलिति स सुद्धोदएण' उल्लोलिति२ सुसुद्धोदएणं" पाठान्तर हैं।
५. 'जंतबलं सयसहस्सेणं' के बदले 'जंतपलं सयसहस्सेणं 'जस्स य मुल्लं सयसाहस्सेणं' पाठान्तर हैं।
६. इसके बदले पाठान्तर हैं—'साहीएणं गोसीस', 'साहिएण सीतएण गोसीस'...। दूसरे का अर्थ है—सिद्ध किये हुये शीतल गोशीर्ष रक्त चन्दन से।
७. 'कुसलणरपसंसितं' के बदले 'कुसलनरपइसंसितं', कुसलनरपरिनिम्मियं' ये पाठान्तर मिलते हैं—अर्थ हैं—कुशलनरपति द्वारा प्रशंसित, कुशल मनुष्यों द्वारा परिनिर्मित।
८. 'अस्सलालपेलयं' के बदले पाठान्तर है—'अस्सलालापेलयं।'
९. 'समालंकेत्ता' के बदले 'समलंकेरत्ता' और 'समलंकित्ता' पाठान्तर हैं।
१०. कुंजर-रुरु......वणलयचित्त' के बदले कल्पसूत्र ४५ में पाठ है—कुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्तं।"

रुरु-सरभ-चमर-सद्दूल-सीह-वणलयचित्तविज्जाहर-मिहुणजुगलजंतजोगजुत्त[1] अच्चीसहस्समालिणीयं सुणिरूवितमिसमिसेंतरूवमसहस्सकलित[2] भिसमाणं[3] भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेस्सं[4] मुत्ताहडमुत्तजालंतरोयित[5] तवणीयपवरलंबूस-पलंबंमुत्तदामं[6] हारद्धहारभूसणसमोणत अधियपेच्छणिज्जं पउमलयभत्तिचित्त[7] असोगलय-भत्तिचित्त कुंदलयभत्तिचित्त णाणालयभत्तिविरइयं सुभं[8] चारुकंतरूवं णाणामणिपंचवण्ण-घण्टापडायपरिमंडितग्गसिहरं सुभं चारुकंतरूवं पासादीयं दरिसणीयं सुरूवं।

७५४. तत्पश्चात् देवों के इन्द्र देवराज शक्र ने शनैः-शनैः अपने यान विमान को वहाँ ठहराया। फिर वह धीरे-धीरे विमान से उतरा। विमान से उतरते ही देवेन्द्र सीधा एक ओर एकान्त में चला गया। वहाँ जाकर उसने एक महान् वैक्रिय समुद्घात किया। उक्त महान् वैक्रिय समुद्घात करके इन्द्र ने अनेक मणि-स्वर्ण-रत्न आदि से जटिल-चित्रित, शुभ, सुन्दर मनोहर कमनीय रूप वाले एक वहुत वड़े देवच्छंदक (जिनेन्द्र भगवान् के लिए विशिष्ट स्थान) का विक्रिया द्वारा निर्माण किया। उस देवच्छंदक के ठीक मध्य-भाग में पादपीठ सहित एक विशाल सिंहासन की विक्रिया की, जो नाना मणि-स्वर्ण-रत्न आदि की रचना से चित्र-विचित्र, शुभ, सुन्दर और रम्य रूपवाला था। उस भव्य सिंहासन का निर्माण करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ वह आया। आते ही उसने भगवान् की तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, फिर उन्हें वन्दन-नमस्कार करके श्रमण भगवान महावीर को लेकर वह देवच्छन्दक के पास आया। तत्पश्चात् भगवान् को धीरे-धीरे उस देवच्छन्दक में स्थित सिंहासन पर विठाया और उनका मुख पूर्व दिशा की ओर रखा।

यह सब करने के वाद इन्द्र ने भगवान् के शरीर पर शतपाक, सहस्र-पाक तेलों से मालिश की, तत्पश्चात् सुगन्धित काषाय द्रव्यों से उनके शरीर पर उवटन किया फिर शतपाक, सहस्रपाक तेलों के साथ उवटन करके शुद्ध स्वच्छ जल से भगवान् को स्नान कराया। स्नान कराने के वाद उनके शरीर पर एक लाख के मूल्य वाले तीन पट को लपेट कर साधे हुए सरस गोशीर्ष रक्त चन्दन का लेपन किया। फिर भगवान् को नाक से निकलने वाली जरा-सी श्वास-

---

१. 'जंतजोगजुत्तं' के पाठान्तर है—'जंतजोगचित्तं'।
२. 'असहस्सकलितं' के वदले पाठान्तर है—'असहस्सकयलिंगं।' अर्थात्—उस पर हजार से कम चिन्ह वनाये हुए थे।
३. 'भिसमाणं' के वदले पाठान्तर हैं—'ईसिंभिसमाणं', 'भिसमीणं'। अर्थ होता है–थोड़ा-सा चमकता हुआ।
४. 'चक्खुल्लोयणलेस्सं' के वदले 'चक्खुलोयणलेस्सं, चक्खुल्लेयणलिस्सं।
५. 'रोयितं' के वदले 'रोइयं' 'रोयियं' पाठान्तर हैं।
६. 'लंबूसपलंवंतं' के वदले पाठान्तर हैं—लंवूसतो लंवंतं,—लंबूसए लंवंतं।
७. 'भित्तिचित्तं' के वदले पाठान्तर है—भित्तचित्तं।—भींत पर चित्रित।
८. 'सुभं चारुकंतरूवं' के वदले पाठान्तर है—'सुभकंतचारुकंतरूवं', सुभं चारु चारु। किसी-किसी प्रति में दूसरी वार आया हुआ 'सुभं चारुकंतरूवं' पाठ नहीं है। यहाँ दो वार इन शब्दों का प्रयोग क्रमशः—'अग्रशिखर का और 'शिविका' का विशेषण वताने के लिए किया गया लगता है।

वायु से उड़ने वाला, श्रेष्ठ नगर के व्यावसायिक पत्तन में बना हुआ, कुशल मनुष्यों द्वारा प्रशंसित, अश्व के मुंह की लार के समान सफेद और मनोहर चतुर शिल्पाचार्यों (कारीगरों) द्वारा सोने के तार मे विभूषित और हंस के समान श्वेत वस्त्रयुगल पहनाया। तदनन्तर उन्हें हार, अर्द्धहार, वक्षस्थल का सुन्दर आभूषण, एकावली, लटकती हुई मालाएँ, कटिसूत्र, मुकुट और रत्नों की मालाएँ पहनाई। तत्पश्चात् भगवान् को ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम और संघातिम—इन चारों प्रकार की पुष्पमालाओं से कल्पवृक्ष की तरह सुसज्जित किया।

उसके बाद इन्द्र ने दुबारा पुनः वैक्रियसमुद्घात किया और उससे तत्काल चन्द्रप्रभा नाम की एक विराट् सहस्रवाहिनी शिविका का निर्माण किया। वह शिविका ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मगर, पक्षिगण, बन्दर, हाथी, रुरु, सरभ, चमरी गाय, शार्दूलसिंह आदि जीवों तथा वनलताओं से चित्रित थी। उस पर अनेक विद्याधरों के जोड़े यन्त्रयोग से अंकित थे। इसके अतिरिक्त वह शिविका (पालखी) सहस्र किरणों से सुशोभित सूर्य-ज्योति के समान देदीप्यमान थी, उसका चमचमाता हुआ रूप भलीभाँति वर्णनीय था, सहस्र रूपों में भी उसका आकलन नहीं किया जा सकता था, उसका तेज नेत्रों को चकाचौंध कर देने वाला था। उस शिविका में मोती और मुक्ताजाल पिरोये हुए थे। सोने के बने हुए श्रेष्ठ कन्दुकाकार आभूषण से युक्त लटकती हुई मोतियों की माला उस पर शोभायमान हो रही थी। हार, अर्द्धहार आदि आभूषणों से सुशोभित थी। अत्यन्त दर्शनीय थी, उस पर पद्मलता, अशोकलता, कुन्दलता आदि तथा अन्य अनेक प्रकार की वनलताएँ चित्रित थीं। शुभ, मनोहर, कमनीय रूप वाली पंचरंगी अनेक मणियों, घण्टा एवं पताकाओं से उसका अग्रशिखर परिमण्डित था। इस प्रकार वह शिविका अपने आप में शुभ, सुन्दर और कमनीय रूप वाली, मन को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय और अति सुन्दर थी।

विवेचन—शिविकानिर्माण और दीक्षा की तैयारी—प्रस्तुत सूत्र में विस्तार से वर्णन है कि इन्द्र ने भगवान् के अभिनिष्क्रमण के लिए वैक्रिय समुद्घात करके देवच्छन्दक एवं शिविका आदि का निर्माण किया, साथ ही देवछंद में निर्मित पादपीठ सहित सिंहासन पर विराजमान करके उनके शरीर पर शतपाक-सहस्रपाक तैलमर्दन, सुगन्धित द्रव्यों से उबटन और बहुमूल्य गोशीर्ष चन्दन का लेप किया, उन्हें स्नान कराया, बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहनाए।

शक्रेन्द्र यह सब कार्य भक्तिवश करता है, क्योंकि वह जानता है कि मुझे जिस धर्म-पालन आदि के प्रताप से इन्द्रपद मिला है, उस परमधर्म तीर्थ के ये प्रवर्तक बनने जा रहे हैं, ये धर्म-बोध के दाता, उपदेशक, निष्ठापूर्वक पालक होंगे, इसलिए इनके द्वारा मुझ जैसे अनेक लोगों का कल्याण होगा। इन्द्र सोचता है—ऐसे महान् उपकारी महापुरुष की जितनी भक्ति की जाए, उतनी थोड़ी है।[1]

---

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २६८-२६९

'देवच्छंदयं' आदि पदों की व्याख्या—'देवच्छंदय' का अर्थ प्राकृतशब्दकोष में मिलता है—देवच्छंदक= जिन देव का आसन स्थान। जानविमाणं=सवारी या यात्रावाला विमान। 'वेउव्विएणं समुग्घाएणं समोहणति=वैक्रियसमुद्‌घात करता है। समुद्‌घात एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है, जिसके द्वारा आत्म-प्रदेशों का संकोच-विस्तार किया जाता है। वैक्रिय शरीर जिसे मिला हो अथवा वैक्रियलब्धि जिसे प्राप्त हो, वह जीव वैक्रिय करते समय अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर विष्कम्भ और मोटाई में शरीरपरिमाण और लम्बाई में संख्येय योजनपरिमाण दण्ड निकालता है और पूर्वबद्ध वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुद्‌गलों की निर्जरा करता है। वैक्रिय समुद्‌घात वैक्रिय के प्रारम्भ करने पर होता है।

णिसीयावेति=बिठाता है। अब्भंगेति=तेलमर्दन करता है। उल्लोलेति=उद्‌वर्तन-उबटन करता है। मज्जावेति=स्नान कराता है। जस्स जतबलं सहस्सेणं=जिसका यंत्रबल (शरीर को शीतल करने की नियंत्रण शक्ति) लाख गुनी अधिक हो। इसके बदले पाठान्तर मिलता है—'जस्स य मुल्लं सय-साहस्सेण' इसका अर्थ होता है—जिसका मूल्य एक लाख स्वर्णमुद्रा हो। 'तिपडोलतित्तएणं साहिएणं'=तीन पट लपेट कर सिद्ध किया बनाया हुआ। अणुलिंपति=शरीर में यथा स्थानलेप करता है। ईसिणिस्सासवातवोज्झं=थोड़े-से निःश्वासवायु से उड़जाने योग्य वरणगर-पट्टणुग्गतं=—श्रेष्ठनगर और व्यावसायिक केन्द्र (पत्तन) में बना हुआ। अस्सलालपेलवं=अश्व की लार के समान श्वेत, या कोमल। छेयायरियकणगखचितंतकम्मं=कुशल शिल्पाचार्यों द्वारा सोने के तार से जिसकी किनारी बांधी हुई है। 'णियंसावेति'=पहनाता है। पालंब-सुतपट्ट-मउड-रयणमालाइं'=लम्बा गले का आभूषण, रेशमी धागे से बना हुआ पट्ट-पहनने का वस्त्र, मुकुट और रत्नों की मालाएं। 'आविंधावेति'=पहनाता है। गंथिम-वेढिम-पूरिम संघातिमेणं मल्लेणं=गूँथी हुई, लपेटकर (वेष्टन से) बनाई हुई, संघातरूप (इकट्ठी करके) बनी हुई माला से। ईहामिग—भेड़िया। 'रुरु=मृगविशेष। सरभ=शिकारी जाति का एक पशु, सिंह, अष्टापद या वानर विशेष।' 'जंतजोगजुत्तं=यंत्रयोग (पुत्तलिकायंत्र) से युक्त। अच्चीसहस्समालिणीयं=सहस्रकिरणों से सूर्यसम सुशोभित। सुणिरूवितमिसमिसेंतरूवं=उसका चमचमाता हुआ रूप भलीभाँति वर्णनीय था। असहस्सकलितं=सहस्ररूपों में भी उसका आकलन नहीं हो सकता था। 'भिसमाणं भिब्भिसमाणं=चमकती हुई, विशेषप्रकार से चमकती हुई। चक्खुल्लोयणलेस्सं=चक्षुओं से लेशमात्र ही अवलोकनीय-अर्थात् नेत्रों को चकाचौंध कर देनेवाला। मुत्ताहडमुत्त-जालंतरोयितं=उसका सिरा (किनारा) मोती और मोतियों की जाली से सुशोभित था। तवणीय-पवर-लंबूस-पलंबंत मुत्तदामं=सोने के बने हुए कन्दुकाकार आभूषणों से युक्त मोतियों की मालाएँ उसमें लटक रही थीं।[1]

---

१. (क) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ४७८, ८६७, ३८८, १२३, ५६२, ८८०, ७२०
(ख) जैन सिद्धान्त बोलसंग्रह भा०;२ पृ० २८८
(ग) आचारांगचूर्णि मू० पा० टि० पृ० २६८, २६६ (घ) आचारांग (अर्थागम भा० १) पृ० १५५

शिविकारोहण

७५५. सीया[1] उवणीया जिणवरस्स जर-मरणविप्पमुक्कस्स ।
ओसत्तमल्लदामा[2] जल-थलयदिव्वकुसुमेहिं ॥११७॥

७५६. सिबियाए मज्झयारे दिव्वं वररयणरूवचेंचइयं ।
सीहासणं महरिहं सपादपीठं जिणवरस्स ॥११८॥

७५७. आलइयमालमउडो भासुरबोंदी[3] वराभरणधारी ।
खोमयवत्थणियत्थो जस्स य मोल्लं सयसहस्सं ॥११९॥

७५८. छट्ठेणं[4] भत्तेणं अज्झवसाणेण सुंदरेण जिणो ।
लेस्साहि विसुज्झंतो आरुहई उत्तमं सीयं ॥१२०॥

७५९. सीहासणे णिविट्ठो सक्कीसाणा य दोहिं पासेहिं ।
वीयंति चामराहिं मणि-रयणविचित्तदंडाहिं ॥१२१॥

प्रव्रज्यार्थ प्रस्थान

७६०. पुव्वि उक्खित्ता माणुसेहिं साहट्टरोमकूवेहिं[5] ।
पच्छा वहति देवा सुर-असुरा गरुल-णागिंदा ॥१२२॥

७६१. पुरतो सुरा वहंती असुरा पुण दाहिणम्मि पासम्मि ।
अवरे वहंति गरुला णागा पुण उत्तरे पासे ॥१२३॥

७६२. वणसंडं व कुसुमियं पउमसरो वा जहा सरयकाले ।
सोभति कुसुमभरेणं इय गगणतलं सुरगणेहिं ॥१२४॥

७६३. सिद्धत्थवणं व जहा कणियारवणं व चंपगवणं वा ।
सोभति कुसुमभरेणं इय गगणतलं सुरगणेहिं ॥१२५॥

७६४. वरपडह-भेरि-झल्लरि-संखसतसहस्सिएहिं तूरेहिं ।
गगणयले धरणितले तूरणिणाओ[6] परमरम्मो ॥१२६॥

---

१. तुलना कीजिए—

चन्दप्पभा य सीया उवणीया जम्मसरणमुक्कस्स ।
आसत्तमल्लदामा जल थलयं दिव्य कुसुमेहिं ॥९२॥

—'आवश्यकभाष्य गाथा (९२ से १०४ तक देखिए)

२. 'ओसत्तमल्लदामा' के बदले पाठान्तर हैं— 'उसंतमल्लदामं' उवसंतमल्लदामं ।

३. 'भासरबोंदी' भी पाठान्तर मिलता है किंतु—'भासुरबोंदी पाठ यत्र-तत्र आगमों में अधिक प्रचलित है ।

४. 'छट्ठेणं भत्तेणं' के बदले पाठान्तर है—'छट्ठेण उ भत्तेणं'

५. 'साहट्ठरोमकूवेहिं' के बदले पाठान्तर हैं—साहट्ठरोमपुलएहिं, साहट्टुरोमकूवेहिं । पहला पाठ अधिक संगत लगता है ।

६. 'तूरणिणाओ' के बदले पाठान्तर है—"तुडियणिणादो, तुरियनिनाओ ।"

७६५. तत-विततं घण-झुसिरं आतोज्जं चउविहं[1] बहुविहीयं।
वाएंति[2] तत्थ देवा बहूहिं आणट्टगसएहिं ॥१२७॥

७५५. जरा-मरण से विमुक्त जिनवर महावीर के लिए शिविका लाई गई, जो जल और स्थल पर उत्पन्न होने वाले दिव्यपुष्पों और देव वैक्रियलब्धि से निर्मित पुष्पमालाओं से युक्त थी ॥११७॥

७५६. उस शिविका के मध्य में दिव्य तथा जिनवर के लिए श्रेष्ठ रत्नों की रूपराशि से चर्चित (सुसज्जित) तथा पादपीठ से युक्त महाल्यवान् सिंहासन बनाया गया था ॥ ११८॥

७५७. उस समय भगवान् महावीर श्रेष्ठ आभूषण धारण किये हुए थे, यथास्थान दिव्य माला और मुकुट पहने हुए थे, उन्हें क्षौम (कपास से निर्मित) वस्त्र पहनाए हुए थे, जिसका मूल्य एक लक्ष स्वर्णमुद्रा था। इन सबसे भगवान् का शरीर देदीप्यमान हो रहा था ॥११९॥

७५८. उस समय प्रशस्त अध्यवसाय से, षष्ठ भक्त प्रत्याख्यान (बेले की) तपश्चर्या से युक्त शुभ लेश्याओं से विशुद्ध भगवान् उत्तम शिविका (पालकी) में विराजमान हुए ॥१२०॥

७५९. जब भगवान् सिंहासन(शिविका में स्थापित) पर विराजमान हो गए, तब शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र उसके दोनों ओर खड़े होकर मणि-रत्नादि से चित्र-विचित्र हत्थे-डंडे वाले चामर भगवान् पर ढुलाने लगे ॥१२१॥

७६०. पहले उन मनुष्यों ने उल्लासवश वह शिविका उठाई, जिनके रोमकूप हर्ष से विकसित हो रहे थे। तत्पश्चात् सुर, असुर, गरुड़ और नागेन्द्र आदि देव उसे उठाकर ले चलने लगे ॥१२२॥

७६१. उस शिविका को पूर्वदिशा की ओर से सुर (वैमानिक देव) उठाकर ले चलते हैं, जबकि असुर दक्षिणदिशा की ओर से, गरुड़देव पश्चिम दिशा की ओर से और नागकुमार देव उत्तर दिशा की ओर से उठाकर ले चलते हैं ॥१२३॥

७६२. उस समय देवों के आगमन से आकाशमण्डल वैसा ही सुशोभित हो रहा था, जैसे खिले हुए पुष्पों से वनखण्ड (उद्यान), या शरत्काल में कमलों के समूह से पद्म सरोवर सुशोभित होता है ॥१२४॥

७६३. उस समय देवों के आगमन से गगनतल भी वैसा ही सुहावना लग रहा था, जैसे सरसों, कचनार या कनेर या चम्पकवन फूलों के झुंड से सुहावना प्रतीत होता है ॥१२५॥

७६४. उस समय उत्तम ढोल, भेरी, झांझ (झालर), शंख आदि लाखों वाद्यों का का स्वर-निनाद गगनतल और भूतल पर परम रमणीय प्रतीत हो रहा था ॥१२६॥

---

१. 'चउविहं बहुविहियं' के पाठान्तर है—'चउव्विहं वहुविहियं।' अर्थ होता है—चार प्रकार के वाद्य जो कि अनेक तरह से (वजाये)।

२. 'वाएंति' के बदले पाठान्तर हैं—वाइंति, वातेंति, वायंति।

७६५. वहीं पर देवगण बहुत—से शताधिक नृत्यों और नाट्यों के साथ अनेक तरह के तत, वितत, घन और शुषिर, यों चार प्रकार के बाजे बजा रहे थे ॥१२७॥

विवेचन—देवों द्वारा दीक्षामहोत्सव का भव्य आयोजन—सू० ७५५ से ७६५ तक की गाथाओं में देवों द्वारा भगवान् के दीक्षा—महोत्सव के आयोजन का संक्षेप में वर्णन किया गया हैं। इसमें ९ बातों का मुख्यतया उल्लेख है—(१) शिविका का लाना, (२) शिविका स्थित सिंहासन का वर्णन, (३) भगवान् के वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित देदीप्यमान शरीर का वर्णन, (४) प्रशस्त अध्यवसाय—लेश्या-तपश्चर्या से विशुद्ध (पवित्रात्मा) भगवान शिविका में विराजमान हुए। (५) दो इन्द्रों द्वारा चामर ढुलाये जाने लगे। (६) भक्तिवश मानव और देव चारों दिशाओं से पालकी उठाकर ले चले। (७) गगनमंडल की शोभा का वर्णन, (८) वाद्य-निनादों से गगनतल और भूतल गूंज रहा था। (९) देवगण अनेक प्रकार के नृत्य, नाट्य आयन और वादन से वातावरण को रमणीय बना रहे थे।[1]

'उवणीया' आदि पदों के अर्थ—**उवणीया**=समीप लाई गई। **ओसत्तमल्लदामा** पुष्पमालाएँ उसमें अवसक्त—लगी हुई थीं। **मज्झयारे**=मध्य में। **'वररयणरूवचेंचइयं'**=श्रेष्ठ रत्नों के सौन्दर्य से चर्चित—शोभित था। **महरिहं**=महार्घ—महंगा, बहुमूल्य। **आलइयमालमउडो**= यथास्थान माला और मुकुट पहने हुए थे। **भासुरबोंदी**-देदीप्यमान शरीर वाले। **'खोमयवत्थणि-यत्थो**=सूती (कपास से निर्मित) वस्त्र पहने हुए थे। **उक्खित्ता**=उठाई। **साहट्ठरोमकूवेहिं**=हर्ष से जिनके रोमकूप विकसित हो रहे थे। **वहंति**=उठाकर ले चले। **सिद्धत्थवणं**=सरसों का वन (क्षेत्र) **कणियारवणं**=कनेर का या कचनार का वन। **सतसहस्सिएहिं**=लाखों, **तूरणिणाओ**= वाद्यों का स्वर। **आतोज्जं**=वाद्य। **वाएंति**=बजाते हैं। **आणट्टगसएहिं**=सैकड़ों नृत्यों नाट्यों के साथ।[2]

अन्यत्र भी ऐसा ही वर्णन—आवश्यक भाष्य गा० ९२ से १०४ तक में ठीक इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। सू० ७६० की गाथा समवायांग सूत्र में भी मिलती है।[3]

सामायिक चारित्र ग्रहण

७६६. तेणं कालेणं तेणं समएणं जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले, तस्स णं [4]मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं, सुव्वतेणं दिवसेणं, विजएणं मुहुत्तेणं[5], हत्थुत्तरनक्ख-

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २७०-२७१
२. (क) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० १७६, २०४, ६६८, ११८, ३८८।
(ख) अर्थागम खण्ड—१—आचारांग पृ० १५६
३. आवश्यक भाष्य गा० ९२ से १०४ तक
४. किसी-किसी प्रति में 'मग्गसिरबहुलस्स' के पूर्व 'तस्सणं' पाठ नहीं है।
५. 'मुहुत्तेणं, हत्थुत्तरनक्खत्तेणं' के बदले पाठान्तर है—'मुहुत्ते णं हत्थुत्तरानक्खत्तेणं।'

त्तेणं जोगोवगतेणं पाईणगामिणीए छायाए, वियत्ताए पोरुसीए, छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं, एगं साडगमायाए चंदप्पभाए सिबियाए सहस्सवाहिणीयाए[1] सदेव-मणुया-ऽसुराए[2] परिसाए समण्णिज्जमाणे २ उत्तरखत्तियकुंडपुरसंणिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, २ [त्ता] जेणेव णातसंडे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, २ [त्ता] ईसिं रतणिप्पमाणं अच्छोप्पेणं भूमिभागेणं सणियं २ चंदप्पभं सिबियं सहस्सवाहिणिं ठवेति, सणियं २ जाव ठवेत्ता सणियं २ चंदप्पभातो सिबियातो[3] सहस्सवाहिणीओ पच्चोतरति, २[त्ता] सणियं २ पुरत्थाभिमुहे सीहासणे णिसीदति, २ [त्ता] आभरणालंकारं ओमुयति। ततो णं वेसमणे देवे जन्नुपायपडिते समणस्स भगवतो महावीरस्स हंसलक्खणेणं पडेणं आभरणालंकारं पडिच्छति।

ततो णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेण दाहिणं वामेण वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेति। ततो णं सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवतो महावीरस्स जन्नुपायपडिते वइरामएणं थालेणं केसाइं पडिच्छति, २ [त्ता] 'अणुजाणेसि भंते!' त्ति कट्टु खीरोदं सागरं साहरति। ततो णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेण दाहिणं वामेण वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेत्ता सिद्धाणं णमोक्कारं करेति, २ [त्ता] सव्वं मे अकरणिज्जं[4] पावं कम्मं ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ, सामाइयं चरित्तं पडिवज्जित्ता देवपरिसं च मणुयपरिसं च आलेक्खचित्तभूतमिव ठवेति।

७६७. दिव्वो मणुस्सघोसो तुरियणिणाओ य सक्कवयणेणं।
खिप्पामेव णिलुक्को जाहे पडिवज्जति चरित्तं ॥१२८॥

७६८. पडिवज्जित्तु चरित्तं अहोणिसं सव्वपाणभूतहितं।
साहट्टुलोमपुलया[5] पयता देवा णिसामेंति ॥१२९॥

७६६ उस काल और उस समय में, जबकि हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, प्रथम पक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष मास का कृष्णपक्ष था। उस मार्गशीर्ष के कृष्णपक्ष की दशमी तिथि के सुव्रत दिवस के विजय मुहूर्त में, हस्तोत्तर (उत्तराफाल्गुनी) नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, पूर्वगामिनी छाया होने पर, द्वितीय पौरुषी (प्रहर) के बीतने पर, निर्जल षष्ठभक्त-प्रत्याख्यान (दो दिन के उपवासों) के साथ एकमात्र (देवदूष्य) वस्त्र को लेकर भगवान् महावीर चन्द्रप्रभा नाम की सहस्रवाहिनी शिविका में विराजमान हुए थे; जो देवों, मनुष्यों और असुरों की परिषद् द्वारा ले जाई जा रही थी। अतः उक्त परिषद् के साथ वे क्षत्रियकुण्डपुर सन्निवेश के बीचोंबीच-मध्यभाग में से होते हुए जहाँ ज्ञातखण्ड नामक उद्यान था, उसके निकट पहुंचे। वहाँ पहुंच कर देव छोटे से (मुंड) हाथ-प्रमाण ऊँचे (अस्पृष्ट) भूभाग पर धीरे-धीरे उस

---

१. 'सहस्सवाहिणीयाए' के बदले पाठान्तर है—'सहस्सवाहिणीए।'
२. 'सदेव मणुया' के बदले पाठान्तर है—'सव्वमणुया' सदेवमणुया वा।
३. 'सिबियातो' के बदले पाठान्तर है—'सीयाओ'।
४. 'सव्वं मे अकरणिज्जं' के पाठान्तर है 'सव्वंऽकरणिज्जं, सव्वंकरणिज्जं सव्वं अकरणिज्जं।
५. 'साहट्टुलोमपुलया' के बदले पाठान्तर है—'साहट्ठुलोमपुलया।'

सहस्रवाहिनी चन्द्रप्रभा शिविका को रख देते हैं। तब भगवान् उसमें से शनैः शनैः नीचे उतरते हैं; और पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर अलंकारों को उतारते हैं। तत्काल ही वैश्रमणदेव घुटने टेककर श्रमण भगवान महावीर के चरणों में झुकता है और भक्तिपूर्वक उनके उन आभरणालंकारों को हंसलक्षण सदृश श्वेत वस्त्र में ग्रहण करता है।

उसके पश्चात् भगवान् ने दाहिने हाथ से दाहिनी ओर के, और बांए हाथ से वांई ओर के केशों का पञ्चमुष्ठिक लोच किया। तत्पश्चात् देवराज देवेन्द्र शक्र श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष घुटने टेककर चरणों में झुकता है और उन केशों को हीरे के (वज्रमय) थाल में ग्रहण करता है। तदनन्तर—'भगवन् ! आपकी अनुमति है;' यों कहकर उन केशों को क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर देता है।

इधर भगवान् दाहिने हाथ से दाहिनी ओर के और वांए हाथ से बांई ओर के केशों का पंचमुष्टिक लोच पूर्ण करके सिद्धों को नमस्कार करते हैं; और **'आज से मेरे लिए सभी पापकर्म अकरणीय हैं'**, यों उच्चारण करके सामायिक चारित्र अंगीकार करते हैं। उस समय देवों और मनुष्यों—दोनों की परिषद् चित्रलिखित-सी निश्चेष्ट-स्थिर हो गई थी।

७६७. जिस समय भगवान् चारित्र ग्रहण कर रहे थे, उस समय शक्रेन्द्र के आदेश (वचन) से शीघ्र ही देवों के दिव्य स्वर, वाद्य के निनाद और मनुष्यों के शब्द स्थगित कर दिये गए, (सब मौन हो गए) ॥१२८॥

७६८. भगवान् चारित्र अंगीकार करके अहर्निश समस्त प्राणियों और भूतों के हित में संलग्न हो गए। सभी देवों ने यह सुना तो हर्ष से पुलकित हो उठे।

विवेचन—**भगवान् का अभिनिष्क्रमण और सामायिक चारित्र ग्रहण**—सू० ७६६ से ७६८ तक भगवान् के अभिनिष्क्रमण एवं सामायिक चारित्र-ग्रहण का रोचक वर्णन है। इनमें मुख्यतया ७ बातों का प्रतिपादन किया गया है—(१) मास, पक्ष, दिन, मुहूर्त, नक्षत्र, छाया एवं प्रहर सहित दीक्षाग्रहण-समय का उल्लेख, (२) षष्ठभक्तयुक्त भगवान् की शिविका ज्ञातखण्ड उद्यान में पहुंची, (३) शिविका से उतरकर सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर भगवान् विराजे, (४) आभूषण उतारे, जिन्हें वैश्रमणदेव ने श्वेतवस्त्र में सुरक्षित रख लिए, (५) केशों का पंचमुष्ठिक लोच किया, जिन्हें शक्रेन्द्र ने वज्रमय थाल में ग्रहण करके भगवान् की अनुमति समझ कर क्षीरसागर में बहा दिया, (६) सिद्धों को नमस्कार करके सामायिक चारित्र अंगीकार किया। दीक्षा ग्रहण के समय देव और मनुष्य सभी चित्रलिखित-से हो गए। इन्द्र के आदेश से देवों, मनुष्यों और वाद्यों के शब्द बंद कर दिये गये, (७) भगवान् अहर्निश समस्त प्राणियों के लिए हितकर-क्षेमंकर चारित्र में संलग्न हो गए। देवों ने जब यह सुना तो उनका रोम-रोम पुलकित हो उठा।[1]

---

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २७१ से २७३।

'वियत्ताए' आदि पदों का अर्थ—विवत्ताए=द्वितीय। 'साडगं'=शाटक—देवदूष्य वस्त्र। पाईणगामिणीए=पूर्वगामिनी। ईसिरतणिप्पमाणं=थोड़े-से बद्धमुष्टिहाथ (रत्नि) प्रमाण। अच्छोप्पेणं=अस्पृष्ट (ऊंची) रखकर। णिसीदति=बैठ जाते हैं। आमुयति=उतारते हैं। जन्नुपायपडिते=घुटने टेक कर चरणों में गिरा। पडिच्छति=ग्रहण कर लेता है। वइरामएणं थालेणं=वज्रमय थाल में। साहरति=डाल या वहा देता है। आलेक्खचित्तभूतमिव ठवेति= आलिखित चित्र की-तरह स्तब्ध रह गई। णिलुक्को=तिरोहित हो गया, स्थगित हो गया। अहोणिसं = अहर्निश=दिन रात।[1]

मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि और अभिग्रह-ग्रहण

७६९. ततो णं समणस्स भगवतो महावीरस्स सामाइयं खाओवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मणपज्जवणाणे णामं णाणे समुप्पण्णे। अड्ढाइज्जेहिं[2] दीवेहिं दोहिं य समुद्देहिं सण्णीणं[3] पंचेंदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमणसाणं मणोगयाइं भावाइं जाणइ। जाणित्ता[4] ततो णं समणे भगवं महावीरे पव्वइते समाणे मित्त-णाती-सयण-संबंधिवग्गं पडिविसज्जेति। पडिविसज्जित्ता इमं एतारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हति-"बारस वासाइं वोसट्ठकाए[5] चत्तदेहे जे केति[6] उवसग्गा समुप्पज्जंति[7], तंजहा दिव्वा वा माणुसा वा तेरिच्छिया[8] वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अधियासइस्सामि[9]।

७६९. तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर को क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र ग्रहण करते ही मनःपर्यवज्ञान नामक ज्ञान समुत्पन्न हुआ; जिसके द्वारा वे अढाई द्वीप और दो समुद्रों में स्थित पर्याप्त संज्ञीपञ्चेन्द्रिय, व्यक्तमन वाले जीवों के मनोगत भावोंको स्पष्ट(प्रत्यक्ष) जानने लगे। इधर मनःपर्याय ज्ञान से मनोगत भावों को जानने लगे थे, उधर श्रमण भगवान् महावीर ने प्रव्रजित होते हो अपने मित्र, ज्ञाति, स्वजन-सम्बन्धिवर्ग को प्रतिविसर्जित (विदा) किया। विदा करके इस प्रकार का अभिग्रह धारण किया कि 'मैं आज से बारह वर्ष तक अपने शरीर का व्युत्सर्ग करता हूँ—देह के प्रति ममत्व का त्याग करता हूं।' इस अवधि में

---

१. (क) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० ८८७, ७०६, ४०८।
(ख) अर्थागम खण्ड-१ (आचारांग) पृ० १५७।
२. 'अड्ढाइज्जेहिं' के बदले पाठान्तर है—अड्ढाइएहिं, अड्ढतिज्जेहिं।
३. 'सण्णीणं पंचेंदियाणं' के बदले पाठान्तर है—'सण्णीपंचेंदियाणं'।
४. 'जाणित्ता' के बदले 'जाणेत्ता' पाठान्तर है।
५. 'वोसट्ठकाए' के बदले पाठान्तर है—वोसट्ठकाए, वोसट्ठकाते।
६. 'केति' के बदले पाठान्तर है—'केवि।'
७. 'समुप्पज्जंति' के बदले पाठान्तर हैं—समुप्पज्जसु, समुप्पज्जिस्संति। समुप्पज्जंति दिव्वा...।'
८. 'तेरिच्छिया वा' के 'तेरिच्छा वा' पाठान्तर है। अर्थ समान हैं।
९. 'अधियासइस्सामि' के बदले पाठान्तर है—अहियासइस्सामि।

दैविक, मानुषिक या तिर्यच सम्बन्धी जो कोई भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे, उन सब समुत्पन्न उपसर्गों को मैं सम्यक् प्रकार से या समभाव से सहूँगा, क्षमाभाव रखूँगा, शान्ति से झेलूँगा।"

विवेचन—मनःपर्यवज्ञान की उपलब्धि और अभिग्रहधारण—प्रस्तुत सूत्र में मुख्यतया दो बातों का उल्लेख किया गया है—भगवान् को दीक्षा लेते ही मनःपर्यायज्ञान की उपलब्धि और १२ वर्ष तक अपने शरीर के प्रति ममत्वविसर्जन का अभिग्रह। दीक्षा अंगीकार करते ही भगवान् एकाकी पर-सहाय मुक्त होकर सामायिक साधना की दृष्टि से अपने आपको कसना चाहते थे, इसलिए उन्होंने गृहस्थपक्ष के सभी स्वजनों को तुरंत विदाकर दिया। स्वयं एकाकी, निःस्पृह, पाणिपात्र, एवं निरपेक्ष होकर विचरण करने हेतु देह के प्रति ममत्वत्याग और उपसर्गों को समभाव से सहने का संकल्प कर लिया।[1]

'वोसट्ठकाए' एवं 'चत्तदेहे' पद में अन्तर—यहाँ शास्त्रकार ने समानार्थक-से दो पदों का प्रयोग किया है, परन्तु गहराई से देखा जाए तो इन दोनों के अर्थ में अन्तर है। वोसट्ठकाए, का संस्कृतरूपान्तर होता है—व्युत्सृष्टकाय=इसके प्राकृत शब्दकोश में मुख्य तीन अर्थ मिलते हैं—१. देह को परित्यक्त कर देना, २. परिष्कार रहित रखना या ३. कायोत्सर्ग में स्थित रखना। पहला अर्थ यहाँ ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि चत्तदेहे (त्यक्तदेहः) का भी वही अर्थ होता है। अतः वोसट्ठकाए' के पिछले दो अर्थ ही यहाँ सार्थक प्रतीत होते हैं। शरीर को परिष्कार करने का अर्थ है—शरीर को साफ करना, नहलाना-धुलाना, तैलादिमर्दन करना या चंदनादि लेप करना, वस्त्राभूषण से सुसज्जित करना या सरस स्वादिष्ट आहार आदि से शरीर को पुष्ट करना, औषधि आदि लेकर शरीर को स्वस्थ रखने का उपाय करना आदि। इस प्रकार शरीर का परिकर्म-परिष्कार न करना, शरीर को परिष्कार रहित रखना है, तथा शरीर का भान भूलकर, काया का मन से उत्सर्ग करके एकमात्र आत्मागुणों में लीन रहना ही कायोत्सर्गस्थित रहना है।

'चत्तदेहे' का जो अर्थ किया गया है, उसका भावार्थ है–शरीर के प्रति ममत्व या आसक्ति का त्याग करना। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर को उपसर्गादि से बचाने, उसे पुष्ट व स्वस्थ रखने के लिए जो ममत्व है, या 'मेरा शरीर' यह जो देहाध्यास है, उसका त्याग करना, शरीर का मोह बिलकुल छोड़ देना, शरीर के लिए अच्छा आहार-पानी या अन्य आवश्यकताओं वस्त्र, मकान आदि प्राप्त करने की चेष्टा न करना। सहजभाव से जैसा जो कुछ मिल गया, उसी में निर्वाह करना। शरीर का भान ही न हो, केवल आत्मभान हो।[2]

सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि' इन तीनों पदों के अर्थ में अन्तर—वैसे तो तीनों क्रियाओं का एक ही अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु गहराई से विचार करने पर तीनों में अर्थ अन्तर स्पष्ट होगा। सहिस्सामि का अर्थ होता है—सहन करूंगा; उपसर्ग आने पर

---

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २७३.

२. (क) सामायिक पाठ श्लोक-२ (अमितगति आचार्य)

(ख) पाइअ-सद्दमहण्णवो। पृ० ८२५, ३१८

हायतोबा नहीं मचाऊंगा, न ही निमित्तों को कोसूँगा, न रोऊंगा—चिल्लाऊंगा या किसी के सामने गिड़गिड़ाऊंगा, न विलाप करूंगा, न आर्त्तध्ययन करूंगा। बल्कि उसे अपने ही कृत-कर्मों का फल मानकर उसे सम्यक् प्रकार से या समभावपूर्वक सहन कर लूंगा।" खमिस्सामि का अर्थ है—जो कोई भी मुझ पर उपसर्ग करने आएगा, उसके प्रति क्षमाभाव रखूँगा, न तो किसी प्रकार द्वेष या वैर रखूंगा, न ही द्वेषवश बदला लेने का प्रयत्न या संकल्प करूंगा, न कष्ट देने वाले को मारूंगा-पीटूंगा या उसे हानि, पहुँचाने का प्रयत्न करूंगा। उसे क्षमा कर दूंगा। अथवा उसे तपश्चरण समझ कर कर्म-क्षय करूंगा। अथवा उपसर्ग सहने में समर्थ बनूंगा। 'अधियासइस्सामि' का अर्थ होता है शान्ति से, धैर्य से झेलूंगा। खेद-रहित होकर सहूंगा।[1]

भगवान का विहार एवं उपसर्ग

७७०. ततो णं समणे भगवं महावीरे इमं[2] एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ता वोसट्ठ-काए[3] चत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कम्मारगामं[4] समणुपत्ते।

ततो णं समणे भगवं महावीरे वोसट्ठकाए चत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं, एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंभचेरवासेणं खंतीए मुत्तीए तुट्ठीए समितीए गुत्तीए ठाणेणं कम्मेणं सुचरितफलणेव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

[5]७७१. एवं[6] चाते विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति[7]—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे अणाइले[8] अव्वहिते अद्दीणमाणसे तिविहमण-वयण-कायगुत्ते सम्मं सहति[9] खमति तितिक्खति अहियासेति।

---

१ (क) 'पाइअसद्दमहण्णवो ८८५, २७९, ६८ (ख) आयारो (प्रथम श्रुत) ६।२।१३-१६
(ग) अर्थागम भा० १ (आचारांग) पृ० १५७-१५८

२. 'इमंयएनारूवं' के बदले पाठान्तर हैं—'इमेयारूवं, इमेयारूवे।'

३. 'वोसट्ठकाए चत्तदेहे' के बदले पाठान्तर है—'वोसट्ठचत्तदेहे।'

४. 'कम्मारगामं समणुपत्ते' के बदले पाठान्तर है—'कम्मारं गामं समणुपत्ते' 'कुमारगामं समणुपत्ते वोसट्ठकाए।'

५. भगवान् महावीर स्वामी के विशेषणों और उपमाओं वाला विस्तृत पाठ यहाँ सूत्र ७७०. में होना चाहिए था क्योंकि स्थानांगसूत्र ९ एवं जम्बू-द्वीपप्रज्ञप्ति (वक्षस्कार (२) ऋषभदेव वर्णन) में विस्तार से 'जहाँ भावणाए' इस प्रकार आचारांग सूत्र भावनाऽध्ययन के अन्तर्गत जो पाठ है, उसका निर्देश किया गया है, परन्तु वह वर्तमान में इस भावनाऽध्ययन में उपलब्ध नहीं है। यह विचारणीय है।

६. 'एवं चाते' के बदले पाठान्तर हैं—'एवं गते विहरमाणस्स,' 'एवं विहरमाणस्स' 'एवं वा विहर-माणस्स।' अर्थात्—इस प्रकार का अभिग्रह धारण करके विहार करते हुए…।

७. 'समुपज्जंति' के बदले पाठान्तर हैं—'समुप्पज्जिंति,' 'समुप्पज्जंसु' समुप्पज्जंति, समुवत्तिंसु।' अर्थ प्रायः समान-सा है।

८. 'अणाइले' के बदले पाठान्तर है—'अणाउले'—अर्थ होता है—अनाकुल।

९. कुछ प्रतियों में 'सहति' के बाद ही तितिक्खति' पाठ है।

७७०. इस प्रकार का अभिग्रह धारण करने के पश्चात् काया का व्युत्सर्ग एवं काया के प्रति ममत्व का त्याग किये हुए श्रमण भगवान् महावीर दिन का मुहूर्त (४८ मिनट) शेष रहते कर्मार (कुमार) ग्राम पहुँच गए।

उसके पश्चात् काया का व्युत्सर्ग एवं देहाध्यास का त्याग किये हुए श्रमण भगवान् महावीर अनुत्तर (अनुपम) वसति के सेवन से, अनुपम विहार से, एवं अनुत्तर संयम, उपकरण, संवर, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा, निर्लोभता, संतुष्टि (प्रसन्नता), समिति, गुप्ति, कायोत्सर्गादि स्थान, तथा अनुपम क्रियानुष्ठान से एवं सुचरित के फलस्वरूप निर्वाण और मुक्ति-मार्ग—ज्ञान-दर्शन-चारित्र—के सेवन से युक्त हो कर आत्मा को भावित करते हुए विहार करने लगे।

७७१. इस प्रकार विहार करते हुए त्यागी श्रमण भगवान् महावीर को दिव्य, मानवीय और तिर्यंचसम्बन्धी जो कोई उपसर्ग प्राप्त होते, वे उन सब उपसर्गों के आने पर उन्हें अकलुषित (निर्मल), अव्यथित, अदीनमना एवं मन-वचन-काया की त्रिविध प्रकार की गुप्तियों से गुप्त होकर सम्यक् प्रकार से समभावपूर्वक सहन करते, उपसर्गदाताओं को क्षमा करते, सहिष्णुभाव धारण करते तथा शान्ति और धैर्य से झेलते थे।

विवेचन—आत्मभाव में रमणपूर्वक विहार एवं उपसर्ग सहन—प्रस्तुत सूत्रद्वय में भगवान् महावीर तथा उनकी साधना एवं सहिष्णुता की झाँकी प्रस्तुत की गई है। आत्मभावों में विहार करने का उनका मुख्य लक्ष्य था, आत्मभाव-रमण को केन्द्र में रखकर ही उनका विहार, आहार. तप, संयम, उपकरण, संवर, ब्रह्मचर्य, क्षमा, निर्लोभता, संतुष्टि, समिति, गुप्ति, धर्मक्रिया, कायोत्सर्ग तथा रत्नत्रय की साधना चलती थी। इसी कारण वह तेजस्वी, प्राणवान एवं अनुत्तर हो सकी थी।

आत्मभावों में रमण की साधना के कारण ही वे देवकृत, मानवकृत या तिर्यञ्चकृत किसी भी उपसर्ग का सामना करने में व्यथित, राग-द्वेष से कलुषित या दीनमनस्क नहीं होते थे। मन-वचन-काया, तीनों योगों का संगोपन करके रखते थे। वे उन उपसर्गों को समभाव से सहते, उपसर्गकर्ताओं को क्षमा कर देते एवं तितिक्षाभाव धारण कर लेते। प्रत्येक उपसर्ग को धैर्य एवं शाति से झेल लेते थे।[1]

स्थानांग सूत्र के स्थान नौवें में इसी से मिलता-जुलता उपसर्ग सहन का पाठ मिलता है।[2]

चूर्णि के आधार से विस्तृत पाठ का अनुमान—प्रस्तुत सूत्रद्वय में भगवान् महावीर की साधना

---

१. आचारांग मूल पाठ सटिप्पण पृ० २७३

२. (क) "तस्स णं भगवंतस्स साइरेगाइं दुवालसवासाइं····वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केइ उवसग्गा···· ···सम्मं सहिस्सइ खमिस्सइ तितिक्खिस्सइ अहियासिस्सइ।" —स्थान० ९

और उपलब्धियों की बहुत ही संक्षिप्त झाँकी दी गई है। चूर्णिकार के समक्ष इस सूत्र का पाठ विस्तृत रूप में उपलब्ध रहा होगा जिसके अनुसार उन्होंने उसकी चूर्णि प्रस्तुत की है। हम यहाँ चूर्णि सम्मत पाठ संक्षेप में दे रहे हैं—

छिन्नसोति, कंसपादीव मुक्कतोये, संखो इव निरजणे, जीवो इव अप्पडिहयगई, गगणमिव णिरालंबणे, वायुरिव अपडिबद्धे सारयसलिलं व सुद्धहियए, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवे, कुम्मो इव गुत्तिंदिए, खग्गविसाणं व एगजाए, विहग इव विप्पमुक्के, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते, कुंजरो इव सोंडीरे·····जच्चकणगं व जायरूवे, वसुंधरा इव सव्वफासविसहे·····।"

"नत्थिणं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधो भवति। से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं सचित्ताचित्त मीसिएसु दव्वेसु, खेत्तओ णं गामे वा नगरे वा अरण्णे वा····। कालओ णं समए वा आवलियाए वा····। भावओ णं कोहे माणे वा······मिच्छादंसणसल्ले वा।"[1]

उनके समस्त स्रोत (आस्रव) नष्ट हो गये। कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप हुए। शंख की तरह रंग (राग-द्वेष रूप रंग) से रहित। जीव की तरह अप्रतिहतगति, गगन की तरह आलम्बन (पर-सहाय) रहित, वायु की भाँति अप्रतिबद्धविहारी, शरद् ऋतु के पानी की तरह जिनका हृदय निर्मल था, कमल पत्र की तरह निर्लेप, कूर्म (कछुआ) की तरह गुप्तेन्द्रिय, वराह (गैंडा) के सींग की तरह एकाकी पक्षी की भाँति सर्वथा उन्मुक्तचारी, भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त, कुंजर (हस्ती) की तरह शूरवीर, स्वर्ण की भाँति कान्तिमान्, पृथ्वी की भाँति क्षमाशील,

····उन भगवान् को कहीं पर भी प्रतिबन्ध नहीं था। प्रतिबंध चार प्रकार का होता है—जैसे, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से। द्रव्य से—सचित्त, अचित्त मिश्रद्रव्यों में, क्षेत्र से—ग्राम, नगर, अरण्य आदि···। काल से—समय आवलिका आदि····। भाव से—क्रोध, मान आदि मिथ्यादर्शनशल्य पर्यन्त····

इसीप्रकार का पाठ कल्पसूत्र[2] में है, तथा स्थानांग के ६ वें स्थान में भी इसी आशय का विस्तृत पाठ मिलता है। सूत्रकृतांग[3], प्रश्नव्याकरण[4], औपपातिक[5] एवं राजप्रश्नीयसूत्र में भी सामान्य अनगारके सम्बन्ध में पूर्वोक्त उपमावाले पाठ मिलते हैं। निष्कर्ष यहहै कि भगवान् में वे सब गुण विद्यमान थे, जो एक आदर्श अनगार में होने चाहिए।

भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति

७७२. ततो णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एतेणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस वासा वीतिक्कंता, तेरस मस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे वेसाहसुद्धे तस्स णं वेसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं सुव्वतेणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगतेणं पाईणगामिणीए छायाए वियत्ताए पोरुसीए जंभिय-

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २७४,
२. कल्पसूत्र सू० ११७ से १२१,
३. से जहा नामए अणगारा भगवंतो····अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। —सूत्र क्र० २११
४. ····संजते इरियासमिते····छिन्नगन्थे····मुक्कतोए····चरेज्ज धम्मं। —प्रश्नव्या०५ संवरद्वार
५. समणस्स णं···महावीरस्स अंतेवासी····कत्थइ पडिबंधे भवेति।····एव तेसिं ण भवइ। —औपपातिक सूत्र

गामस्स णगरस्स बहिया णदीए उज्जुवालियाए उत्तरे कूले सामागस्स गाहावतिस्स कट्ठक-रणंसि वियावत्तस्स चेतियस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसाभागे सालरुक्खस्स अदूरसामंते उक्कुडुयस्स गोदोहियाए आयावणाए आतावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं उड्ढं जाणुं अहो सिरस धम्मज्झाणोवगतस्स झाणकोट्ठोवगतस्स सुक्कज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्स णेव्वाणे कसिणे पडिपुण्णे अव्वाहते णिरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाण-दंसणे समुप्पण्णे ।

७७३. से भगवं अरहा जिणे जाणए केवली सव्वण्णू सव्वभावदरिसी सदेव-मणुया-ऽसुर-स्स लोगस्स पज्जाए जाणती, तंजहा-आगती गती ठिती चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडि-सेवितं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कथितं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं चाते विहरति।

७७४. जं णं दिवसं समणस्स भगवतो महावीरस्स णेव्वाणे कसिणे जाव समुप्पन्ने तं णं दिवसं भवणवइ-वाणमंतर-जोतिसिय-विमाणवासिदेवेहि य देवीहि य ओवयंतेहिं[1] य जाव उप्पिंजलगभूते यावि होत्था ।

७७२ उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर को इस प्रकार से विचरण करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गए तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास और चौथे पक्ष में अर्थात् वैशाख सुदी में, वैशाख शुक्ला दशमी के दिन, सुव्रत नामक दिवस में, विजय मुहूर्त में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आने पर, पूर्वगामिनी छाया होने पर- दिन के दूसरे (पिछले) पहर में जृम्भकग्राम नामक नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर तट पर श्यामाक गृहपति के काष्ठकरण नामक क्षेत्र, में वैयावृत्य नामक चैत्य (उद्यान) के ईशानकोण में शालवृक्ष से न अति दूर, न अति निकट, उत्कटुक (उकडू) होकर गोदोहासन से सूर्य की आतापना लेते हुए, निर्जल षष्ठभक्त (प्रत्याख्यान) तप से युक्त, ऊपर घुटने और नीचा सिर करके धर्म-ध्यान में युक्त, ध्यान कोष्ठ में प्रविष्ट हुए भगवान् जब शुक्लध्यानान्तरिका में अर्थात् लगातार शुक्लध्यान के मध्य में प्रवर्तमान थे, तभी उन्हें अज्ञान दुःख से निवृत्ति दिलाने वाला, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहत, निरावरण अनन्त अनुत्तर श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवल-दर्शन उत्पन्न हुए ।

७७३. वे अब भगवान्, अर्हत्, जिन, ज्ञायक, केवली, सर्वज्ञ, सर्वभावदर्शी हो गए । अब वे देवों, मनुष्यों और असुरों सहित समस्त लोक के पर्यायों को जानने लगे । जैसे कि जीवों की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उपपात, उनके भुक्त (खाए हुए) और पीत (पीए हुए) सभी पदार्थों को, तथा उनके द्वारा कृत (किये हुए), प्रतिसेवित, प्रकट एवं गुप्त सभी कर्मों (कामों) को, तथा उनके द्वारा बोले हुए, कहे हुए, तथा मन के भावों को जानते, देखते थे ।' वे सम्पूर्ण

---

१. 'ओवयंतेहिं' के बदले 'उवतंतेहिं', 'उवयंतेहिं' पाठान्तर है ।

लोक में स्थित सब जीवों के समस्त भावों को तथा समस्त परमाणु पुद्‌गलों को जानते-देखते हुए विचरण करने लगे।

७७४. जिस दिन श्रमण भगवान् महावीर को अज्ञान-दुःख-निवृत्तिदायक सम्पूर्ण यावत् अनुत्तर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ, उस दिन भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं विमानवासी देव और देवियों के आने-जाने से एक महान् दिव्य देवोद्योत हुआ, देवों का मेला-सा लग गया, देवों का कल-कल नाद होने लगा, वहाँ का सारा आकाशमंडल हलचल से व्याप्त हो गया।

विवेचन—भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति और उसका महत्त्व—प्रस्तुत सूत्रत्रय में भगवान् को प्राप्त हुए केवलज्ञान का वर्णन है। इन तीनों सूत्रों में मुख्यतया तीन बातों उल्लेख का किया गया है—

(१) केवलज्ञान कब, कहाँ, कैसी स्थिति में, किस प्रकार का प्राप्त हुआ ?

(२) केवलज्ञान होने के बाद भगवान् किसरूप में रहे, किन गुणों से और किन उपलब्धियों से युक्त बने।

(३) भगवान् के केवलज्ञान केवलदर्शन का सभीप्रकार के देवों पर क्या प्रभाव पड़ा ?[1]

राजप्रश्नीय सूत्र के अन्तिम सूत्र में इसी तरह का पाठ मिलता है। कल्पसूत्र में भी हूबहू इसी प्रकार का पाठ उपलब्ध है।

केवलज्ञान साधक-जीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। केवलज्ञान होने पर अन्दर-बाहर सर्वत्र उसके प्रकाश से भूमण्डल जगमगा उठता है। आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है, आत्मा विशुद्ध निर्मल और निष्कलुष बन जाता है। चार घाती कर्म तो सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं। साधक अब स्वयं पूर्ण ज्ञानी, सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् बन जाता है।[2]

'कट्ठकरणंसि' आदि पदों का अर्थ—'कट्ठकरणं=काष्टकरण नामक एक क्षेत्र। भुत्तं-पीतं =खाया हुआ, पीया हुआ। आवीकम्मं=प्रकट में किया हुआ कर्म। रहोकम्मं=गुप्त कार्य, एकान्त में किया हुआ कर्म। मणोमाणसियं=मन के मानसिक भाव। णेव्वाणे=निर्वाण या अज्ञानदुःख-निवृत्ति।[3]

---

१. आचारांग मूलपाठ के टिप्पण पृ० २७७।

२. "तएणं से भगवं अरहा जिणे···जाणिहिइ···तक्कं कडं मणोमाणसियं खइमं भुत्तं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं अरहा अरहस्सजोगे तंतं मणवायकायजोगे वट्टमाणाणं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभाए जाणमाणे पासमाणे विहरिस्सइ।"

—राजप्रश्नीय अन्तिम सूत्र पाठ, (ख) कल्पसूत्र पाठ मू० १२

३. (क) पाइअ-सद्दमहण्णवो पृ० २१५।
(ख) अर्थागम खण्ड-१ (आचारांग) पृ० १५८-१५९।

भगवान की धर्म-देशना

७७५. ततो णं[1] समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाणदंसणधरे अप्पाणं च लोगं च अभिसमिक्ख पुव्वं देवाणं धम्ममाइक्खती, ततो पच्छा माणुसाणं।

७७५. तदनन्तर अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर ने केवलज्ञान द्वारा अपनी आत्मा और लोक को सम्यक्प्रकार से जानकर पहले देवों को, तत्पश्चात् मनुष्यों को धर्मोपदेश दिया।

विवेचन—भगवान् द्वारा धर्माख्यान—प्रस्तुत सूत्र में तीन बातों का विशेषतः उल्लेख किया है—(१-२) केवलज्ञान-केवलदर्शन होने के पश्चात् स्वयं लोक को जानकर भगवान् ने धर्मोपदेश दिया है, (३) पहले देवों और फिर मनुष्यों को धर्म-व्याख्यान दिया।[2]

(२) अभिसमिक्ख = जानकर, धम्ममाइक्खंती = धर्म का आख्यान-कथन-उपदेश किया।[3]

पंचमहाव्रत एवं षड्जीव निकाय की प्ररुपणा

७७६. ततो णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाणदंसणधरे गोतमादीणं समणाणं णिग्गंथाणं पंच महव्वयाइं[4] सभावणाइं छज्जीवणिकायाइं आइक्खति भासति परूवेति, तंजहा-पुढवीकाए जाव तसकाए।

७७६. तत्पश्चात् केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान महावीर ने गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थों को (लक्ष्य करके) भावना सहित पंच-महाव्रतों और पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक—षड्जीवनिकायों के स्वरूप का व्याख्यान किया। सामान्य-विशेष रूप से प्ररूपण किया।

विवेचन—भावना सहित पंचमहाव्रत एवं षड्जीवनिकाय का उपदेश—प्रस्तुत सूत्र में तीन बातों का मुख्यतया उल्लेख किया गया है—(१) भ० महावीर द्वारा किनको लक्ष्य करके उपदेश दिया गया? अर्थात्—श्रोता कौन थे? (२) उनके धर्माख्यान के विषय क्या-क्या थे? (३) उपदेश की शैली तथा क्रम क्या था?

---

१. 'ततो पच्छा माणुसाणं' के वदले पाठान्तर है—तो पच्छा मणुसाणं।

२. आचा० मू० पा० टि० पृ० २७८।

३. आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २७८।

४. महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवणिकायाइं के बदले पाठान्तर है—महव्वयाइं छज्जीवणिकायाइं सभावणाइं।

५. (क) आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २७८।
(ख) तुलना कीजिए—'तएणं से भगवं तेण अणुत्तरेणं केवलवरणाणं दसणेणं सदेवमणुआसुरलोगं अभिसमिच्चा समणाणं णिग्गंथाणं पंचमहव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकाए धम्मं देसेमाणें विहरिस्सइ।"
—स्थानांग सूत्र स्था० ९

'आइक्खति, भासेति, परूवेति' इन तीन क्रिया पदों में अन्तर—यों तो तीनों क्रियापद समानार्थक प्रतीत होते हैं, परन्तु प्राकृत शब्दकोष के अनुसार इनके अर्थ में अन्तर है—'आइक्खति' का अर्थ है—सामान्यरूप से कथन करता है, 'भासेति' का अर्थ है—विशेषरूप से व्याख्या करता है और 'परूवेति' का अर्थ है—सिद्धान्त और तद्व्यतिरिक्त वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। ये तीनों क्रिया पद भगवान द्वारा दिये गए उपदेश की शैली एवं क्रम को सूचित करते हैं।[1]

प्रथम महाव्रत

७७७. पढमं भंते![2] महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणातिवातं। से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा णेव सयं पाणातिवातं करेज्जा ३[3] जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा[4] कायसा। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि[5] अप्पाणं वोसिरामि।

७७७. "भंते! मैं प्रथम महाव्रत में सम्पूर्ण प्राणातिपात (हिंसा) का प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ। मैं सूक्ष्म-स्थूल (वादर) और त्रस-स्थावर समस्त जीवों का न तो स्वयं प्राणातिपात (हिंसा) करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और न प्राणातिपात करनेवालों का अनुमोदन—समर्थन करूंगा; इस प्रकार मैं यावज्जीवन तीन करण से एवं मन-वचन काया से—तीन योगों से इस पाप से निवृत्त होता हूँ। हे भगवन! मैं उस पूर्वकृत पाप (हिंसा) का प्रतिक्रमण करता, (पीछे हटता) हूँ, (आत्म-साक्षी से—) निन्दा करता हूं, और (गुरु साक्षी से—) गर्हा करता हूं; अपनी आत्मा से पाप का व्युत्सर्ग (पृथक्करण) करता हूँ।"

विवेचन—प्रथम महाव्रत की प्रतिज्ञा का रूप—प्रस्तुत सूत्र में भगवान् द्वारा उपदिष्ट प्रथम महाव्रत—प्राणातिपात-विरमण (अहिंसा) की प्रतिज्ञा का रूप दिया गया है। इसमें मुख्यतया ३ बातों का उल्लेख है—(१) हिंस्य जीवों के मुख्य प्रकार का (२) प्राणातिपात का जीवनभर तक, तीन करण-(कृत-कारित-अनुमोदन) से तथा तीन योग (मन-वचन-काया) से सर्वथा त्याग का, और (३) पूर्वकाल में किये हुए प्राणातिपात आदि के पाप का प्रतिक्रमण, आत्म-निन्दा, गर्हा और व्युत्सर्ग का।[6]

---

१. (क) पाइअसद्दमहण्णवो पृ० १०१, ६५०, ६६८।
   (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २७८।
२. पढमं भंते! महव्वयं के बदले पाठान्तर है—पढमे भंते! महव्वए।
३. '३' का अंक अवशिष्ट दो कारणों—कारित और अनुमोदित का सूचक है। जैसे-'नेवऽअण्णं पाणातिवातं कारवेज्जा, अण्णं पि पाणातिवातं करंतं ण समणुजाणेज्जा।' इतना पाठ यहाँ समझना चाहिए। देखें सूत्र ७८०, ७८३
४. 'वयसा' के बदले पाठान्तर है—'वायसा'।
५. 'गरहामि' के बदले पाठान्तर है—'गरिहामि।'
६. (क) आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २७६
   (ख) तुलना कीजिए—दशवैकालिक अ० ४ सू० ११

प्राणातिपात आदि शब्दों की व्याख्या—हिंसा से स्थूल दृष्टिवाले लोग केवल हनन अथवा करना अर्थ ही समझते हैं, इसीलिए तो शास्त्रकार ने यहाँ 'प्राणातिपात' शब्द मूलपाठ में रखा है। प्राणातिपात का अर्थ है प्राणों का अतिपात—नाश करना। प्राण का अर्थ (यहाँ केवल श्वासोच्छ्वास या प्राण-अपानादि पंचप्राण नहीं है, अपितु ५ इन्द्रिय, ३ मन-वचन-कायाबल, श्वासोच्छ्वास और आयुबल, यों दस प्राणों में से किसी भी एक या अधिक प्राणों का नाश करना प्राणातिपात हो जाता है। वर्तमान लोकभाषा में इसे हिंसा कहते हैं। स्थूलदृष्टि वाले अन्यधर्मीय लोग स्थूल आंखों से दिखाई देने वाले (त्रस) चलते-फिरते जीवों को ही जीव मानते हैं, एकेन्द्रिय जीवों को नहीं, इसलिए यहाँ मुख्य ४ प्रकार के जीवों-सूक्ष्म, बादर, स्थावर और त्रस का उल्लेख किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहते हैं और द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस कहते हैं। सूक्ष्म और बादर-ये दोनों विशेषण एकेन्द्रिय जीवों के हैं। जावज्जीवाए=आजीवन कृत कारित और अनुमोदन-ये तीन करण और मन-वचन और काया का व्यापार ये तीन योग कहलाते हैं।[1] सव्वंपाणातिपातं= सर्वथा सभी प्रकार के प्राणातिपात का त्याग अहिंसा महाव्रत है।[2]

प्रथम महाव्रत और उसकी पांच भावना

७७८. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति[3]

[१] तत्थिमा[4] पढमा भावणा–रियासमिते[5] से णिग्गंथे, णो अणरियासमिते त्ति। केवली बूया–इरियाअसमिते[6] से णिग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा लेसेज्ज वा उद्दवेज्ज वा। इरियासमिते[7] से णिग्गंथे, णो इरियाअसमिते त्ति पढमा भावणा।

---

१. (क) दशवै० अ० ४, सू० ११ जि० चू० पृ० १४६, अग० चू० पृ० ८० हारि० टी० पृ० १४४
   (ख) दशवै० जि० चू० १४६, हारि० टीका पृ० १४४, १४५, अग० चू० ८०-८१
२. (क) देखिये, अहिंसा महाव्रत का लक्षण—योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) प्रकाश १।२०
   (ख) प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७।१३ सू०
   (ग) जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्—योग-दर्शन, पाद २/सू० ३१। महाव्रत जाति देश काल और समय (कुलाचार) के बंधन से रहित सार्वभौम सर्वविषयक होते हैं।
३. 'भवंति' के आगे पाठ है—'भवंति, तं जहा'
४. महाव्रत की पच्चीस भावनाओं के सम्बन्ध में चूर्णिकार सम्मत पाठ प्रस्तुत पाठ से भिन्न है। तथा इस प्रकार का पाठ आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन पृ० १४३-१४७ में भी मिलता है। देखें आचा० मू० पा० टिप्पण पृ० २७५-८०-८१
५. 'रियासमिते' के वदले पाठान्तर है—'इरियासमिए' 'इरियासमिते'
६. 'इरिया असमिते' के वदले पाठान्तर हैं—'अइरियासमिते', 'अणइरियासमिते।'
७. 'इसके वदले 'इरियाअसमिते' पाठान्तर है।

[२] अहावरा दोच्चा भावणा-मणं परिजाणति से णिग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेदरे भेदकरे अधिकरणिए पादोसिए पारिताविए पाणातिवाइए[1] भूतोवघातिए तहप्पगारं मणं णो पधारेज्जा।[2] मणं परिजाणति से णिग्गंथे, जे य मणे अपावए[3] त्ति दोच्चा भावणा।

[३] अहावरा तच्चा भावणा-वइं परिजाणति से णिग्गंथे, जा य वई पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूतोवघातिया तहप्पगारं वइं णो उच्चारेज्जा। जे वइं परिजाणति से णिग्गंथे जा य वइ अपाविय त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा-आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिते से[4] णिग्गंथे, णो अणादाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिते। केवली बूया-आदाणभंडनिक्खेवणाअसमिते से णिग्गंथे पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणेज्ज वा जाव उद्दवेज्ज वा। तम्हा आयाणभंडणिक्खेवणासमिते से णिग्गंथे, णो अणादाणभंडणिक्खेवणासमिते[5] त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा-आलोइयपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणालोइयपाण भोयणभोई। केवली बूया-अणालोइयपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे पाणाणि[6] वा भूताणि वा जीवाणि वा सत्ताणि वा अभिहणेज्ज वा जाव उद्दवेज्ज वा। तम्हा आलोइयपाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणालोइयपाण-भोयणभोई त्ति पंचमा भावणा।

७७९. एत्ताव[7] ताव महव्वयं (ए) सम्मं काएण फासिते पालिते तीरिए किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराहिते यावि भवति। पढमे भंते! महव्वए पाणाइवातातो वेरमणं।

७७८. उस प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएं होती हैं—

(१) उसमें से पहली भावना यह है—निर्ग्रन्थ ईर्यासमिति से युक्त होता है, ईर्यासमिति से रहित नहीं। केवली भगवान् कहते हैं—ईर्यासमिति से रहित निर्ग्रन्थ प्राणी, भूत, जीव, और सत्त्व का हनन करता है, धूल आदि से ढकता है, दबा देता है, परिताप देता है, चिपका देता है, या पीड़ित करता है। इसलिए निर्ग्रन्थ ईर्यासमिति से युक्त होकर रहे, ईर्यासमिति से रहित हो कर नही। यह प्रथम भावना है।

(२) इसके पश्चात् दूसरी भावना यह है—मनको जो अच्छी तरह जानकर पापों से

---

१. 'पाणातिवाइए' के बदले पाठान्तर है—'पाणातिवाते', 'पाणातिवातं।'
२. 'पधारेज्जा' के बदले पाठान्तर है—'पहारेज्जा।'
३. 'अपाविय' के बदले पाठान्तर है—'पाविय' 'अपाविय।'
४. 'आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिते' के बदले पाठान्तर है—आयाणभंडनिक्खेवणासमिए।'
५. 'णो अणादाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिते' के बदले पाठान्तर है—"नो आयाणभंड निक्खेवणाअसमिए।"
६. 'पाणाणि' के बाद भूयाणि आदि के बदले इस प्रकार के पाठान्तर मिलते है—'पाणाणि वा सत्ताणि वा अभि...। पाणाइ वा जीवाणि वा अभिहणेज्ज...'।
७. 'एत्ताव ताव महव्वयं' के बदले पाठान्तर हैं—'एताव ताव महव्वए' 'एत्तावता महव्वतं।'

से हटाता है। जो मन पापकर्त्ता, सावद्य (पाप मे युक्त) है, क्रियाओं मे युक्त है कर्मों का आस्रवकारक है, छेदन-भेदनकारी है, क्लेश-द्वेषकारी है परितापकारक है। प्राणियों के प्राणों का अतिपात करने वाला और जीवों का उपघातक है। इसप्रकार के मन (मानसिक विचारों) को धारण (ग्रहण) न करे। मन को जो भलीभांति जान कर पापमय विचारों से दूर रखता है, वही निर्ग्रन्थ है। जिसका मन पापों (पापमय विचारों) मे रहित है,' (वह निर्ग्रन्थ है।) यह द्वितीय भावना है।

(४) इसके अनन्तर तृतीय भावना यह है-जो साधक वचन का स्वरूप भलीभांति जान कर सदोषवचनों का परित्याग करता है, वह निर्ग्रन्थ है। जो वचन पापकारी, सावद्य, क्रियाओं से युक्त, कर्मों का आस्रवजनक, छेदन-भेदनकर्ता, क्लेश-द्वेषकारी है, परितापकारक है, प्राणियों के प्राणों का अतिपात करने वाला और जीवों का उपघातक है; साधु इस प्रकार के वचन का उच्चारण न करे। जो वाणी के दोषों को भलीभांति जानकर सदोष वाणी का परित्याग करता है, वही निर्ग्रन्थ है। उसकी वाणी पापदोष रहित हो, यह तृतीय भावना है।

(४) तदनन्तर चौथी भावना यह है—जो आदानभाण्डमात्र निक्षेपण समिति से युक्त है, वह निर्ग्रन्थ है। केवली भगवान् कहते है—जो निर्ग्रन्थ आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणसमिति से रहित है, वह प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का अभिघात करता है, उन्हें आच्छादित कर देता है—दबा देता है, परिताप देता है, चिपका देता है या पीड़ा पहुंचाता है। इसलिए जो आदान-भाण्ड (मात्र) निक्षेपणा समिति से युक्त है, वही निर्ग्रन्थ है, जो आदानभाण्ड (मात्र) निक्षेपणा समिति से रहित है, वह नहीं। यह चतुर्थ भावना है।

(५) इसके पश्चात् पाँचवी भावना यह है—जो साधक आलोकित पान-भोजन-भोजी होता है, वह निर्ग्रन्थ होता है, अनालोकित-पान-भोजन-भोजी नहीं। केवली भगवान् कहते हैं—जो बिना देखे-भाले ही आहार-पानी सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का हनन करता है, यावत् उन्हें पीड़ा पहुंचाता है। अतः जो देखभाल कर आहार-पानी का सेवन करता है, वही निर्ग्रन्थ है, विना देखे-भाले आहार-पानी करने वाला नहीं। यह पंचम 'भावना' है।

७७९. इस प्रकार पंचभावनाओं से विशिष्ट तथा साधक द्वारा स्वीकृत प्राणातिपात विरमणरूप प्रथम महाव्रत का सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श करने पर, उसका पालन करने पर, गृहीत महाव्रत को भलीभांति पार लगाने पर, उसका कीर्तन करने पर, उसमें अवस्थित रहने पर, भगवदाज्ञा के अनुरूप आराधन हो जाता है।

हे भगवन्! यह प्राणातिपातविरमणरूप प्रथम महाव्रत है।

विवेचन—प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएं—प्रस्तुत सूत्र ७७८ में प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाओं का सांगोपांग निरूपण है। तथा सू० ७७९ में पांच भावनाओं से समन्वित प्रथम महाव्रत की सम्यक् आराधना कैसे हो सकती है? इसके लिए ५ क्रम बताए हैं—(१) स्पर्शना,

(२) पालना, (३) तीर्णता, (४) कीर्तना और (५) अवस्थितता।[1] सर्वप्रथम सम्यक् श्रद्धा-प्रतीति पूर्वक महाव्रत का ग्रहण करना स्पर्शना है, ग्रहण के बाद उसका शक्तिभर पालन करना उसका सुरक्षण करना पालना है। उसके पश्चात् जो महाव्रत स्वीकार कर लिया है, उसे अन्त तक पार लगाना, चाहे उसमें कितनी ही विघ्न-बाधाएँ, रुकावटें आएं, कितने ही भय या प्रलोभन आएँ, परन्तु कृत निश्चय से पीछे न हटना, जीवन के अन्तिमश्वास तक उसका पालन करना—तीर्ण होना है। साथ ही स्वीकृत महाव्रत का महत्त्व समझ कर उसकी प्रशंसा करना, दूसरों को उसकी विशेषता समझाना-कीर्तन करना है। कितने ही झंझावात आएं, भय या प्रलोभन आएं गृहीत महाव्रत में डटा रहे, विचलित न हो—यह अवस्थितता है।

भावना क्या और किसलिए—चूर्णिकार ने विवेचन करते हुए कहा है-आत्मा को उन प्रशस्त भावों से भावित करना भावना है। जैसे शिलाजीत के साथ लोहरसायन की भावना दी जाती है, कोद्रव की विष के साथ भावना दी जाती है, इसीप्रकार ये भावनाएँ हैं। ये चारित्र भावनाएं हैं। महाव्रतों के गुणों में वृद्धि करने हेतु ये भावनाएं बताई गई है।[2]

प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएं प्रस्तुत में संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) ईर्यासमिति से युक्त होना, (२) मन को सम्यक् दिशा में प्रयुक्त करना, (३) भाषा समिति या वचनगुप्ति का पालन करना, (४) आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपणासमिति का पालन करना और (५) अवलोकन करके आहार-पानी करना। समवायांग सूत्र में इसी क्रम से प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएँ बताई गई हैं-"पुरिमपच्छिमगाणं तित्थगराणं पंचजामस्स पणवीसं भावणाओ पण्णत्ताओ, तंजहा-'इरिया-समिई, मणगुत्ती, वयगुत्ती, आलोयभायणभोयणं, आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई।"[3]

आवश्यक सूत्र चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन में पाँच भाववाओं का इस प्रकार का क्रम मिलता है—"इरियासमिए[1] सया जते, उवेह[2] भुंजेज्ज य पाणभोयणं।

आदाणनिक्खेव[3] दुगुंछ संजते, समाधिते संजमती[4] मणो-वयी[5] ॥१॥"[4]

आचारांगचूर्णिकार ने पाँचों महाव्रतों में से प्रत्येक की क्रमशः पांच-पांच भावनाएँ बताई हैं। वह पाठ वृत्तिकार शीलाचार्य सम्मत पाठ से कुछ भिन्नता रखता है। चूर्णिकार सम्मत क्रम इस प्रकार है—(१) ईयसमिति युक्त हो, (२) आलोकित पान-भोजन-भोजी,

---

१. चूर्णिकार सम्मत पाठ में प्रथम महाव्रत की सम्यक् आराधना के लिए कुछ अतिरिक्त पाठ भी है—'इच्चेतहिं पंचहिं भावणाहिं पढमं महव्वतं अहासुतं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासितं पालितं सोभितं तीरितं किट्टितं आराहितं आणाए अणुपालितं भवति।"—इन पांच भावनाओं से *प्रथम महाव्रत यथासूत्र यथाकल्प यथामार्ग यथातथ्य* रूप में *काया से* सम्यक् स्पर्शित, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित अनुपालित होने पर आज्ञा से आराधित हो जाता है।—सं०

२. 'आचारांग चूर्णि मू० पा० टि पृ० २७८'—तम्हा वुत्ते पढममहव्वए। तस्य उपबृंघनार्थं. भावना-दर्शना। भावनाचोक्ता। चारित्रस्य भावनेयमुपदिष्ट्यते। भावयतीति भावना, यथा शिलाजतोः आयसं भावनं, विषस्य कोद्रवा। सिद्धार्थ····गाहा। एवं इमाभावना।'

४. समवायांग सूत्र   ५. आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन पृ०—१४३

(३) आदान-भाण्ड-मात्रनिक्षेपणासमिति से युक्त हो, (४; मनःसमिति से युक्त हो, (५) वचन समिति से युक्त हो।[1]

तत्त्वार्थ सूत्र में अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है–१. वचन-गुप्ति, २. मनोगुप्ति, ३. ईर्यासमिति, ४. आदान निक्षेपण समिति और ५. आलोकित पान-भोजन।[2]

द्वितीय महाव्रत और उसकी पाँच भावना

७८०.[3] अहावरं दोच्चं [भंते !] महव्वयं पच्चक्खामि[4] सव्वं मुसावायं वइदोसं। से कोहा वा लोभा वा भया वा हासा वा णेव सयं मुसं भासेज्जा, णेवऽण्णेणं मुसं भासावेज्जा अण्णंपि मुसं भासंतं ण समणुजाणेज्जा[5] तिविहं तिविहेणं[6] मणसा वयसा[7] कायसा। तस्स भंते ! पडिक्कमामि जाव वोसिरामि।

७८१. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति -

[१] तत्थिमा पढमा भावणा अणुवीयि[8] भासी से णिग्गंथे, णो अणणुवीयि भासी। केवली बूया-अणणुवीयि भासी से णिग्गंथे समावज्जेज्ज मोसं वयणाए। अणुवीयि भासी से निग्गंथे, णो अणणुवीयि भासि त्ति पढमा भावणा।

[२] अहावरा दोच्चा भावणा- कोधं परिजाणति से निग्गंथे, णो कोधणे सिया। केवली बूया-कोधपत्ते[9] कोही समावदेज्जा मोसं वयणाए। कोधं परिजाणति से निग्गंथे, णो य कोह-णाए[10] सि [य] त्ति दोच्चा भावणा।

[३] अहावरा तच्चा भावणा -लोभं परिजाणति से णिग्गंथे, णो य लोभणाए[11] सिया। केवली बूया-लोभपत्ते लोभी समावदेज्जा मोसं वयणाए। लोभं परिजाणति से णिग्गंथे, णो य लोभणाए सि [य] त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा–भयं परिजाणति से निग्गंथे, णो य भयभीरुए सिया।

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २७९····'ईरियासमिए से निग्गंथे···', आलोइय पाण भोयणभोयी से निग्गंथे···आदाण-भंडमत्त-निक्खेवणासमिए से निग्गंथे···', मणसमिए से निग्गंथे····वइसमिऐ से निग्गंथे···।'
२. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकित-पान-भोजनानि पंच।—तत्वार्थ० अ० ७/४ मू० आ० ३३७
३. दशवैकालिक सूत्र ३-४ के पाठ से तुलना कीजिए।
४. 'पच्चक्खामि' के बदले पाठान्तर है—'पच्चाइक्खामि।'
५. 'समणुजाणेज्जा' के बदले पाठान्तर है—'समणुमन्ने।'
६. 'तिविहेण' के बदले 'तिविहं' पाठान्तर है।
७. 'वयसा' के बदले पाठान्तर है—'वायसा'
८. 'अणुवीयि' के बदले पाठान्तर है—'अणुवीयी।' अर्थ समान है।
९. 'कोधपत्ते' के बदले पाठान्तर है—'कोधंपत्ते'
१०. 'कोहणाहे' के बदले पाठान्तर है—'कोहणए'
११. 'लोभणाए' के बदले पाठान्तर है—'लोभणए।'

केवली बूया—भयपत्ते भीरू समावदेज्जा मोसं वयणाए । भयं परिजाणति से निग्गंथे, णो य भयभीरुए सिया, चउत्था भावणा ।

[५] अहावरा पंचमा भावणा-हासं परिजाणति से निग्गंथे, णो[1] य हासणाए सिया । केवली बूया—हासपत्ते हासी समावदेज्जा मोसं वयणाए । हासं परिजाणति से णिग्गंथे, णो य हासणाए सिय त्ति पंचमा भावणा ।

७८२ एताव[2] ताव [दोच्चे] महव्वए सम्मं काएणं फासिते जाव आणाए आराहिते यावि भवति ।

दोच्चं भंते ! महव्वयं [मुसावायातो वेरमणं] ।

७८०. इसके पश्चात् भगवन् ! मैं द्वितीय महाव्रत स्वीकार करता हूँ । आज मैं सब प्रकार से मृषावाद (असत्य) और सदोष-वचन का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूं । (इस सत्य महाव्रत के पालन के लिए) साधु क्रोध से, लोभ से, भय से या हास्य से न तो स्वयं मृषा (असत्य) बोले, न ही अन्य व्यक्ति से असत्य भाषण कराए और जो व्यक्ति असत्य बोलता है, उसका अनुमोदन भी न करे । इस प्रकार तीन करणों से तथा मन-वचन-काया, इन तीनों योगों से मृषावाद का सर्वथा त्याग करे । इस प्रकार मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत स्वीकार करके हे भगवन् ! मैं पूर्वकृत मृषावाद रूप पाप का प्रतिक्रमण करता हूं, आलोचना करता हूं, आत्मनिन्दा करता हूं. गरुसाक्षी से गर्हा करता हूं, और अपनी आत्मा से मृषावाद का सर्वथा व्युत्सर्ग (पृथक्करण) करता हूँ ।

७८१. उस द्वितीय महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

[१] उन पांचों में से पहली भावना इस प्रकार है—वक्तव्य के अनुरूप चिन्तन करके बोलता है, वह निर्ग्रन्थ है, विना चिन्तन किये बोलता है, वह निर्ग्रन्थ नहीं । केवली भगवान् कहते हैं—विना विचारे बोलने वाले निर्ग्रन्थ को मिथ्याभाषण का दोष लगता है । अतः वक्तव्य विषय के अनुरूप चिन्तन करके बोलनेवाला साधक ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है, विना चिन्तन किये बोलने वाला नहीं । यह प्रथम भावना है ।

[२] इसके पश्चात् दूसरी भावना इस प्रकार है—क्रोध का कटुफल जानकर उसका परित्याग कर देता है, वह निर्ग्रन्थ है । इसलिए साधु को क्रोधी नहीं होना चाहिए । केवली भगवान् कहते हैं—क्रोध आने पर क्रोधी व्यक्ति आवेशवश असत्य वचन का प्रयोग कर देता है । अत: जो साधक क्रोध का अनिष्ट स्वरूप जानकर उसका परित्याग कर देता है, वही निर्ग्रन्थ कहला सकता है, क्रोधी नहीं । यही द्वितीय भावना है ।

---

१. 'णो य हासणाए' के बदले पाठान्तर है—'णो य भासणाए', 'णो भासणाए ।'

२. एताव ताव (दोच्चे) महव्वए के बदले पाठान्तर हैं—'एतावत्ताव महव्वए', 'एतावता महव्वए' 'एताव महव्वए'' एताव ताव महव्वए, अर्थ प्रायः समान है ।

[३] तदनन्तर तृतीय भावना यह है—जो साधक लोभ का दुष्परिणाम जानकर उसका परित्याग कर देता है, वह निर्ग्रन्थ है; अतः साधु लोभग्रस्त न हो। केवली भगवान् का कथन है कि लोभ प्राप्त व्यक्ति लोभावेशवश असत्य बोल देता है। अतः जो साधक लोभ का अनिष्ट स्वरूप जानकर उसका परित्याग कर देता है, वही निर्ग्रन्थ हैं, लोभाविष्ट नहीं। यह है—तीसरी भावना।

[४] इसके बाद चौथी भावना यह है—जो साधक भय का दुष्फल जानकर उसका परित्याग कर देता है, वह निर्ग्रन्थ है। अतः साधक को भयभीत नहीं होना चाहिए। केवली भगवान का कहना है—भय-प्राप्त भीरू व्यक्ति भयाविष्ट होकर असत्य बोल देता है। अतः जो साधक भय का यथार्थ अनिष्ट स्वरूप जानकर उसका परित्याग देता है, वही निर्ग्रन्थ है, न कि भयभीत। यह चौथी भावना है।

(५) इसके अनन्तर पाँचवीं भावना यह है—जो साधक हास्य के अनिष्ट परिणाम को जानकर उसका परित्याग कर देता है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है, अतएव निर्ग्रन्थ को हंसोड़ नहीं होना चाहिए अर्थात् हंसी-मजाक करने वाला न हो। केवली भगवान् का कथन है—हास्यवश हंसी करनेवाला व्यक्ति असत्य भी बोल देता है। इसलिए जो मुनि हास्य का अनिष्ट स्वरूप जानकर उसका त्याग कर देता है, वह निर्ग्रन्थ है, न कि हंसी-मजाक करने वाला! यह पांचवीं भावना है।

७८२. इस प्रकार इन पंच भावनाओं से विशिष्ट तथा साधक द्वारा स्वीकृत मृषावाद-विरमणरूप द्वितीय सत्यमहाव्रत का काया से सम्यक्स्पर्श (आचरण) करने, उसका पालन करने, गृहीत महाव्रत को भलीभाँति पार लगाने, उसका कीर्तन करने एवं उसमें अन्त तक अवस्थित रहने पर भगवदाज्ञा के अनुरूप आराधन हो जाता है। भगवन्! मृषावादविरमण-रूप द्वितीय महाव्रत है।

विवेचन—**द्वितीय महाव्रत की प्रतिज्ञा तथा उसकी पंच भावनाएं**—प्रस्तुत सूत्रत्रय में तीन बातों का मुख्यतया उल्लेख किया गया है—(१) पहले सूत्र में—द्वितीय महाव्रत की प्रतिज्ञा का स्वरूप, (२) दूसरे में—पाँच विभाग करके उसकी पांच भावनाओं का क्रमशः वर्णन, और (३) तीसरे में—उसकी सम्यक् आराधना का उपाय।

प्रतिज्ञा का स्वरूप और उसकी व्याख्या पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। पांच-भावनाओं का महत्त्व भी पूर्ववत् हृदयंगम कर लेना चाहिए। सत्य-महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार हैं—(१) वक्तव्यानुरूप चिन्तनपूर्वक बोले, (२) क्रोध का परित्याग करे, (३) लोभ का परित्याग करे, (४) भय का परित्याग करे, और (५) हास्य का परित्याग करे।[1]

चूर्णिकार ने प्राचीन पाठ परम्परा का कुछ भिन्न एवं भिन्नक्रम का, किन्तु इसी आशय का पाठ प्रस्तुत किया है। तदनुसार संक्षेप में पंच भावनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) हास्य

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २८४।

का परित्याग, (२) अनुरूप चिन्तनपूर्वक भाषण, (३) क्रोध का परित्याग, (४) लोभ का परित्याग, और (५) भय का परित्याग।[1]

आवश्यक चूर्णि में भावनाओं का क्रम इस प्रकार है—[2]

'अहस्ससच्चे अणुवीयि भासए, जे कोह-लोह-भय-मेव वज्जए।
से दीहरायं समुपेहिया सिया, मुणी हु मोसं परिवज्जए सिया ॥२॥

तत्त्वार्थ सूत्र में सत्य महाव्रत की पंच भावनाएं यों हैं—क्रोध, लोभ, भीरुत्व एवं हास्य का प्रत्याख्यान और अनुवीचीभाषण।[3] इसीप्रकार समवायांगसूत्र में इसी आशय की ५ भावनाएं निर्दिष्ट हैं।[4]

'अणुवीयिभासी' आदि पदों की व्याख्या—अणुवीयिभासी का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—जो कुछ बोलना है या जिसके सम्बन्ध में कुछ कहना है, पहले उसके सन्दर्भ में उसके अनुरूप विचार करके बोलना। बिना सोचे विचारे यों ही सहसा कुछ बोल देने या किसी विषय में कुछ कह देने से अनेक अनर्थों की सम्भावना है। बोलने से पूर्व उसके इष्टानिष्ट, हानि-लाभ, हिताहित-परिणाम का भलीभांति विचार करना आवश्यक है। चूर्णिकार 'अणुवीयिभासी' का अर्थ करते हैं—'पुव्वं बुद्धीए पासित्ता' अर्थात्—पहले अपनी निर्मल व तटस्थ बुद्धि से निरीक्षण करके, फिर बोलने वाला। अनुवीचीभाषण का अर्थ तत्त्वार्थसूत्रकार करते हैं—निरवद्य-निर्दोष भाषण। इसीप्रकार क्रोधान्ध, लोभान्ध और भयभीत व्यक्ति भी आवेश में आकर कुछ का कुछ अथवा लक्ष्य से विपरीत कह देता है। अतः ऐसा करने से असत्य-दोष की सम्भावना है। हंसी-मजाक में मनुष्य प्रायः असत्य बोल जाया करता है। वैसे भी किसी की हंसी उड़ाना, कलह, परिताप, असत्य, क्लेश आदि अनेक अनर्थों का कारण हो जाता है।[5] चूर्णिकार कहते हैं—क्रोध में व्यक्ति पुत्र को अपुत्र कह देता है, लोभी भी कार्य-अकार्य का अनभिज्ञ होकर मिथ्या बोल देता है, भयशील भी भयवश अचोर को चोर कह देता है। द्वितीय महाव्रत की सम्यक् आराधना के लिए भी वही पूर्वोक्त चूर्णिसम्मत पाठ और उसका आशय पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।[6]

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८०—'''हासं परियाणति से निग्गंथे'''अणुवीइभासए से निग्गंथे'''कोधं परियाणति से निग्गंथे''', लोभं परियाणति से निग्गंथे'''भयं परियाणति से निग्गंथे'''।'

२. आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाऽध्ययन पृ० १४३-१४७।

३. ''क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीची भाषणं च पंच।'' —तत्त्वार्थ० ७/५

४. अनुवीति भासणया, कोहविवेगे, लोभविवेगे, भयविवेगे, हासविवेगे। —समवायांग सूत्र

५. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२८
(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८३
(ग) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि टीका ७/४—अनुवीचीभाषणं—निरवद्यानुभाषणमित्यर्थः।

६. चूर्णिकार सम्मत सम्यगाराधना के उपाय के सम्बन्ध में पाठ देखिये —आचारांग चूर्णि मू. पा. टि. पृ. २८०-८१

तृतीय महाव्रत और उसकी पाँच भावना

७८३. अहावरं तच्चं [भंते !] महव्वयं 'पच्चाइक्खामि[1] सव्वं अदिण्णादाणं। से गामे वा नगरे वा अरण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं[2] वा अचित्तमंतं वा णेव सयं अदिण्णं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णं[3] अदिण्णं गेण्हावेज्जा, अण्णं पि अदिण्णं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए[4] जाव वोसिरामि'।

७८४. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

[१] तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीयि मितोग्गहजाई[5] से निग्गंथे, णो अणणुवीयि मितोग्गहजाई से णिग्गंथे। केवली बूया-अणणुवीयि[6] मितोग्गहजाई से णिग्गंथे अदिण्णं गेण्हेज्जा। अणुवीयि मितोग्गहजाई से निग्गंथे, णो अणणुवीयि मितोग्गहजाइ त्ति पढमा भावणा।

[२] अहावरा दोच्चा भावणा-अणुण्णविय पाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणणुण्णविय पाण-भोयणभोई। केवली बूया[7]-अणणुण्णविय पाण-भोयणभोई से णिग्गंथे अदिण्णं भुंजेज्जा। तम्हा अणुण्णविय पाण-भोयणभोई से णिग्गंथे, णो अणणुण्णविय पाण-भोयणभोई त्ति दोच्चा भावणा।

(३] अहावरा तच्चा भावणा-णिग्गंथे णं उग्गहंसि[8] उग्गहियंसि एत्ताव ताव उग्गहणसीलए सिया। केवली बूया निग्गंथे णं उग्गहंसि उग्गहियंसि एत्ताव ताव अणोग्गहणसीलो अदिण्णं ओगिण्हेज्जा, निग्गंथे णं उग्गहंसि उग्गहियंसि[9] एत्ताव ताव उग्गहणसीलए[10] सिय त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा-निग्गंथे णं उग्गहंसि उग्गहितंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया।[11]

---

१. 'पच्चक्खामि' के बदले पाठान्तर है— 'पच्चक्खाइस्सामि' अर्थ होता है—"प्रत्याख्यान (त्याग) करूँगा।
२. 'चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा' के बदले पाठान्तर है—चित्तमंतमचित्तं वा।"—दशवैकालिक सूत्र में भी 'चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा' पाठ है, अ–४ में देखें।
३. 'णेवऽण्णं' के बदले पाठान्तर है—णेवण्णेहिं।
४. 'जावज्जीवाए जाव वोसिरामि' के बदले किसी-किसी प्रति में—'जावज्जीवाए' तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएण वोसिरामि" पाठ है।'
५. 'अणुवीयि मितोग्गहजाई' के बदले पाठान्तर है—अणुवीति मितोग्गहजाई, अणुवीयिमिउग्गहजाई, अणुवीयिमित्तोग्गहजाती।'
६. 'अणणुवीयि' के बदले—'अणणुवीयी' अणणुवीयि मित्तो···पाठान्तर है।
७. 'केवली बूया' के बदले पाठान्तर है—'केवली बूया-आयाणमेयं'
८. 'उग्गहंसि' के बदले पाठान्तर है 'उग्गहंसित्ता'—अवग्रह ग्रहण करके।
९. किसी-किसी प्रति में 'उग्गहियंसि' पाठ नहीं है।
१०. 'एत्ताव ताव' के बदले पाठान्तर है—'एत्ता (ता) वता।'
११. 'उग्गहणसीलए सिया' के बदले पाठान्तर है—उग्गहणसीलए जाव सिया उग्गहणसीले सिया'

केवली बूया-णिग्गंथे णं उग्गहंसि उग्गहितंसि अभिक्खणं २ अणोग्गहणसीले अदिण्णं गिण्हेज्जा, निग्गंथे उग्गहंसि उग्गहितंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए[1] सिय त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा-अणुवीयि मितोग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु, णो अणणुवीयि मितोग्गहजाई। केवली बूया—अणणुवीइ मितोग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु अदिण्णं ओगिण्हेज्जा। से अणुवीयि मितोग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु, णो अणणुवीयि मितोग्गहजाइ त्ति पंचमा भावणा।

७८५. एत्ताव[2] ताव [तच्चे] महव्वते सम्मं[3] जाव आणाए आराहिए यावि भवति।

तच्चं भंते! महव्वयं [अदिण्णादाणातो वेरमणं]।

७८३. "भगवन्! इसके पश्चात् अब मैं तृतीय महाव्रत स्वीकार करता हूं, इसके सन्दर्भ में मैं सब प्रकार से अदत्तादान का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। वह इस प्रकार— वह (ग्राह्य पदार्थ) चाहे गाँव में हो, नगर में हो, अरण्य में हो, थोड़ा हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल (छोटा हो या बड़ा), सचेतन हो या अचेतन; उसे उसके स्वामी के बिना दिये न तो स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरे से (बिना दिये पदार्थ) ग्रहण कराऊंगा, और न ही अदत्त-ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन-समर्थन करूंगा, यावज्जीवन तक, तीन करणों से तथा मन-वचन-काया, इन तीन योगों से यह प्रतिज्ञा करता हूँ। साथ ही मैं पूर्वकृत अदत्तादानरूप पाप का प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मनिन्दा करता हूं, गुरु की साक्षी से उसकी 'गर्हा' करता हूँ और अपनी आत्मा से अदत्तादान पाप का व्युत्सर्ग करता हूं।

७८४. उस तीसरे महाव्रत की ये ५ भावनाएँ हैं—

(१) उन पांचों में से प्रथम भावना इसप्रकार है—जो साधक पहले विचार करके परिमित अवग्रह की याचना करता है, वह निर्ग्रन्थ है, किन्तु विना विचार किये परिमित अवग्रह की याचना करनेवाला नहीं। केवली भगवान् कहते हैं—जो विना विचार किये मितावग्रह की याचना करता है, वह निर्ग्रन्थ अदत्त ग्रहण करता है। अतः तदनुरूप चिन्तन करके परिमित अवग्रह की याचना करनेवाला साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है, न कि विना विचार किये मर्यादित अवग्रह की याचना करने वाला। इस प्रकार यह प्रथम भावना है।

(२) इसके अनन्तर दूसरी भावना यह है—गुरुजनों की अनुज्ञा लेकर आहार-पानी आदि सेवन करनेवाला निर्ग्रन्थ होता है, अनुज्ञा लिये विना आहार-पानी आदि का उपभोग करने वाला नहीं। केवली भगवान् कहते हैं कि जो निर्ग्रन्थ गुरु आदि की अनुज्ञा प्राप्त किये

---

१. 'उग्गहणसीलए सियत्ति' के बदले पाठान्तर है—'उग्गहणसीलए यत्ति, उग्गहणसीलए अत्ति, उग्गहणसीलए सित्ति।'

२. 'एत्ताव ताव' महव्वते, के वदले पाठान्तर हैं—'एत्ताव महव्वते', एत्तावया महव्वते'

३. 'सम्मं' के वदले पाठान्तर है—'संजमं'

बिना पान-भोजनादि का उपभोग करता है, वह अदत्तादान का सेवन करता है। इसलिए जो साधक गुरु आदि की अनुज्ञा प्राप्त करके आहार-पानी आदि का उपभोग करता है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है, अनुज्ञाग्रहण किये बिना आहार-पानी आदि का सेवन करने वाला नहीं। यह है—दूसरी भावना।

(३) अब तृतीय भावना का स्वरूप इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ साधु को क्षेत्र और काल के (इतना-इतना इस प्रकार के) प्रमाणपूर्वक अवग्रह की याचना करना चाहिए। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ इतने क्षेत्र और इतने काल की मर्यादापूर्वक अवग्रह की अनुज्ञा (याचना) ग्रहण नहीं करता, वह अदत्त का ग्रहण करता है। अतः निर्ग्रन्थ साधु क्षेत्र काल की मर्यादा खोल कर अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करने वाला होता है, अन्यथा नहीं। यह तृतीय भावना है।

(४) इसके अनन्तर चौथी भावना यह है—निर्ग्रन्थ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करने के पश्चात् बार-बार अवग्रह अनुज्ञा-ग्रहणशील होना चाहिए। क्योंकि केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर बार-बार अवग्रह की अनुज्ञा नहीं लेता, वह अदत्तादान दोष का भागी होता है। अतः निर्ग्रन्थ को एक बार अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर भी पुनः पुनः अवग्रहानुज्ञा ग्रहणशील होना चाहिए। यह चौथी भावना है।

(५) इसके पश्चात् पांचवीं भावना इसप्रकार है—जो साधक सार्धमिकों से भी विचार करके मर्यादित अवग्रह की याचना करता है, वह निर्ग्रन्थ है, बिना विचारे परिमित अवग्रह की याचना करने वाला नहीं। केवली भगवान् का कथन है—बिना विचार किये जो सार्धमिकों से परिमित अवग्रह की याचना करता है, उसे साधार्मिकों का अदत्त ग्रहण करने का दोष लगता है। अतः जो साधक सार्धमिकों से भी विचारपूर्वक मर्यादित अवग्रह की याचना करता है, वही निर्ग्रन्थ कहलाता है, बिना विचारे सार्धमिकों से मर्यादित अवग्रहयाचक नहीं। इसप्रकार की पंचम भावना है।

७८५. इस प्रकार पंच भावनाओं से विशिष्ट एवं स्वीकृत अदत्तादान-विरमणरूप तृतीय महाव्रत का सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्श करने, उसका पालन करने, गृहीत महाव्रत को भलीभाँति पार लगाने, उसका कीर्तन करने तथा उसमें अन्त तक अवस्थित रहने पर भगवदाज्ञा के अनुरूप सम्यक् आराधन हो जाता है।

भगवन्! यह अदत्तादान-विरमणरूप तृतीय महाव्रत है।

विवेचन—**तृतीय महाव्रत की प्रतिज्ञा और उसकी पाँच भावनाएँ**—प्रस्तुत सूत्रत्रय में पूर्ववत् उन्हीं तीन बातों का उल्लेख तृतीय महाव्रत के सम्बन्ध में किया गया है—(१) तृतीय महाव्रत की प्रतिज्ञा का रूप, (२) तृतीय महाव्रत की पांच भावनाएँ और (३) उसके सम्यक् आराधन का उपाय। इन तीनों का विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।[1]

---

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २८४-२८५-२८६

अन्य शास्त्रों में भी पांच भावनाओं का उल्लेख—समवायांग सूत्र में इस महाव्रत की पंच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है—(१) अवग्रह की बारबार याचना करना, (२) अवग्रह की सीमा जानना, (३) स्वयं अवग्रह की बार-बार याचना करना, (४) साधर्मिकों के अवग्रह का अनुज्ञाग्रहण पूर्वक परिभोग करना, और (५) सर्वसाधारण आहार-पानी का गुरुजनों आदि की अनुज्ञा ग्रहण करके परिभोग करना।[1]

आचारांग चूर्णि सम्मत पाठ के अनुसार पंच भावनाएं इस प्रकार हैं—(१) यथायोग्य विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करे, (२) अवग्रह-अनुज्ञा-ग्रहणशील हो, (३) अवग्रह की क्षेत्र काल सम्बन्धी जो भी मर्यादा ग्रहण की हो, उसका उल्लंघन न करे, (४) गुरुजनों की अनुज्ञा ग्रहण करके आहारपानी आदि का उपभोग करे, (५) साधर्मिकों से भी विचारपूर्वक अवग्रह की याचना करे।[2]

आवश्यक चूर्णि सम्मत पंच भावना का क्रम यों है—(१) स्वयं बारबार अवग्रह याचना करे, (२) विचार-पूर्वक मर्यादित अवग्रह-याचना करे, (३) अवग्रह की गृहीत सीमा का उल्लंघन न करे (४) गुरु आदि से अनुज्ञा ग्रहण करके आहार-पानी का सेवन करे, (५) साधर्मिकों से अवग्रह की याचना करे।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में भी इस महाव्रत की पंचभावनाएं इस प्रकार बताई गई हैं—(१) शून्यागारावास, (२) विमोचितावास, (३) परोपरोधकरण, (४) भैक्षशुद्धि और (५) सधर्माविसंवाद। पर्वत की गुफा और वृक्ष का कोटर आदि शून्यागार हैं, इनमें रहना शून्यागारावास है। दूसरों द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना विमोचितावास है। दूसरों को ठहरने से नही रोकना परोपरोधाकरण है। आचारशास्त्र में बतलाई हुई विधि के अनुसार भिक्षा लेना भैक्षशुद्धि है। 'यह मेरा है, यह तेरा है', इस प्रकार साधर्मिकों से विसंवाद न करना सधर्माविसंवाद है। ये अदत्तादानविरमणव्रत की पांच भावनाएँ हैं।[4]

अदत्तादान-विरमणव्रत की पंच भावनाओं की उपयोगिता—चूर्णिकार के अनुसार—अदत्तादान विरमणमहाव्रत की सुरक्षा के लिए एवं अदत्तादानग्रहण न करने के उद्देश्य से ये भावनाएँ

---

१. समवायांग (सम० २५) का पाठ—१. 'उग्गहअणुण्णवया, २. उग्गहसीमजाणणया, ३. सयमेव उग्गहं अणुगिण्हणया ४. साहम्मिय उग्गहं अणुण्णविय परिभुंजणया, ५. साहारणभत्तपाणं अणुण्णविय परिभुंजणया।

२. ...आगंतारेसु ४ अणुवीई उग्गहं जाएज्जा से निग्गंथे, ...उग्गहणसीलए से निग्गंथे....णो निग्गंथे एत्ताव ताव उग्गहे, एत्ताव ताव आत्तमणसंकप्पे...अणुण्णविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे.... से आगंतारेसु व ४ ओग्गहजायी से निग्गंथे साधम्मिएसु...।

—आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८०

३. सयमेव अ उग्गहजायणे घड़े, मतियं णिसम्म सतिभिक्खु ओग्गहं।
अणुण्णविय भुंजिज्ज पाणभोयणं, जाइत्ता साहिम्मियाण उग्गहं॥ ३॥

—आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन १४३-१४७

४. "शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्षशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पंच।"

तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ७१६

निरूपित की गई हैं। यात्रीशालाओं आदि में ठहरते समय क्षेत्र-काल की मर्यादा का विचार करके उनके स्वासी या स्वामी द्वारा नियुक्त अधिकारी से अवग्रह की याचना करे, सदा अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहणशील साधक घास, ढेला, राख, सकोरा, उच्चार के स्थान आदि अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण करके प्राप्त करता है। जितने अवग्रह की अनुज्ञा ली हो, उतना ही कल्पनीय होता है। संघाड़े के साधुओं आदि से अनुज्ञा लेकर वस्तुओं का रत्नाधिक (छोटे-बड़े) क्रम के अनुसार उपभोग करे, गमनादि करे। सार्धर्मिकों से अवग्रह-याचना करके वहाँ ठहरे, शयनादि करे।[1]

चतुर्थ महाव्रत और उसकी पांच भावनाएं—

७८६. अहावरं चउत्थं (भंते!) महव्वयं 'पच्चक्खामि[2] सव्वं मेहुणं। से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा णेव सयं मेहुणं गच्छे (ज्जा), तं चेव, अदिण्णादाणवत्तव्वया भाणितव्वा जाव वोसिरामि'।

७८७. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

(१) तत्थिमा पढमा भावणा—णो णिग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं[3] कहं कहइत्तए सिया। केवली बूया—निग्गंथे णं अभिक्खणं[4] २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेदा संतिविभंगा सति-केवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा। णो[5] निग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेइ[6] (त्तए) सिय त्ति पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं२[7] इंदियाइं आलोइत्तए णिज्झाइत्तए सिया। केवली बूया—निग्गंथे णं (इत्थीणं) मणोहराइं २ इंदियाइं आलोएमाणे णिज्झाएमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव धम्मातो भंसेज्जा, णो णिग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए णिज्झाइत्तए सिय त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया। केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेदा जाव विभंगा जाव[8] भंसेज्जा। णो णिग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सिय ति तच्चा भावणा।

---

१. आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८५
२. 'पच्चक्खामि' के बदले पाठान्तर है—"पच्चाइक्खामि'।"
३. 'इथीणं कहंकहइत्तए' के बदले पाठान्तर है—"इत्थीकधंकहइत्तए, इत्थीणं कहंकहत्तिए।'
४. किसी-किसी प्रति में 'अभिक्खणं' पद नहीं है।
५ णो णिग्गंथे......सियत्ति' पाठ के स्थान पर पाठान्तर है—तम्हा णो निग्गंथे इत्थिीणं कहं कहेज्जा।"
६. 'कहइ(त्तए) सियत्ति' के बदले पाठान्तर है—कहे सिय....'कहेइ सिय त्ति बेमि पढमा।"
७. मणोहराइं के आगे २ का अंक मणोरमाइं पद का सूचक है।
८. जाव भंसेज्जा के बदले पाठान्तर हैं—'जाव भासेज्जा, 'जाव आभंसेज्ज जा भंसेज्जा।"

(४) अहावरा चउत्था भावणा—णातिमत्तपाण-भोयणभोई से निग्गंथे, णो पणीयरस-भोयणभोइ । केवली बूया—अतिमत्तपाण-भोयणभोई से निग्गंथे पणीयरसभोयणभोइ त्ति संतिभेदा जाव भंसेज्जा । णातिमत्तपाण[1]-भोयणभोई से निग्गंथे, णो पणीतरस भोयणभोइ त्ति चउत्था भावणा ।

(५) अहावरा पंचमा भावणा—णो णिग्गंथे इत्थी-पसु-पंडगसंसत्ताइं सयणा-ऽऽसणाइं सेवित्तए सिया । केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थी-पसु-पंडगसंसत्ताइं सयणा-ऽऽसणाइं सेवेमाणे[2] संतिभेदा जाव भंसेज्जा । णो णिग्गंथे इत्थी-पसु-पंडगसंसत्ताइं सयणा-ऽऽसणाइं सेवित्तए सिय त्ति पंचमा भावणा ।

७८८. एत्ताव ताव महव्वए सम्मं काएण जाव आराधिते यावि भवति ।

चउत्थं भंते ! महव्वयं (मेहुणातो वेरमणं) ।

७८६. इसके पश्चात् भगवन् ! मैं चतुर्थ महाव्रत स्वीकार करता हूँ, इसके सन्दर्भ में समस्त प्रकार के मैथुन-विषय सेवन का प्रत्याख्यान करता हूँ । देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यञ्च-सम्बन्धी मैथुन का स्वयं सेवन नहीं करूंगा, न दूसरे से एतत् सम्बन्धी मैथुन-सेवन कराऊंगा, और न ही मैथुन सेवन करनेवाले का अनुमोदन करूंगा । शेष समस्त वर्णन अदत्तादान-विरमण महाव्रत विषयक प्रकरण के—'आत्मा से अदत्तादान-पाप का व्युत्सर्ग करता हूँ', तक के पाठ के अनुसार समझ लेना चाहिए ।

७८७. उस चतुर्थ महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं—

[१] उन पांचों भावनाओं में पहली भावना इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ साधु बार-बार स्त्रियों की काम-जनक कथा (बातचीत) न कहे । केवली भगवान् कहते हैं—बार-बार स्त्रियों की कथा कहनेवाला निर्ग्रन्थ साधु शान्तिरूप चारित्र का और शान्तिरूप ब्रह्मचर्य का भंग करनेवाला होता है, तथा शान्तिरूप केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है । अतः निर्ग्रन्थ साधु को स्त्रियों की कथा बार-बार नहीं करनी चाहिए । यह प्रथम भावना है ।

[२] इसके पश्चात् दूसरी भावना यह है—निर्ग्रन्थ साधु काम-राग से स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को सामान्य रूप से या विशेषरूप से न देखे । केवली भगवान् कहते हैं—स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को कामराग-पूर्वक सामान्य या विशेष रूप से अवलोकन करने वाला साधु शान्तिरूप चारित्र का नाश तथा शान्तिरूप ब्रह्मचर्य का भंग करता है, तथा शान्तिरूप केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है । अतः निर्ग्रन्थ को स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों का कामरागपूर्वक सामान्य अथवा विशेष रूप से अवलोकन नहीं करना चाहिए । यह दूसरी भावना है ।

---

१. 'णातिमत्तपाण·····' के बदले पाठान्तर है, —'णो अतिमत्तपाण ·····' णो अतिमत्तपाणभोयणभोती ।

२. सेवेमाणे' के बदले पाठान्तर है—सेवमाणे

[३] इसके अनन्तर तीसरी भावना इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियों के साथ की हुई पूर्वरति (पूर्वाश्रम में की हुई) एवं पूर्व कामक्रीड़ा का स्मरण न करे। केवली भगवान् कहते हैं—स्त्रियों के साथ में की हुई पूर्वरति एवं पूर्वकृत-कामक्रीड़ा का स्मरण करने वाला साधु शान्तिरूप चारित्र का नाश तथा शान्तिरूप ब्रह्मचर्य का भंग करने वाला होता है। तथा शान्तिरूप केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ साधु स्त्रियों के साथ की हुई पूर्वरति एवं पूर्व कामक्रीड़ा का स्मरण न करे। यह तीसरी भावना है।

[४] इसके बाद चौथी भावना इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ अतिमात्रा में आहार-पानी का सेवन न करे, और न ही सरस स्निग्ध-स्वादिष्ट भोजन का उपभोग करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ प्रमाण से अधिक (अतिमात्रा में) आहार-पानी का सेवन करता है, तथा स्निग्ध-सरस-स्वादिष्ट भोजन करता है, वह शान्ति रूप चारित्र का नाश करने वाला, शान्तिरूप ब्रह्मचर्य को भंग करने वाला होता है, तथा शान्तिरूप केवली-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो सकता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को अति मात्रा में आहार-पानी का सेवन या सरस स्निग्ध भोजन का उपभोग नहीं करना चाहिए। यह चौथी भावना है।

[५] इसके अनन्तर पंचम भावना का स्वरूप इस प्रकार है—निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शय्या (वसति) और आसन आदि का सेवन न करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त शय्या और आसन आदि का सेवन करता है, वह शान्तिरूप चारित्र को नष्ट कर देता है, शान्तिरूप ब्रह्मचर्य भंग कर देता है और शान्तिरूप केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ को स्त्री-पशु-नपुंसक संसक्त शय्या और आसन आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। यह पंचम भावना है।

७८८. इस प्रकार इन पंच भावनाओं से विशिष्ट एवं स्वीकृत मैथुन-विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत का सम्यक् प्रकार से काया से स्पर्श करने, उसका पालन करने तथा अन्त तक उसमें अवस्थित रहने पर भगवदाज्ञा के अनुरूप सम्यक् आराधन हो जाता है।

भगवन् ! यह मैथुन-विरमणरूप चतुर्थ महाव्रत है।

विवेचन—चतुर्थ महाव्रत की प्रतिज्ञा और उसकी पांच भावनाएं—प्रस्तुत सूत्रत्रय में पूर्ववत् उन्हीं तीन बातों का उल्लेख चतुर्थ महाव्रत के विषय में किया गया है—(१) चतुर्थ महाव्रत की प्रतिज्ञा का रूप, (२) चतुर्थं महाव्रत की पाँच भावनाएँ, (३) उसके सम्यक् आराधन का उपाय। इन तीनों का विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।[१]

अन्य शास्त्रों में पंच भावनाओं का उल्लेख—समवायांग सूत्र में इस क्रम से पंच भावनाओं का उल्लेख है—(१) स्त्री-पशु नपुंसक—संसक्त शय्या और आसन का वर्जन, (२) स्त्री कथा विवर्जन, (३) स्त्रियों की इन्द्रियों का अवलोकन न करना, (४) पूर्वरत एवं पूर्वक्रीड़ित का स्मरण न करना, (५) प्रणीत (स्निग्ध-सरस) आहार न करना।

---

१. आचारांग मूलपाठ सटिप्पण पृ० २८७-२८८।

आचारांग चूर्णि सम्मत पाठ के अनुसार ५ भावनाएं—(१) निर्ग्रन्थ प्रणीत पान-भोजन तथा अति मात्रा में आहार न करे, (२) निर्ग्रन्थ विभूषावर्त्ती न हो, (३) निर्ग्रन्थ स्त्रियों के मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न निहारे, (४) निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शय्या और आसन का सेवन न करे, (५) स्त्रियों की (कामजनक) कथा न करे।

आवश्यकचूर्णि में ५ भावनाओं का उल्लेख इसप्रकार है—(१) आहारगुप्ति, (२) विभूषावर्जन, (३) स्त्रियों की ओर न ताके, (४) स्त्रियों का संस्तव-परिचय न करे, (५) प्रबुद्धमुनि क्षुद्र (काम) कथा न करे।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी ५ भावनाएं इस क्रम से बताई गई हैं—(१) स्त्रियों के प्रति रागोत्पादक कथा-श्रवण का त्याग, (२) स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग, (३) पूर्व-भुक्त-भोगों के स्मरण का त्याग, (४) गरिष्ठ और इष्ट-रस का त्याग तथा (५) शरीर संस्कार त्याग।

इसी प्रकार स्थानांग सूत्र (९वें स्थान) में समवायांग सूत्र (९ वां समवाय) में तथा उत्तराध्ययन सूत्र (१६ वां अध्ययन) में ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का वर्णन में भी इन पाँच भावनाओं का समावेश हो जाता है।[1]

'पणियं' आदि शब्दों के अर्थ चूर्णिकार के अनुसार—पणियं = स्निग्ध। रुक्खमपि णातिबहुं = रूखा सूखा आहार भी अति मात्रा में सेवन न करे। संतिभेदा = चारित्र में भेद हो जाता है। संतिविभंगा = विविध भंग—विभंग चित्तविभ्रम हो जाता है।[2]

पंचम महाव्रत और उसकी पांच भावनाएँ

७८९. अहावरं पंचमं भंते! महव्वयं 'सव्वं परिग्गहं पच्चाइक्खामि। से अप्पं वा

---

१. (क) १. "इत्थी-पसु-पंडग-संसत्तसयणासणवज्जणया, २. इत्थीकह विवज्जणया, ३. इत्थीणं इंदियाण मालोयणवज्जणया ४. पुव्वरयपुव्वकीलियाणं अणणुसरणया ५. पणीताहार विवज्जणया।"
—समवायांग सूत्र—समवाय २५

(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २८०—"१. "णो पणीयं पाण-भोयणं अतिमायाए आहारेत्ता भवति से निग्गंथे २. ....अविभूसाणुवाई से निग्गंथे ३. ....णो इत्थीणं इंदियाई मणोहराइं मणोरमाइं निज्झाइत्ता भवति से निग्गंथे ४. ....णो इत्थी-पसु-पंडगसंसत्ताइं सयणाऽऽसणाइं सेवेत्ता भवइ से निग्गंथे ५. ...णो इत्थीणं कहं कहेत्ता भवति से निग्गंथे....।"

(ग) आहारगुत्ते अविभूसियप्पा, इत्थिं ण णिज्झाई, न संथवेज्जा।
बुद्धे मुणी खुड्डकहं न कुज्जा, धम्माणुपेही संधए बंभचेरं ॥४॥
—आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाऽध्ययन पृ० १४३-१४७

(घ) "स्त्रीराग-कथा-श्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षण—पूर्वरतानुस्मरण—वृष्येष्टरस—स्वशरीर-संस्कार-त्यागाः पञ्च।"
—तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि अ० ७/७

२. आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २८६—पणियं णिद्धं रुक्खमपि णातिबहुं। संति विद्यते, भेदे चरित्ताओ। विविधो भंग विभंगः चित्तविभ्रम इत्यर्थः। धम्माओ भंसः—पतनमित्यर्थः अइणिद्धेण।

बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं परिग्गहं गेण्हेज्जा, णेवऽण्णेणं परिग्गहं गेण्हावेज्जा, अण्णं वि परिग्गहं गेण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जाव वोसिरामि'।

७९०. तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—

(१) तत्थिमा पढमा भावणा—सोततो णं जीवे मणुण्णामणुण्णाइं[1] सद्दाइं सुणेति, मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो अज्झोववज्जेज्जा।[2] केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा, संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण सोउं सद्दा[3] सोत्तविसयमागया।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३०॥

सोततो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं सुणेति, पढमा भावणा।

(२) अहावरा दोच्चा भावणा—चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति, मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं (णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रूवेहिं) सज्जमाणे रज्जमाणे जाव संघा (विणिघा) यमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा[4]।

ण सक्का रूवमदट्ठु[5] चक्खूविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३१॥

चक्खूतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं पासति त्ति दोच्चा भावणा।

(३) अहावरा तच्चा भावणा—घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति,[6] मणुण्णामणुण्णेहिं गंधेहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव[7] विणिघायमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का ण गंधमग्घाउं णासाविसयमागयं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥ १३२॥

घाणतो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं गंधाइं अग्घायति त्ति तच्चा भावणा।

[४] अहावरा चउत्था भावणा—जिब्भातो[8] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सा-

---

१. मणुण्णामणुण्णाइं सद्दाइं के बदले पाठान्तर हैं—'मणुण्णामणुण्णसद्दाइं', मणुण्णाइं २ सद्दाइं, मणुण्णाइंमणुण्ण सद्दाइं' मणुण्णाइं सद्दाइं।"
२. अज्झोववज्जेज्जा' के बदले पाठान्तर हैं—अज्झोवज्जेज्जा, अज्झोवदेज्जा
३. सोत्तविसय के बदले पाठान्तर हैं—'सोयविसय'''सोत्तविसय।"
४. 'भंसेज्जा' के बदले 'भासेज्जा' पाठान्तर है
५. मदट्ठं' के बदले पाठान्तर है—मद्दट्ठु।"
६. -अग्घायति' के बदले 'अग्घाति' पाठान्तर है।
७. जाव विणिग्घाय ······ के बदले पाठान्तर हैं—'जाव णिग्घाय'····।
८. 'जिब्भातो' के बदले पाठान्तर है—'जीभातो', 'रसणतो'।

देति, मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा जाव णो विणिग्घातमावज्जेज्जा केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिग्घायमावज्जमाणे संतिभेदा जाव भंसेज्जा।

ण सक्का रसमणासातुं जीहाविसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३३॥

जीहातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं रसाइं अस्सादेति त्ति चउत्था भावणा।

[५] अहावरा पंचमा भावणा—फासातो[1] जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति, मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं णो सज्जेजा, णो रज्जेजा, णो गिज्झेज्जा, णो मुज्झेज्जा, णो अज्झोववज्जेज्जा, णो विणिघातमावज्जेज्जा। केवली बूया—निग्गंथे णं मणुण्णामणुण्णेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघातमावज्जमाणे संतिभेदा संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्तातो धम्मातो भंसेज्जा।

ण सक्का ण संवेदेतुं फासं विसयमागतं।
राग-दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥१३४॥

फासातो जीवो मणुण्णामणुण्णाइं फासाइं पडिसंवेदेति त्ति पंचमा भावणा।

७९१. एत्ताव ताव महव्वते सम्मं काएण फासिते पालिते तीरिते किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराधिते यावि भवति।

पंचमं भंते! महव्व यं परिग्गहातो वेरमणं।

७८९. इसके पश्चात् हे भगवन्! मैं पांचवें महाव्रत को स्वीकार करता हूं। पंचम महाव्रत के सन्दर्भ में मैं सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करता हूं। आज से मैं थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के परिग्रह को स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, न दूसरों से ग्रहण कराऊंगा, और न परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करूंगा। इसके आगे का—'आत्मा से भूतकाल में परिगृहीत परिग्रह का व्युत्सर्ग करता हूं', तक का सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७९०. उस पंचम महाव्रत की पांच भावनाएं ये हैं—

(१) उन पांच भावनाओं में से प्रथम भावना यह है—श्रोत्र (कान) से यह जीव मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ शब्दों को सुनता है, परन्तु वह उनमें आसक्त न हो, रागभाव न करे, गृद्ध न हो, मोहित न हो, अत्यन्त आसक्ति न करे, न राग-द्वेष करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों में आसक्त होता है, रागभाव करता है, गृद्ध हो जाता है, मोहित हो जाता है, अत्यधिक आसक्त हो जाता है, राग-द्वेष करता है वह शान्तिरूप चारित्र का नाश करता है, शान्ति को भंग करता है, शान्तिरूप केवलि प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

---

१. किसी-किसी प्रति में 'फासातो जीवो' पाठ नहीं है। कहीं पाठान्तर है—फासाओ जीवो, फासातो मणुण्णामणुण्णाइं…।

कर्ण-प्रदेश में आए हुए शब्द श्रवण न करना शक्य नहीं है, किन्तु उनके सुनने पर उनमें जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, भिक्षु उसका परित्याग करे ॥१३०॥

अत: श्रोत्र से जीव प्रिय और अप्रिय सभी प्रकार के शब्दों को सुनकर उनमें आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित, मूर्च्छित एवं अत्यासक्त न हो और न राग-द्वेष द्वारा अपने आत्मभाव को नष्ट करे। यह प्रथम भावना है।

(२) इसके अनन्तर द्वितीय भावना इस प्रकार है—चक्षु से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ सभी प्रकार के रूपों को देखता है, किन्तु साधु मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में न आसक्त हो, न आरक्त हो, न गृद्ध हो, न मोहित-मूर्च्छित हो, और न अत्यधिक आसक्त हो; न राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव को नष्ट करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों को देखकर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित और अत्यासक्त हो जाता है, या राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव को खो बैठता है, वह शान्तिरूप चारित्र को विनष्ट करता है, शान्ति-भंग कर देता है, तथा शान्तिरूप-केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

नेत्रों के विषय बने हुए रूप को न देखना तो शक्य नहीं है, वे दिख ही जाते हैं, किन्तु उसके देखने पर जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, भिक्षु उनका परित्याग करे अर्थात् उनमें राग-द्वेष का भाव उत्पन्न न होने दे ॥१३१॥

अत: नेत्रों से जीव मनोज्ञ रूपों को देखता है, किन्तु निर्ग्रन्थ भिक्षु उनमें आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित और अत्यासक्त न हो, न राग-द्वेष में फंसकर अपने आत्मभाव का विघात करे। यह दूसरी भावना है।

(३) इसके बाद तीसरी भावना इस प्रकार है—नासिका से जीव प्रिय और अप्रिय गन्धों को सूँघता है, किन्तु भिक्षु मनोज्ञ या अमनोज्ञ गन्ध पाकर न आसक्त हो न अनुरक्त, न गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो, वह उन पर राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का विघात न करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ या अमनोज्ञ गंध पाकर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो जाता है, तथा राग-द्वेष से ग्रस्त होकर अपने आत्मभाव को खो बैठता है, वह शान्तिरूप चारित्र को नष्ट कर डालता है, शान्ति भंग करता है, और शान्तिरूप केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

'ऐसा नही हो सकता कि नासिका-प्रदेश के सान्निध्य में आए हुए गन्ध के परमाणु पुद्गल सूँघे न जाएँ, किन्तु उनको सूँघने पर उनमें जो राग-द्वेष समुत्पन्न होता है, भिक्षु उनका परित्याग करें ॥ १३२ ॥

अत: नासिका से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ सभी प्रकार के गन्धों को सूँघता है, किन्तु प्रबुद्ध भिक्षु को उन पर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त नहीं होना चाहिए, न एक पर राग और दूसरे पर द्वेष करके अपने आत्मभाव का विनाश करना चाहिए। यह तीसरी भावना है।

(४) इसके अनन्तर चौथी भावना यह है—जिह्वा से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों का आस्वादन करता है, किन्तु भिक्षु को चाहिए कि वह मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों में न आसक्त हो, न रागभावाविष्ट हो, न गृद्ध. मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो, और न उन पर राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का घात करे। केवली भगवान् का कथन है, कि जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों में आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित, मूर्च्छित या अत्यासक्त हो जाता है, या राग-द्वेष करके अपना आपा (आत्मभान) खो बैठता है, वह शान्ति नष्ट कर देता है, शान्ति भंग करता है तथा शान्तिमय केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

ऐसा तो हो नहीं सकता कि रस जिह्वाप्रदेश में आए और वह उसको चखे नहीं; किन्तु उन रसों के प्रति जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, भिक्षु उसका परित्याग करे ॥ १३३ ॥

अतः जिह्वा से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ सभी प्रकार के रसों का आस्वादन करता है, किन्तु भिक्षु को उनमें आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त नहीं होना चाहिए, न उनके प्रति राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का विघात करना चाहिए। यह चौथी भावना है।

(५) इसके पश्चात् पंचम भावना यों है—स्पर्शनेन्द्रिय से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शो का संवेदन (अनुभव) करता है, किन्तु भिक्षु उन मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्शों में न आसक्त हो, न आरक्त, हो, न गृद्ध हो, न मोहित-मूर्च्छित और अत्यासक्त हो, और नही इष्टानिष्टस्पर्शो में राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का नाश करे। केवली भगवान् कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शो को पाकर आसक्त, आरक्त, गृद्ध, मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त हो जाता है, या राग-द्वेषग्रस्त होकर आत्मभाव का विघात कर बैठता है, वह शान्ति को नष्ट कर डालता है, शान्तिभंग करता है, तथा स्वयं केवलीप्ररूपित शान्तिमय धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

स्पर्शेन्द्रिय-विषय प्रदेश में आए हुए स्पर्श का संवेदन न करना किसी तरह संभव नहीं है, अतः भिक्षु उन मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शो को पाकर उनमें उत्पन्न होने वाले राग या द्वेष का त्याग करे, यही अभीष्ट है ॥ १३४ ॥

अतः स्पर्शेन्द्रिय से जीव प्रिय-अप्रिय अनेक प्रकार के स्पर्शो का संवेदन करता है; किन्तु भिक्षु को उन पर आसक्त, आरक्त, गृद्ध. मोहित-मूर्च्छित या अत्यासक्त नहीं होना चाहिए, और न ही इष्टानिष्ट स्पर्श के प्रति राग-द्वेष करके अपने आत्मभाव का विघात करना चाहिए। यह है पांचवीं भावना।

७९१. इस प्रकार पंच भावनाओं से विशिष्ट तथा साधक द्वारा स्वीकृत परिग्रह-विरमण रूप पंचम महाव्रत का काया से सम्यक् स्पर्श करने, उसका पालन करने, स्वीकृत महाव्रत को पार लगाने, उसका कीर्तन करने तथा अन्त तक उसमें अवस्थित रहने पर भगवदाज्ञा के अनुरूप आराधक हो जाता है।

भगवन् ! यह है—परिग्रह-विरमणरूप पंचम महाव्रत !

विवेचन—पंचम महाव्रत की प्रतिज्ञा और उसकी पांच भावनाएँ—प्रस्तुत सूत्रत्रयी में भी पूर्ववत्

तीन बातों का मुख्यतया उल्लेख है—(१) पंचम महाव्रत की प्रतिज्ञा का रूप, (२) पंचम महाव्रत की पांच भावनाएं, (३) पंचम महाव्रत के सम्यक् आराधन का उपाय।

इन तीनों पहलुओं पर विवेचन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

अन्य शास्त्रों में भी पंच भावनाओं का उल्लेख— समवायांग सूत्र में पंचम महाव्रत की पांच भावनाओं का क्रम इस प्रकार है—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-रागोपरति, (२) चक्षुरिन्द्रिय—रागोपरति, (३) घ्राणेन्द्रिय-रागोपरति, (४) जिह्वेन्द्रिय-रागोपरति और (५) स्पर्शेन्द्रिय-रागोपरति।[1]

आचारांगचूर्णिसम्मत पाठ के अनुसार ५ भावनाएं इस प्रकार हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द सुनकर मनोज्ञ पर आसक्ति आदि न करे, न उन पर राग-द्वेष करके आत्मभाव का विघात करे, अमनोज्ञ शब्द सुनकर न तिरस्कार करे, न निन्दा करे, न उस पर क्रोध करे, न गर्हा करे, न ताड़न-तर्जन करे, न उसका परिभव करे, न उसका वध करे।

(२) चक्षुरिन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप देखकर न तो मनोज्ञ पर आसक्ति, रागादि करे, और न अमनोज्ञ पर द्वेष, घृणा आदि करे।

(३) घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ गंध पा कर उनके प्रति भी पूर्ववत् आसक्ति, राग आदि या द्वेष, घृणा आदि न करे।

(४) जिह्वेन्द्रिय से प्रिय-अप्रिय रस पाकर उनके प्रति भी पूर्ववत् आसक्ति, राग आदि या द्वेष, घृणा आदि न करे।

(५) स्पर्शेन्द्रिय से मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति राग-द्वेष आदि न करे।[2]

आवश्यक चूर्णि में इस प्रकार पाँच भावनाएँ प्रतिपादित है—"पंडित मुनि मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाकर एक के प्रति राग-गृद्धि आदि तथा दूसरे के प्रति प्रद्वेष-घृणा आदि न करे।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में भी इन पंच भावनाओं का उल्लेख है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ पांच इन्द्रिय-विषयों में क्रमशः राग और द्वेष का त्याग करना ये अपरिग्रहमहाव्रत की पांच भावनाएँ हैं।[4]

---

१. समवायांगसूत्र में—"सोइंदियरागोवरई, चक्खिदियरागोवरई, घाणिंदियरागोवरई, जिब्भिदियरागोवरई, फासिंदियरागोवरई।"

—समवाय २५

२. ····सोइंदिएण मणुण्णाऽमणुण्णाइं सद्दाइं सुणेत्ता भवति, से निग्गंथे तेसु मणुण्णाऽमणुण्णेसु सद्देसु णो सज्जेज्ज वा रज्जेज्ज वा गिज्झेज्ज वा मुच्छेज्ज वा अज्झोववज्जेज्ज वा विणिघातमावज्जेज्ज वा, अह हीलेज्ज वा निंदेज्ज वा खिंसेज्ज वा गरहेज्ज वा तज्जेज्ज वा तालेज्ज वा परिभवेज्ज वा, पव्वहेज्ज वा।···चक्खिदिएण मणुण्णामणुण्णाइं रूवाइं···जधा सद्दाइं एमेव।····एवं घाणिंदिएण अग्घाइत्ता···जिब्भिदिएण आसाएत्ता····फासिंदिएण पडिसंवेदेत्ता।

—आचारांग चूर्णिसम्मत विशेष पाठ टि० पृ० २८१

उपसंहार

७९२. इच्चेतेहिं महव्वतेहिं पणवीसाहि य भावणाहिं संपन्ने अणगारे अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आणाए आराहिता यावि भवति।

७९२. इन (पूर्वोक्त) पांच महाव्रतों और उनकी पच्चीस भावनाओं से सम्पन्न अनगार यथाश्रुत, यथाकल्प, और यथामार्ग इनका काया से सम्यक् प्रकार से स्पर्श कर, पालन कर, इन्हें पार लगाकर, इनके महत्त्व का कीर्तन करके भगवान् की आज्ञा के अनुसार इनका आराधक बन जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पंचमहाव्रतों का सम्यक् आराधक अनगार : कब और कैसे? प्रस्तुत सूत्र में साधक भगवान् की आज्ञा के अनुसार पंच महाव्रतों का आराधक कब और कैसे बन सकता है? इसका संक्षेप में संकेत दिया है। आराधक बनने का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—(१) पच्चीस भावनाओं से युक्त पंच महाव्रत हों, (२) शास्त्रानुसार चले, (३) कल्प (आचार-मर्यादा) के अनुसार चले, (४) मोक्ष-मार्गानुसार चले, (५) काया से सम्यक् स्पर्श (आचरण) करे, (६) किसी भी मूल्य पर महाव्रतों का पालन-रक्षण करे, (७) स्वीकृत व्रत को पार लगाए (८) इनके महत्व का श्रद्धा पूर्वक कीर्तन करे।

निष्कर्षः—प्रस्तुत पन्द्रहवें अध्ययन में सर्वप्रथम प्रभु महावीर की पावन जीवन गाथाएं संक्षेप में दी गई हैं। पश्चात् प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट श्रमण-धर्म का स्वरूप बताने वाले पाँच महाव्रत तथा उनकी पचीस भावनाओं का वर्णन है।

पांच महाव्रतों का वर्णन इसी क्रम से दशवैकालिक अध्ययन ४ में, तथा प्रश्नव्याकरण संवर द्वार में भी है। पचीस भावनाओं के क्रम तथा वर्णन में अन्य सूत्रों से इसमें कुछ अन्तर है। यह टिप्पणों में यथास्थान सूचित कर दिया गया है। वृत्तिकार शीलांकाचार्य नें भावनाओं का जो क्रम निर्दिष्ट किया है, वह वर्तमान में हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध है, किंतु लगता है आचारांग चूर्णिकार के समक्ष कुछ प्राचीन पाठ-परम्परा रही है, और वह कुछ विस्तृत भी है। चूर्णिकार सम्मत पाठ वर्तमान में आचारांग की प्रतियों में नहीं मिलता, किंतु आवश्यक चूर्णि में उसके समान बहुलांश पाठ मिलता है, जो टिप्पण में यथास्थान दिये हैं।

सार यही है कि श्रमण पांच महाव्रतों का सम्यक्, निर्दोष और उत्कृष्ट भावनाओं के साथ पालन करें। इसी में उसके श्रमण-धर्म की कृतकृत्यता है।

॥ पंचदशमध्ययनं समाप्तम् ॥

॥ तृतीय चूला संपूर्ण ॥

---

३. जे सद्द-रूव रस-गंध-मागते, फासे य संपप्प मणुण्णपावए।
गेधिं पदोसं न करेति पँडिते, से होति दंते विरते अकिंचणे ॥ ५ ॥ —आव० चू० प्रति० पृ० १४७

४. "मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच।" —तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि अ० ७। सू० ८

॥ चतुर्थ चूला ॥

विमुक्ति : सोलहवाँ अध्ययन

प्राथमिक

- ☆ आचारांग सूत्र (द्वि० श्रु त०) के सोलहवें अध्ययन का नाम 'विमुक्ति' है।
- ☆ विमुक्ति का सामान्यतया अर्थ होता है—वन्धनों से विशेप प्रकार मुक्ति/मोक्ष या छुटकारा। व्यक्ति जिस द्रव्य से बंधा हुआ है, उससे विमुक्त हो जाए; जैसे बेड़ियों से विमुक्त होना, यह द्रव्य-विमुक्ति है। किन्तु प्रस्तुत में बन्धन द्रव्य रूप नहीं, अपितु भाव रूप ही समझना अभीष्ट है। इसी प्रकार मुक्ति भी यहाँ द्रव्यरूपा नहीं, कर्मक्षय-रूपा भाव विमुक्ति ही अभीष्ट है।[1]
- ☆ भावमुक्ति-यहाँ अष्टविध कर्मों के बन्धनों को तोड़ने के अर्थ में है। और वह अनित्यत्व आदि भावना से युक्त होने पर ही संभव होती है।
- ☆ कर्म बन्धन के मूल स्रोत हैं—राग, द्वेष, मोह, कषाय और ममत्व आदि। अतः प्रस्तुत अध्ययन में इनसे मुक्त होने की विशेष प्रेरणा दी गई है। ममत्वमूलक आरम्भ और परिग्रह से दूर रहने की तथा पर्वत की भाँति संयम, समता एवं वीतरागता पर दृढ़ एवं निश्चल रहकर, सर्प की केंचुली की भाँति ममत्वजाल को उतार फैंकने की मर्मस्पर्शी प्रेरणा इस अध्ययन में हैं।
- ☆ इस प्रकार की भावमुक्ति साधुओं की भूमिका के अनुसार दो प्रकार की है-(१) देशतः और (२) सर्वतः। देशतःविमुक्ति —सामान्य साधु से लेकर भवस्थकेवली तक के साधुओं की होती है, और सर्वतःविमुक्ति सिद्ध भगवान की होती है।[2]
- ☆ विमुक्ति अध्ययन में पाँच अधिकार भावना के रूप में प्रतिपादित हैं—(१) अनित्यत्व, (२) पर्वत, (३) रूप्य, (४) भुजंग एवं (५) समुद्र।
- ☆ पाँचों अधिकारों में विविध उपमाओं, रूपकों एवं युक्तियों द्वारा राग-द्वेष, मोह, ममत्व एवं कषाय आदि से विमुक्ति की साधना पर जोर दिया गया है। इनसे विमुक्ति होने पर ही साधक को सदा के लिए जन्म-मरणादि से रहित मुक्ति प्राप्त हो सकती है।[3]

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६४
   (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२६ के आधार पर

२. (क) आचा० चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २६४
   (ख) आचारांग निर्यु क्ति गा० ३४३—देस विमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवेसिद्धा।
   (ग) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२६
   (घ) जैन साहित्य का इतिहास भा० १, (आचा० का अन्तरंग परिचय पृ० १२३)

३. (क) आचारांग निर्यु क्ति गा० ३४२ (ख) आचा० वृत्ति पत्रांक ४२६

॥ चउत्था चूला ॥

सोलसं अज्झयणं 'विमुत्ती'

विमुक्ति : सोलहवाँ अध्ययन

अनित्य भावना-बोध

७९३. अणिच्चमावासमुवेंति जंतुणो, पलोयए सोच्चमिदं अणुत्तरं ।
विओसिरे[1] विण्णु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिग्गहं[2] चए ॥१३५॥

७९३. संसार के समस्त प्राणी मनुष्यादि जिन योनियों में जन्म लेते हैं, अथवा जिन शरीर आदि में आत्माएँ आवास प्राप्त करती हैं, वे सब स्थान अनित्य हैं। सर्वश्रेष्ठ (अनुत्तर) मौनीन्द्र प्रवचन मे कथित यह वचन सुनकर उस पर अन्तर की गहराई से पर्यालोचन करे। तथा समस्त भयों से मुक्त बना हुआ विवेकी पुरुष आगारिक (घरबार के) बन्धनों का व्युत्सर्ग कर दे, एवं आरम्भ (सावद्य कार्य) और परिग्रह का त्याग कर दे।

विवेचन:—अनित्यत्व भावना: आरम्भ परिग्रहादि त्याग प्रेरक—प्रस्तुत सूत्र में संसार या प्राणियों के आवासरूप शरीरादि स्थानों को अनित्य जानकर विविध बन्धनों और आरम्भ-परिग्रह का त्याग करने की प्रेरणा दी गई है।

"अणिच्चमावासमुवेंति जंतवो" की व्याख्या—मनुष्य आदि भव (जन्म) में वास, या उस-उस शरीर में वास अनित्य है अथवा सारा ही संसारवास अनित्य है, जिसे सांसारिक जीव प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि चारों गतियों में जिन-जिन योनियों में जीव उत्पन्न होते हैं, वे सब अनित्य हैं।" इस अनुत्तर जिनवाणी को सुनकर विवेकशील पुरुष उस पर पूर्णतया पर्यालोचन करे, कि भगवान् का कथन यथार्थ है।

अनित्यता क्यों है ? इसका समाधान दिया गया है—देवों की जैसी चिरकालस्थिति है, वैसी मनुष्यों की नहीं है। मनुष्यायु अल्पकालीन स्थिति वाली है। संसार को केले के गर्भ की तरह निःसार जानकर विद्वान अगार-बन्धन=पुत्र-कलत्र धन-धान्य-गृहादिरूप गृहपाश अथवा चूर्णिकार के अनुसार स्त्री और गृहरूप आगारबन्धन का त्याग करे।[3]

"अभीरु आरंभ-परिग्गहं चए" : व्याख्या—इसके अतिरिक्त निर्भीक सप्तविधभय रहित एवं परीषहों और उपसर्गों से नहीं घबराने वाला साधु आरम्भ=सावद्य कार्य और परिग्रह-बाह्य-

---

१. विओसिरे के बदले पाठान्तर है—वियोसिरे।

२. परिग्गहं चए के बदले पाठान्तर है—परिग्गहं चये, परिग्गहं वा।

३. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २६४
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२९

आभ्यन्तर परिग्रह अथवा परिग्रह के निमित्त किया जाने वाला आरंभ छोड़े—परित्याग करे। आरम्भ और परिग्रह का त्याग अहिंसा और अपरिग्रह महाव्रत का सूचक है, अगारबन्धन-व्युत्सर्ग शेष समस्त महाव्रतों को सूचित करता है।[1]

पर्वत की उपमा तथा परीषहोपसर्ग सहन-प्रेरणा

७६४. तहागयं भिक्खुमणंतसंजतं, अणेलिसं विण्णु चरंतमेसणं[2]।
तुदंति वायाहिं अभिद्दवं णरा, सरेहिं संगामगयं व कुंजरं ॥१३६॥

७६५. तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिते, ससद्दफासा फरुसा उदीरिया।
तितिक्खए णाणि अदुट्ठचेतसा, गिरि व्व वातेण ण संपवेवए ॥१३७॥

७६४. उस तथाभूत अनन्त (एकेन्द्रियादि जीवों) के प्रति सम्यक् यतनावान् अनुपमसंयमी आगमज्ञ विद्वान एव आगमानुसार आहारादि की एषणा करनेवाले भिक्षु को देखकर मिथ्या दृष्टि अनार्य मनुष्य उस पर असभ्य वचनों के तथा पत्थर आदि प्रहार से उसी तरह व्यथित कर देते हैं जिस तरह संग्राम में वीर योद्धा, शत्रु के हाथी को वाणों की वर्षा से व्यथित कर देता है।

७६५. असंस्कारी एवं असभ्य (तथाप्रकार के) जनों द्वारा कथित आक्रोशयुक्त शब्दों तथाप्रेरित शीतोष्णादि स्पर्शों से पीड़ित ज्ञानवान भिक्षु प्रशान्तचित्त से (उन्हें) सहन करे। जिस प्रकार वायु के प्रबल वेग से भी पर्वत कम्पायमान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संयमशील मुनि भी इन परीषहोपसर्गों से विचलित न हो।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र द्वय में पर्वत की उपमा देकर साधु को परीषहों एवं उपसर्गों के समय विचलित न होने की प्रेरणा दी गई है।

'तहागयं भिक्खु'····की व्याख्या—वृत्तिकार के अनुसार तथाभूत-अनित्यत्वादि भावना से गृहबन्धन से मुक्त, आरम्भ-परिग्रहत्यागी तथा अनन्त—एकेन्द्रियादि प्राणियों पर सम्यक् प्रकार से संयमशील, अद्वितीय जिनागम रहस्यवेत्ता विद्वान् एवं एषणा से युक्त विशुद्ध आहारादि से जीवन निर्वाह करने वाले ऐसे भिक्षु को।

चूर्णिकार के अनुसार—जैसे (जिस मार्ग से) जिस गति से तीर्थकर, गणधर आदि गए हैं, उसीप्रकार जो गमन करता है, वह तथागत कहलाता हैं। अनन्त चारित्र-पर्यायों से युक्त एवं संयत—यावज्जीव संयमी-ज्ञानादि में असदृश—अद्वितीय, अथवा जो अन्यतीर्थिक आदि के तुल्य न हो, विद्वान एषणा से युक्त होकर अथवा मोक्षमार्ग का या संयम का अन्वेषण करते हुए विचरणशील तथागत साधु को···।[3]

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२६ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २६४
२. "चरंतमेसणं" के वदले पाठान्तर है—चरित्तं एसणं, चरंतं एसणं।
३. आचा० चूर्णि मूलपाठ टिप्पण पृ० २६४।

'तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिते' की व्याख्या-वृत्तिकार एवं चूर्णिकार के अनुसार—जैसे कोली, चमार, असंस्कारी, दिल के काले, दरिद्र अनार्यप्रायः तथाप्रकार के बालजनों के द्वारा निन्दित या व्यथित होने पर।

'ससद्दफासा फरुसा उदीरिता'—उन बालजनों द्वारा अत्यन्त प्रबलता से किये गए या प्रेरित कठोर या तीव्र, अथवा अमनोज्ञ सशब्द-प्रहारों के स्पर्शों या आक्रोशसहित शीतोष्णादि दुःखोत्पादक कठोरता से किये गए, या प्रेरित प्रहारों के स्पर्शों को।

तितिक्खए णाणि—अदुट्ठचेतसा—उन प्रहारों को आत्मज्ञानी मुनि मन को द्वेषभाव आदि से दूषित किये विना अकलुषित अन्तःकरण से सहन करे,। क्योंकि वह ज्ञानी है, "यह मेरे ही पूर्वकृत कर्मों का फल है," यह मानकर अथवा संयम के दर्शन से, या वैराग्य भावना से या इस तत्त्वार्थ के विचार से वह सहन करे कि—

"आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या।
यदि सत्यं कः कोपः स्यादनृतं किं नु कोपेन ?॥"

बुद्धिमान पुरुष को आक्रोश का प्रसंग आने पर तत्त्वार्थ विचार में अपनी बुद्धि लगानी चाहिए। "यदि किसी का कथन सत्य है तो उसके लिए कैसा कोप ? और यदि बात असत्य है तो क्रोध से क्या मतलब ?"

इस प्रकार ज्ञानी साधक मन से भी उन अनार्यों पर द्वेष न करे, वचन और कर्म से तो करने का प्रश्न ही नहीं है।

गिरिव्व वातेण ण संपवेवए—जिस प्रकार प्रबल झंझावात से पर्वत कम्पायमान नहीं होता, उसी प्रकार विचारशील साधक इन परीषहोपसर्गों से बिलकुल विचलित न हो।[1]

रजत-शुद्धि का दृष्टान्त व कर्ममल शुद्धि की प्रेरणा

७९६. उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे, अकंतदुक्खा[2] तस-थावरा दुही।
अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहा हि से सुस्समणे समाहिते ॥१३८॥

७९७. विदू णते धम्मपयं अणुत्तरं, विणीततण्हस्स मुणिस्स झायतो।
समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पण्णा य जसो य वड्ढती[3] ॥१३९॥

७९८. दिसोदिसिंऽणंतजिणेण ताइणा, महव्वता खेमपदा पवेदिता।
महागुरु निस्सयरा उदीरिता, तमं व तेऊ तिदिसं[4] पगासगा ॥१४०॥

७९९. सितेहिं भिक्खू असिते परिव्वए, असज्जमित्थीसु चएज्ज पूयणं।
अणिस्सिए लोगमिणं तहा परं, ण मिज्जति कामगुणेहिं पंडिते ॥१४१॥

---

१. (क) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४२९ (ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० २९५
२. अकंतदुक्खा के बदले पाठान्तर है-अकंतदुक्खी, अक्कंतदुक्खी।
३. वड्ढती के बदले वट्टती पाठान्तर है।
४. तेऊ तिदिसं के बदले पाठान्तर है-तेऊ त्ति; तेजो ति।

८००. तहा विमुक्कस्स परिण्णचारिणो, धितीमतो दुक्खखमस्स भिक्खुणो।
विसुज्झती जंसि मलं पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोतिणा ॥१४२॥

७९६. परिषहोपसर्गों को सहन करता हुआ अथवा माध्यस्थ्यभाव का अवलम्बन करता हुआ वह मुनि अहिंसादि प्रयोग में कुशल-गीतार्थ मुनियों के साथ रहे। त्रस एवं स्थावर सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है। अतः उन्हें दुःखी देखकर, किसी प्रकार का परिताप न देता हुआ पृथ्वी की भांति सब प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करने वाला महामुनि त्रिजगत्-स्वभाववेत्ता होता है। इसी कारण उसे सुश्रमण कहा गया है।

७९७. क्षमा-मार्दव आदि दशविध अनुत्तर (श्रेष्ठ) श्रमणधर्मपद में प्रवृत्ति करने वाला जो विद्वान्—कालज्ञ एवं विनीत मुनि होता है, उस तृष्णारहित, धर्मध्यान में संलग्न, समाहित—चारित्र पालन में सावधान मुनि के तप, प्रज्ञा और यश अग्निशिखा के तेज की भांति निरंतर बढ़ते रहते हैं।

७९८. षट्काय के त्राता, अनन्त ज्ञानादि से सम्पन्न राग-द्वेष विजेता, जिनेन्द्र भगवान् ने सभी एकेन्द्रियादि भावदिशाओं में रहनेवाले जीवों के लिए क्षेम (रक्षण) स्थान महाव्रत प्रतिपादित किये हैं। अनादिकाल से आबद्ध कर्म-बन्धन से दूर करने में समर्थ महान गुरु—महाव्रतों का उनके लिए निरूपण किया है। जिस प्रकार तेज तीनोंदिशाओं (ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक्) के अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश कर देता है, उसी प्रकार महाव्रत रूप तेज भी अन्धकाररूप कर्मसमूह को नष्ट करके (ज्ञानवान आत्मा तीनों लोकों में) प्रकाशक बन जाता है।

७९९. भिक्षु कर्म या रागादि निवन्धनजनक गृहपाश से बंधे हुए गृहस्थों या अन्य-तीर्थिकों के साथ आबद्ध—संसर्गरहित होकर संयम में विचरण करे। तथा स्त्रियों के संग का त्याग करके पूजा-सत्कार आदि लालसा छोड़े। साथ ही वह इहलोक तथा परलोक में अनिश्रित-निस्पृह होकर रहे। कामभोगों के कटुविपाक का देखने वाला पण्डित मुनि मनोज्ञ-शब्दादि काम-गुणों को स्वीकार न करे।

८००. तथा (मूलोत्तर-गुणधारी होने से) सर्वसंगविमुक्त, परिज्ञा (ज्ञानपूर्वक-) आचरण करने वाले, धृतिमान्—दुःखों को सम्यक्प्रकार से सहन करने में समर्थ, भिक्षु के पूर्वकृत कर्ममल उसी प्रकार विशुद्ध (क्षय) हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि द्वारा चांदी का मैल अलग हो जाता है।

विवेचन—सूत्र ७९६ से ८०० तक पांच गाथाओं में शास्त्रकार ने कर्ममल से विमुक्त होने की दिशा में साधु को क्या-क्या करना चाहिए? इसकी सुन्दर प्रेरणा रजतमल-शुद्धि आदि दृष्टान्त प्रस्तुत करके दी है। इसके लिए पांच कर्त्तव्य निर्देश इस प्रकार किये गए हैं—

(१) पृथ्वी की तरह सब कुछ सहने वाला मुनि दुःखाक्रान्त त्रसस्थावर जीवों की हिंसा से दूर रहे,

(२) क्षमादि दस धर्मों का पालक वितृष्ण एवं धर्मध्यानी मुनि की तपस्या, प्रज्ञा एवं कीर्ति अग्निशिखा के तेज की तरह बढ़ती है, वही कर्ममुक्ति दिलाने में समर्थ है।

(३) महाव्रतरूपी सूर्य कर्मसमूह रूप अन्धकार को नष्ट करके आत्मा को त्रिलोक-प्रकाशक बना देते हैं।

(४) कर्मपाशबद्ध लोगों—गृहस्थों के संसर्ग से तथा स्त्रीजन एवं इह-पर-लोक सम्बन्धी कामना से भिक्षु दूर रहे।

(५) सर्वसंगमुक्त, परिज्ञा (विवेक) चारी, धृतिमान, दुःखसहिष्णु भिक्षु के कर्ममल उसी तरह साफ हो जाते हैं, जिस तरह अग्नि से चांदी का मैल साफ हो जाता है।[1]

'उवेहमाणे''''अकंतदुक्खा''''' उन बालजनों के प्रति या उन कठोर शब्द-स्पर्शों के प्रति उपेक्षा करता हुआ साधु। कुसलेहि—अहिंसादि में प्रवृत्त साधकों के साथ अहिंसा का आचरण करता रहे। क्योंकि सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के संसारवर्ती प्राणी दुःखी है, यह जानकर समस्त जीवों की हिंसा न करे। 'सव्वंसहे' के बदले पाठान्तर 'सव्वेपया' चूर्णिकार को मान्य प्रतीत होता है।

अणंत जिणेण—चूर्णिकार के अनुसार अर्थ—'''' मनुष्य, तिर्यंच आदि रूप अनन्त संसार है, वह जिसने जीत लिया, वह अनन्तजित होता है।

महव्वता खेमपदा पवेदिता—भावदिशाओं (षट्जीवनिकायों) का पालन करने के लिए क्षेमपद वाले (कल्याणकारी) महाव्रत प्रतिपादित किये हैं; (उन अनन्त जिन, त्राता ने)।

'महागुरू निस्सयरा उदीरिता'—चूर्णिकार के अनुसार—महाव्रत बड़ी कठिनता से ग्रहण किये जाते हैं, तथा गुरुतम—भारी होने के कारण ये महागुरु कहलाते हैं। निस्सयरा—का अर्थ है—णिस्सा करेंति खवंति=तीक्ष्ण करते या क्षय करते है। महाव्रत कैसे क्षपणकर कहे गए हैं? जैसे तीनों दिशाओं के अन्धकार को सूर्य मिटा कर प्रकाश कर देता है, वैसे ही महाव्रत त्रिजगत् के कर्म रूप अन्धकार को मिटा कर आत्मज्ञान का प्रकाश कर देता है।

सितेहिं भिक्खू असिते परिव्वए' की व्याख्या चूर्णिकार के अनुसार—'जो अष्टविध कर्म से बद्ध हैं, अथवा गृहपाशों से बद्ध हैं, उनमें अनासक्त होकर असित=गृहपाश से निर्गत कर्म-क्षय=करने में उद्यत मुनि सम्यक् रूप से विचरण करे।

'असज्जमित्थीसु चएज्ज पूयणं—स्त्रियों में असक्त रहे और पूजा—सत्कार की आकांक्षा छोड़े। प्रथम में मूलगुण की और दूसरे में उत्तरगुण की सुरक्षा का प्रतिपादन है।

अणिस्सिए लोगमिणं तहा परं—इहलोक और परलोक के प्रति अनाश्रित रहे। तात्पर्य यह है कि मूल-उत्तरगुणावस्थित साधु इहलोक और परलोक के निमित्त तप न करे। जैसे धम्मिल ने इहलोक के निमित्त तप किया था, और ब्रह्मदत्त ने परलोक के निमित्त।

ण मिज्जति कामगुणेहिं पंडिते—कामगुण के कटु विपाक का द्रष्टा पण्डित साधु काम-गुणों

---

१. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३० के आधार पर।

से युक्त होकर कामगुण प्रत्ययिक कर्म से पूर्ण नहीं होता, अथवा उसमें मूर्च्छित नहीं होता। अथवा 'विज्जते' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—काम-गुणों में विद्यमान नहीं रहता। जो जहाँ प्रवृत्त होता है, वह वहीं विद्यमान कहलाता है।

'विसुज्झती समीरियं रुप्पमलं व जोतिणा'—सम्यक् प्रेरित चांदी का मैल—किट्ट-अग्नि में तपाने से साफ हो जाता है। वैसे ही ऐसे भिक्षु द्वारा असंयमवश पुराकृत कर्ममल भी तपस्या की अग्नि से विशुद्ध (साफ) हो जाता है।[1]

भुजंग-दृष्टान्त द्वारा बंधन मुक्ति की प्रेरणा

८०१. से हु परिण्णासमयम्मि वट्टती, णिराससे उवरय मेहुणे चरे।
भुजंगमे जुण्णतयं जहा चए, विमुच्चती से दुहसेज्ज माहणे ॥१४३॥

८०१. जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा—कांचली को त्याग कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मूलोत्तरगुणधारी माहन-भिक्षु परिज्ञा—परिज्ञान के समय—सिद्धान्त में प्रवृत्त रहता है, इहलोक-परलोक सम्बन्धी—आशंसा से रहित है, मैथुनसेवन से उपरत (विरत) है, तथा संयम में विचरण करता है, वह नरकादि दुःखशय्या या कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सर्प का दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि सर्प जैसे अपनी पुरानी कैंचुली छोड़कर उससे मुक्त हो जाता है, वैसे ही जो मुनि ज्ञान-सिद्धान्त-परायण, निरपेक्ष, मैथुनोपरत एवं संयमाचारी है, वह पापकर्म या पापकर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली नरकादि रूप—दुःखशय्या से मुक्त हो जाता है।[2]

'परिण्णा समयम्मि' आदि पदों के अर्थ—परिण्णा समयंमि—परिज्ञा में=परिज्ञान में या ज्ञान-समय में या ज्ञानोपदेश में। **'निराससे'**= आशा/प्रार्थना से रहित, इहलौकिकी या पारलौकिकी, प्रार्थना-अभिलाषा जो नहीं करता। **'उवरय मेहुणे'**=मैथुन से सर्वथा विरत। चतुर्थ महाव्रती के अतिरिक्त उपलक्षण से यहाँ शेष महाव्रतधारी का ग्रहण होता है। [इस प्रकार विचरण करता हुआ सर्वकर्मो से विमुक्त हो जाता है।] **दुहसेज्ज विमुच्चती**=दुःखशय्या से—दुखःमय नरकादि भवो से विमुक्त हो जाता है।[3] अथवा दुःख-क्लेशमय संसार से मुक्त हो जाता है।

महासमुद्र का दृष्टान्तः कर्म अन्त करने की प्रेरणा

८०२. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं।
अहे व णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चती ॥१४४॥

---

१. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६५, २६६।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०। (ग) अंतिम दो पद की तुलना करें—दशवै० ८।६२
२. आचारांग वृत्ति, पत्रांक ४३० के आधार पर।
३. (क) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २६७। (ख) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३०।
(ग) चार दुःख शय्याओं का वर्णन देखें —ठाणं स्था० ४ सू० ६५०

८०३. जहा य बद्धं इह माणवेहि[1] या, जहा य तेसिं तु विमोक्ख आहिते ।
अहा तहा बंधविमोक्ख जे विदू, से हु मुणी अंतकडे त्ति वुच्चई ॥१४५॥

८०४. इमम्मि लोए परए य दोसु वी, ण विज्जती बंधणं जस्स[2] किंचि वि ।
से हू णिरालंबणमप्पतिट्ठितो, कलंकलोभावपवंच विमुच्चति ॥१४६ ॥

॥ त्ति बेमि ॥

८०२. तीर्थंकर, गणधर आदि ने कहा है—अपार सलिल-प्रवाह वाले समुद्र को भुजाओं से पार करना दुस्तर है, वैसे ही संसाररूपी महासमुद्र को भी पार करना दुस्तर है। अतः इस संसार समुद्र के स्वरूप को (ज्ञ-परिज्ञा से) जानकर (प्रत्याख्यान-परिज्ञा से) उसका परित्याग कर दे। इसप्रकार का त्याग करनेवाला पण्डित मुनि कर्मों का अन्त करने वाला कहलाता है।

८०३. मनुष्यों ने इस संसार में मिथ्यात्व आदि के द्वारा जिसरूप से—प्रकृति-स्थिति आदि रूप से कर्म बांधे है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन—आदि द्वारा उन कर्मों का विमोक्ष होता है, यह भी बताया गया है। इस प्रकार जो विज्ञाता मुनि बन्ध और विमोक्ष का स्वरूप यथा-तथ्य रूप से जानता है, वह मुनि अवश्य ही संसार का या कर्मों का अन्त करने वाला कहा गया है।

८०४. इस लोक, परलोक या दोनों लोकों में जिसका किंचित्मात्र भी रागादि बन्धन नहीं है, तथा जो साधक निरालम्ब—इहलौकिक-पारलौकिक स्पृहाओं से रहित है, एवं जो कहीं भी प्रतिबद्ध नहीं है, वह साधु निश्चय ही संसार में गर्भादि के पर्यटन के प्रपंच से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत तीनों सूत्रों द्वारा संसार को महासमुद्र की उपमा देकर कर्मास्रवरूप विशाल जलप्रवाह को रोक कर संसार का अन्त करने या कर्मों से विमुक्त होने का उपाय बताया गया है। वह क्रमशः इस प्रकार है—(१) संसार-समुद्र को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से त्याग करे, (२) कर्मबन्ध कैसे हुआ है, इससे विमोक्ष कैसे हो सकता है, इस प्रकार बन्ध और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप जाने, (३) इहलौकिक-पारलौकिक रागादि बन्धन एवं स्पृहा से रहित, प्रतिबद्धता रहित हो।[3]

संसार महासमुद्र—सूत्रकृतांग प्र० श्रु० में भी 'जमाहु ओहं सलिलं अपारगं' पाठ है। इससे मालूम होता है—संसार को महासमुद्र की उपमा बहुत यथार्थ है। चूर्णिकार ने सू० ८०२ की

---

१. माणवेहि या के बदले पाठान्तर है-माणवेहिं य, माणवेहिं जहा

२. जस्स के बदले पाठान्तर हैं-तस्स—उसका।

३. आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३१ के आधार पर।

पंक्ति का एक अर्थ और सूचित किया है—भुजाओं से महासमुद्र की तरह संसार समुद्र पार करना दुस्तर है। अथवा जो संसार को दो प्रकार की परिज्ञा से भलीभांति जानता है एवं त्यागता है, अर्थात् जिस उपाय से संसार पार किया जा सकता है, उसे जान कर जो उस उपाय के अनुसार अनुष्ठान करता है, वह पण्डित मुनि है। वह ओघान्तर—संसार समुद्र के ओघ—प्रवाह का अन्त करने वाला, या तैरने वाला कहलाता है।

'जहा य बद्धं···' चूर्णिकार के अनुसार इसकी व्याख्या यों है—इस मनुष्य लोक में किससे बंधे हैं ? कर्म से, कौन बंधे हैं ? जीव।

जहा य······विमोक्ख—जिस उपाय से कर्मबन्धनबद्ध जीवों का विमोक्ष हो, प्राणातिपात-विरमण आदि व्रतों से, तप-संयम से या अन्य सम्यग्दर्शनादि यथातथ्य उपाय से, फिर बन्ध-मोक्ष जान कर तदनुसार उपाय करके वह मुनि अन्तकृत् कहलाता है।[1]

"इमम्मि लोए·······ण विज्जती बंधणं" का भावार्थ—इस लोक, परलोक या उभयलोक में जिसका कर्मतः किंचित् भी बन्धन नहीं है, बाद में जब वह समस्त बन्धनों को काट देता है, तब वह बंधन-मुक्त एवं निरालम्बन हो जाता है। आलम्बन का अर्थ शरीर है, निरालम्बन अर्थात् 'अशरीर' हो, तथा कोई भी कर्म उसमें प्रतिष्ठित नहीं रहता। इसके पश्चात् वह 'कलंकली-भाव प्रपंच' से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

कलंकली कहते हैं—संकलित भवसंतति या आयुष्य कर्म की परम्परा को। प्रपंच तीन प्रकार का है—हीन, मध्य, उत्तम-भृत्य-स्त्री-पिता-पुत्रत्व आदि रूप। अथवा कलंकलीभाव ही प्रपंच है। वह साधक कलंकली भाव प्रपंच से—संसार में जन्म-मरण की परम्परा से—विमुक्त हो जाता है।[2]

॥ सोलहवाँ विमुक्ति अध्ययन समाप्त ॥

॥ आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध (आचार चूला) समाप्त ॥

---

१. (क) सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध अ० १२ गा० १२।
(ख) आचारांग चूर्णि मू० पा० टि० पृष्ठ २९७।
(ग) आचारांग वृत्ति पत्रांक ४३१।

२. आचारांग चूर्णि मू० पा० पृ० २९८—कलंकली संकलिय भवसंततिः आउगकम्मसंतती वा····।

आचार-चूला

परिशिष्ट

- विशिष्ट शब्द सूची
- गाथाओं की अनुक्रमणिका
- 'जाव' शब्द पूरक सूत्र-निर्देश
- सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

विशिष्ट शब्द-सूची

[यहाँ विशिष्ट शब्द-सूची में प्राय: वे संज्ञाएं तथा विशेष शब्द लिये गये हैं, जिनके आधार पर पाठक सरलतापूर्वक मूल विषय की आधारभूत अन्वेषणा कर सकें।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध (आचार चूला) के सूत्र प्रथम श्रुतस्कंध के साथ क्रमशः रखने के कारण यहाँ पर सूत्र संख्या ३२४ से प्रारम्भ होती है।

—सम्पादक]

☆

आचारांगसूत्रान्तर्गत गाथाओं की अकारादि सूची



'जाव' शब्द संकेतित सूत्र सूचना

प्राचीनकाल में आगम तथा श्रुतज्ञान प्रायः कण्ठस्थ रखने की परिपाटी थी। कालान्तर में स्मृति-दौर्बल्य के कारण आगम-ज्ञान लुप्त होता देखकर वीर निर्वाण संवत ९०० के लगभग श्री देवर्द्धिगण क्षमाश्रमण के निर्देशन में आगम लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई।[1]

स्मृति की दुर्बलता, लिपि की सुविधा, तथा कम लिखने की वृत्ति—इन तीन कारणों से सूत्रों में आये बहुत-से समानपद जो बार-बार आते थे, उन्हें संकेतों द्वारा संक्षिप्त कर देने की परम्परा चल पड़ी। इससे पाठ लिखने में बहुत सी पुनरावृत्तियों से बचा गया।

इस प्रकार के संक्षिप्त संकेत आगमों में अधिकतर तीन प्रकार के मिलते हैं।

१. वण्णओ—(अमुक के अनुसार इसका वर्णन समझें) भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा आदि अंग व उववाई आदि उपांग आगमों में इस संकेत का काफी प्रयोग हुआ है। उववाई सूत्र में बहुत-से वर्णन हैं जिनका संकेत अन्य सूत्रों में मिलता है।

२, जाव—(यावत्) एक पद से दूसरे पद के बीच के दो, तीन, चार आदि अनेक पद बार-बार न दुहराकर 'जाव' शब्द द्वारा सूचित करने की परिपाटी आचारांग, उववाई आदि सूत्रों में मिलती है। आचारांग में जैसे—सूत्र ३२४ में पूर्ण पाठ है—

'अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए, अप्पहरिए, अप्पोसे
अप्पुदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडा-संताणए'

आगे जहाँ इसी भाव को स्पष्ट करना है, वहाँ सूत्र ४१२, ४५५, ५७० आदि में 'अप्पंडे जाव' के द्वारा संक्षिप्त कर संकेत मात्र कर दिया गया है। इसीप्रकार 'जाव' पद से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

हमने प्रायः टिप्पण में 'जाव' पद से अभीष्ट सूत्र की संख्या सूचित करने का ध्यान रखा है।

कहीं विस्तृत पाठ का बोध भी 'जाव' शब्द से किया गया है। जैसे सूत्र २१७ में "अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा जाव" यहाँ सूत्र २१४ के 'अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा, णो रएज्जा, णो धोत-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए।' इस समग्र पाठ का 'जाव' शब्द द्वारा बोध करा दिया है।

इसी प्रकार उववाइ आदि सूत्रों में जो वर्णन एक बार आगया है, दुबारा आने पर वहां 'जाव' शब्द का उपयोग किया गया है। जैसे—तेणं कालेणं.......जाव परिसा णिग्गया।" यहां 'तेणं कालेणं तेणं समएणं' आदि बहुत लम्बे पाठ को 'जाव' में समाहित कर लिया है।

३. अंक संकेत—संक्षिप्तीकरण की यह भी एक शैली है। जहाँ दो, तीन, चार या अधिक समान पदों का बोध कराना हो, वहाँ अंक २, ३, ४, ६ आदि अंकों द्वारा संकेत किया गया है। जैसे—

(क) सूत्र ३२४ में—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा

(ख) सूत्र १९९ में—**असणं वा; पाणं वा, खाइमं वा साइमं वा आदि।**

'से भिक्खु वा २' संक्षिप्त कर दिया गया है।

इसी प्रकार **'असणं वा ४ जाव'** या **'असणं वा ४'** संक्षिप्त करके आगे के सूत्रों में संकेत किये गये हैं।

(ग) **पुनरावृत्ति**—कहीं-कहीं '२' का चिन्ह द्विरुक्ति का सूचक भी हुआ है—जैसे सूत्र ३६० में **'पगिज्झिय २' उद्दिसिय २'** इसका संकेत है—**पगिज्झिय पगिज्झिय 'उद्दिसिय उद्दिसिय'**। अन्यत्र भी यथोचित ऐसा समझें।

क्रियापद के आगे '२' का चिन्ह कहीं क्रियाकाल के परिवर्तन का भी सूचन करता है, जैसे सूत्र ३५७ में—**'एगंतमवक्कमेज्जा २'** यहाँ **'एगंतमवक्कमेज्जा, 'एगंतमवक्कमेत्ता'** पूर्वकालिक क्रिया का सूचक है।

क्रियापद के आगे **'३'** का चिन्ह तीनों काल के क्रियापद के पाठ का सूचन करता है, जैसे सूत्र ३६२ में **'रुंचिसु वा ३'** यह संकेत—**रुंचिसु वा रुचंति वा रुचिस्संति वा'** इस त्रैकालिक क्रियापद का सूचक है। ऐसा अन्यत्र भी समझना चाहिए'

इसके अतिरिक्त **'तहेव'**—(अक्कोसंति वा तहेव;—सूत्र ६१८)
(अतिरिच्छछिण्णं तहेव;—सूत्र ६२९)
एवं—(एवं णेयव्वं जहा सद्दपडिमा;—सूत्र ६८९)
जहा—(पाणाइं जहा पिंडेसणाए—सूत्र ५५४)
तं चेव—(तं चेव जाव अण्णोण्णसमाहीए—सूत्र ४५७)

आदि संकेत पद भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इन सबको यथास्थान शुद्ध अन्वेषण करके समझ लेना चाहिए।

—सम्पादक

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
५७७, ५७८	अंतलिक्खजाते जाव	५७६
५२५	अकिरियं जाव	५२४
४४९, ५१८	अक्कोसंति वा जाव	४२२
४७१	अक्कोसेज्ज वा जाव	४२२
३७१, ५७५, ६१२	अणंतरहिताए पुढवीए···जाव	३५३
३३२, ३३५, ३६० ३७७, ३७८, ३९०, ४०४, ४०५	अणेसणिज्जं···जाव	,,
५५६ ४१४–४१८	अपुरिसंतरकडे जाव	,,
३३५, ३३७	अपुरिसंतरकडं वा जाव	३३२ [२]
६४८,	अपुरिसंतरगडं वा जाव	३३१
३४८, ४६८	अप्पंडा जाव	,,
४०४	अप्पंडे जाव	,,

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
४१२, ४५५, ५७० ५७१, ६२४, ६२५, ६२७, ६३१	अप्पंडं जाव	३२४
६६७	अप्पपाणंसि जाव	३२४
६४२	अप्पवीयं जाव	,,
४६६	अपाइण्णा वित्ती जाव	४६५
४८६, ५१५, ५१८, ५८४	अप्पुस्सुए जाव	४८२
५९२, ५९३	अफासुयाइं जाव	३२५
३२६, ३३१, ३६०, ३६१, ३६२, ३६८, ३६९, ३७९, ३८०, ३९७, ४०२, ४४६, ५६३, ५६४, ५६७, ५६९, ५७०, ५९८, ६०३, ६२३, ६२४, ६२६, ६२७	अफासुयं···जाव	३२५
७७८	अभिहणेज्ज वा जाव	७७८
४१९, ४४४	अभिहणेज्ज वा जाव	३६५
३५७	अमुच्छिए ४	३५७
५९३	अयबंधणाणि वा जाव	५९२
३३० इत्यादि	असणं वा ४	१९९, ३२४
३६७	असणं वा ४ जाव	३२५
३८२, ३८४–३८८	असत्थपरिणयं जाव	३७५
५२५, ५२७, ५३६, ५३८, ५४०, ५४२, ५४४, ५४६, ५४८, ५५०	असावज्जं जाव	५२४
५११–५१४	आइक्खइ जाव	५१०
४३५–४४१, ५०४	आएसणाणि वा जाव	४३५
४३३, ४३४	आगंतारेसु वा ४	४३२
६१०, ६११, ६३३	आगंतारेसु वा जाव	६०८–६०९, ६२१
३५३, ४९१, ४९७	आमज्जेज्ज वा···जाव	३५३
६००, ६०४, ४००	आयरिए वा जाव	३९९
४५६, ६३३	इक्कडे वा जाव	४५६
६२९	ईसरे जाव	६०८, ६२१

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
४६०	उवज्झाएण वा जाव	३९९
५७३	उसिणोदगवियडेण वा जाव	४२१
५२१	एगवयणं वदेज्जा जाव	५२१
३२५, ३२६, ४०९, ४५६	एसणिज्जं…जाव	३२५
६१२–६१७	ओगिण्हेज्जा वा २	६०७
७७४	ओवयंतेहि य जाव	७३७
५५०	कक्खडाणि वा ८	१७६
५६६, ६५१, ६५४;	कंदाणि वा…जाव	४१७
७७४	कसिणे जाव	७७२
६२३	कामं खलु जाव	६०८, ६२१
७८८	काएण जाव	७७९
५५०	किण्हे ति वा ५	१७६
५३३	कुट्ठी ति वा जाव	१७९
६१४	कुलियंसि वा ४ जाव	५७७
६१५	खंधंसि वा ६	३६५
७१७–७२०	गंडं वा जाव	७१५–७१६
५८४, ५८५	गच्छेज्जा जाव	५१५
५०२, ५१३	गामे वा जाव	२२४, ३३८
३४२, ३९१, ४१२, ४६५, ६३७	गामं वा…जाव	,, ,,
३४२, ३९१, ४६५	गामंसि वा जाव	,, ,,
५१४	गामस्स वा…जाव	,, ,,
३९०, ३९१, ४२२, ४३५, ४४९, ५५९, ५९४, ६१८	गाहावती वा जाव	३५०
३६०	गाहावति वा जाव	३३७ ,,
३२७	गाहावतिकुलं जाव पविसित्तु(तु)कामे	३२४
३२५, ३४९	गाहावति जाव ,,	,,
४८४, ६२२	छत्तए(गं) जाव	४४४
५१३	जवसाणि जाव	५००
४५७	जाव अण्णोण्णसमाहीए	४१०
६३७, ६४१	जाव उदयपसूयाइं	४१७
४७२, ४७३	जाव गमणाए	४७१
५०६	जाव दूइज्जेज्जा	५०५
३२६, ४०९, ५५९, ५९४	जाव पडिगाहेज्जा	३३५, ४०९
६३७, ६४१, ६४२, ६४६, ६४७, ६५३, ६६७	जाव मक्कडासंताण	३२४
६५३	जाव मक्कडासंताण	३५३

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र संख्या
३२३, ६३३	जाव विहरिस्सामो	६०८, ६२१
७८०, ७८३, ७८६, ७८९	जाव वोसिरामि	७७७
४१६	जाव संथारगं	३३८
५०१	जाव समाहीए	४८६
३५३, ४०४, ५७९	झामथंडिलंसि वा जाव	३२४
४१२–४२५, ४२७–४२९, ४४७–४५१, ४५३, ४५४	ठाणं वा ३	४१२
३८३	तहप्पगारं···जाव	३८२
६१५	तहप्पगारे जाव	५७६
५५०	तित्ताणि वा ५	१७६
६३२	तिरिच्छछिण्णे जाव	६२८
६१३	थूणंसि वा ४ जाव	५७६
४७१	दसुगायतणाणि जाव	४७१
६१३	दुब्बद्धे जाव	५७६
३३७	दोहिं जाव	३३५
५०५	पगिज्झिय २ जाव	५०४
४४७–४५४, ४६५	पणस्स···जाव	३४८
४७०	परक्कमे जाव	४६९
४०९, ४३५–४४१	पाईणं वा ४	३९०
५०४	पागाराणि वा जाव	४९९
५१३	पाडिपहिया जाव	५१०–५१२
४१३	पाणाइं ४	२०४
४१४	पाणाइं ४ जाव	४१३
४५९	पाणाणि वा ४ जाव	३६५
४४४, ४५९	पायं वा जाव	"
५४४	पासादिया ति वा ४	५३६
३२६, ४०९	पिहुयं वा जाव	३२६
७७६	पुढविकाए जाव	४४०
३३५, ५५६, ६५०	पुरिसंतरकडं जाव	३३२
४१४–४१८	पुरिसतरकडे जाव	"
४१९, ४२१–४२५, ४२८–४३०, ४४४, ४५९, ४७१; ५०५, ५९९, ६०२	पुव्वोवदिट्ठा ४	३५७
४३०	पुव्वोवदिट्ठा ४ जाव	४२७
३६८	पुव्वोवदिट्ठा जाव	३६७
५१५	पेहाए जाव	३५४
५०४, ६७३	फलिहाणि वा····जाव	४९९
७८२	फासिते जाव	७७९

संक्षिप्त संकेतित सूत्र	जाव-पद ग्राह्य पाठ	समग्र पाठ युक्त मूल सूत्र-संख्या
३३५, ३३७, ३६०, ३६६, ३६७, ४०६, ५५६, ५७१, ६२५, ६२८	फासुयं...जाव	३२५
३०१, ३०४	बहुपाणा ...जाव	३४८
३६१	बहुरयं वा जाव	३२६
४२५, ४३७	भगवंतो...जाव	३६०
६४०, ६६८, ६८८	भिक्खुणीए...जाव	३३४
३२५–३२७, ३३०–३३२, ३३६, ३३७, ३४३, ३४८, ३५२–३५५, ३५७, ३५६–३६३, ३६५–३७१, २७३–३८८, ३६१, ३६३–३६५, ४०४, ४०५, ४०६	भिक्खू वा...जाव	३२४
६८२–६८४	भिक्खू वा २ जाव	६७०
५६८	मणी वा जाव	४२४
६०७	मत्तयं वा जाव	४४४
६५१	मूलाणि वा जाव	४१७
७६०	रज्जमाणे जाव	७६०
७६०	रज्जेज्जा जाव	७६०
४७३	लाढे जाव	४७१
५१७	वत्थं वा ४	१६६
५३५, ५३६	वप्पाणि वा जाव	५०४
४१२, ४५५, ५६६, ६२३, ६२६, ६३०, ६३२, ६३७, ६४१, ६४६	स अंडं...जाव	३२४
३५३, ४३१	सअंडे...जाव	"
७८७, ७६०	संतिभेदा...जाव	७८७
४५५	संथारगं जाव लाभे	३२५
७६०	सज्जमाणे...जाव	७६०
४६६–४६८	समण जाव	४६५
३४८, ५६४	समणमाहण जाव	३४८
७८५	सम्मं जाव आणाए	७७६
५३५	सावज्जं जाव	५२४
५६४, ५७२	सिणाणेण वा जाव	४२१
३६१, ३६२	सिलाए जाव	३५३
४३७	सीलमंता जाव	३६०
५५०	सुब्भिगंधे ति वा २	१७६
५०६, ५०८	हत्थं जाव	४६०–४८७
४१६, ४४४, ४५६	हत्थं वा...जाव	३६५
६७६	हत्थिकरणट्ठाणाणि वा	६५७
६८०	हत्थिजुद्धाणि वा जाव	६५७

आचारांग द्वि० श्रु० सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थसूची

आगम एवं व्याख्या ग्रन्थ

आयारंग सुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई० १९७७)

सम्पादक : मुनि श्री जम्बूविजयजी

प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई ४०००३६

आचारांग सूत्र

टीकाकार : श्री शीलांकाचार्य

प्रकाशक : आगमोदय समिति

आचारांग निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु)

प्रकाशक : आगमोदयसमिति

आवश्यक चूर्णि प्रकाशक : ऋषभदेवजी केसरीमलजी, रतलाम

आयारो तह आयारचूला

सम्पादक : मुनि नथमल जी

प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता (प्र० व० १९६७)

आचारांग सूत्रं सूत्रकृतांग सूत्रं च (निर्युक्ति टीका सहित) (श्री भद्रबाहु स्वामिविरचित निर्युक्ति —श्री शीलांकाचार्य विरचित टीका)

सम्पादक-संशोधक : मुनि जम्बूविजयजी

प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलौजिक ट्रस्ट,
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी

प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अर्थागम (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा पं० श्री फूलचन्द जी महाराज 'पुप्फभिक्खू'

प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट,
एस० एस० जैन बाजार, गुड़गाव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा

सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन; सांडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दना जी
प्रकाशक . वीरायतन प्रकाशन, आगरा

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढ़सिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र (वृत्ति—आचार्य अभयदेवसूरिकृत)
प्रकाशक : आगमोदय समिति

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल
प्रकाशक : स्थानक० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

निशीथ सूत्र (निशीथ चूर्णि एवं भाष्य) प्रकाशक : सन्मतिज्ञान पीठ; आगरा

दसवेआलियं (विवेचन युक्त)
सम्पादक-विवेचक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

दसवैकालिक—आगस्त्यसिंह चूर्णि —जिनदास चूर्णि—हारिभद्रीय टीका युक्त (उपर्युक्त)
प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनू (राज०)

प्रज्ञापना सूत्र संपादक : (पूज्य अमोलक ऋषिजी)

भगवती सूत्र सम्पादक : (पं० बेचरदास जी दोशी)

मूल सुत्ताणि सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी० सेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांग सूत्र
व्याख्याकार : पं० मुनि श्री हेमचन्द्र जी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि, मुनि नेमिचन्द्र जी
प्रकाशक : आत्म ज्ञानपीठ, मानसामण्डी (पंजाब)

समवायांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (रास्थान)

स्थानांग सूत्र
सम्पादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

पिण्डनिर्युक्ति (श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी विरचित)
अनुवादक : पू० गणिवर्य श्री हंससागर जी महाराज
प्रकाशक : शासन कण्टकोद्धारक ज्ञान-मन्दिर
मु० ठलीया (जि० भावनगर) (सौराष्ट्र)

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि (*आ० पूज्यपाद—व्याख्याकार*)
हिन्दी अनुवादक : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य श्री उमास्वाति विरचित)
विवेचक : पं० सुखलाल जी सिंघवी
प्रकाशक : *भारत जैन महामंडल, बम्बई*

बृहत्कल्प सूत्र एवं बृहत्कल्पभाष्यम् (मलयगिरि वृत्ति)
प्रकाशक : जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

शब्दकोष व अन्य ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री अभिधानराजेन्द्र कार्यालय
रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५-४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली—१

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवल जी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८, यू० ए० जवाहर नगर
बंगलो रोड दिल्ली—७

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक : पं० हरगोविंददास टी० शेठ, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल,
और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी—५

ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर
लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज
प्रकाशक : जैन इतिहास समिति, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लालभवन चौड़ा रास्ता, जयपुर—३ (राजस्थान)

श्रमण महावीर
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : *जैन विश्वभारती लाडनूं* (राजस्थान)

महावीर की साधना का रहस्य
लेखक : मुनि नथमल जी
प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)

तीर्थंकर महावीर
लेखकगण : श्री मधुकर मुनि, श्री रतन मुनि, श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, आदि

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १)
लेखक : पं० बेचरदास दोशी, न्यायतीर्थ
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
लेखक : डा० जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक : चोखम्बा विद्याभवन वाराणसी

चार तीर्थंकर
लेखक : पं० सुखलालजी
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम
हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५

विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन)
प्रकाशक : महाबोधि सभा सारनाथ (वाराणसी) (प्रकाशन वर्ष ई. १९३५)

भगवद्गीता
प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

ईशावास्योपनिषद्
कौशीतकी उपनिषद्
छान्दोग्य उपनिषद्
प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

विसुद्धिमग्गो
प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, मुम्बई

समयसार
नियमसार
प्रवचनसार
रचयिता : आचार्य श्री कुन्दकुन्द



श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

सहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. सेठ श्री मोहनमल जी चोरड़िया, मद्रास
२. सेठ श्री खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
३. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया बैंगलौर
४. श्री एस० किशनचन्द्रजी चोरड़िया मद्रास
५. श्री गुमानमलजी चोरड़िया मद्रास
६. श्री कंवरलाल जी बेताला गोहाटी
७. श्री पुखराजजी शीशोदिया ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल दुर्ग
९. श्री गुलाबचन्द्रजी मांगीलालजी सुराना सिकन्दराबाद

स्तम्भ

१. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
२. श्री अगरचन्दजी फतेहचन्दजी पारख, जोधपुर
३. श्री पूसालालजी किस्तूरचन्दजी सुराना, बालाघाट
४. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
५. श्री तिलोकचन्दजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
६. श्री जे० दुलीचन्दजी चोरड़िया मद्रास
७. श्री हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री एस० रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री वर्द्धमान इंडस्ट्रीज कानपुर
१०. श्री एस० सायरचन्दजी चोरड़िया मद्रास
११. श्री एस० बादलचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१२. श्री एस० रिखबचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१३. श्री आर० परसनचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१४. श्री अन्नराजजी चोरड़िया मद्रास
१५. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया मद्रास
१६. श्री मिश्रीलालजी तिलोकचन्दजी संचेती दुर्ग

संरक्षक

१. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा ब्यावर
२. श्री दीपचन्दजी चन्दनमलजी चोरड़िया मद्रास
३. श्री ज्ञानराजजी मूथा पाली
४. श्री खूबचन्दजी गादिया ब्यावर
५. श्री रतनचन्द्रजी उत्तमचन्दजी, मोदी ब्यावर
६. श्री पन्नालाल जी भागचन्द्रजी बोथरा, चांगाटोला
७. श्री मिश्रीलाल धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
८. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता. मेड़ता
९. श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा, जाड़न, (K. G. F.)
११. श्री केशरीमलजी जँवरीलालजी तालेरा, पाली
१२. श्री नेमीचन्दजी मोहनलालजी ललवाणी, चांगाटोला
१३. श्री बिरदीचन्दजी प्रकाशचन्दजी तलेसरा पाली
१४. श्री सिरेकंवरबाई स्व० श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम
१५. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१६. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
१७. श्री लालचन्दजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
१८. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, (धोवड़ी) नागौर
१९. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
२०. श्री सागरमलजी नौरतमलजी पींचा मद्रास
२१. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२२. श्री मोहनराजजी बालिया, अहमदाबाद
२३. श्री चेनमलजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया नागौर
२५. श्री बादलचन्दजी मेहता, इन्दौर
२६. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२७. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
२८. श्री इन्दरचन्दजी बैद राजनांदगाँव
२९. श्री माँगीलालजी धर्मीचन्दजी चोरड़िया चांगाटोला
३०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढा, चांगाटोला
३१. श्री भंवरलालजी मूलचन्दजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री सिद्धकरण जी शिखरचन्दजी बैद चांगाटोला
३३. श्री जालमचन्दजी रिखबचन्दजी बाफणा आगरा
३४. श्री भँवरीलालजी चोरड़िया, मद्रास

३५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३६. श्री घेवरचन्दजी पुखराजजी, गौहाटी
३७. श्री माँगीलालजी चोरड़िया आगरा
३८. श्री भँवरलालजी गोठी, मद्रास
३९. श्री गुणचन्दजी दलीचन्दजी, कटारिया बेल्लारी
४०. श्री अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
४१. श्री छोगमलजी हेमराजजी, लोढा डोंडीलोहरा
४२. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया बैंगलोर
४३. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४४. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४५. श्री जवरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४६. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
२. श्री अमरचन्दजी बालचन्दजी मोदी, ब्यावर
३. श्री चम्पालालजी मीठालालजी सकलेचा, जालना
४. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
५. श्री भँवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री जँवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
८. श्री बादरमलजी पुखराजी बंट, कानपुर
९. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
१०. श्री के० पुखराजजी बाफणा, मद्रास
११. श्री पुखराजजी बुधराजजी बोहरा, पीपलियाँ
१२. श्री चम्पालालजी बुधराजजी बाफणा, ब्यावर
१३. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणीया, चण्डावल
१४. श्री माँगीललालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल बर
१५. श्री मोहनलालजी मंगलचन्द्रजी पगारिया, रायपुर
१६. श्री भँवरललजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१७. श्री दुलेराजजी भँवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी काठेड़, पाली
१९. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, पाली
२०. श्री पन्नालालजी, मोजीलालजी सुराणा, पाली
२१. श्री देवकरणजी, श्रीचन्द्रजी डोसी, मेड़तासीटी
२२. श्री माणकराजजी किशनराजजी, मेड़तासीटी
२३. श्री अमृतराजजी जसवंतराजजी महता, मेड़तासीटी
२४. श्री वी० गजराजजी बोकड़िया, सलेम
२५. श्री भँवरलालजी विजयराजी कांकरिया, बिल्लीपुरम
२६. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया जोधपुर
२७. श्री हरकचन्दजी महता, जोधपुर
२८. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
२९. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया, जोधपुर
३०. श्री गणशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
३१. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
३२. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
३३. श्री जसराजजी जँवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
३४. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
३५. श्री आसुमल एन्ड कम्पनी, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लालचन्दजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री घेवरचन्दजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
३८. श्री पुखराजजी बोहरा, जोधपुर
३९. श्री बछराजजी सुराणा, जोधपुर
४०. श्री लालचन्दजी सिरेमलजी बाला, जोधपुर
४१. श्री ताराचन्दजी केवलचन्दजी कर्णावट, जोधपुर
४२. श्री मिश्रीमलजी लखमीचन्दजी सांड, जोधपुर
४३. श्री उत्तमचन्दजी माँगीलालजी जोधपुर
४४. श्री माँगीलालजी रेखचन्दजी पारख, जोधपुर
४५. श्री उदयराजजी पुखराजजी, संचेती जोधपुर
४६. श्री सरदारमल एन्ड कम्पनी जोधपुर
४७. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
४८. श्री नेमीचन्दजी डाकलिया, जोधपुर
४९. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
५०. श्री मुन्नीलालजी मूलचन्दजी पुखराजजी गुलेच्छा, जोधपुर
५१. श्री सुन्दरबाई गोठी, महामन्दिर, जोधपुर
५२. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा
५३. श्री पुखराजजी लोढ़ा महामन्दिर, जोधपुर
५४. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
५५. श्री भँवरलालजी बाफणा, इन्दौर
५६. श्री जेठमलजी मोदी इन्दौर
५७. श्री भीकमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
५८. श्री सुगनचन्दजी संचेती राजनादगाँव
५९. श्री विजयलालजी प्रेमचन्दजी गोलेच्छा राजनांदगाँव
६०. श्री घीसूलालजी लालचन्दजी पारख, दुर्ग
६१. श्री आशकरण जी जसराजजी पारख, दुर्ग
६२. श्री ओखचन्द्र जी हेमराज जी पारख दुर्ग
६३. श्री भँवरलालजी मूथा जयपुर
६४. श्री सरदारमलजी सुराणा भिलाई

६५. श्री भँवरलालजी डूंगरमलजी काकरिया भिलाई
६६. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी भिलाई
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़ भिलाई
६८. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी भिलाई
६९. श्री पुखराजजी छल्लानी करणगुड्डी
७०. श्री प्रेमराजजी मिट्ठालालजी कामदार चांवड़िया
७१. श्री भँवरलालजी माणकचन्दजी सुराणा, मद्रास
७२. श्री भँवरलालजी नवरतनमलजी सांखला, मेटूपालियम
७३. श्री सूरज करणजी सुराणा, लाम्वा
७४. श्री रतनलालजी लखपतराजजी जोधपुर
७५. श्री हरकचन्दजी जुगराजजी बाफणा बैंगलोर
७६. श्री लालचन्दजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
७७. श्री सम्पतराजजी कटारिया जोधपुर
७८. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
७९. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८०. श्री अखेचन्दजी भण्डारी, कलकत्ता
८१. श्री बालचन्दजी थानमलजी भुरट कुचेरा, कलकत्ता
८२. श्री चन्दनमलजी प्रेमचन्दजी मोदी, भिलाई
८३. श्री तिलोकचन्दजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
८४. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
८५. श्री जीवराजजी भँवरलालजी, भैरुन्दा
८६. श्री मांगीलालजी मदनलालजी, भैरुन्दा
८७. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी मेड़तासीटी
८८. श्री भींवराजजी बागमार, कुचेरा
८९. श्री गंगारामजी इन्द्रचन्दजी बोहरा, कुचेरा
९०. श्री फकीरचन्दजी कमलचन्दजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
९१. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराना, कुचेरा
९२. श्री प्रकाशचन्दजी जैन नागोर
९३. श्री भँवरलालजी रिखवचन्दजी नाहटा,
९४. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी गो
९५. श्री पारसमलजी महावीरचन्दजी बाफणा,
९६. श्री घीसूलालजी पारसमलजी जँवरीलालजी कोठारी
ग
९७. श्री मोहनलालजी धारीवाल, ब्या
९८. श्री कानमलजी कोठारी,
९९. श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्लीराजहर
१००. श्री जँवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा,
१०१. श्री फतेहराजजी नेमीचन्दजी कर्णावट, कलकत्ता
१०२. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, ग
१०३. श्री जुगराजजी बरमेचा, मद्रास
१०४. श्री कुशालचन्दजी रिखवचन्दजी सुराणा, बुलारम
१०५. श्री माणकचन्दजी रतनलालजी मुणोत, नाग
१०६. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया,
१०७. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भण्डारी, बेंगलोर
१०८. श्री रामप्रसन्नज्ञान प्रसारकेन्द्र, चन्द्रपुर
१०९ श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
११०. श्री अमरचन्दजी चम्पालालजी छाजेड़, पादू बड़ी
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रुणवाल, हरसोला
११२. श्री कमलाकँवर ललवाणी
स्व० पारसमलजी ललवाणी,
११३. श्री लक्ष्मीचन्दजी अशोककुमारजी श्री श्रीमाल, कुचे
११४. श्री भँवरलालजी मांगीलालजी बेताला
११५. श्री कंचनदेवी एवं निर्मलादेवी,
११६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी मद्र
११७. श्री चाँदमलजी धनराजजी मोदी अज
११८ श्री मांगीलालजी बाफणा

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारी समिति)


अध्यक्ष :
पद्मश्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास


कार्यवाहक अध्यक्ष :
सेठ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर


उपाध्यक्ष :
श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
श्री दौलतराजजी पारख, जोधपुर
श्री रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
श्री भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग


महामन्त्री :
श्री जतनराजजी मेहता, मेड़ता


मन्त्री :
श्री ज्ञानराजजी मूथा, पाली
श्री चांदमलजी विनायकिया, ब्यावर


कोषाध्यक्ष :
(राजस्थान) श्री रतनचन्दजी मोदी, ब्यावर
(मद्रास) श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास


सलाहकार :
श्री प्रकाशचन्दजी जैन, नागौर